पारसी स्टेज के हिन्दी नाटक

(इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

•

शोध-प्रबन्ध

•

प्रस्तुतकर्त्री
गीता गुप्ता

•

निर्देशक
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

•

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
इलाहाबाद

जुलाई १९६९ ई०

भूमिका

'दृश्य काव्य', 'रूपक' और 'चाक्षुषयज्ञ' की संज्ञाओं से अभिहित नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध उपर्युक्त संज्ञाओं से भली भांति स्पष्ट है। रंगमंच पर अभिनीत हो सकना नाटक की सर्वप्रमुख अनिवार्यता है। हिन्दी को संस्कृत की नाट्य-परम्परा तो मिली किन्तु रंगमंच के क्षेत्र में उसकी स्थिति शून्य से अधिक नहीं। मध्ययुगीन लोक-नाटकों के कुछ घरेलू एवं अवैज्ञानिक लोक-रंगमंचों के अतिरिक्त १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक 'रंगमंच' के नाम से अभिहित की जाने वाली उसके पास अपनी कोई वस्तु नहीं थी। इस सत्य को हिन्दी के सभी नाट्य-विद्वानों ने स्वीकार किया है। वैज्ञानिक साधन-सम्पन्न एवं रंगमंचीय शिल्प के समुन्नत तथा विकसित रूप के साथ सर्वप्रथम पारसियों ने व्यावसायिक थियेट्रिकल कम्पनियों के रूप में रंगमंच की एक निश्चित् रूप-रेखा प्रस्तुत की।

हिन्दी नाटक साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण शोध-कार्य हो चुके हैं। नाट्य-कला भले ही वह किसी एक नाटककार की कृतियों पर आधारित हो अथवा सामान्य व सामूहिक दृष्टि से विवेच्य हो, अध्ययन का विषय रही है। किन्तु आश्चर्य यह है कि ऐतिहासिक अध्ययन के विकास-क्रम में नाट्य-समीक्षकों ने आलोच्य-काल (१८५३ई०से १६३५ ई० तक) की ओर पूर्णतः उदासीनता दिखाई है। सम्यक् रूप से इस ओर अध्ययनगत विवेचन के कोई प्रयास नहीं हुए। समीक्षात्मक ग्रन्थों में जो भी छुट-पुट अभिव्यक्तियां हैं, वे लगभग समान धारणाओं से अभिभूत व एक ही विचारों का पिष्ट-पेषण मात्र हैं। व्यावसायिक थियेट्रिकल कम्पनियों के उद्भव की दृष्टि से १८७० ई०

को ऐतिहासिक मान्यता दी गई है तथा पेस्तनजी फरामजी की 'ओरीजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' को इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास के रूप में स्वीकार किया गया है। कला-विधान की दृष्टि से उर्दू की कुछ रचनाओं को मुख्य आधार बनाकर इस युग की समस्त नाट्य-रचनाओं के उज्ज्वल पक्ष पर काली कूंची फेर दी गई। व्यापारिक मनोवृत्तियों अथवा अर्थवृत्ति की प्रधानता के कारण उन्हें 'साहित्यिक सुरुचि से अछूते', 'चरित्र वैशिष्ट्य-हीन', 'केवल कथाओं के जमघट' एवं 'सस्ते नाटक' आदि विभिन्न उपाधियों से विभूषित कर साहित्य के सुष्ठु रूप से बहिष्कृत कर दिया गया व महत्वहीन मानकर उनके अध्ययन की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की गई।

विद्वानों का यह एकांगी दृष्टिकोण कारण रहित नहीं है। अंग्रेजी नाटक कम्पनियों के अनुकरण में पारसियों द्वारा स्थापित थियेट्रिकल कम्पनियाँ भारतीय संस्कारों से मेल न खा सकी। अनुकरणीय आदर्श एवं संस्थापकों के विदेशी होने के कारण उद्भव की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अर्थोपजीविका की प्रधानता तथा आलोच्य रंगमंच पर पारसी गुजराती व तदुपरान्त उर्दू अभिनयों की दीर्घ परम्परा के कारण वे हिन्दी साहित्य के सम्पर्क से बहुत दूर समझी गईं। हिन्दी नाटक साहित्य से उसका कहीं दूर का भी सम्बन्ध न मानने के कारण विद्वान् आलोचक इस काल के प्रति पूर्णत: उदासीन रहे।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध थियेट्रिकल कम्पनियों के हिन्दी नाटकों से सम्बन्धित है, जिसे कि विद्वानों ने हिन्दी का रंगमंच मानने से अस्वीकार कर दिया है। प्रारम्भिक एक दशक तक आलोच्य नाटक मण्डलियों के संस्थापक कलाकार व नाटककार सभी पारसी थे। अत: पारसी स्टेज व पारसी रंगमंच के नाम से उसका लोक-प्रिय होना स्वाभाविक है। अपनी विशिष्ट नाट्य पद्धतियों, नाट्य-रूढ़ियों व अभिनय की विशिष्ट शैली के कारण अपने संस्थापकों के नाम को गृहीत करता हुआ प्रस्तुत रंगमंच 'पारसी रंगमंच' के नाम से व जिन भाषाओं

के नाटकों ने भी इन परम्पराओं को अपनाया वे 'पारसी रंगमंच के नाटक नाम से विख्यात हो गई'। निश्चित नाट्य-पद्धति के अतिरिक्त इसका कोई अन्य विशिष्ट व गूढ़ अर्थ नहीं है।

अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण पारसी स्टेज क्रमश: गुजराती (सन् १८७० में 'करणघेलो' से इस परम्परा काआरम्भ), उर्दू (सन् १८७१ में 'सोने के मूल की खुरशीद' से आरम्भ) और हिन्दी रंगमंच के रूप में परिवर्तित होता चला गया। हिन्दी नाटकों का आरम्भ खान साहब 'आराम' के 'गोपीचन्द '(१८७२ई०) नाटक से हुआ था। यद्यपि इसके दो वर्ष पूर्व ही अर्थात् १८७० ई० में ईरानी नाटक मण्डली के 'रुस्तम बरजो' में फराम जी के प्रयासों से राग-रागनियों एवं गीतों की योजना के रूप में हिन्दी का प्रवेश हो चुका था। अब से १६३५ ई० तक अखण्ड रूप से इस रंगमंच पर हिन्दी नाटक अभिनीत होते रहे। यह अवश्य है कि इस दीर्घकालीन अवधि में भाषा, भाव व कला की दृष्टि से इन नाटकों में पर्याप्त वैविध्य मिलता है। यही कारण है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में (१) सन् १८७० से १६१२ तक व (२) सन् १६१३ से १६३५ तक -- इन दो काल उपवर्गों में हिन्दी नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अत: यह कहना कि हिन्दी नाटकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं, उस सम्पूर्ण युग के महत्त्व को धूल-धूसरित कर देना है, जो रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी का 'स्वर्ण युग' (१६१३ई० से १६३५ ई० तक) है व जिसके अतिरिक्त हिन्दी के पास अपना कोई रंगमंच नहीं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस दृष्टि से अपने अध्ययन की दिशा में पहला प्रयास है। पारसी रंगमंच के सम्पूर्ण इतिहास व उसपर अभिनीत हो सकने वाले नाटकों की कला -दृष्टि से समीक्षा का सर्वप्रथम तर्कसम्मत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अब तक के प्रकाशित प्रबन्धों में डा० रणधीर उपाध्याय ने इस ओर अवश्य यत्किंचित् प्रकाश डाला है। प्रथमत: तो वह हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध में शून्य है, इतिहास की दृष्टि से भी जो सामग्री प्रस्तुत की गई है, वह

अपर्याप्त व अव्यवस्थित है। केवल थोड़ी-सी फांकी मात्र दे दी गई है। श्रीमती विद्यावती 'नम्र' ने नारायण प्रसाद 'बेताब' पर विशेष लक्ष्य होने के कारण अन्य कृतिकारों को पूर्णत: छोड़ दिया।

प्रबन्ध अपने रूप में पूर्णत: मौलिक व मेरा अपना व्यक्तिगत प्रयास है। इसकी सर्वप्रमुख विशिष्टता यह है कि हिन्दी नाटकों को अपने अध्ययन का प्रमुख विषय बनाने के साथ ही पूर्व पीठिका व रंगमंचीय कम्पनियों के इतिहास की सम्पूर्णता के विचार से पारसी, गुजराती व उर्दू नाटकों का भी विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है व अभिनेय नाटकों की जहां तक सम्भव हो सकी है, पूरी तालिका देने की चेष्टा की गई है। कम्पनियों के इतिहासात्मक अध्ययन में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से विशेष सहायता मिल सकती है। कला की दृष्टि से कम्पनियों के बन्धनों में आबद्ध व उन्मुक्त किन्तु उसी के प्रभाव से ग्रसित रचनाकारों की कृतियों के सम्पूर्ण अध्ययन के साथ ही उसके क्रियात्मक व प्रतिक्रियात्मक प्रभावों को दर्शाया गया है।

प्रबन्ध की सम्पूर्ण विषय-सामग्री ग्यारह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय पूर्व पीठिका के रूप में है। नाटक के उद्भव, उसके सम्पूर्ण इतिहास, विकास और ह्रास, लोक नाटक व लोकरंजन के उपादानों के साथ १६ वीं शताब्दी की राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। द्वितीय अध्याय नाटक कम्पनियों के इतिहास से सम्बन्धित है, अमेच्युर क्लबों से व्यावसायिक कम्पनियों के रूप में स्थापना परिवर्तन के साथ विविध नए रूपों में पुनर्स्थापना, नाट्य प्रयोग, कार्य करने वाले अभिनेताओं, व्यवस्थापकों के विस्तृत परिचय के साथ १८५३ई० से १६३५ई० तक के सम्पूर्ण इतिहास को समेटा गया है। तीसरा अध्याय इन्दर सभा व चतुर्थ अध्याय नाट्य-लेखकों व उनकी कृतियों से सम्बन्धित है। समस्त हिन्दी रचनाएं दो प्रकरणों में विभाजित हैं। प्रथम कम्पनी के वेतनभोगी व उनके नियम बन्धनों में आबद्ध नाटककारों से सम्बन्धित हैं, द्वितीय प्रकरण की रचनाएं उन कृतिकारों

कारण तद्वत अनुकरण में नाटक लिख रहे थे । अध्याय पांच,-छ:,सात, आठ और नौ हिन्दी नाटकों को आधार बनाकर कथावस्तु ,चरित्र-चित्रण,कथोपकथन, भाषा-व शैली व गीत -- इन नाटकीय तत्वों की दृष्टि से विवेचित हैं । अध्याय दस पारसी रंगमंच के स्वरूप,उसकी रूपरेखा, दृश्य-सज्जा,वेश-भूषा के साथ ही नाटक में प्राप्त रंग संकेतों पर आधारित है । अध्याय ग्यारह उपसंहार रूप में है,जिसमें आलोच्य रंगमंच के महत्व व योगदान का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है । परिशिष्ट में पारसी रंगमंच के ध्वंसावशेष 'मून लाइट थियेटर' व उसके निर्देशक श्री फिदाहुसैन उर्फ प्रेमशंकर 'नरसी' मेहता के नाटकीय जीवन की झलक के साथ ही पारसी गुजराती व उर्दू नाटकों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

नाटक की प्रकाशन व अभिनय-तिथियों की अनुपलब्धि के कारण अनेक स्थानों पर तिथियां देने में कठिनाई हुई है । लेकिन वही तिथियाँ दी गई हैं, जो पूर्णत: प्रामाणिक हैं । जहां तनिक भी सन्देह था प्रबन्ध की प्रामाणिकता की रक्षा के विचार से उनको छोड़ दिया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री के संचयन में मुझे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । नाट्य-ग्रन्थों की अनुपलब्धि के साथ गुजराती,मराठी व उर्दू भाषा को पढ़ने की असमर्थता भी कार्य के सत्वर व सम्यक् संचालन में बाधा स्वरूप थी । किन्तु अपने निर्देशक डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी (अध्यक्ष-हिन्दी विभाग) जिनके तत्वाधान में मैंने सन् १९६५ में शोध-कार्य आरम्भ किया, उनसे जो प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिला, उसने सदैव निराशा के क्षणों के में मेरा मार्ग प्रदर्शन किया । इतना ही नहीं, उनके निजी पुस्तकालय से भी मैंने पर्याप्त लाभ उठाया है । मौन कृतज्ञता ज्ञापन के अतिरिक्त उनके ऋण से उऋण होना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं ।

इस सम्बन्ध में यदि पूज्य पिता जी का नाम न लूं तो यह मेरी कृतघ्नता होगी । विभिन्न स्थानों पर मेरे साथ जाकर न केवल उन्होंने अध्ययन के पूर्ण अवसर दिए, वरन् सामग्री-संचयन से सम्बन्धित मेरी प्रत्येक कठिनाई को सुलझाकर जो प्रेमपूर्ण सहयोग दिया, वस्तुत: वही गुरुदेव की प्रेरणा के साथ

प्रस्तुत प्रबन्ध के रूप में प्रतिफलित हुआ है। यदि किसी भी अंश में उनकी उच्च आकांक्षाओं को पूरा कर सकी तो अपने को धन्य समझूंगी।

विषय-सामग्री के संकलन में युनिवर्सिटी-लाइब्रेरी,इलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी , इलाहाबाद, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल स्टेट लाइब्रेरी , इलाहाबाद, भारती भवन पुस्तकालय, इलाहाबाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग,नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, उपन्यास बहार आफिस, काशी, जमशेद जी नशरवान जी पिटिट इंस्टीट्यूट , बम्बई व कलकत्ते की नेशनल लाइब्रेरी के कर्मचारियों ने विविध उपयोगी पुस्तकों को देकर अध्ययन की जो सुविधाएं दीं, एतदर्थ मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व आभार प्रकट करती हूं। कलकत्ते की मूनलाइट थियेटर कंपनी के निर्देशक श्री फिदाहुसैन, उपन्यास बहार आफिस कम्पनी के मालिक श्री जगजीवन राम गुप्त, विगत लेखक श्री वेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली', श्री अब्दुल कुद्दूस 'नैरंग', एडवोकेट श्री देवीनारायण कौशिल, न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के मालिक श्री माणेकशाह बलसारा, देना बैंक फोर्ट , बम्बई के शेयर विभाग के अध्यक्ष श्री जयन्तीलाल जी त्रिवेदी, श्रीमती विद्यावती 'नम्र' लक्ष्मणराजो व इलाहाबाद युनिवर्सिटी के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री मसीहुज्जमां व डा० अब्दुल अलीम 'नामी' आदि अनेक विद्वानों ने अपने सुझावों के साथ अनुपलब्ध पुस्तकों और विषय-सामग्री को देकर मेरी जो अपूर्व सहायता की है, इसके लिए अन्त:करण से मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूं। उपन्यास बहार आफिस व श्री जयन्तीलाल जी के व्यक्तिगत पुस्तकालय का अपने निजी पुस्तकालय के सदृश मैंने पूरा लाभ उठाया है। इनके अतिरिक्त मैं उन सभी प्रेरक प्रवृत्तियों के प्रति ऋणी हूं, जिन्होंने विभिन्न व्यक्तित्वों के रूप में मुझे प्रोत्साहित किया।

गीता गुप्ता
(गीता गुप्ता)

-०-

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

अध्याय --१

-0-

नाट्य-कला : जन्म और विकास

नाट्य- कला : जन्म और विकास

१. नाटक का स्वरूप-निर्धारण, उसकी विवेचना व उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-विदों ने अनेक गम्भीर विवेचनाएं प्रस्तुत की हैं। नाटक वस्तुत: वह दृश्य काव्य है जो अभिनेताओं द्वारा कथित वाचिक आदि अभिनयों द्वारा निवृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है। अभिनेताओं द्वारा विभिन्न रूप धारण करने के कारण दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं --'तद्रूपारोपात्तु रूपकम्' --। अनुकर्ता उसमें अपने ऊपर किसी दूसरे व्यक्ति के रूप आदि का पूर्णरूप से समारोपण करके अभिनेय पात्र अथवा अनुकार्य का सत्याभास कराता है, जिससे दर्शक उसको वही समझें जिसका वह अभिनय कर रहा है। भरतकोश में 'रूपकम् द्विविधं नाट्यरूपेण नृत्यगीतरूपेणेति' की व्याख्या में रूपक के दो भेद स्पष्ट किए गए हैं -- नाट्यरूप और नृत्य रूप। प्रथम में अवस्था की अनुकृति को प्रधानता दी गई है--'अवस्थानुकृति नाट्यम्'। इसमें नट किसी भाव की अनुभूति करता है और अपने अभिनय द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को ऐसी

१- यदांगिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचिकादिभि:
नर्तैरभिधीयेत प्रेक्षणाक्ष्वेडिकादि तत्।
-- भोजदेव -- सरस्वती कंठाभरणम् २।१४२

सम्पूर्णता देता है कि प्रेक्षक की उससे तादात्म्य स्थापित करके उसी भाव का अनुभव करने लगता है । रूपक में अवस्था की अनुकृति के साथ ही नट रूप का आरोप अर्थात् वेश-भूषा आदि के द्वारा अनुकार्य का रूप प्रस्तुत करता है । अर्थात् अवस्थानुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप रूपक है ।

२. `नाट्य` शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र इसे `नाट्` धातु से व्युत्पन्न मानते हैं । पाणिनि के अनुसार `नट्` धातु से इसकी उत्पत्ति हुई है । वेबर साहब के अनुसार `नट्` धातु `नृत` का प्राकृत रूपान्तर है । इस मत के पोषक कुछ विचारकों के अनुसार मूल धातु `नृत्` है, जिसका आदेश `नट्` में हो जाता है । मकन्द साहब ने इस पुष्टि का खण्डन किया । उनके अनुसार मूल धातु `नृत्` अवश्य है, किन्तु प्राकृत में उसका कहीं भी `नट्` रूप नहीं मिलता । `नृत्त` वस्तुतः ताल लयाश्रित अंग विक्षेप व पद-संचालन को कहते हैं --`नृत्तं ताललयाश्रयम्`[1] । नृत्य इसी का विकसित रूप है जो मात्र विक्षेपण के साथ ही भावाश्रित है --`अन्यद्भावाश्रयम् नृत्यम्`[2]। नाट्य अवस्था की अनुकृति को कहते हैं जो रसाश्रयी है,`अवस्थानुकृति नाट्यम्`[3]। नाटक इन तीनों अवस्थाओं का क्रमिक विकास है, प्रथम में केवल नट नाचना है, दूसरे में अभिनय तत्व जुड़ गया, जिससे भावोन्मेष होता है किन्तु यही भावोन्मेष ~~होकर~~ जब रस की स्थिति ग्रहण कर लेता है तो वह नाट्य का अर्थ-बोध कराते हुए नाटक का पर्यायवाची हो जाता है ।

३. भरतमुनि ने नाटक की व्याख्या करते हुए भावादि से सम्पन्न लोकवृत्ति को नाटक कहा है --

---

१- दशरूपकम् -- १।६

२- ,, -- १।६

३- ,, -- १।७

'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतं ।'[1]

उनके अनुसार नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन है --

'त्रैलोक्य

'त्रैलोक्यस्य हि सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्'[2]

४. भरत द्वारा प्रतिपादित नाटक की इस अनुकरणात्मक धारणा का प्रतिपादन ही पाश्चात्य नाट्य समीक्षक अरस्तू ने किया है। उनके अनुसार 'नाटकों में क्रिया का अनुकरण होता है।' कीथ के अनुसार --'सिद्धांतत: दोनों नाटक को अनुकृति मानते हैं, अत: ग्रीक और भारतीय नाट्यशास्त्रकारों के विचारों में कोई भेद नहीं है। किन्तु विचार-विभिन्नता का सूत्र वहीं से आरम्भ हो जाता है, जब कि भारतीय शास्त्रकार रूपक को अवस्था की अनुकृति मानते हैं और अरस्तू के अनुसार वह केवल क्रिया की अनुकृति है।' क्रिया का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं होता। भाव विचारादि मानसिक क्रियाएं हैं। नाटक में घटनाओं से अधिक घटनावलियों की जन्मदात्री मौलिक वृत्तियों का विश्लेषण एवं सक्रियता का स्पष्टीकरण होता है। भाव और क्रिया के समुच्चय के अतिरिक्त चरित्र का कोई अन्य अर्थ नहीं। नाटक वस्तुत: रंगमंच पर मानव ~~का-कोई-~~क्रियाओं, भाव तथा अवस्था की अनुकृति है, जिसे अभिनेतागण प्रेक्षक के सम्मुख नाट्य करके प्रदर्शित करते हैं और उन्हें ~~रसमग्न~~ रसमग्न कर लोकोत्तर आनन्द प्रदान करते हैं।

५. डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार --'कतिपय शक्तिशाली पात्रों और उनके संसर्ग से बनी आकर्षक और वेगवती घटनावली को दृश्यकाव्य का रूप दे देने से रूपक की रचना होती है' --

६. 'अभिनव नाट्यशास्त्र' के लेखक श्री सीताराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित

१- ना०शा० -- १।१०८

२- ,, -- १।७

रचना के अनुसार नाट्य प्रयोक्ता द्वारा सिखाए हुए नट जब रंगपीठ पर अभिनय तथा संगीत के द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकों का विनोद करते हैं तथा उन्हें उपदेश और मन: शान्ति प्रदान करते हैं तब उस प्रयोग को नाटक या रूपक कहते हैं।[१]

७. नाटक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें सभी शिल्प, विद्या, कला व शास्त्र निवास करते हैं --

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्ये स्मिन्यन्न दृश्यते ।।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।'[२]

८. भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों का मनोविनोद करने वाला एकमात्र साहित्य प्रकार नाटक है--

'नाट्यम् भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनं'[३]

इसीलिए नाटक को 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा गया है।

नाट्योत्पत्ति--

९. नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यविदों में पर्याप्त मत-वैभिन्य है। आचार्य भरत ने वेदों से व्युत्पन्न मानकर इसे पंचम वेद --'नाट्यस्तु पंचमो वेद:' की संज्ञा दी है। उद्भव के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में इस विषय का एक रोचक प्रसंग उपलब्ध है -- एक दिन भरत जी पुत्र-पौत्रों से घिरे हुए अवकाश का आनन्द मना रहे थे कि आत्रेय आदि तपस्वी और मुनि लोगों ने उपस्थित होकर वेद सम्मत नाट्य क वेद के सम्पादन कारणों और उत्पत्ति के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की, जिसका उत्तर देते हुए भरत जी ने बताया-- स्वायंभुव मनुवाला कलियुग बीतने और वैवस्त मनु के त्रेता युग आरम्भ होने के समय संसार में ऐसी अव्यवस्था छा गई कि सब लोग बुरे-बुरे काम करने लगे तथा काम, क्रोध, लोभ,

---

१- अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ०७३
२- ना०शा० -- १।११४
३- कालिदास --'मालती माधव'

मोह, ईर्ष्या आदि में फंसे हुए किसी-किसी प्रकार सुख दु:खमय जीवन बिताने लगे । इसी बीच इस जम्बू द्वीप पर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महारोगों ने धावा बोल कर उस पर अधिकार जमा लिया । तब भयभीत इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा जी से जाकर कहा --' क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत:' -- आप एक ऐसा पांचवा वेद बनाइए जिसमें सब वर्णों के लोग सम्मिलित होकर आनन्द ले सकें ।- ब्रह्मा जी ने 'एवमस्तु' कहकर सभी देवों को विदा किया और समाधिस्थ होकर चारों वेदों ~~वेदों~~ का स्मरण करके ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्व वेद से रस तत्व लेकर 'सार्वजनिक पंचम वेद' नाट्य वेद की सृष्टि की[1]। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में व शारदातनय ने ११ वीं शताब्दी में रचे अपने ग्रन्थ 'भाव-प्रकाशन' के दशम अधिकार में नाटक की उपर्युक्त वेद सम्मत व्युत्पत्ति का ही समर्थन किया है ।

१०. 'जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्' भरतमुनि के इस कथन से प्रेरित होकर विद्वानों ने ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में संवाद तथा कलातत्व की खोज निकाला है । 'इन्द्र-मरुत संवाद', 'अगस्त्य का अपनी पत्नी लोपमुद्रा व पुत्रों के साथ संवाद', 'विश्वामित्र और नदियों का संवाद', 'इन्द्र अदिति तथा वामदेव का संवाद', 'इन्द्र और वरुण के संवाद', 'वशिष्ठ और उनके पुत्रों के सम्वाद', 'भार्गव और इन्द्र के संवाद', 'यमी-यमी संवाद', 'पुरुरवा-उर्वशी संवाद', इन्द्र वसुक व वसुक पत्नी के संवादों में मैक्समूलर, प्रो० सिलवां लेवी, प्रो० फानश्रेडर, डा० हर्टेल, डा० विण्डिश, ओल्डेनबर्ग, पिशेल, डा० दास गुप्ता तथा एस०के० डे आदि विद्वानों ने नाटकीय तत्व की ~~विद्यमानता~~ विद्यमानता स्वीकार की है । डा० कीथ के अनुसार इन सूक्तों और वेदों में नाटक तो नहीं, नाटक की उत्पत्ति के बीज अवश्य विद्यमान थे[2]। संवाद सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्डों की कुछ लीलाएं भी नाटक से सम्बन्धित हैं ।

१- भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ८।१८

२- डा० ए०बी० कीथ -- संस्कृत ड्रामा, १९२४, पृ०२७

सोमक्रयण ,देवासुर संग्राम, महेन्द्र विजय तथा यूपीम जर्जर ध्वज के प्रसंग में नाटक के विकास की स्थिति देखी जा सकती है । इन लीलाओं में न केवल संघर्ष,कथोपकथन अभिनय तथा वस्तु विकास की विविध अवस्थाएं उपलब्ध हैं,वरन् नाटक का रस तत्व भी पर्याप्त है । प्रो० हिलेब्रां के अनुसार ये क्रियाएं पूर्णत: कर्मकाण्डीय नाटक है । डा० उपाध्याय ने इन्हें अविकसित नाट्य-कला का प्रारम्भिक अंश माना है ।

११. शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता की तीसवें अध्याय के पुरुषमेध यज्ञ प्रकरण के प्रसंग में यज्ञ कार्यों की नियुक्ति में `शैलूष` शब्द का यह प्रयोग --`नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्म्माय समाचारन्नरिष्ठाये:` इस बात का प्रमाण है कि वैदिक काल में नाटक अपने पूर्ण सम्पन्न व विस्तृत रूप में था । कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य,गान, संगीत मुख्य क्रियाओं में गिने गए हैं । वस्तुत: इस काल का सम्पूर्ण नाट्य विधान धार्मिक था ।

१२. पाणिनि के `अष्टाध्यायी` में सांस्कृतिक समारोहों के प्रसंगों के अतिरिक्त गीत(३।३६५), गेय (३।४।६८), परिवादक(३।२।१४६),गायकी, गायिनी और नर्तक(३।१।१४५),नाट्य(४।३।१२९) और नट सूत्रों (४।३।११०) के विवरण मिलते हैं । शिलाली और कृशाश्व नामक दो नाट्याचार्यों के उल्लेख भी भी उपलब्ध है । पाणिनि ने सामाज्या शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के समाजोत्सव के अर्थ में किया है ।

१३. पतंजलि ने अपने`महाभाष्य` में `कंसवध` और बलिबंध` नामक दो नाटकों के अभिनय का निर्देश दिया है । इसके साथ ही इसमें नटों व नटियों के अनैतिक जीवन के उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं । `मनुस्मृति` में पर पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली नट पत्नियों के लिए नाममात्र के दण्ड का विधान है [1] --

`नैवचारणदारेषु विधिर्नीत्मोप जीविषु
सज्जयन्ति हिते नारी निगूढाश्चारयन्ति च ।`

१४. कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र भी इसी बात को प्रमाणित करता है कि उस समय नट,नर्तक,गायक,वादक ,कथा सुनाकर जीविका कमाने वाले,कुशीलव,

----

१- मनुस्मृति-- ८।३६२

प्लवक,सौमिक,चारण आदि विद्यमान थे । ये नर वाणिज्य व्यापार के साथ ही राज्य की ओर से गुप्तचरों का कार्य भी करते थे । कौटिल्य काल में इनकी शिक्षा-दीक्षा राज्य की ओर से व्यवस्थित और प्रोत्साहित थी ।

१५. बौद्ध साहित्य में नाटक वेदों के कर्मकाण्डों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप में हमारे सामने आया । बौद्ध भिक्षु नाटक,संगीत और नृत्य के विरोधी नहीं बल्कि नाटकों के माध्यम से अपने धर्म के प्रचारक थे[1]। 'ललित विस्तार' में बिम्बसार द्वारा दो नाग राजाओं के सम्मान में नाटक का आयोजन,स्वयं भगवान बुद्ध की आज्ञा से राजगृह में नाटक का प्रबन्ध व उनके शिष्य मौद्गल्यायन और उपतिस्व के नाट्य-कौशल का प्रदर्शन,अश्वघोष जैसे समाहृत महाभिक्षु द्वारा 'सारिपुत्र प्रकरण' के समान नाटकों की रचना इस बात के प्रमाण हैं । श्रीराय डेविड्ज के अनुसार प्रारम्भिक बौद्धकाल में उत्कृष्ट भावी नाटक का पूर्वरूप पाया जाता है[2]। जातक कथाओं में जो ईसापूर्व तीसरी शताब्दी की मानी जाती है नट,नाटक समाज और समाजमण्डल व के उल्लेख प्राय: साथ-साथ मिलते हैं । पुत्र को राज्य प्रदान व अभिषेक के समय 'कुश जातक' व 'उदय जातक' में नाट्य समारोहों की आयोजना के प्रसंग ढूंढे जा सकते हैं --'दत्व नाटकानि उपस्य पेस्साम, भद्दे पुतस्स ते रज्जमल' अर्थात् तुम्हारे पुत्र को राज्य प्रदान करते हुए हम नाटकीय समारोहों की आयोजना करेंगे[3]। --'राजपुत्त अभिसिंचित्व नाटकानि स्म पच्चुस्य पेस्सास' अर्थात् राजा ने व अपने पुत्र के अभिषेक की इच्छा की और उसके मनोरंजनार्थ नाटकों का आयोजन किया[4]। बौद्ध ग्रन्थों में भिक्षुओं के लिए नाट्य देखने का निषेध ही उस समय के नाटकों की अत्यधिक लोकप्रियता व फलस्वरूप वीतराग भिक्षुओं के उस ओर आकर्षण का प्रमाण है ।

ब १६. रामायण तथा महाभारत में भी ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं जिनसे नाटकों के अस्तित्व का बोध होता है । वाल्मीकि रामायण के अयोध्या-काण्ड में दशरथ-मरण के के प्रसंग पर उद्विग्न भरत के मनोविनोदार्थ[5] व भरत के

१- एच०एन०दास गुप्ता--इण्डियन स्टेज,भाग१,पृ०३४

२-बुद्धिस्ट इण्डिया--,पृ०११६

३- कुशजातक,पृ०२०

४- उदयजातक कथा

५- वादयन्ति तदा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे ।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ।
--वा०रा०--२।६९।४

अयोध्या लौट आने पर मार्कण्डेय आदि ऋषियों ने अराजकता के दुष्परिणाम सूचित करते हुए नाटकों का उल्लेख किया है।[1] वधू नाटक संघैश्च संयुक्तां सर्वत: पुरीम[2] से स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों के लिए पृथक रंगशालाएं थीं। महाभारत में 'रामायण' व 'कौबेर रंभाभिसार' नाटक के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। विराट पर्व में अभिमन्यु उत्तरा के विवाह के प्रसंग में नटों, वैतालिकों सूतों और मागधों के साथ नटों का भी नामोल्लेख है, जिन्होंने अतिथियों का मनोरंजन किया।

१७. डा० रिजवे ने नाटकीय प्रवृत्तियों के पीछे मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर व सम्मान-प्रदर्शन की भावना को मुख्य आधार माना है। डा० पिशेल सूत्रधार शब्द का सम्बन्ध पुतली नचाने वाले से जोड़कर पुत्तलिका नृत्य तथा छाया नाटकों को नाट्योत्पत्ति का मूल स्रोत स्वीकार करते हैं। लेकिन ये दोनों ही तथ्य अपूर्ण हैं। पहली धारणा जहां एकांगी है, वहां दूसरी नितान्त भ्रममूलक है। छाया नाटक वस्तुत: नाटकों के बाद की स्थिति हैं। ये नाटक के रचना विधान अथवा टैक्नीक के एक भिन्न दिशा में विकसित रूप हैं।

१८. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति किसी एक समय एक व्यक्ति के द्वारा नहीं हुई, वरन् वह वर्षों के विकास का गुणात्मक परिणाम है। मनुष्य का जीवन स्वयं एक नाटक है। नाटक में उसके जीवन की घटनाओं को ही कथा का रूप देकर नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। शिशु ने जिस दिन अपनी क्रीड़ा में अन्य रूप का आरोप किया उसी दिन नाटक का उद्भव हुआ।[3] तब से यह कला अबतक विकसित होती चली आ रही है।

१- 'नाराजके जनपदे प्रहृष्ट नटनर्तका:
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्धना:' --वा०रा० २।६७।१५

२- वा०रा० --१।५।१२

३- डोनाल्ड क्लाइव - द डवलपमेंट ऑफ द ड्रमैटिक आर्ट' १९२८ पृ० १
" Drama could spring from the play of a child who imagines for the time being that he is some one else. "

नाट्य-कला का ह्रास

१६. किसी भी कला की समुन्नत उन्नति उन्नत भौतिक अवस्था में ही सम्भव है । संस्कृत नाटकों की समृद्ध परम्परा वस्तुत: उस समय की समृद्धि सम्पन्न अवस्था व अनुकूल परिस्थितियों का ही परिणाम है । हिन्दी को इसके विपरीत काफी संकटपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा । यही कारण है कि विरासत में समृद्धिशाली नाट्य-परम्परा के उपरान्त भी १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से पूर्व हमें हिन्दी में 'नाटक' नाम से कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ ही उपलब्ध हैं । हर्षवर्धन की मृत्योपरान्त देश की राजनैतिक अवस्था छिन्न-भिन्न हो गई । नरेशों के पारस्परिक युद्ध-विग्रह में शक्ति के ह्रास के साथ ही देश पर मुसलमानों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो गए । फलत: नाटक जो राजकीय सहायता एवं प्रोत्साहन तथा जनता के के सहयोग से विनिर्मित होकर राज्यसभा और देव-मन्दिरों में अभिनीत होते थे ; इस अशान्तिमय वातावरण में उन्हें विकास के उपर्युक्त अवसर उपलब्ध नहीं हुए । धार्मिक मनोभावों की प्रेरणा से इस अनुकरणात्मक कला के प्रति मुस्लिम शासकों की कट्टर मनोवृत्तियों ने उसके विकास के अवशिष्ट सभी उपकरणों को नष्ट कर दिया । विजेताओं के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर भारतीय समाज ने रूढ़िवादिता के आंचल में भारतीय संस्कृति की रक्षा करते हुए १५ वीं शताब्दी में जिन धार्मिक आन्दोलनों को जन्म दिया था, उसने ऐहिक जीवन के प्रति जनता को उदासीन बना दिया । कबीर, दादू, नानक आदि के उपदेशों ने संसार की असारता, दु:खपूर्णता तथा नियतिवाद का प्रचार करके लोगों को निष्क्रिय व निराशावादी बना दिया । नाटक के लिए यह मनोवृत्ति घातक थी, क्योंकि नाटक संघर्षात्मक तथा प्रगतिशील जीवन का चित्रण है । पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से उद्भूत मानसिक असन्तोष, आर्य समाज की प्रचारक प्रवृत्ति, साधु-अभिनय-शालाओं का अभाव, मानसिक हलचल, अभिनेताओं की समाज में निम्न स्थिति, जनता की धार्मिक कथाओं, साधुओं के उपदेशों, विद्वानों के काव्य प्रदर्शनों एवं मुशायरों में रुचि-आधिक्य आदि अन्य कारण नाटक साहित्य के अभाव में आलोचकों द्वारा

उत्तरदायी तथ्य स्वीकार किए गए हैं[1]। डा० सोमनाथ गुप्त ने नाटक के लिए दो तत्व आवश्यक बताये हैं --

(१) जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण ।

(२) उस दृष्टिकोण की व्यक्तित्व रहित अभिव्यंजना ।

२०. किन्तु आगे इनकी विवेचना में समीक्षक ने शताब्दियों की दासता, धार्मिक आन्दोलनों, कर्म आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से उद्भूत तत्कालीन जीवन की क्रियाहीनता को स्वीकारते हुए नाटकों के अभाव का प्रधान कारण युग का अनुपयुक्त वातावरण माना है[2] जो कि वस्तुत: उपर्युक्त धारणाओं का ही किसी अंश में पुष्टिकरण है । यद्यपि डाक्टर साहब उन्हें निराधार न मानते हुए भी कारण के रूप में स्वीकार नहीं करते ।

२१. इस दीर्घकालीन अवधि में (१३वीं शताब्दी ई० से १८ वीं शता० तक) नाटकों के ह्रास एवं अवसान में कोई एक तथ्य नहीं, वरन् तत्युगीन परिस्थितियां मुख्यरूपेण उत्तरदायी हैं, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा की कुछ नाट्य-रचनाओं के अतिरिक्त नाटकों के क्षेत्र में पूर्णत: अन्धकार दृष्टिगत होता है ।

लोक नाटक
----

२२. साहित्य के विकास की एक क्रमबद्ध अटूट परम्परा है । कहानी, नाटक, कविता, संगीत आदि समस्त ललित कलाएं अपने प्रारम्भिक उद्भव में असभ्य व असंस्कृत कही जाने वाली जनता की रुचि-कुरुचि, योग्यता व मानसिक स्तर के अनुरूप उसके मनोरंजनार्थ प्रस्फुटित हुई हैं । धीरे-धीरे समय के विकास के

१-(अ) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-- आधुनिक हिन्दी साहित्य, १९४८, पृ०२४७-२५०

(आ) डा० श्रीकृष्णलाल-- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, तृ०सं०, १९५२ पृ०१९३-१९४ ।

(इ) डा० वेदपाल खन्ना--'हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' पृ० १-२४ ।

(ई) रामचरण महेन्द्र --'हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार', प्र०सं०, १९५५, पृ०३१।

(उ) जयशंकर प्रसाद --'काव्य कला और अन्य निबन्ध'-चतुर्थ सं०, पृ०१०३

२- डा० सोमनाथ गुप्त -- 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', तृ०सं० १९५१, पृ० २५-२६

साथ साहित्य-विद्वानों ने उनके स्वरूप को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने की चेष्टा की । परिनिष्ठित स्वरूप में अपनी स्थापना के साथ ही ये कलाएं सामान्य जन-जीवन के सम्पर्क से दूर हटती गईं तथा कुछ थोड़े-से संस्कृत शिक्षित वर्ग की सम्पत्ति कहलाने लगीं, क्योंकि उसके रसास्वादन के लिए विशेष योग्यता और पात्रता अपेक्षित होती है, जो सर्व सामान्य में सम्भव नहीं । इस प्रकार संस्कृत और असंस्कृत लोगों के मानसिक स्तरों के अनुरूप कलागत मनोरंजन के साधन दो विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गए-- एक साहित्यिक प्रतिभा - सम्पन्न परिनिष्ठित रूप में व लोक-शैलियों के रूप में ।

२३. नाटक के विकास में भी यही स्थिति दृष्टिगत होती है । संस्कृत के परिनिष्ठित नाटकों से पूर्व लोक नाटकों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है । अपने इस रूप में नाटक की उत्पत्ति नृत्य से हुई थी, जिसमें गीत व कथातत्व बाद में संयुक्त हुए । डा० कीथ तथा श्री डोलरराय माकन्द ने नृत्य से नाट्योत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है । 'लोक नृत्य, लोक गीत और लोक-कथा का संगम स्थान लोक नाटक है ।' आदिम अवस्था में धार्मिक भावना तथा वीर पूजा की भावना से प्रेरित होकर विभिन्न पर्वों व त्यौहारों पर अपनी सुख-दुःखात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना में जन-जीवन ने धार्मिक व लौकिक लीलाओं के किसी-न-किसी अभिनयात्मक रूप को ढूँढ़ लिया होगा, जिससे धार्मिक भावों की परितुष्टि एवं मनोरंजन की परितृप्ति दोनों साथ-साथ हुईं । मनोरंजन पर आग्रह बढ़ने के साथ-साथ इन नाट्य रूपों में परिमार्जन व परिष्कार आता गया। इसी के विकास की परिणति लोक-नाटक हैं । धार्मिक, सांस्कृतिक प्रेरणाओं से उद्भूत लोक-नाटकों का यह लोकप्रिय और सार्वजनिक रूप ही शनैः शनैः शास्त्रीय और परिनिष्ठित रूप में विकसित हुआ ।

२४. लोक नाटक की व्युत्पत्ति सम्बन्धी व्याख्या भी उसके इसी उपर्युक्त अर्थ की द्योतक है । अंग्रेजी पर्यायवाची 'फोक' (Folk) का हिन्दी रूपान्तर ही लोक-नाटकों का लोक शब्द है । 'फोक' शब्द की व्युत्पत्ति

ऐंग्लो सेक्सन शब्द Folc से हुई है जो जर्मन भाषा में ग्रिम के द्वारा Volk के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इसी का अनुकरण कर २२ अगस्त १८४८ को श्री डब्ल्यू० जे० थोम्स ने लोक साहित्य के लिए अपने पत्र Athenaeum में Folklore शब्द का प्रयोग किया और तब से यह folk शब्द रूढ़ बन गया । हिन्दी प्रकारान्तर लोक का अर्थ असंस्कृत समाज का अकृतिम स्वरूप है । डा० कीथ के अनुसार 'लोक' शब्द उन लोगों का सूचक है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं । ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।'[१] श्री श्याम परमार के अनुसार --' आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में लोक का प्रयोग गीति, वार्ता, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जन-समाज जिसमें भाषा तथा साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ ठोस रत्न छिपे हैं के अर्थ में होता है ।' डा० ओझा ने साहित्यिक और जन-नाटकों के पारस्परिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में लोक-नाट्य-परम्परा को प्राचीनतम मानते हुए साहित्यिक नाटकों की पुष्टि और परिचर्या में उसे 'ज्येष्ठ भगिनी'[२] का महत्व दिया है । वस्तुतः भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक प्रणयन से पूर्व लोक-नाटकों की परम्परा प्रत्येक भाषा-भाषी प्रान्त में विद्यमान रही है ।

२५. लोक साहित्य किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं होता । लोक रंजन व लोक अनुभूतियों से सम्बद्ध होने के कारण इसकी अभिव्यक्ति सामूहिक होती है । व्यक्तित्व से रहित समाज की आत्मा को समान रूप से अभिव्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियां ही लोक-साहित्य की निधि हैं[3]।

१- डा० ए०बी० कीथ--'संस्कृत ड्रामा', १९२४, पृ०१६

२- डा० दशरथ ओझा --' हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' द्वि०सं०, १९५४ पृ०३३ ।

३- भानुदेव शुक्ल --'भारतेन्दु युगीन नाटक साहित्य', पृ०२८३ ।

२६. लोकधर्मी होने के कारण लोक-नाटकों में शिल्प की प्रौढ़ता और अभिव्यंजना का उत्कर्ष दृष्टिगत नहीं होता। बंगाल में यात्रा, असम में कीर्तनिया, बिहार में बिदेसिया, गुजरात में भवाई, महाराष्ट्र में तमाशा, ललित और गोंधल, आंध्र में यक्षगान, पंजाब में गिद्दा, मध्यवर्ती भारत में माच और ख्याल आदि प्रसिद्ध लोक नाट्य शैलियाँ तात्त्विक दृष्टि से एकरूप होते हुए भी स्थानीय प्रभावों के कारण भले ही भिन्न-भिन्न शैलियों में विकसित हुई हैं, किन्तु शिल्प-विधान के उद्देश्य की दृष्टि से उनमें कोई विशिष्ट वैविध्य नहीं मिलता। सभी शैलियों में संगीत और नृत्य का प्रचुर समावेश है। शिल्प की प्रौढ़ता, अभिनय कला का उत्कर्ष, मंच की साज-सज्जा, कथानक का गठन, भाषा की प्रांजलता, काव्य की गहन अनुभूति और नाटकीय तत्वों का समुचित समावेश भले ही इन लोक शैलियों में उपलब्ध न हो, किन्तु सरस संगीत का प्रवाह अवश्य है। अपनी सरलता और सरसता के बल पर ही ये दर्शकों को प्रदर्शन-अवधि तक बांधे रहते हैं।

२७. भारत में लोक-नाटकों का उदय धार्मिक गाथाओं से हुआ। रामलीला, रासलीला आदि ने हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के विकास को बहुत अधिक प्रभावित किया है। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में लोक-नाटकों के कथानकों को ऐतिहासिक आधार मिला और आगे चलकर अनेक श्रृंगारपूर्ण प्रेमाख्यान लोक-नाटकों के प्रिय विषय बन गए। हिन्दी नाटकों के विकास की पृष्ठभूमि में लीला नाटक व स्वांग इन ने महत्वपूर्ण भूमिकाएं की हैं, अतः यहां केवल उन्हीं का अध्ययन किया जा रहा है।

२८. रास लीला १६ वीं शताब्दी के कृष्ण भक्ति आन्दोलन का प्रतिफल है। यद्यपि इस आन्दोलन ने राजस्थान, गुजरात व ब्रजभूमि के समस्त भू-भाग को समान रूप से प्रभावित किया है, किन्तु हिन्दी नाटकों की पृष्ठभूमि में ब्रज के लीला नाटकों का ही अधिक महत्व है। अपने अपने आधुनिक रूप में रासलीला का उद्गम स्थान ब्रजभूमि को स्वीकार किया गया है। डा० दशरथ ओझा ने ब्रजभाषा की कृष्णरास-परम्परा पर अपभ्रंश

राजस्थानी व जैन रासों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत नाटकों की परम्परा का आरम्भ १३ वीं शताब्दी से स्वीकार किया है ।

२६. रास लीला का सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन से है । डा० उपाध्याय ने कृष्ण-भक्ति की अभिव्यक्ति के दो रूप स्वीकार किए हैं -- एक गेय गीतों के रूप में ,दूसरा लीलाओं के नाट्याभिनय के रूप में । रास लीला का सम्बन्ध वस्तुत: इसी दूसरे पक्ष से है जिसको चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य द्वारा अपने आराध्यदेव की लीलाओं के प्रदर्शन से प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । इसके अन्तर्गत राधा और कृष्ण के प्रेम की विविध लीलाएं प्रदर्शित की जाती हैं । श्रीमद्भागवत व जयदेव के 'गीत गोविन्द' में वर्णित लीलाओं ने प्रस्तुत 'नाट्य धारा' को पर्याप्त सामग्री दी । भ्रमरगीत, दानलीला,मान लीला, माखन चोरी, कालिय दमन, पूतना-वध ,गोवर्धन-धारण आदि विविध प्रसंगउपर्युक्त ग्रन्थों से गृहीत करके लीलाओं के रूप में प्रदर्शित किए गए ।

३०. ब्रजभाषा की परम्परा में रास लीला से सम्बन्धित नाटक सर्वप्रथम नन्ददास जी की गोवर्धन लीला व श्याम सगाई लीला के रूप में प्राप्त होते हैं । ध्रुवदास जी ने बयालीस लीलाएं लिखीं । इनमें दानलीला व मान लीला को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई । ध्रुवदास जी के पश्चात् लीला नाटकों के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान चाचा वृन्दावनदास जी का रहा । ब्रजवासी दास ने भी अनेक लीलाएं लिखीं । डा० ओझा ने उनके 'ब्रज विलास' में कृष्ण की ७४ लीलाओं की प्राप्ति का संकेत दिया है[१]।

३१. रासलीला का आधार सूर व अन्य अष्टछाप कवियों के स्वतन्त्र पद तथा भजन योग्य गीत हैं । यही कारण है कि गद्य पद्यमयी संवाद लीला में संगीत की सरस धारा मिलती है । छोटे-छोटे स्वतन्त्र खण्ड काव्यों पर

१- डा० दशरथ ओझा --'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', द्वि० सं०, १९५४,पृ० ११६ ।

आधारित होने के कारण रंगमंच व अभिनय का समय, स्थान व कार्य-सीमाओं की दृष्टि से भी ये लीलाएँ पर्याप्त सक्षम हैं । इनमें रंगमंच का विकास मिलता है । डा०० श्रीकृष्णलाल ने रासलीला को प्राचीन नाट्य साहित्य का उपयुक्त प्रतिनिधि स्वीकार किया है ,क्योंकि इसमें रसात्मकता जो कि नाटक का मुख्य उद्देश्य है व मनोरंजन हेतु नृत्य संगीत का पर्याप्त योग है[१] ।

३२. राम के दिव्य जीवन से सम्बन्धित लीलाओं का अभिनयात्मक रूप रामलीला है । डा० सोमनाथ गुप्त व डा० दशरथ ओझा दोनों ने ही रासलीला के प्रभाव के प्रतिफलन में रामलीला परम्परा का आरम्भ स्वीकार किया है । उत्तरप्रदेश में के इस जन-नाटक में तुलसीकृत मानस के आधार पर राम जन्म,धनुष यज्ञ ,राम विवाह,राम वन-गमन, भरत मिलाप लंका दहन आदि विविध प्रसंगों का प्रदर्शन किया जाता है । राम के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इसकी कथा का सीमा-विस्तार इतना अधिक है कि नाटकों के सीमित स्थान, समय और कार्य के उचित सामन्जस्य में नहीं बैठता । नाट्य-कला के विकास में चरित्र गाम्भीर्य व संवादों को ही इससे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ ।

३३. धार्मिक मनोवृत्ति की परिचायक उपर्युक्त लीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन के अतिरिक्त मनोरंजन को अपना मुख्य उद्देश्य मानकर नौटंकी के रूप में नाटकीय प्रदर्शन का एक अन्य रूप भी उपलब्ध होता है । उत्तरप्रदेश, पंजाब व राजस्थान की यह लौकिक नाट्य परम्परा स्वांग, सांग , सांगीत,भगत और नकल के नाम से प्रसिद्ध है । स्वांग से तात्पर्य है -- रूप धारण करना । इसके अन्तर्गत अभिनेता विभिन्न पात्रों के रूप को धारण करके रंगमंच पर आता है किन्तु उसके द्वारा रूप का यह आरोप अभिनीत पात्र के तदानुरूप अथवा हूबहू अनुरूप नहीं होता - बल्कि लोक रंगमंच के शिथिल शिल्पविधान की भांति ही इसमें अनेक

१- डा० श्रीकृष्णलाल--'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' तृतीय संस्करण, १९५२, पृ०२०० ।

विकृतियां रह जाती हैं । यही कारण है कि गुप्त जी ने इसके लिए स्वांग के अपभ्रंश रूप सांग का प्रयोग किया है[1]। प्रसादजी नौटंकी को 'नाटकी' का अपभ्रंश मानते हैं --'मेरा निजी विचार है कि भांडों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण मुकुन्दानन्द, रस सदन आदि की परम्परा है और नाटकी की अधिकता प्राचीन राग काव्यों अथवा गीति नाट्य की स्मृतियां हैं।' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है । नौटंकी की भाषा में उर्दू का बाहुल्य देखकर डा० बाबूराम सक्सेना नौटंकी का आरम्भ उर्दू कविता और लोकगीतों से मानते हैं । सांग,सांगीत और संगीत को पर्यायवाची मानकर तथा नौटंकी में संगीत तत्व की प्रधानता देखकर डा० सोमनाथ गुप्त ने 'सांग को संगीत का फूहड़ रूप 'मानते हुए प्रस्तुत लोक नाट्य-परम्परा के लिए सांग व सांगीत शब्द भी प्रयुक्त किया है । औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नैरंगे इश्क' (१६८५ई०) में स्वांग खेलने वाले भगतबाजों के उल्लेख से भगत शब्द चल पड़ा ।

३४. स्वांग अथवा नौटंकी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । विक्रम की नवीं शताब्दी में सिद्ध कण्हप्पा के समय से ही हमें इस परम्परा के संकेत मिलते हैं । अमीर खुसरो (१३ वीं शताब्दी), कबीर (१५ वीं शता०) व जायसी (१६ वीं शताब्दी)ने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र इस लोक नाटक के संकेत दिए हैं । बरकत उल्लाह के 'प्रेम-प्रकाश' (१७ वीं शताब्दी) में भी इस शब्द प्रयोग के प्रसंग प्राप्त होते हैं। वस्तुत: नौटंकी आधुनिक नहीं है । इसका वर्तमान स्वरूप अनेक संशोधनों और प्रयोगों के पश्चात् स्थिर हुआ है । नौटंकी के जन्म-दाताओं में मल्ल,रावत और रंगा के नाम लिए जाते हैं । जाट,राजपूत और कुशाहा जाति के ये तीनों व्यक्ति ढोलक बजाकर नौटंकी का अभिनय करते थे । अपने आधुनिक रूप-विधान में प्रस्तुत नाट्य-शैली का आरम्भ सहारनपुर के गुजराती ब्राह्मण अम्बाराम के प्रयासों से माना जाता है, जिन्होंने १८१६ ई० के आस पास नए ढंग के स्वांगों की रचना की । हाथरस के पण्डित नत्थाराम शर्मा,कन्नौज के त्रिमोहन और कानपुर के श्रीकृष्ण पहलवान के नाम भी इस क्षेत्र में लिए जा सकते हैं

1 डा० सोमनाथ गुप्त - 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास', तृ. सं. १९५१ पृ.१४

३५. प्रारम्भ में नौटंकी का क्षेत्र धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों तथा श्रृंगारिक प्रेमाख्यानों तक ही सीमित था । बादमें कुछ साहसिक कथानक भी लिखे गए । भक्त ध्रुव,प्रह्लाद, पूरन भक्त, हकीकत राय,राजा भर्तृहरि,हरिश्चन्द्र, मोरध्वज ,अमर सिंह राठौर,सम्राट अशोक,टीपू सुल्तान आदि धार्मिक,लौकिक और ऐतिहासिक गाथाओं,शीरीं फरहाद, लैला मजनू, सोनी माहिवाल, लालरुख, प्रेम कुमारी, आदि श्रृंगार प्रधान प्रेम गाथाओं तथा सुल्ताना डाकू व डाकू बहराम आदि साहसिक कृतियों के अतिरिक्त अपने आधुनिक रूप में श्रीकृष्ण 'पहलवान' की 'अन्धी दुल्हन', 'परिवर्तन', 'किसान कन्या', 'गरीब किसान', 'बेटी का सौदा' आदि के रूप में अनेक सामाजिक व राष्ट्रीय नौटंकियां भी प्राप्त होती हैं । श्रीकृष्ण 'पहलवान' के अतिरिक्त अनेक लेखकों ने समय की पुकार सुनकर बहुत-सी प्रेरक नौटंकियां लिखीं । उपर्युक्त लीलाओं के सदृश्य नौटंकी का शिल्प-विधान भी नाट्य-शिल्प न होकर पूर्णत: लोकशिल्प है ।

शिल्प विधान की दृष्टि से लोक-नाटक

३६. कथावस्तु -- लोक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोक नाटकों में जीवन अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत किया जाता है-भले ही उसका स्वरूप सुन्दर हो अथवा असुन्दर । जन-जीवन की अनुभूतियों,आकांक्षाओं और उनके आडम्बरहीन जीवन की इनमें यथातथ्य अभिव्यक्तिव उपलब्ध होती है । धार्मिक,पौराणिक,ऐतिहासिक, सामाजिक,लौकिक एवं किंवदन्तियों से अपनी कथा-सामग्री का ग्रहण करने वाले जन-नाटकों को यदि नाट्य-विधान की समीक्षात्मक कसौटी पर कसनन कसा जाए तो अनेक दोष दृष्टिगत होंगे । कथावस्तु की दृष्टि से नाटक पर्याप्त शिथिल है । कथानकों में अतिरंजना और असम्बद्धता दृष्टिगत होती है । वे प्राय: ढीले -ढाले और विश्रृंखलित हैं । संकलन-त्रय ,पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान तथा अंक व दृश्य विधान के कोई संकेत उपलब्ध नहीं होते । जनता की अपनी वस्तु होने के कारण इनमें कला-विधान की अपेक्षा लोक-रंजन पर अधिक आग्रह मिलता है ।

३७. मुख्य कथा द्वारा वीर व श्रृंगार रस के प्रतिपादन के अतिरिक्त लोक-नाटकों में हास्य का बाहुल्य मिलता है, जिसकी सृष्टि विदूषक

व मनसुखा की चेष्टाओं के तथा अटपटे संवादों द्वारा की गई है । हास्य के अतिरिक्त ये नाटक सामाजिक कुरीतियों व अत्याचारों पर व्यंग्य - प्रहार भी करते हैं । श्रृंगार व हास्य दोनों ही रस निष्पादन की दृष्टि से स्थूल,अशिष्ट व भोंड़े प्रकार के हैं ।

३८. संगीत और नृत्य लोक नाटकों के मूलाधार हैं । लोक-धुनों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता है । संगीत शैली पर आंचलिकता का प्रभाव रहता है । लोक-नाटकों के सारे गाने पात्रों को कंठस्थ रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय संगीत पद्धतियां भी तुरन्त जोड़ दी जाती हैं । संवाद पद्यबद्ध रहते हैं । इससे दर्शकों को संगीत और लोक-काव्य दोनों का आनन्द मिलता है और वे इसके प्रवाह में मनोमुग्ध होकर शिथिल कथा-प्रवाह की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते । नृत्य एक पात्रीय व सामूहिक दोनों ही प्रकार के रहते हैं, किन्तु शास्त्रीय परम्परा के निर्वाह की अपेक्षा वे लोक-परम्परा के अनुवर्तक अधिक हैं ।

पात्र,वेशभूषा,अंग-रचना व अभिनय शैली

३९. लोक-नाटकों के पात्र व्यक्ति विशिष्ट की अपेक्षा वर्गगत अथवा प्रवृत्ति विशेष के प्रतिनिधि होते हैं । वे व्यक्ति से अधिक टाइप हैं । ऐतिहासिक,पौराणिक या आधुनिक पात्रों का ढांचा एक-सा होता है और वे देश-काल की चिन्ता न कर समानरूप से अभिनय करते हैं । अभिनय के क्षेत्र में उन्हें पूरी स्वतन्त्रता है । संवादों की टूटी सी कड़ियां वे अपनी ओर से जोड़ लेते हैं । यह भी आवश्यक नहीं कि एक पात्र एक ही भूमिका करे । वेश-भूषा में थोड़ा सा परिवर्तन करके वे क्षमता से विभिन्न भूमिकाओं में उतर आते हैं । स्त्री भूमिकाएं भी पुरुष पात्रों द्वारा ही की जाती हैं ।

४०. लोक-नाटकों में भूमिका के अनुरूप रूप सज्जा प्रणाली व वेशभूषा वैविध्य का सर्वथा अभाव है । सत्य तो यह है कि इस ओर अधिक व्यय ही नहीं किया गया । काजल,चन्दन,गेरू,राख,पुट्ठों पर चिपके

रंगीन कागजों पर बने हुए चेहरे, पन्नियों से चमकते हुए मुकुट, लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र जन-नाटकों के मुख्य प्रसाधन हैं। इन सीमित प्रसाधनों व सस्ती, सादी वेशभूषा में ही अभिनेतागण जनता का मनोरंजन करने में पर्याप्त सफल रहे।

४१. अभिनय शैली भी यथार्थ की अपेक्षा सांकेतिक अधिक है। प्रत्येक पात्र का अभिनय रूढ़िगत होता है। मनोभावों को प्रकट करने के लिए चेहरों पर भावों के उतार-चढ़ाव की सूक्ष्म व मनोगत अभिव्यक्तियों के स्थान पर यहां आंगिक व वाचिक अभिनय को प्रधानता दी जाती है। दर्शकों तक आवाज को पहुंचाना अभिनेताओं का प्रमुख ध्येय होता है फलतः ओजपूर्ण, जोशीले व करुण कोमल संवादों में तात्त्विक अन्तर किए बिना वे एक से ढंग से अपने संवादों को ऊंचे स्वर से बोलते हैं। डा० वार्ष्णेय ने अपने शोध-प्रबन्ध में लीला नाटकों की रूप-सज्जा व अभिनय पद्धति का साकार चित्र प्रस्तुत किया है[१]।

रंगमंच

४२. लोक-नाटकों के लिए किसी सुव्यवस्थित सुसज्जित रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी खुले स्थान पर कुछ तख्त डालकर रंगमंच का निर्माण कर लिया जाता है। संगीतकार व वादक, रामलीला में रामचरितमानस का पाठक, नौटंकी में नगाड़ेवाला व रंगा तथा अभिनेतागण-- सभी रंगमंच के एक कोने में बैठे रहते हैं व मध्य भाग में अभिनय चलता है। एक दो रंगीन अथवा सफेद पर्दे तख्त के आगे पीछे डाल दिए जाते हैं, जिनके उठाने-गिराने का कोई प्रबन्ध नहीं होता। पत्तों और फूलों के तोरण आदि से रंग-सज्जा का कार्य पूरा कर लिया जाता है। नेपथ्य का निर्वाह एक-दो चादरों से हो जाता है। प्रकाश के लिए प्रायः गांवों से ही दीपों व मशालों की व्यवस्था होती है। तख्त के चारों और खुले स्थान में दर्शक बैठते हैं, जहां कि आज के

१- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --'आधुनिक हिन्दी साहित्य', १९४८, पृ०२२६

प्रेक्षागृहों के समान कोई व्यवस्था नहीं होती । पात्र घूम-घूम कर संवाद बोलते हैं ताकि हर दशा के लोग सुन सकें । दृश्य-परिवर्तन के लिए यवनिका की आवश्यकता नहीं होती । नए पात्रों का उठकर संवाद बोलना ही नए दृश्य का आरम्भ है । अभिनय रात्रि के दस बजे से प्रारम्भ होकर प्रायः सूर्योदय तक चलता है । रामलीला व रासलीला में एक ही मंच के स्थान पर अपेक्षित दृश्य की मांग व पूर्वस्थित पृष्ठ-भूमि के आधार पर विविध स्थानों पर अभिनय द्वारा यथातथ्यवादी (Realistic) रंगमंच के प्रस्तुतिकरण के प्रयास भी किए गए हैं ।

लोक-नाटक और व्यावसायिक पारसी रंगमंच

४३. उद्भव की दृष्टि से १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पारसी नाटक मध्ययुगीन लोक-नाटकों के किसी प्रकार ऋणी नहीं हैं । उनका जन्म स्वतन्त्र रूप से अंग्रेजी नाट्य प्रयोगों व तत्कालीन अंग्रेजी रंगमंच की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ है। इसका विवेचन नाटक कम्पनियों के इतिहास सम्बन्धी अध्याय में किया जा चुका है । अतः यह कहना कि पारसी नाटक लीला नाटकों के ही शेक्सपीरियन रूपान्तर[1] थे औचित्य पूर्ण नहीं प्रतीत होता । राजेन्द्रसिंह गौण ने लीला नाटकों के रूप में जन-रंगमंच के उत्थान-काल की द्वितीय स्थिति 'इन्दरसभा नाटक', 'छैल बटाऊ मोहना रानी', 'बन्दर सभा' तथा 'मुचकुन्दर सभा' के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी अन्तिम विकसित परिणति पारसी थियेटरों में स्वीकार की है । 'अकबरी दरबार'[2], अल्लामा अब्दुल्ला यूसुफ अली के 'मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था'[3] तथा डा० नगेन्द्र के 'भारतीय नाट्य साहित्य'[4] में भी इसी प्रकार के संकेत मिलते हैं । उपर्युक्त सभी लेखकों ने १६ वीं सदी के इन्दरसभा व पारसी नाटकों को लोक-नाटकों की परिणति

१- डा०वासुदेव नन्दन प्रसाद--'भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच' शोधप्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय, १६५६,पृ०१७५

२- पृ०२३६-४०

३- पृ० ४७-४८

४- पृ० ४०८

के रूप में स्वीकार किया है । श्याम परमार के अनुसार अवध के नवाब वाजिदअली शाह के समय तक कृष्णलीला का उद्दाम शृंगार अपनी उच्छृंखलता की पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था । अमानत ने इसी विकृत नाट्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते करते हुए इन्दरसभा की रचना की जिसे आगे पारसियों ने विकसित किया।[१] डा० सोमनाथ गुप्त ने कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित लीलाओं को उस गीति नाट्य परम्परा का आदि रूप माना है, जिस प्रणाली पर अमानत की 'इन्दरसभा' लिखी गई । यद्यपि दोनों के वातावरण में आकाश-पाताल का अन्तर है।[२] डा० रणधीर उपाध्याय व रामबाबू सक्सेना ने रास के लिए रहस शब्द के प्रयोग की मान्यता को स्वीकार किया है । रास की अतिशय लोकप्रियता से प्रभावित होकर अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह ने रहस के जलसे शुरू किए । इसके लिए उन्होंने अनेक निपुण नट रखे - स्वयं निर्देशन-भार को संभाला व राधाकृष्ण का रहस जिसे कि नवाब ने नाटक की संज्ञा दी है-- एक लाख से अधिक रुपयों में तैयार कराकर सन् १८४३ में हुजुरबाग में अभिनीत किया । वाजिदअली शाह की रहस परम्परा का प्रभाव अमानत की 'इन्दरसभा' (१८५३ई०) पर भी परिलक्षित होता है, जिसके कारण भ्रमवश लेखक का सम्बन्ध वाजिदअली शाह से जोड़ दिया गया है।[३] रामबाबू सक्सेना ने उर्दू नाटकों में संगीत एवं नृत्य की प्रधानता इन्हीं रहस मण्डलियों के प्रभाव के परिणाम स्वरूप मानी है।[४]

४४. ये सभी आलोचनाएं उद्भव की अपेक्षा लोक-नाटकों के कलागत प्रभाव को लेकर की गई हैं और इनका प्रभाव आलोच्य रंगमंच पर 'इन्दरसभा' के माध्यम से स्वीकार किया गया है । इन्दरसभा का वाजिदअली शाह से सम्बन्ध उसकी लोकप्रियता व प्रभाव की प्रतिक्रिया का अध्ययन तत्सम्बन्धी अध्याय में किया जा चुका है । यहां इतना ही अध्ययन पर्याप्त होगा कि इन्दर सभा ने लोक-नाटकों के कलागत प्रभाव को कहां तक ग्रहण किया व परवर्ती रचनाओं पर उसके प्रभाव का प्रतिफलन किस रूप में हुआ ?

१- भारतीय लोक साहित्य,पृ०१७५

२- डा० सोमनाथ गुप्त--हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास,तृ०सं०, १९५१,पृ०१३

३- डा० रणधीर उपाध्याय-- हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन,प्र०सं०, १९६८,पृ०२८

४- राम बाबू सक्सेना--'हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर' द्वि०सं०, १९४०,पृ०३०८

४५. पारसियों के इस क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व उनके समक्ष नाटक अथवा रंगमंच सम्बन्धी आदर्शों का पूर्णत: अभाव था । नाट्य-रचना के रूप में लोक-नाटक व इन्दरसभा आदि कुछ कृतियां अवश्य उपलब्ध थीं, किन्तु मनोरंजन पर अधिक आग्रह होने के कारण उनमें कथा-संगठन, चरित्र गांभीर्य व वस्तु-शिल्प को कोई महत्व नहीं दिया गया था । नृत्य-संगीत की बहुलता ही लोक-रंजन के लिए पर्याप्त समझी गई । यही कारण है कि न केवल लोक-नाटकों में वरन् 'इन्दरसभा' में भी नृत्य संगीत के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता । रंगशिल्प व मंच सज्जा की दृष्टि से जन-रंगमंचों का स्वरूप पूर्णत: घरेलू प्रकार का था । इसके विपरीत अंग्रेजी कम्पनियों ने वैज्ञानिक साधनों व रंगमंचीय टेकनीक से सम्पन्न एक पूर्ण रंगमंच की रूपरेखा प्रस्तुत की । पारसी व्यावसायिक मनोवृत्ति के थे । उनदोनों स्थितियों का संयोग करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के विचार से उन्होंने रंगमंच अंग्रेजी नाटकों से व नृत्य संगीत लोक नाटकों से ग्रहण किया । दोनों के समुचित संयोग से ही प्रेक्षकों को रसमग्न कर अपना उद्देश्य प्राप्ति में वे सफल हो सके । किसी भी नई धारा के लिए पूर्व प्रचलित परम्परा से एकदम अलग हटना सम्भव नहीं है । भले ही वह उसके रूप को आगे जाकर कितना ही परिवर्तित कर ले । आलोच्य पियेट्रिकल कम्पनियों ने भी इसी प्रथा का अनुसरण किया । यही कारण है कि दोनों के वातावरण में इतना वैविध्य दृष्टिगत होता है ।

व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की पृष्ठभूमि

४६. साहित्य व्यक्ति की व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यंजना है--यह सत्य है । लेकिन ये अनुभूतियां निराधार नहीं होतीं, वरन् अपने युग के समाज तथा तत्कालीन परिस्थितियों के संघर्ष व समन्वय से विनिर्मित होती हैं । अत: किसी युग के साहित्य की सम्यक् विवेचना के लिए उसके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि का अध्ययन अनिवार्य है । आलोच्य रंगमंचीय नाटकों में कलातत्व की अपेक्षा सामाजिकता का अधिक आग्रह उस युग का ही प्रभाव है जिसका थोड़ा-सा अध्ययन यहां आवश्यक प्रतीत होता है ।

४७. १८ वीं शती ईसवी भारतीय इतिहास में विघटन की शताब्दी कही जाती है । मुगल सम्राट पारस्परिक युद्ध-विग्रह व केन्द्रीय शक्ति

के अभाव में नष्टप्राय: हो रहे थे । सन् १४९८ में वास्को डिगामा के भारत-आगमन से पुर्तगाल के साथ भारत के व्यावसायिक सम्बन्ध प्रारम्भ में ही शुरू हो चुके थे । इस समय डच, फ्रांसीसी व यूरोपियनजातियों ने भी व्यापार-व्यवसाय के उद्देश्य से भारत में प्रवेश किया । इन लोगों के आगमन के समय मुगल शासन-व्यवस्था अपनी अन्तिम सांसें ले रही थी । प्रारम्भ में इन यूरोपियनजातियों का उद्देश्य विशुद्ध: व्यावसायिक था । औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कल-कारखानों की वृद्धि से यूरोपियन पूंजीपतियों को विदेशी मंडियों की आवश्यकता थी । भारत की धन-धान्यपूर्ण स्थिति में उन्हें इसके अधिक अवसर दृष्टिगत हुए । किन्तु देश की राजनैतिक अस्तव्यस्तता व सम्राटों के परस्पर संघर्ष व विग्रह से उत्पन्न देश की अनिश्चयात्मक स्थिति ने उन्हें राज्य के प्रलोभन में डाल दिया । तत्कालीन परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाकर ये जातियां मूल उद्देश्य के साथ ही राजनैतिक सत्ता के अपहरण के लिए प्रयत्नशील हुईं । चारों जातियों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ । अधिक नीति कुशल व व्यावहारिक बुद्धि सम्पन्न होने के कारण अंग्रेज सफल रहे । सन् १७५७ के प्लासी युद्ध में अंग्रेजों की महान विजय हुई । १७६४ ई० के बक्सर युद्ध ने उन्हें बंगाल बिहार का राज्य दे दिया । १७५७ ई० का कूटनीतिपूर्ण संघर्ष लार्ड वेलजली तथा डलहौजी की साम्राज्यवादी नीतियों से पोषित होकर १८५७ ई० के गदर में अपनी पूर्णता को पहुंच गया जब कि भारतीय राजाओं, नवाबों तथा सेनानायकों को पराजित कर के अंग्रेजों ने यहां की सत्ता प्राप्त कर ली । भारत अंग्रेजों के अधीन होकर ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग हो गया ।

४८. अंग्रेजों का शासन भारत के लिए अभिशाप था ।

न केवल राजनैतिक मान सम्मान धूल-धूसरित हुआ, वरन इस देश से कच्ची सामग्री ले जाकर उसके स्थान पर विदेशी सामग्री के आयात ने भारतीय ग्रामोद्योगों को नष्ट कर दिया । सांस्कृतिक व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन की उदात्त परम्पराओं पर कुठाराघात ने सारे देश को निरीह, विपन्न और दरिद्र बना दिया ।

४९. लेकिन दूसरी ओर इसी विदेशी शासन के फलस्वरूप देश में नव जागरण व पुनरुत्थान की नई चेतना का जन्म हुआ । रेल, तार तथा डाक-व्यवस्था व यातायात के साधनों के फलस्वरूप सारा देश राजनैतिक एकता के सूत्र में बंध गया । बम्बई, कलकत्ता, मद्रास के बन्दरगाहों द्वारा विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध के कारण पश्चिमी सम्पर्क ने भारतीयों को नई दृष्टि दी । नई सांस्कृतिक संस्थाओं, शिक्षा प्रणाली, प्रेस पत्रकारिता आदि के फलस्वरूप स्वतन्त्र भाषा तथा साहित्य का महत्व विदित हुआ, जिससे अनुप्रेरित होकर भारतवासी भी प्राचीन साहित्य के अध्ययन में अनुरत हुए । उन्हें अपने यशस्वी अतीत का पता चला और वे उसकी पुनर्स्थापना की आकांक्षा करने लगे । सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति इसी राष्ट्रीय जागरण की भूमिका थी जो अंग्रेजों द्वारा दबाए जाने पर भी भीतर ही भीतर सुलगती रही तथा सामाजिक चेतना व सुधारों के झोंके पाकर स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में प्रज्ज्वलित हो उठी । इस नई चेतना के प्रेरक स्रोत निम्नलिखित थे--

एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल

५०. सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४ई०) ने एशिया के साहित्य, कला विज्ञान और प्राचीन इतिहास को अपने अध्ययन का विषय बनाकर सन् १७८३ में 'एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल' की स्थापना की तथा उसके ही एक समारोह में ग्रीक व लैटिन की सापेक्षता में संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया । इन निष्कर्षों ने जहां अन्य विदेशी विद्वानों को संस्कृत के अध्ययन की ओर प्रेरित किया वहां भारतवासियों में भी गौरव की अनुभूति के साथ आत्मविश्वास का संचालन किया और उन्हें अपने प्राचीन साहित्य व संस्कृति के अध्ययन की ओर अभिमुख होने की प्रेरणा दी ।

नई शिक्षा-पद्धति

५१. अंग्रेजों के भारत-आगमन से पूर्व देश में संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा का यत्किंचित् प्रबन्ध था । अंग्रेजों ने अपने प्रशासकीय स्थायित्व व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक नई शिक्षा पद्धति का आरम्भ किया ।

सन् १८०० ई० में बंगाल में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ [illegible] शिक्षा का सूत्रपात हुआ था जिसके प्रसार में लार्ड मैकाले का विशेष हाथ था । ईसाई मिशनरियों ने भी अपने धर्म के प्रचार के लिए अनेक मिशनरी स्कूल खोले जिनमें अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध था । [illegible] शिक्षा के प्रसार के लिए १८१७ ई० में 'कलकत्ता बुक सोसायटी' व 'आगरा बुक सोसायटी' की स्थापना हुई । सन् १८२३ में आगरा कॉलेज, १८३० के लगभग दिल्ली व बरेली कॉलेज, १८२० में बम्बई का नेटिव स्कूल बुक और नेटिव स्कूल, १८२५ में नेटिव एजुकेशन सोसायटी, १८४० में बम्बई का नेटिव बोर्ड आफ एजुकेशन, १८२७ में एल्फिन्स्टन इन्स्टीट्यूट का प्रारम्भ हुआ । सन् १८२० में स्त्रियों के शिक्षार्थ 'जुवेनाइल सोसायटी फॉर बंगाली फीमेल स्कूल' निर्मित हुआ । १८२३ ई० में पब्लिक इंस्ट्रक्शन कमेटी का निर्माण हुआ । इन सब संस्थाओं द्वारा देश में अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रचार को प्रोत्साहन मिला । सन् १८५४ में चार्ल्स वुड की शिक्षा योजनाओं के अनुसार भारत के कई गांवों में सरकारी स्कूल खोले गए, प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार चलने वाली शिक्षा संस्थाओं का आधुनिकीकरण कियागया व ग्रामीण वर्नाक्युलर स्कूल, ऐंग्लो वर्नाक्युलर, हाई स्कूल, कॉलेज व युनिवर्सिटी इन पांच सोपानों में शिक्षा को वर्गीकृत किया गया । १८५७ई० में बम्बई, मद्रास व कलकत्ता विश्वविद्यालय, १८६०ई० में लाहौर मेडिकल कॉलेज, १८६४ई० में कैनिंग कॉलेज लखनऊ तथा मुस्लिम ऐंग्लो ओरियण्टल कॉलेज, अलीगढ़ स्थापित हुए । १८८२ ई० में लाहौर तथा १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय खुले । इन सभी उच्च शिक्षा संस्थाओं में अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यमथी जिससे निकले हुए भारतीय जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण लेकर आकरित हुए । इस नवीन शिक्षा ने प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा कर के जहां संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के भाषान्तर तथा रूपान्तर प्रस्तुत किए तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास करके देश को उन्नति के अवसर प्रदान किए वहां कुछ अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति उसके

अ.५ प्रभाव में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के पुजारी हो गए । कुछ भी हो इतना तो सिद्ध है कि इससे भारतीयों को नई दृष्टि मिली ।

प्रेस और पत्रकारिता

५२. शिक्षा का प्रसार, साहित्य की उन्नति तथा नवीन राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार का प्रेस से अभिन्न सम्बन्ध है । इस मुद्रण-कला का आरम्भ श्री विल्किन्स (१७५०-१८३०) के द्वारा किया गया था जिन्होंने १८०७ ई० में सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में नागरी टाइप का निर्माण किया । सन् १८०५-८३ के मध्य भागवतगीता और 'हितोपदेश' के अंग्रेजी प्रकाशन हुए । ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए बाइबिल के प्रकाशन हेतु मुद्रण कला को विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया ।

५३. सन् १८३५ से पूर्व पत्रकारिता पर अंग्रेजों का एकाधिपत्य था । उनके उद्देश्यों की परिपूर्ति में ही पत्रों का प्रकाशन होता था । सर चार्ल्स मेटकाफ ने यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से भारतीयों को परिचित कराकर उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनाने के अपने कूटनीतिपूर्ण उद्देश्य से १८३५ ई० में एक ऐक्ट बनाकर प्रेस को स्वतन्त्रता प्रदान की जो १८७८ई० में लार्ड लिटन के वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट से छीन ली गई । १८५७ई० के गदर में स्वातन्त्र्य संबंधी मनोभावों तथा शासकों के प्रति रोष की अभिव्यक्ति के कारण इस पत्र-प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ था जो १८८० ई० में लार्ड रिपन के 'प्रेस ऐक्ट' से पुनः प्राप्त हो गई ।

५४. बंगाल गजट, इण्डियन गजट, कलकत्ता गजट व बंगाल हरकारा आदि अन्य अनेक पत्रिकाओं द्वारा देश में नवीन भावों व विचारों को प्रोत्साहन मिल रहा था । ये सभी पत्र-पत्रिकाएँ अंग्रेजी में निकलती थीं, जिनका साधारण जनता तक पहुँचना कठिन था । इस वस्तु स्थिति को भांप कर भारतीय नेताओं को यह आवश्यकता महसूस हुई कि हिन्दी को इन पत्रों का माध्यम भाषा बनाया जाए । इसी तथ्य के परिणाम स्वरूप ३० मई सन् १८२६ को पण्डित जुगलकिशोर के सम्पादकत्व में कलकत्ते से सर्वप्रथम साप्ताहिक हिन्दी पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ । १८२६ ई० को 'बंगदूत', जून १८४४ई० को 'बनारस अखबार' तथा जून १८५४ को हिन्दी का प्रथम दैनिक समाचार 'सुधा वर्षण' निकला । इसके पश्चात् तो हिन्दी पत्र, १८७७ई० में 'मित्र विलास', १८७७ई० में 'हिन्दी प्रदीप', १८८१ में 'आनन्द कादम्बिनी', १८९७ई० में 'नागरी प्रचारिणी'

पत्रिका' व १६००ई० में 'सरस्वती' आदि बहुत सी पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। मुद्रण कला के कारण पुस्तकों का प्रकाशन सुगम हो गया। इन समाचार-पत्रों पत्रिकाओं व पुस्तकों ने ज्ञानवृद्धि के साथ राष्ट्रीय भावनाओं के पोषण व प्रसार में सहयोग देकर नवोत्थान के लिए स्थायी पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

५५. उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पाश्चात्य शिक्षा, उसके बुद्धिवादी दृष्टिकोण, प्रेस, पत्रकारिता, वैज्ञानिक आविष्कार व नव विचारों के सम्पर्क के फलस्वरूप देश में एक नई चेतना को स्थायित्व मिला। इसी का प्रतिफलन १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक सामाजिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों में हुआ। इन समस्त गतिविधियों का मुख्य ध्येय धर्म व समाज से परम्परावाद, दुराग्रह व कुरीतियों का उन्मूलन करके स्वस्थ सामाजिक विचारों की प्रतिष्ठापना करना था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, सोशल रिफार्म कमेटी व इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने समाज सुधार की इन प्रवृत्तियों को प्रेरणा दी।

५६. सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात सर्वप्रथम बंगाल के ब्रह्म समाज द्वारा हुआ। सन् १८२८ में राममोहन राय द्वारा स्थापित यह संस्था मूलत: धार्मिक थी जिसका उद्देश्य धर्म शिथिल भारतवासियों में धर्म के विशुद्ध रूप के साथ धार्मिक सहिष्णुता की भावना को जागृत करना था। केशवचन्द्र सेन तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इसके प्रमुख अनुयायी थे, जिन्होंने ~~सेन-तथा-महर्षि-देवेन्द्रनाथ-ठाकुर-ने~~ सर्वेश्वरवादी संस्कृति के अनुमोदन के साथ सामाजिक क्षेत्र में बाल विवाह, सती प्रथा, तथा पर्दा प्रथा का खण्डन किया तथा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। लेकिन प्रस्तुत समाज का प्रभाव बंगाल की सीमाओं में ही विशेष रूप से रहा।

५७. भारतीय नवोत्थान का विशुद्ध दृष्टिकोण हमें आर्य समाज आन्दोलन में विशेषरूप से मिलता है। इसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में बम्बई में की थी, किन्तु उसकी शाखाएं प्रशाखाएं शीघ्र ही लाहौर व उत्तरप्रदेश में प्रसारित हो गईं। धार्मिक क्षेत्र में स्वामी जी ने कर्मकांडों

व अन्धविश्वासों का उन्मूलन व वेदों की श्रेष्ठता का उद्घोष करके वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। अनेकों हिन्दुओं को अपनी शुद्धिकरण प्रक्रिया से विजातीय बनने से रोका । सामाजिक क्षेत्र में बाल विवाह व बहु विवाह का निषेध , विधवा विवाह का समर्थन स्वदेशी का प्रचार, गौरक्षा तथा स्त्री शिक्षा का प्रसार किया। नारी को उसका अपना सर्वोच्च स्थान दिलाने में स्वामी जी का योगदान महत्वपूर्ण है । शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल प्रणाली को प्रश्रय दिया व हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करके संस्कृत के साथ ही हिन्दी का प्रचार किया।

५८. सन् १८७५ में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्कॉट के द्वारा थियोसाफिकल सोसायटी की नींव रखी गई । १८७९ ई० में भारत आकर उन्होंने मद्रास के निकट अडियार में इस संस्था की स्थापना की । १८९३ ई० में श्रीमती ऐनी बिसेंट अपने भारत आगमन के पश्चात् प्रधान संचालिका के रूप में संस्था से संबंधित हो गई । इस संस्था का मुख्य उद्देश्य प्राचीन ज्ञान गरिमा व गौरव का गुणगान करना था । प्राचीन के महात्म्य से देश-प्रेम की भावनाओं के पोषण के साथ ही कुरीतियों का उन्मूलन करके सामाजिक सुधारों को भी इसने पर्याप्त बल दिया ।

५९. रामकृष्ण परमहंस द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का विकास स्वामी विवेकानन्द (१८६२-१९०२) के सहयोग से हुआ, जिन्होंने शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता का शंखनाद किया। देश को एक नई स्फूर्ति दी । धार्मिक समन्वय व समाज तथा राष्ट्र की निःस्वार्थ सेवा को आध्यात्मिक साधना ० का प्रमुख आधार स्वीकार करके इन स्वामी जी ने हिन्दू धर्म के पुराने गौरव को आधुनिक युग की नवीन पृष्ठभूमि पर स्थापित किया ।

६०. सोशलरिफार्म कमेटी अपने उद्देश्य में पूर्णतः सामाजिक संस्था थी व समाज-सुधार के हेतु ही स्थापित हुई थी । गोपालकृष्ण गोखले बर्जास्टिस रानाडे इसके प्रमुख प्रचारक थे । प्रतिवर्ष इस संस्था की एक बैठक होती थी जो

बाद में इण्डियन नैशनल कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ होने लगा ।

६१. १८८५ ई० में स्थापित इण्डियन नैशनल कांग्रेस प्र प्रमुखत: एक राजनैतिक संस्था थी जिसका उद्देश्य आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेकर स्वराज्य व स्वतन्त्रता प्राप्त करना था । सामाजिक सुधारों के बिना स्वतन्त्रता व स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं - इस सत्य की अनुभति होने पर महात्मा गांधी जैसे इसके प्रमुख कर्णधारों ने समाज-सुधार के रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर विशेष ध्यान दिया ।

नाटक और समाज-सुधार

६२. उपर्युक्त सांस्कृतिक आन्दोलनों ने देश की सुप्त आत्मा को जागृत किया । राष्ट्रीय परम्पराओं के नवीन मूल्यांकन के साथ सामूहिक चेतना को गति प्रदान की । नाटककारों पर भी आन्दोलनों की इन गतिविधियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । खुली आंखों से अपने समाज की विकृतियों पर दृष्टिपात करने के साथ ही उन्होंने उसके प्रक्षालन की चेष्टाएं कीं । प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय नाटकों की प्रारम्भिक स्थिति से सम्बन्धित है । यही कारण है कि इसमें कलात्मक सौन्दर्य से अधिक हमें नाटककारों की सामाजिक चेतना का आग्रह अधिक मिलता है जो उनके अपने युग की देन है । यह चेतना कभी तो किसी पात्र के माध्यम से और कभी नाटक की भूमिकाओं के माध्यम से व्यक्त की गई है । नाटक चाहे पौराणिक हो अथवा ऐतिहासिक सब में इसी सामाजिकता की प्रधानता है । संयोजन की विशिष्ट प्रतिभा के अभाव में काल-भेद के कारण इसी उपर्युक्त तथ्य के फलस्वरूप आलोच्य नाटकों में अनेक असंगतियां व दोष आ गए हैं । उनके कलात्मक सौन्दर्य को अवश्य क्षति पहुंची है । किन्तु सामाजिकता की दृष्टि से उनके महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती । प्रश्न है, उसके प्रस्तुतिकरण की शैली का ? वह कितने स्थूल व सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्त हुई है? इसका विवेचन आगे के तत्सम्बन्धी अध्यायों में किया गया है ।

-०-

अध्याय -- २

-0-

पारसी रंगमंच का इतिहास

पारसी रंगमंच का इतिहास

१.पारसी नाटक कम्पनियां कब और किन परिस्थितियों में आविर्भूत हुईं ? अपना रूप ग्रहण करती व विकास पथ पर अग्रसर होती हुईं किन झंझावातों में फंसकर काल कवलित हुईं ? इन प्रश्नों के समाधान में जाने से पूर्व मन में सहजरूपेण कुछ अन्य तथ्यों की जानकारी के प्रति औत्सुक्य उत्पन्न होता है जिनका अन्तत: इन्हीं प्रमुख प्रश्नों से सम्बन्ध है । पारसी वस्तुत: कौन थे ? उनका नाटक कम्पनियों से क्या सम्बन्ध रहा ? अथवा पारसी नाटक कम्पनियों से क्या तात्पर्य है या इससे किस अर्थ-बोध की उपलब्धि होती है आदि आदि ? पूर्व प्रश्नों के उत्तर से पहले इन प्रश्नों का समुचित समाधान अत्यावश्यक है ।

२. पारसी प्राचीन ईरान के वासी थे । जिस प्रकार भारतवासी भारतीय नाम से सर्वत्र ज्ञातप्राय: हैं , उसी प्रकार अपनी मातृभूमि परशिया के कारण ये लोग भी पारसी नाम से विख्यात हो गए[१]। किन्तु इस संज्ञा से किसी जाति अथवा धर्म का अर्थबोध नहीं होता । धर्म की दृष्टि से ये ज़रथुस्त्र मत को मानने वाले व अग्निपूजक रहे हैं जिनका कि कभी अपना स्वतन्त्र राष्ट्र व वैभवपूर्ण इतिहास,सभ्यता और सम्पन्न संस्कृति थी । राज्यशक्ति की दृष्टि से भी इनका महत्वपूर्ण स्थान था । प्रत्येक दृष्टि से ये अपने समय के एशियाई राष्ट्रों के अगुआ रहे । किन्तु यह वैभवपूर्ण अतीत उसी समय से छिन्न-भिन्न होना प्रारम्भ हो गया जब कि ईसा पूर्व ६३३ वि० में खलीफा औमार के आदेश पर ईरान पर

१- थियेटर इन द ईस्ट,पृ० ७३

' Parsis were religiously refugees from Persia, hence the word parsi.'

मुसलमानों का सर्वप्रथम आक्रमण हुआ । इसके पश्चात् तो सफलताओं-असफलताओं के मध्य इनकी आक्रामक प्रवृत्तियों का काली बदली निरन्तर ईरान पर उस समय तक छाई रही, जब तक कि उन्होंने ईरान को अपने इस्लाम धर्म की अखण्डता में सम्मिलित नहीं कर लिया । युद्ध का मुख्य कारण ही इस्लाम धर्म का प्रसार था , जैसा कि सम्राट यज्दे-जर्द के राज दरबार में उपस्थित मुस्लिम दल के अध्यक्ष नोमन मैकरान ने अपने आगमन कारणों के उत्तर में स्पष्ट किया है[१]। यह धार्मिक प्रवृत्ति ही निरन्तर मिलने वाली पराजयों में उन्हें वह अनुपम उत्साह और बल प्रदान करती रही, जिससे उत्साहित होकर वे एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्ति में सफल हो सके ।

२, मुस्लिम आक्रान्ताओं की विजयोपरान्त जरथुस्त्रियों के लिए अपने धर्म की रक्षा दुष्कर हो गई व तलवार के भय से उन्हें बरबस ही परधर्म को अंगीकृत करने के लिए बाध्य होना पड़ा ।किन्तु कुछ धर्म भीरु अपने धर्म की सुरक्षा के विचार से खोरसान के पहाड़ी इलाकों में जा बसे । एक हजार वर्ष तक के शान्तिपूर्ण जीवनयापन के पश्चात् आक्रान्ताओं की रक्त शोषित तलवारों की खोज के कारण उन्हें यह शान्ति स्थल भी छोड़ना पड़ा । तदुपरान्त औरमस द्वीप में कुछ समय रहने के पश्चात् अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण अपना मातृभूमि को सदैव के लिए छोड़ कर उस स्थान पर जाने को बाध्य होना पड़ा जहां उन्हें धर्म पालन की स्वतन्त्रता हो और वे सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके । सब धर्मों की समानता में विश्वास रखने वाले भारत में उन्हें विकास के अधिक अवसर दृष्टिगत हुए । अत: आज से १३०० वर्ष पूर्व वे 'किस्सा-ए संजान' के

१-दोसाभाई फराम जी कारका-- हिस्ट्री आफ द पारसीज़,भाग१,१८८४,पृ०१५

'Allah commanded us, by the mouth of his Prophet to extend the dominion of Islam over all nations. That order we obey,and say to you. Become our brothers by adopting the Faith, or consent to pay tribute if you wish to avoid war.'

लेखक के मतानुसार दीयु द्वीप में आकर बस गए जो कि काठियावाड़के दक्षिण में स्थित है । यहां इनका प्रवास उन्नीस वर्ष की अल्पकालीन अवधि तक ही रहा जो किसी भी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता । एक क्षेत्र में इसका योग अवश्य माननीय है । यहां रहकर ही पारसियों ने सर्वप्रथम भारतीयों की रीति परम्परा, धर्म और मान्यताओं के विषय में इतनी ज्ञान प्राप्ति कर ली थी कि आगे जब ईसवी सन् ७१६ में उन्होंने संजान,जो कि दमन के २५ मील दक्षिण में है, को अपने स्थायी निवास स्थान के रूप में चुना तो वहां के राजा जादिराणा की शंकाओं का हिन्दुओं की मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए वे भली भांति समाधान करने में सफल हो सके । इस मान्यता के पीछे संरक्षण प्राप्ति की उनकी चिन्ता ही मुख्य आधार थी । इसी कारण राजा के सन्तोष के लिए सोलह सूत्रों[१] में अपने धर्म की रूपरेखा के प्रस्तुतिकरण के साथ ही राजा के आदेशानुसार उन्होंने इस देश की भाषा और वेशभूषा को भी अपना लिया । इस प्रकार सम्राट की समस्त शंकाओं को निर्मूल करते हुए पारसियों ने संजान को अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया । छः शताब्दियों के सुखपूर्ण जीवनयापन के पश्चात् ईसवी सन् १३०५ में जब कि संजान पर मौहम्मद शाह और अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण प्रारम्भ हो गए उन्होंने यह स्थान छोड़ दिया ।

४. अन्य प्रदेश में यत्र-तत्र बिखर कर भी पारसियों ने पश्चिमी समुद्र तटीय प्रदेशों को ही अपना मुख्य निवासस्थान बनाया । इन प्रदेशों ~~को-इन-अपनम~~ में संजान के अतिरिक्त नवसारी --जहां कि सर्वप्रथम ई०सन ११४२ में पहुंचे, सूरत-- ई०सन् १४७८ में प्रवेश किया व बम्बई (ई०सन् १६६८ से कुछ पूर्व) इनके प्रमुख केन्द्रस्थल रहे । बम्बई तो आज भी इनका मुख्य कार्यस्थल कहा जा सकता है ।

१- परिचय परिशिष्ट में देखें ।

५. अंग्रेजों के भारत-आगमन के साथ ही पारसी समुदाय के स्वर्णिम युग का आरम्भ हुआ। अंग्रेजों के सम्पर्क से इसमें उस क्रान्ति के बीच अंकुरित हुए, जिसने कि इस अल्पसंख्यक समुदाय को समृद्धि की चोटी पर पहुंचा दिया। इससे पूर्व का उनका कई शताब्दियों का इतिहास अन्धकारपूर्ण तो नहीं किन्तु अव्यवस्थित और धूमिल अवश्य रहा। इसका प्रमुख कारण था भारत की अव्यवस्थित दशा, जिसमें भारत पर अनेक आक्रमण हुए व विभिन्न विदेशी जातियां आधिपत्य के लिए संघर्षरत रहीं। इन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में शरणार्थी पारसियों को विकास के अधिक अवसर उपलब्ध न हो सके और वो कृषि- उद्योग के द्वारा ही जीवन यापन में संलग्न रहे। किन्तु अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् उनके सामने विकास के अनेक रास्ते खुल गए।

क्रान्ति युग

व्यवसाय

६. सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दियों में जब कि युरोपियन व्यावसायिक कम्पनियों ने सूरत में प्रवेश किया तो अब तक कृषि व लघु उद्योग-धंधों में संलग्न पारसियों में एक चेतना की लहर दौड़ी। विकास के स्वर्ण अवसर देखकर वे भी इन व्यापारिक कार्यों में प्रवृत्त हो गए। यद्यपि उनका प्रवेश कमिशन एजेण्ट और यहां के वासियों तथा विदेशियों के बीच मध्यस्थ के रूप में हुआ था किन्तु अपनी कुशाग्र बुद्धि, कार्य कुशलता व व्यापार-व्यवसाय में अपनी निपुणता के कारण शीघ्र ही इस क्षेत्र में उन्होंने अपने पैर जमा लिए। इतना ही नहीं बम्बई आकर अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। आज तो वे यहां इस क्षेत्र के अगुवा ही नहीं प्राणाधार भी कहे जाते हैं।

शिक्षा

७. अन्य जातियों के समान पारसी समुदाय अब तक अशिक्षा व रीति परम्पराओं के बाह्याडम्बर में करवटें ले रहा था। व्यावहारिक बुद्धि कौशल और चातुर्य की उनमें कमी न थी, किन्तु शिक्षा और ज्ञान के मूल्य की

प्रतीति इन्हें यूरोपियों के सहयोग से ही हुई और इस क्षेत्र में 'बम्बई नेटिव एजुकेशन सोसायटी' के द्वारा उनके सद्प्रयत्न प्रारम्भ हो गए। शिक्षा क्षेत्र भी उनकी अद्भुत सफलताओं से शून्य न रहा व सामान्य से लेकर उच्चस्तरीय व तकनीकी शिक्षा में वे अग्रगण्य रहे। यही नहीं अंग्रेजों द्वारा मिलने वाले सम्मान व उच्च उपाधियों के भोक्ता भी सर्वप्रथम पारसी ही थे।'श्री जमशेद जी जीजीभाई प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने सन् १८४२ में नाइटहुड' (Knighthood) का सम्मान पाया।

स्त्री शिक्षा

८. किसी भी समाज की प्रबुद्ध चेतना का पता नारी के प्रति उसके दृष्टिकोण से चलता है। संकीर्ण मनोवृत्ति वाले जिन मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच पारसी वर्ग रह रहा था, उसपर इनके संकीर्ण विचारों की प्रतिच्छाया न पड़ती यह असम्भव था। युगानुकूल परिस्थितियों के अनुसार इस वर्ग ने भी अपनी स्त्रियों को चहारदीवारी में रखा। उसके लिए शिक्षा व स्वतन्त्रता का कुछ मूल्य हो सकता है, यह विचार ही उस समय इनके लिए बुद्धिगम्य न था। किन्तु 'बाम्बे नेटिव' या 'एल्फिन्सटन कालेज' के शिक्षा प्राप्त युवकों ने इस कमी को अनुभव करते हुए अपनी जाति के उत्थान में महत्वपूर्ण कार्य किया। दैनिक पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं व भाषणों तथा अन्य अनेक प्रयत्नों द्वारा उन्होंने अपने वर्ग की मनोवृत्तियों को उर्वर बनाया जिसकी प्रेरणा के फलस्वरूप 'स्टूडेन्ट्स लिटिरेरी एण्ड साइंटिफिक सोसायटी' के निर्देशन में २२ अक्टूबर सन् १८४९ को चार पारसी गर्ल्स स्कूल अस्तित्व में आए। इसके आगामी वर्षों में तो पारसी समाज के नारी वर्ग ने भी साहित्य-विज्ञान आदि प्रत्येक क्षेत्र में अपनी अपूर्व बुद्धि क्षमता का परिचय दिया।

९. शिक्षा के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में भी पारसी अग्रगण्य रहे जिसने कि समाज में उद्बोधन व चेतना का मंत्र फूंका। अपनी भाषा होने के कारण केवल गुजराती ही इनके सहयोग से सम्पन्न नहीं हुई वरन् अंग्रेजी को भी इनका अपेक्षित सहयोग मिला। जहां गुजराती के प्रथम

पत्र 'बम्बई समाचार' के प्रतिपादक श्री फरदून जी मैरवान जी नामक अप्रतिम प्रतिभाशाली पारसी सज्जन थे, जिन्होंने अनेक पत्रिकाओं का प्रतिपादन किया वहां अंग्रेजी पत्र 'टाइम्स आफ इण्डिया' का मैनेजर व प्रोपराइटर भी सर्वप्रथम इसी वर्ग का रत्न था ।

१०. सच तो यह है कि जीवन का कोई भी क्षेत्र पारसियों के सहयोग से वंचित नहीं रहा । भारत की सभी जातियों, उपजातियों, वर्गों व समुदायों में केवल यह वर्ग ही ऐसा था, जिसने मिलने वाले प्रत्येक साधन का लाभ उठाया । साहित्य व विज्ञान का कोई भी क्षेत्र भी इनसे वंचित न रह सका ।

पारसी और रंगमंच

११. पारसियों के इतिहास की इस संक्षिप्त झलक के पश्चात् प्रश्न उठता है कि अन्य साधनों से लाभान्वित होने व प्रमुखत: व्यापार व्यवसाय में लगे इस व्यापारिक मनोवृत्ति वाले वर्ग का नाटक से क्या सम्बन्ध है जो कि साहित्य का एक अंग होने के कारण इनकी मनोवृत्ति का प्रत्यक्षत: विरोधी प्रतीत होता है ?

१२. पारसी रंगमंच वस्तुत: पाश्चात्य रंगमंच की प्रतिच्छाया या उसके अनुकरण में उद्भूत रंगमंच है जो अंग्रेजों के भारत-आगमन के पश्चात् अस्तित्व में आया । व्यापारी के रूप में आए अंग्रेज जब यहां के शासनाधिकारी बन बैठे और उनके पांव भली भांति जम गए तो इस वर्ग को मनोरंजन की आवश्यकता हुई ,जिसकी तृप्ति के लिए इस सत्ताधारी ने कलकत्ता व बम्बई जैसे प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को चुना । यह सत्य है कि उनके इस प्रकार के प्रयत्न काफी समय पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में समुचित रूप से स्थापित हुए जब कि सोलहवीं शताब्दी में ही इस अंग्रेज जाति ने देश के प्रांगण में प्रवेश पा लिया था । उस समय की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी खुले मैदानों व विशालकाय कोठियों में अपने नाटकीय प्रयोगों से ही सन्तुष्ट थे, जो फौजें अपनी छावनियों में ही मनोरंजनात्मक साधन

जुटाने में संलग्न थी । अधिकारी वर्ग अपने पूर्ववर्ती अधिशासकों के नाटकीय प्रदर्शनों से प्रसन्न था, किन्तु समय की गति के साथ यह वर्ग पुर्तगालियों व मुगल दरबारों के पारसी नाटकों में रमान रह सका । उसे अपनी सभ्यता व संस्कृति से सम्बद्ध प्रदर्शनों की आवश्यकता हुई और इस इच्छापूर्ति के लिए उसने अपने अभिनय किए । डा० अब्दुल अलीम नामी ने अपनी पुस्तक में सन् १८०६ से १८५५ तक के अन्तराल में होने वाले प्रयोगों के विवरण इस प्रकार दिए हैं ।

सन् १८०६ से १८५५ तक

१- सन् १८०६ से १८१४	--	१६ दिन
२- सन् १८१५ से १८२५	--	३२ दिन
३- सन् १८२६ से १८३५	--	४४ दिन
४- सन् १८४६ से १८५५	--	५७ दिन
		१४६ दिन -- ५० वर्ष

१३. स्पष्ट है कि पचास वर्षों में अंग्रेजों ने केवल १४६ दिन अपने अभिनय किए । इतनी लम्बी काल अवधि के विचार से ये अभिनय काफी न्यून है । नाटकों के लिए रंगमंच की आवश्यकता से इतना तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल - अवधि में निश्चित रूप से किसी एक रंगमंच व रंगभवन का अवश्यमेव निर्माण किया गया होगा, जहां कि उनके अभिनय सुगमतापूर्वक हो सके । यह अनुमान असत्य और निराधार भी नहीं है,क्योंकि जेम्स डगलस कि पुस्तक' बाम्बे एण्ड वेस्टर्न इण्डिया' में हमें 'कच्चा थियेटर के नाम से एक रंगमंच का विवरण मिलता है जो पुरानी बम्बई ग्रीन के पास सन् १७५० में निर्मित हुआ था । नष्टप्राय: होने पर सन् १७७० व १८३० में इसका दो बार पुन: निर्माण किया गया, किन्तु सन् १८३३ में यह पूर्णत: काल कवलित हो गया ।

१४. पारसियों के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व अंग्रेजों के नाटकीय अभिनयों के लिए 'कच्चा थियेटर' के अतिरिक्त अन्य और भी रंगभवन बम्बई में निर्मित हुए थे यथा ग्रांट रोड के उत्तर विभाग में स्थित

'रॉयल थियेटर' अथवा माटुंगा में निर्मित 'आर्टिलरी - थियेटर' । कहा जाता है कि सन् १८२० में बम्बई के गवर्नर सर माउण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन बम्बई वासियों के साथ इस थियेटर में 'मिस इन हर टीन्स एण्ड द पैडलॉक' देखने आए थे । इससे यह तथ्य स्वयं सिद्ध है कि यह रंगभवन १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही तैयार हो गया होगा । 'रॉयल-थियेटर' सन् १८४२ में योरुप से आने वाली किसी नाट्य मण्डली द्वारा निर्मित किया गया था, जिसे सन् १८५५ में[१] एक धनाढ्य व सम्पन्न महाराष्ट्री श्री जगन्नाथ शंकर सेठ ने खरीद लिया । यही कारण है कि यह 'शंकर सेठ थियेटर' व 'ग्राण्ट रोड थियेटर' के नाम से भी प्रसिद्ध है । सन् १८६५ में सिनोरीटा या उसकी पत्नी के आग्रह पर योरुप से आई अंग्रेज गायकों की टोली में से कुछ अंग्रेज सन्निवेशकों ने अपनी अभूतपूर्व कला से थियेटर को एक महल के रूप में रूपान्तरित कर दिया था ।

१५. बम्बई के इन नाटकीय प्रयत्नों की सापेक्षता में कलकत्ता इस दृष्टि से अधिक सम्पन्न रहा । वहां इस प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १७४७ में ही 'ओल्ड प्ले हाउस' के नाम से सर्वप्रथम नाट्यगृह लाल बाजार के मध्य में स्थापित हो चुका था । सन् १७५७ के प्लासी युद्ध में ध्वंसप्राय: होकर यही रंगभवन युद्ध-शमन के पश्चात् पुन: निर्मित हुआ । इसके उपरान्त 'दि कैलकटा और इंग्लिश थियेटर' (सन् १७७६), 'मिसिस बिस्टोज प्राइवेट थियेटर' (सन् १७८६), 'ठैंडफर्स इण्डियन थियेटर (सन् १६७५) आदि अनेक नाट्य-गृह अस्तित्व में आए ।

१६. उक्त नाट्य गृहों में अधिकांशत: इंग्लैण्ड से आई हुई कम्पनियाँ ही अपने अभिनय करती थीं । इसके अतिरिक्त छुटपुट रात्रि-क्लबों में भी अंग्रेज यदा-कदा अपने नाटकीय प्रयोगों द्वारा मनोरंजन की तृप्ति में संलग्न थे इन अंग्रेजी नाटकों व नाट्य प्रयोगों ने व्यापार-व्यवसाय में संलग्न पारसियों के मन में शताब्दियों से छिपी उनकी कला-रुचि को प्रेरणा दी और इन्हें भी अपनी

१- धियावधा बाराजा झरोक-- पारसी नाटक तख्तो, १६५०, पृ०२२

परितृप्ति केस्क लिए कुछ इसी प्रकार के मनोरंजनात्मक साधनों की आवश्यकता अनुभूत हुई । अस्तु अंग्रेजी नाटक कम्पनियों की अनुरूपता में इस वर्ग ने भी कुछ अवैतनिक अमेच्युर्स नाटक मण्डलियों की स्थापना की ।

१७. धीरे-धीरे समय के विकास के साथ पारसियों ने इन्हें व्यापारिक रूप देकर इस क्षेत्र में अपूर्व सफलता प्राप्त की । अपने केन्द्र स्थान बम्बई में उन्होंने अनेक रंग-भवन निर्मित किए- 'विक्टोरिया थियेटर' (१८७०), 'हिन्दी थियेटर' (१८७३ई०), 'एलफिन्स्टन थियेटर' (१८७३ ई०), 'ऐसप्लेनेड थियेटर' (१८७६ ई०), में 'गैयटी थियेटर' (१८७६ई०), 'अल्फ्रेड थियेटर' (१८८५ई०), 'बॉम्बे थियेटर' (१८८६ई०), 'नोवेल्टी थियेटर' (१८८७ई०), 'रॉयल थियेटर' (१८६२ ई०) 'रिपन-थियेटर', 'ट्रिवोली थियेटर', 'एक्सेलसियर थियेटर' इस वर्ग की ही देन है । इनमें से अधिकांश नाट्य-गृह ग्रांट रोड पर स्थित थे जिसके कारण वह समस्त क्षेत्र 'प्ले-हाउस' के नाम से ही लोकप्रिय हो गया । दूसरा केन्द्र-स्थल फोर्ट क्षेत्र था जहां ग्राण्ट रोड के समान ही अनेक रंग-भवन थे । पारसी वर्ग के प्रयत्नों के कोई रूप आकार ग्रहण करने के पूर्व ही सन् १८४३ में स्थापित मराठियों की प्रथम "हिन्दू ड्रामेटिक कोर" अथवा "सांगलीकर नाटक मण्डली" सौराष्ट्र और गुजरात में अपने नाट्य प्रयोगों द्वारा जन मन रंजन कर रही थी । किन्तु इसने इन नाट्य संस्थाओं की स्थापना में कोई महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष योगदान नहीं किया । हां, आगे नाट्य शिल्प व भाषा के रूप ग्रहण के सम्बन्ध में इसका योगदान अवश्य रहा, जिसकी चर्चा यथास्थान की जायगी । अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि पारसी रंगमंच अपने उद्भव के लिए पूर्णतः अंग्रेजी रंगमंच का ऋणी है ।

१८. पारसी रंगमंच से क्या तात्पर्य है? अथवा उससे किस अर्थ-बोध की उपलब्धि होती है ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही अनेक शंकाएं उपस्थित की जाती है, जिनमें सर्वप्रमुख है कि क्या 'पारसी रंगमंच' शब्द अपने आप में पूर्ण और सार्थक है ? नामानुसार इससे सम्पूर्ण अर्थ की अनुभूति होती है ? या पारसियों का अपना कोई रंगमंच है ? आदि । रंगमंच किसी जाति-विशेष का नहीं, भाषा विशेष का होता है, जहां उस भाषा की

की नाट्य-कला अभिनय के माध्यम से रूप ग्रहण करती है। बंगला,गुजराती, मराठी,उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी रंगमंचों के रूप हमारे सामने उपस्थित है। किन्तु अंग्रेज, हिन्दू व मुसलमान रंगमंच नाम की कोई वस्तु कम से कम साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध नहीं। पारसी भी तो एक जाति ही है, जिनकी भाषा प्रारम्भ में परशियन व भारत आगमन के पश्चात् प्रमुखत: गुजराती ही रही। अत: गुजराती रंगमंच न कहकर इसे पारसी रंगमंच कहना किस सीमा तक समीचीन है ? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि मानव स्वभाव में प्रयत्न लाघव की प्रवृत्ति सर्वत्र ही कर्मशील रही है। अन्य विस्तृत क्षेत्रों की तो चर्चा ही क्या जब कि हम सामान्य वार्तालाप में भी पूर्ण शब्दों के स्थान पर उसके संक्षिप्त रूपों का ही प्रयोग करते हैं। 'पारसी रंगमंच' भी एक ऐसा ही व्यवहृत शब्द है, जिसमें प्रयत्न लाघव के साथ लक्षणा और व्यंजना -- इन दो साहित्य-शक्तियों के सहयोग से वक्ता और श्रोता दोनों ही अपने वांछित अर्थ की अभिव्यक्ति और अनुभूति कर लेते हैं। केवल मात्र अभिधा की दृष्टि से यह शब्द अवश्य अपूर्ण कहा जा सकता है, जिसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं।

१९. पारसियों के द्वारा ही इस रंगमंच का बीजारोपण हुआ था। उन्हीं के सद् प्रयत्नों की छाया में ये नाट्य कम्पनियाँ आविर्भूत एवं विकसित हुईं। किन्तु साथ ही इस सत्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि अपने उद्भव और अवसान व मध्यकाल में केवल मात्र यह वर्ग ही संचालक नहीं रहा वरन् मराठी व गुजराती सज्जनों के साथ ही हिन्दू व मुसलमान जाति की महान आत्माओं ने भी इस रंगमंच के विकास में अप्रतिम सहयोग दिया जिसके बिना यह अपूर्ण रह जाता। शंकर सेठ,डा० भाऊ दाजी, शंकर बापुजी त्रिलोकेकर जैसे महाराष्ट्री, रणछोड़ भाई वा श्री मंगदास भाई इस बात के प्रमाण हैं।

२०. २- नाट्य-लेखक व नाट्य रचनाओं की दृष्टि से भी यही तथ्य प्रस्फुटित होता है, बहमन जी नवरोजी काबराजी, लेखक नौरोजी काबराजी आदि अन्य पारसी लेखकों की रचनाओं की तुलना में आगा हश्र 'काश्मीरी' राधेश्याम 'कथावाचक', नारायण प्रसाद 'बेताब', किशनचन्द 'जेबा' तुलसीदत्त 'शैदा' आदि हिन्दू व मुसलमान लेखकों की रचनाएं न केवल अधिक संख्या में वरन्

कला-सौष्ठव और सौन्दर्य की दृष्टि से भी अधिक सफलता के साथ जनदृष्टि के समक्ष आईं व समादृत हुईं।

२१. नाट्य विषय की दृष्टि से भी इसी सत्य का आभास मिलता है। प्रारम्भ में अवश्य पारसी समुदाय, उनकी कुरीतियाँ, बुराइयाँ, उनके परिष्कार व वर्ग-चेतना के प्रबुद्ध उद्बोधन तक ही कृतिकारों का दृष्टि निक्षेप रहा। शाहनामा, अवेस्ता व ईरानी कथाएं ही उनके विषय - संकलन के स्रोत रहे। किन्तु समय के विकास के साथ-साथ यह संकुचित और सीमित परिधियां धीरे-धीरे टूटती गईं और रचनाकारों ने सम्पूर्ण भारत पर दृष्टिपात किया। उसकी दुर्दशा का अंकन करते हुए समस्त समाज के उद्बोधन के लिए मनोरंजनात्मक सूत्रों को एकत्रित करके अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने इस प्रचलित लोकप्रिय रंगमंच का आश्रय लिया, उसको आधार रूप में चुना।

२२. अभिनय के क्षेत्र में यद्यपि दादाभाई सोराबजी पटेल, कुंवरजी सोराब जी नाजर, दादाभाई रतन जी ठूठी जहांगीर जी पैस्तन जी खंभाता व सोराब जी मेरवान जी बालीवाला आदि कुछ पारसी ऐसी अविस्मरणीय भूमिकाएं कर गए हैं जो कि आज अलभ्य हैं, किन्तु इस क्षेत्र में गुजरात की भोजक व नायक जाति व मुसलमान तथा हिन्दू किसी भी दृष्टि से पीछे नहीं है। मास्टर मोहन, मास्टर भगवानदास, जयशंकर सुन्दरी, मास्टर फिदा हुसैन, मास्टर निसार की अभिनय कला भी उतनी ही प्रशंसनीय हुई जितनी कि उक्त पारसी अभिनेताओं की। और यह सब इसी रंगमंच की देन है।

२३. केवल उपर्युक्त क्षेत्रों में ही नहीं, वरन् रंगमंच से सम्बन्धित सभी कलाओं में पारसियों के अतिरिक्त सभी जातियों ने पूर्ण सहयोग दिया। विदेशियों के सहयोग से भी यह रंगमंच वंचित नहीं रहा। जर्मन पेंटर क्रोध, इटालियन पेंटर सीरोनी, और रूवा की कला आज तक स्मरणीय है। मिस मेरी फेंटन की अभिनय कला ने तो काफी समय तक इस रंगमंच को सजीव रखा।

२४. इन सब तथ्यों से प्राप्त निष्कर्षोपरान्त भी एक ऐसे रंगमंच को जिसके पोषण एवं विकास में केवल एक वर्ग का ही नहीं, वरन्

कई जातियों एवं वर्गों का योगदान रहा हो उसे केवल एक के आधिपत्य में रखकर 'पारसी रंगमंच' के नाम से सम्बोधित करने का मुख्य कारण यही था कि पारसी इसके प्रारम्भिक संस्थापक एवं संचालक थे। इन्होंने ही भारतीयता की अनुरूपता में अंग्रेजों से गृहीत इस रंगमंच को विकास-पथ पर अग्रसर किया था, जिसमें बाद में उनकी व्यापारिक एवं व्यावसायिक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अन्य जातियों ने भी अपना सहयोग दिया। पारसी रंगमंच वस्तुतः एक व्यावसायिक रंगमंच है जिसमें किसी व्यापारिक प्रवृत्ति की प्रधानता है, किसी जाति विशेष की नहीं। अतः पारसी जाति की सापेक्षता में इस रंगमंच का मूल्यांकन न केवल भ्रामक वरन् इसके महत्व को झुठलाना है।

२५. पारसी रंगमंच का इतिहास लगभग एक शताब्दी (१८५३ई० से १९३५ ई० तक) का इतिहास है। सन् १८५३ में उद्भूत होकर १९३५ ई० में काल कवलित होने वाली इन नाटक कम्पनियों के इतिहास को अध्ययन की सुविधा व सुगमता के विचार से (१) अवैतनिक व अमेच्युर्स (२) तथा वैतनिक व व्यावसायिक इन दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

अमेच्युर्स पारसी नाटक मण्डलियाँ (१८५३ई०से १८७०ई०तक)

२६. पिछले पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि पारसियों में प्रारम्भ से ही वह तीव्र औत्सुक्य और जिज्ञासा प्रवृत्ति थी, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने उपलब्ध समस्त साधनों से पूर्णतः लाभान्वित होने की चेष्टा की। अंग्रेजों द्वारा उपस्थित रंगमंच भी उनकी इस मनोवृत्ति से बच नहीं सका। इसी से प्रेरित होकर उसके अनुकरण में पारसी युवकों ने कुछ नाट्य-संस्थाओं की स्थापना की[१]। ये सभी संस्थाएं व्यापार व्यवसाय में संलग्न उस समय के धनाढ्य और

१- 'थियेटर इन दि ईस्ट', पृ०७२ --

'From the outset they retained a sense of their western origins, however, and when the British came, they were the first Indians to become westernized. Naturally they quickly responded to the new kind of theater the British intoduced.'

माननीय पुरुषों के सहयोग से स्थापित की गई थीं, जिनका उद्देश्य एकमात्र मनोरंजन था और जो इसकी पूर्ति के लिए अपनी कलात्मक अभिरुचि से प्रेरित होकर दिन के समय अपने सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए रात्रि के खाली समय में रिहर्सल और नाट्य-प्रयोग करते थे। अस्तु इनके अध्ययन के समय व निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है :-

१- अंग्रेजी रंगमंच के अनुकरण में उद्भूत हुईं।

२- इनका उद्देश्य मात्र मनोरंजन था।

३- वे सभी नाट्य संस्थाएं "रात्रि" क्लब थीं।

४- तथा अल्पकाल में ही नष्ट हो गईं।

२७. इस प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में आने वाली मण्डलियों में सर्वप्रथम व सर्वप्रसिद्ध है "पारसी नाटक मण्डली" है जो पतन और उत्थान के मध्य अपने अस्तित्व के लिए काफी संघर्षरत रही। किन्तु ये सब संघर्ष इसके व्यावसायिक इतिहास की कड़ियाँ हैं। अपने अवैतनिक रूप में इसका जीवन पन्द्रह वर्ष की छोटी से काल सीमा में समाया हुआ है।

२८. श्री चन्द्रवदन मेहता[१] ने प्रस्तुत नाटक मण्डली का जन्म १८५८ ई० में माना है जो निराधार और तर्कहीन है, क्योंकि २९ अक्टूबर १८५३ में इसके प्रथम नाटक "रुस्तम काबुली और सोहराब" की अभिनय तिथि का विवरण "रास्तगोफ्तार" पत्र में मिलता है। निश्चय ही अक्टूबर १८५३ में इसकी स्थापना हुई होगी। नाटक मण्डली के स्थापक थे : श्री फरामजी गुस्ताद जी दलाल उर्फ "फृडु डुंस" जिनके सहयोगियों व अन्य कार्यकर्ताओं में पैस्तन जी धनजी भाई मास्टर, नाना भाई रुस्तम व जी राणीना, दादा भाई एडीयट, मंचेरशा मेहरबान जी, मीखा जी ह० मुस, कावस जी होरमस जी हाथीराम व कावस जी गुरगीन आदि अन्य सदस्यगण थे। अपनी गतिविधियों के सम्यक् संचालन एवं व निरीक्षण के लिए इस मण्डली ने सन् १८५३ में दादा भाई नवरोजी,

---

१- चन्द्रवदन मेहता--"बांध गठरिया" भाग२, गाण्डीव साहित्य मंदिर, सूरत १९५४, पृ० ५०

खुर्शेद जी नशरवान जी कामा, अर्देशरफराम जी मुस, जहांगीर जी बरजोर जी बच्छा, डा० भाऊदाजी आदि गृहस्थों की एक परामर्शदात्री समिति निर्मित की जिसके निर्णय समस्त मण्डली के लिए मान्य होते थे।

२६. इस मण्डली ने अपने १५ वर्ष के कार्यकाल में जिन नवीन नाटकों का अभिनय किया उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है--

१- 'रुस्तम काबुली और सोहराब'- नाटक से ही मण्डली के नाटकीय जीवन का प्रारम्भ हुआ जिसका सर्वप्रथम प्रयोग २६ अक्टूबर सन् १८५३ को हुआ। नाटक के संगीत संयोजक थे उस समय के सर्व प्रसिद्ध नाट्यकार ~~केखशरू~~ नवरोजी काबरा जी ~~कि~~ जिनका रंगमंचीय नाटकों में संगीत को स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण योग रहा है। शनिवार १२ नवम्बर १८५३ व बुधवार ८ फरवरी १८५४ को इसके पुन: प्रयोग हुए। लेकिन मूल नाटक के साथ प्रत्येक प्रयोग में भिन्न प्रहसन प्रस्तुत किए गए। कालबादेवी पर स्थित छल-प्रपंचपूर्वक व्यक्तियों की घड़ी गायब कर देने वाला 'धनजीगरक' नामक दुष्ट घड़ीसाज व वेश्या के प्रेम में परिवार के वैभव व सम्मान को लुटाने वाले विलासी धनाढ्य 'तीतीराम' को प्रहसनात्मक कथा के रूप में प्रस्तुत करके इस पारसी समुदाय ने जिस प्रबद्ध सामाजिक चेतना का आभास दिया निःसंदेह वह सराहनीय है।

२- 'शियावखानों जनम तथा तकावलाऊन शमशेर बहादुर' नाटक सर्वप्रथम ६मई १८५४ को अभिनीत हुआ व २० मई १८५४ को इसका दूसरा प्रयोग किया गया।

३-'पठाण सिफरैज़ तथा दीवान गोबू और अलाउद्दीन तथा बानुजलेखां' का प्रथम अभिनय शनिवार १६ सितम्बर १८५४ को हुआ।

४- 'किंग जमशेद अलेटायरण्ट जौहाक' नाटक सर्वप्रथम १४ सितम्बर १८५४ को खेला गया जिसका कि दूसरा प्रयोग ११ नवम्बर १८५४ को हुआ।

५- 'जौहाक अने फरीदून'--(२५ नवम्बर १८५४)

६-'बादशाह फरेदून दास्तान'(२७ फरवरी १८५५) वह नाटक 'उठाउगीर सुरती' नामक प्रसिद्ध प्रहसन के साथ लगभग बारह बार अभिनीत हुआ।

७- 'रुस्तम काबुली (२६ अप्रैल १८५५) नाटक के साथ 'धन जी गरक' नामक प्रहसन ही संलग्न था। वह नाटक लगभग तीस बार रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ। किन्तु

इसके पश्चात ढाई वर्ष तक कोई नया नाटक प्रस्तुत नहीं हो सका व पुराने नाटक ही मनोरंजन तृप्ति के अवलम्ब रहे ।

८- नादिरशाहन लग्न (शनिवार २१ फरवरी १८५७) ।

९- १८५७ वह महत्वपूर्ण तिथि है जब कि इसने नाट्य सम्राट शेक्सपियर के लोकप्रिय नाटक 'टैमिंग आफ द श्रू'(Taming Of The Shrew) को सर्वप्रथम गुजराती भाषा में प्रस्तुत करके पारसी रंगमंच के इतिहास में एक नई परम्परा का सूत्रपात किया और जिसे अवैतनिक व वैतनिक दोनों ही प्रकार की नाट्य संस्थाओं ने बड़े ही मनोयोग पूर्वक अपनाकर शेक्सपियर के साहित्य से सामान्य जनता का परिचय कराया । प्रस्तुत नाटक अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और पारसी नाटकमण्डली को पुनः २८ अप्रैल १८५८ को केवल स्त्रियों के लिए इसका अभिनय करना पड़ा ।

१०- 'कॉमेडी ऑफ एररर्स-(५ दिसम्बर १८५७) शेक्सपियर का यह नाटक गुजराती में ही प्रस्तुत किया गया था ।

११- 'एक औरत खरी सबूरी '(शनिवार ३० मार्च १८५८)-नाटक के साथ हिन्दी 'हाकेमोनी हाके माई' प्रहसन भी प्रस्तुत किया गया था ।

१२-'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस'(२७ नवम्बर १८५८)- शेक्सपियर के इस नाटक के साथ 'देशी पन्तुजिवों' कॉमिक स्वतन्त्र रूपेण अभिनीत हुआ ।

३०. 'पारसी नाटक मण्डली' की अभूतपूर्व सफलता ने अपने वर्ग के अन्य सदस्यों को उत्तेजना दी और इसी अभिप्रेरणा के फलस्वरूप के कारण [handwritten: अनेक मण्डलियाँ अपने अस्तित्व में आने के लिए कसमसाने लगीं। इन प्रथ] क्रमानुसार अस्तित्व में आने वाली नाट्य संस्थाओं में 'जो राष्ट्रियन नाटक मण्डली सर्वप्रथम है । यह १८५६ में निर्मित हुई । इस सम्बन्ध में शंका उपस्थित करना निर्मूल होगा । क्योंकि इसका नाटक 'फिरंगी अने देशी राज बच्चे नो सलावत' 'बुल साधना' 'नांवरा' प्रहसन के साथ शनिवार ६ जनवरी १८५८ को सर्वप्रथम अभिनीत हुआ जिसका विवरण रास्त गोफ्तार में उपलब्ध होता है । १ मई १८५८ को इसकी द्वितीय प्रयोग भी प्रस्तुत किया गया ।

२- <u>स्टूडेण्ट्स अमेच्युर्स क्लब(१८५८)</u>-- प्रथम नाटक 'रोमियो अने जुलियट' गुजराती भाषा व ईरानी वेशभूषा में सर्वप्रथम शनिवार ११ सितम्बर १८५८ को प्रस्तुत किया गया । थोड़े से रूपान्तर और सीमित परिवर्तनों के साथ

१६ अक्टूबर १८५८ में नाटक पुन: अभिनीत हुआ ।

३- 'जैंटलमैन पारसी और अमैच्युर्स क्लब' (१८५८) प्रथम नाटक 'राजा महिपाल अने चन्देरी रणी 'सोमवार २१ नवम्बर १८५८ को खिला । शेक्सपियर का 'ट्वेल्थ नाइट और वाट यू विल' (Twelth Night or what you will) ने भी सर्वप्रथम इसी कम्पनी के रंगमंच पर रूप ग्रहण किया था ।

४- 'पारसी स्टेज प्लेयर्स' (१८५६)

५- 'पारसियनों कसरत अने अने गुजराती गायेण नाटक मण्डली' (१८६०)-- केवल गीतों को नाट्य रूप में प्रस्तुत करने वाली यह नाटक मण्डली नसखान जी दी रौब जी आप अल्त्यार द्वारा सन् १८६० में स्थापित की गई थी, क्योंकि प्रथम नाटक जिसका कि नाम ज्ञात नहीं हो सका । १४ जनवरी १८६० को अभिनीत हुआ था ।

६- 'पोर्तगीज नाटक टोली' (१८६०)-- प्रथम नाटक 'जौन आफ आर्क' २१ दिसम्बर १८६० को अभिनीत हुआ ।

७- 'ओरीजिनल एलफिन्स्टन क्लब' (१८६१)

८- 'दि एलफिन्स्टोनियस क्लब' (१८६१) -- प्रथम नाटक 'अलर्का हिट' 'श्रीमान जी' प्रहसन के साथ ३० अक्टूबर १८६५ को खिला ।

९- 'दि पारसी मिनिस्ट्रल्स कम्पनी' (१८६५) - प्रथम नाटक 'गरमागरम बट्टाणा अथवा काकावाल' ८ मई १८६५ को अभिनीत हुआ । यह अंग्रेजी नाटक 'दि हॉट पीस एण्ड अंकल पीस' (The Hot Piece and Uncle Piece) से अनुवादित था ।

२१. इन नाट्य मण्डलियों के अतिरिक्त 'अमैच्युर्स ड्रामैटिक क्लब', 'ओरियण्टल' नाटक मण्डली', 'बैरोनैट नाटक मण्डली' 'अल्बर्ट नाटक मण्डली', 'शेक्सपियर नाटक मण्डली', 'दि वोलन्टियर्स क्लब', 'एलफिन्स्टन अमैच्युर्स क्लब', 'पारसी विक्टोरिया आपेरा ट्रूप' आदि अन्य अनेक नाटक मण्डलियां अस्तित्व में आईं । किन्तु ये सभी अवैतनिक व अमैच्युर्स संस्थाओं के रूप में थीं, जिनका उद्देश्य धनोपार्जन अथवा आजीविका न होकर केवल मात्र मनोरंजन की तृप्ति था ।

१- डा० धनजीभाई न० मेहता 'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख', १९३१, पृ०२-३

३२. उपर्युक्त सभी नाटक मण्डलियों ने अधिकांशत: शेक्सपियर व अन्य अंग्रेजी नाटकों तथा शाहनामा व अवेस्ता से ही अपने कथासूत्रों का चयन किया था । अध्ययन की सुविधा के लिए अंग्रेजी और गुजराती के भाषा विभेद से इन मण्डलियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं--

(१) वे नाट्य-संस्थाएं, जिन्होंने मात्र अंग्रेजी भाषा के नाटकों का अभिनय किया ।
(२) वे संस्थाएं, जिन्होंने गुजराती भाषा में अपने नाट्य प्रयोग किए ।

इस प्रकार का विभाजन अधिक तर्कसंगत और मौलिक नहीं है, क्योंकि नाटक मण्डलियों ने दोनों ही भाषाओं में नाट्य-प्रयोग किए हैं । अत: उनके बीच इस तरह की सुनिश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती । यहां केवल सुगमता के विचार से प्रमुख प्रयोगों के आधार पर ही यह विभाजन किया गया है ।

३३. प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'औरीजिनल एलफिन्सटन' ने अधिक महत्वपूर्ण स्थिति गृहीत की । इसने अधिकांशत: अंग्रेजी नाटकों का ही अभिनय किया जिनमें 'Bengal-Tiger', 'Lovers Quarrels', 'Living Too Fast', 'Village Lawyer', 'Mock-Docktor', 'Bombastes Furioso', 'Taming Of The Shrew', 'Thumping Legacy', 'Othello', Laying Valet, 'Illustrious Stranger', 'Our-Wife'

आदिनाटक अधिक लोकप्रिय हुए । हीरजी माई असपन्दी यार जी संभाता व कक वासुदेव के सहयोग से फराम जी कमम जी ने सन् १८६१ में इस क्लब की स्थापना की थी, जिसके निर्देशक व व्यवस्थापक हेमिल्टन बेकर नामक एक अंग्रेज सज्जन थे । अंग्रेजी नाटकों को अभिनीत करने वाली दूसरी प्रसिद्ध नाटक मण्डली कुंवर जी सौराब जी नाजर की 'एलफिन्सटन ड्रामेटिक क्लब की थी, जिसकी स्थापना सन् १८६१-६२ में डा० नशरवान जी नवरोजी पारख व डाक्टर धनजीशाह नवरोजी पारख के सहयोग से की गई थी । पेस्तन जी नशरवान जी वाडीया, डी०एन० वाडीया, मेरवान जी नशरवान जी वाडीया, धन जी माई मास्टर उर्फ पालखीवाला, माणेकशा सुरती इसके अन्य प्रमुख सदस्य थे । इस क्लब का उद्भव अमेच्युर संस्था के रूप में अवश्य हुआ था किन्तु धीरे-धीरे विकास की अनेक मंजिलें तय करती हुई सन १९०१ में एक वैतनिक अथवा व्यावसायिक संस्था के रूप में परिवर्तित हो गई तथा इसके नाटकों का संकुचित परिवेश (केवल अंग्रेजी नाटक) काफी विस्तृत हो गया[१] ।

१- विस्तृत अध्ययन आगे कियागया है ।

३४. गुजराती भाषा को अपनाकर चलने वाली नाटक मण्डलियों ने विषय वस्तु के आधार स्रोत के रूप में अंग्रेजी नाटकों, शाहनामा तथा अवेस्ता दोनों से ही अपने कथासूत्रों का ग्रहण किया। शेक्सपियर व अन्य नाटककारों का आधार पर विकसित होने वाले नाटकों में से कुछ तो पूर्णत: अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद स्वरूप थे। 'जैंटल मैन अमेच्युर्स क्लब' का 'ओथैलो' शेक्सपियर के 'ओथैलो' का एक ऐसा ही अनुवाद था, जिसकी भाषा यद्यपि गुजराती थी किन्तु पोशाक व ड्रेस पूर्णत: शेक्सपीरियन काल का ही बोध कराती है। 'दी पारसी स्टेज प्लेयर्स' का 'सर बर्टरान' नामक ट्रैजिक नाटक व 'ओरीजिनल जोरास्ट्रियन क्लब' का 'सिम्बैलीन' भी इसी परम्परा के प्रमाण हैं। 'सिम्बैलीन' के साथ 'तेर वरसनी कन्या अने ६५ वर्षना परण्या' नामक अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को प्रस्तुत करने वाले सामाजिक प्रहसन का भी अभिनय किया गया था।

३५. इसके विपरीत कुछ नाटक अनुवाद न होकर भी पूर्णत: अंग्रेजी नाटकों के आधार पर ही तैयार किए गए। 'पारसी विक्टोरिया आपेरा ट्रूप' का 'कडक कन्या ने व सीसैला परण्या' शेक्सपियर के 'टैमिंग आफ दि श्रू' व 'हनीमून' के आधार पर लिखा गया था। यह एक हास्य प्रधान व उद्देश्यपूर्ण नाटक था जिसमें स्त्री के समक्ष पतिव्रत्य एवं मधुर भाषिणी होने का आदर्श प्रस्तुत किया गया था, साथ ही अबला कही जाने वाली नारी में उस अलौकिक शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया था, जिसके बल पर वह अपने कपटी और कुमार्गी पति को सत्पथ पर लाने में समर्थ होती है। मण्डली का दूसरा नाटक 'खुर्शेद शीरीन' अथवा 'आखिर ठेकाणे आवी' आदेशर बैराम जी पटेल के द्वारा बुल्वर लीटन के 'लेडी आफ द लॉयन्स' (Lady of The Layons) के आधार पर लिखा गया। 'पारसी विक्टोरिया आपेरा ट्रूप' एलफिन्सटन क्लब के स्थापक कुंवर जी सोराब जी नाजर के अधिपत्य में निर्मित हुई थी। अत: शेक्सपियर के नाटकों के प्रति उनके अनुराग की अप्रत्यक्ष प्रभाव इस मण्डली पर भी पड़ा।

३६. इन अवैतनिक नाटक मण्डलियों में से कुछ ने ईरानी कथाओं को अपने आधार ग्रन्थों के रूप में चुना । 'दि परशियन ओरियण्टल क्लब' या 'यम्मदे जर्द शहरीयार' अथवा 'डाउन फॉल ऑफ द परशियन सम्पायर' इस क्षेत्र का लोकप्रिय नाटक है । कवि नाटक रचयिता है कवि रुस्तम ईरानी, जिन्होंने गुजराती के माध्यम से अपनी इस कृति का प्रस्तुतिकरण किया है । प्रोलोग (Prologue) बोलने की परम्परा का आरम्भ सर्वप्रथम इसी नाटक मण्डली के द्वारा हुआ । इसके 'रंगमंच पर प्रत्येक नाटक के अन्त में दो बालकों द्वारा प्रोलोग बोलने की परम्परा थी । इस प्रथा को बाद में कुछ वैतनिक कम्पनियों ने भी अपनाया ।

३७. लेकिन इन सभी नाटक प्रयोगों की सापेक्षता में प्रधानता इन्हीं नाटकों की रही, जिनके विषय शाहनामा, अवेस्ता व अरेबिया नाइट्स से गृहीत थे । इसका कारण थी मातृभूमि से बिछोह की कसक जो इस वर्ग को सदैव आन्दोलित करती रहती थी । भारत आकर व विदेशियों के के बीच रहकर भी ~~भारत आकर व विदेशियों के बीच रहकर~~ भी अपनी सभ्यता व संस्कृति उन्हें विस्मृत न हुई थी । उसी संस्कृति व देश के कुछ चित्र नाटकों के रूप में देखकर उन्हें एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती थी । तथ्य उनके समक्ष न था । अतः अधिकांश नाटकों में उन्होंने अपने यहां की झांकियां ही प्रस्तुत की ।

३८. सन् १८५३ में अपने उद्भव समय के पश्चात् १८६८ तक की परिस्थितियाँ इन अवैतनिक व अमेच्युर संस्थाओं के लिए पूर्णतः अनुकूल रही जिससे इनके उद्देश्य की सुरक्षा अक्षुण्ण बनी रहीं । किन्तु अधिक समय तक यह स्थिति नहीं रही व सन् १८६८ में इन्हें अपने संस्थापकों की व्यापारिक व व्यावसायिक मनोवृत्ति का शिकार होकर 'विक्टोरिया नाटक मण्डली (१८६८) के रूप में व्यावसायिक धरातल पर उतरना पड़ा । इतने सब विवाद के उपरान्त डा० भानुदेव शुक्ल का 'ज्यूरेस्ट्रियन ड्रामेटिक क्लब' (१८५८ के लगभग) को प्रथम आमेच्युर नाटक मण्डली माना व इसके जन्म काल को पारसी रंगमंच के उद्भव का बीज सिद्ध करना निराधार और तर्कहीन प्रतीत होता है[1]। यह सत्य है कि

१- डा० भानुदेव शुक्ल, 'भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ०२९३

'जौराष्ट्रियन,(ज्यूरैष्ट्रियन नहीं)नाटक मण्डली' १८५८ में स्थापित हुई थी, किन्तु पूर्व विवरण से यह भली प्रकार स्पष्ट हो चुका है कि इस काल के पूर्व अक्टूबर १८५३ में 'पारसी नाटक मण्डली' द्वारा पारसी रंगमंच का बीजारोपण हो चुका था । ऊपर के तथ्यहीन मत के समान ही शुक्ल जी का यह मन्तव्य भी कि इस नाटक मण्डली के एक नाटक 'फिरंगी और हिन्दुस्तानी तर्जे हुकूमत का मवाजना' (१८५८) के अतिरिक्त किसी अन्य नाटक कम्पनी का उल्लेख नहीं मिलता और १८६१ से सन् १८७० के बीच लगभग बीस नाटक कम्पनियां अस्तित्व में आईं[1]-- सारहीन और निरर्थक है । इन सब प्रश्नों के उत्तर पूर्व पृष्ठों में दिए जा चुके हैं । 'जौराष्ट्रियन नाटक मण्डली' का प्रथम नाटक 'फिरंगी और हिन्दुस्तानी तर्जे हुकूमत का मवाजना' नहीं जैसा कि डा० शुक्ल का मत है, वरन् 'फिरंगी आने देशी राजवच्चेनी सखावत' है जो कि शनिवार ६ जनवरी १८५८ को सर्वप्रथम अभिनीत हुआ। पता नहीं डाक्टर साहब ने किस आधार पर निष्कर्ष निकाला है जब कि पारसी नाटक मण्डली को छोड़कर जौराष्ट्रियन के बाद ही सब मण्डलियां उद्भूत हुईं । इनकी सूची पूर्व पृष्ठों में दी जा चुकी है अत: उसकी पुनरावृत्ति यहां निरर्थक होगी । डाक्टर साहब का यह मत कि सन् १८६१ से १८७० तक की काल अवधि में समस्त अवैतनिक संस्थाएं जन्मीं भी पूर्णत: उचित नहीं है, क्योंकि सन् १८६८ से ही हमें इन नाट्य संस्थाओं के संस्थापकों के व्यापारिक मनोवृत्ति के प्रमाण मिलने लगते हैं जिन्होंने नाटकों के प्रति जनता के सूक्ष्म अध्ययन जिसमें निश्चय रूपेण कुछ अधिक समय (१८६१-१८७० तक ही समय नहीं) लगा होगा के उपरान्त ही उसे अर्थोपजीविका का साधन बनाने का विचार किया होगा ।

व्यावसायिक नाटक मण्डलियां

उद्भव और आलोचक

३६. बड़ी ही विचित्र अनुभूति होती है और आश्चर्य होता है , जब कि हिन्दी के लगभग। नाटक सम्बन्धी सभी आलोचनात्मक ग्रन्थों एवं

१- डा० भानुदेव शुक्ल 'भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ०२६३

शोध ग्रन्थों में व्यावसायिक रंगमंच के उद्भव के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की धारणा का पुष्टिकरण मिलता है। प्राय: सभी आलोचकों ने सन् १८७० को इस रंगमंच का जन्मकाल माना है व 'औरीजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' को प्रथम वैतनिक नाटक मण्डली का श्रेय दिया है जिसके निर्माणकर्ता व संस्थापक के रूप में सेठ पैस्तनजी फ्रामजी का नामोल्लेख किया गया है[१]। वसुदेव नन्दन प्रसाद ने अपने शोधप्रबन्ध में इस विचारधारा से अलग हटकर कुछ नवीन तथ्यों को स्थापित किया है। आपके मतानुसार कुंवर जी सोराब जी नाजर की 'एलफिन्सटन ड्रामैटिक क्लब' (१८६०-६१) प्रथम व्यावसायिक नाटक मण्डली है व 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' इसके पश्चात् अस्तित्व में आई।[२] उपर्युक्त नाटक मण्डलियों की जन्मतिथियां यद्यपि सही प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु व्यावसायिक रंगमंच के जन्मकाल के सम्बन्ध में ये धारणाएं सत्यता से कहीं दूर हैं। सन् १८६०-६१ में स्थापित होने वाली एलफिन्सटन कम्पनी जन्मकाल की दृष्टि से विक्टोरिया से (१८६७-६८ई०) पूर्ववर्ती अवश्य कही जा सकती है, किन्तु यहां इस सत्य को भुलाना उचित न होगा कि उद्भव के पश्चात् एक दशक तक उसकी कार्यविधि अवैतनिक व अमेच्योर संस्था के रूप में रही व सन् १८७१ में इसने अपना रूप परिवर्तन करके वैतनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। परिवर्तन का मुख्य आधार थी विक्टोरिया (१८६७-६८) व अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी (१८७०ई०) की अभूतपूर्व सफलताएं। ये दोनों ही कम्पनियां उस समय व्यावसायिक मण्डलियों के रूप में कार्य कर रही थीं। इनकी कार्यवाहियों और सफलता से प्राप्त प्रेरणा,

---

१-(अ) डा० भानुदेव शुक्ल-- भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य, पृ०२६१

(आ) श्रीपति शर्मा- हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, प्र०सं० १९६१, पृ०४०६

(इ) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-- आधुनिक हिन्दी साहित्य, १९४८, पृ० २०३

(ई) डा० श्रीकृष्णदास -- हमारी नाट्य परम्परा, प्र०सं०, १९५६, पृ०६०३

(उ) डा० वेदपाल खन्ना- हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ०८८

(ऊ) दशरथ ओझा -- हिन्दी नाटक- उद्भव और विकास, द्वि०सं०, १९५४, पृ० ३४६

(ए) डा० श्रीकृष्णलाल - आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, चतु०सं०, १९५२, पृ०२०२

२- वासुदेव नन्दनप्रसाद-- भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच

प्रोत्साहन और प्रलोभन ने एलफिन्सटन को अवैतनिक से वैतनिक नाटक मण्डली बना दिया और उसने भी पूर्व कम्पनियों के आदर्शों का अनुकरण आरम्भ कर दिया। अत: एलफिन्सटन को प्रथम व्यावसायिक नाटक मण्डली मानना तथ्यहीन और निस्सार है।

उद्भव और प्रेरक प्रवृत्तियां

४०. व्यावसायिक रंगमंच के इतिहास में उतरने से पूर्व एक प्रश्न उठता है कि वे कौन से मूल कारण थे जिन्होंने अमेच्युर्स संस्थाओं के रूप को ब नष्ट करके उन्हें इस नए रूप में संगठित किया। इस दृष्टि से खोज करने पर निम्न तथ्य उत्तरदायी प्रतीत होते हैं--

१- नाटकीय गतिविधियों के प्रति निरन्तर बढ़ती हुई जनरुचि।
२- पैटरिऑटिक फण्ड के लिए किए गए नाट्य प्रयोगों की अभूतपूर्व सफलता।
३- पारसियों की व्यापार बुद्धि की उत्तेजना।

४१. इस अल्पसंख्यक वर्ग ने प्रमुखत: अपनी जाति व वर्ग के क कल्याण कार्य के लिए तथा विस्तृत क्षेत्र में देशहित के लिए प्रखर सामाजिक चेतना के आग्रह पर अनेक "चैरिटी शो" किए। इन प्रयत्नों के अन्तर्गत कई बार नाट्य प्रयोग भी किए गए किन्तु कब कहां कौन सा नाटक हुआ इस विषय से संबंधित अधिक जानकारी उपलब्ध न हो सकने के कारण मैं कोई निश्चित विवरण प्रस्तुत नहीं कर सकती। फिर भी इस विषय में जो एक दो प्रमाण उपलब्ध है उनसे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। २५ फरवरी सन् १८५५ के रविवार के "रास्तगोफ़्तार" पत्र में एक ऐसा ही विवरण प्रकाशित हुआ था जो कि इस प्रकार है--

"पारसी नाटक

पैटरिऑटिक फ़ंडना फायदा सारू

"पारसी नाटक मण्डली" सर्वे सार्हों आममी सेवा मैं अरज करे छे, के तेओ ओतानो १२ मीं वारनो नाटक तारीख २७ मी फेरवरी अने वार मौमेने दीसे गरांटरोड क्रपरना घर मां नीचे कना खेला खेल करी बतावशे --

~~बादशाह~~ फरेदुनार दास्तान

अने साथे

जहांगीर सुरती नामनो एमजु फास
टिकिटोउठातमीर भाव-- रु- २।।,रु १।।,रु०--१।,पीट रु० रु०१

४२. इस नाटक की सफलता से काफी अर्थप्राप्ति हुई। विक्टोरिया नाटक मण्डली का जन्म भी ऐसे ही कल्याण कार्य से हुआ था जब कि पारसी युवकों की कसरतशाला की आर्थिक दशा को संभालने के लिए मण्डली ने केखशरु काबराजी के निर्देशन में शेक्सपियर के लोकप्रिय नाटक 'कॉमेडी ऑफ एररर्स' को 'भूल चूकनी हँसा-हँस' के नाम से खेला। यह नाटक दो बार अभिनीत हुआ। प्रथम प्रयोग शनिवार २१ दिसम्बर १८६७ को व द्वितीय प्रयोग शनिवार ११ जनवरी १८६८ को हुआ। ये दोनों ही प्रयोग पर्याप्त सफल रहे व उससे प्राप्त धनराशि ने कसरतशाला की डांवाडोल स्थिति को पुन: सुदृढ़ बना दिया। ऐसे सफल प्रयोगों, उनसे प्राप्त धनराशि व बढ़ती जनरुचि के सम्मिलित प्रभाव ने पारसियों की व्यापारिक बुद्धि को उत्तेजना दी। वे इसे धनोपार्जन का साधन बनाकर लाभान्वित होने की योजना बनाने लगे। इस विचार को जन्म देने वाली परिस्थितियों ने जब उन्हें सफलता का पूर्ण विश्वास दिला दिया तो सन् १८६८ में वे इस क्षेत्र में कूद पड़े जिसका परिणाम थी 'विक्टोरिया नाटक मण्डली'।

विक्टोरिया नाटक मण्डली (१८६८-१९२२ई०)

जन्म

४३. व्यापारिक स्तर पर इस मण्डली का संगठन अपने जन्म के कुछ काल उपरान्त हुआ। सही अर्थों में इसका उद्भव सन् १८६७ में हो गया था जब कि 'पीटीट कसरतशाला' की आर्थिक दुर्दशा को देखकर केखशरु नवरोजी काबराजी इसकी कार्यकारिणी मण्डली में एक प्रमुख सदस्य के रूप में सम्मिलित हो गए। उनके समक्ष प्रमुख प्रश्न था मण्डली की स्थिति को सुदृढ़ बनाना। इसके लिए उनकी कुशाग्र बुद्धि ने उस समय के प्रचलित नाटक मण्डलियों के प्रसिद्ध अमेच्योर अभिनेताओं में से पेस्तनजी धनजी भाई मास्टर, कावस जी नशरवान जी कोहीदारू, दाराशा रतन जी बीजगर, दादाभाई रतन जी ढूंढी, फराम जी गुस्ताद जी दलाल, होरमसजी धनजी भाई मोदी, पेस्तम जी नशरवान जी वाड़ीया, खरशेद जी मनचेर जी जोशी, बदजोर जी फराम जी मेजर, होरमस जी मनचेर जी बीजगर, फराम जी रुस्तम जी जोशी

के एक दल को संगठित करके शेक्सपियर के 'कॉमेडी आफ एररर्स' नाटक को 'भुल चूकनी हंसाहंस' के नाम से अभिनीत किया । यह शनिवार २२-१२-१८६७ व शनिवार ११-१-१८६८ को दो बार अभिनीत हुआ । नाटक को काफी सफलता मिली । जहांगीर जी पेस्तनजी खंभाता ने शेक्सपियर के कामेडी नाटक 'मच एडो अबाउट नथिंग' के गुजराती रूपान्तर 'सड़यो उंगर अने कहाड़यो उंगर' को मण्डली का प्रथम नाटक सिद्ध किया है[१]। यह सत्य है कि व्यावसायिक नाट्य संस्था के रूप में विक्टोरिया ने सर्वप्रथम इसी नाटक का अभिनय किया था, किन्तु पूर्ण इतिहास की दृष्टि से विचार किया जाए तो इससे पूर्व 'भुल चूकनी हंसाहंस' का अभिनय हो चुका था ।

४४. इस एक नाटक के उपरान्त प्रश्न उठा कि श्रेष्ठ अभिनेताओं के इस संगठन का क्या किया जाए ? क्योंकि जिस निमित्त से ये सुसंगठित हुए थे उसकी पूर्ति हो चुकी थी अर्थात् 'पॉरटीट कसरतशाला' की आर्थिक दशा इस दल के सद्प्रयत्नों से काफी संभल चुकी थी । समिति के एक सदस्य फरामजी गुस्ताद जी फरामरोज जोशी की अनुपस्थिति से मृतप्राय: पड़ी अपनी 'जेंटिलमैन अमेच्युर्स नाटक मण्डली' को इस संगठन के द्वारा पुनर्जीवित करना चाहते थे । किन्तु उनके स्वार्थ की बलि वेदी पर इस दल की आहुति चढ़ने से पूर्व ही केखशरू काबराजी ने एक स्वतन्त्र नाटक मण्डली के रूप में इसकी स्थापना की उद्घोषणा करके इसे किसी एक व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति का शिकार होने से बचा लिया । काबराजी की इस घोषणा ने मई १८६८ में रूप ग्रहण किया जब कि उस समय की धन सम्बन्धी स्थिति पर विचार करते हुए चार सदस्यों --

१- दादाभाई रतन जी ठूठी
२- फरामजी गुस्ताद जी दलाल
३- होरमसजी मोदी
४- कावस जी नशरवान जी कोहीदारू

१- जहांगीर पं० खंभाता -- मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ० ३०-३१

ने एक स्वतन्त्र नाटक मण्डली के रूप में स्थापित किया व भारत साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया के प्रति अपनी श्रद्धा व स्नेह के कारण अपनी इस प्रथम वैतनिक नाटक मण्डली का नाम 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' रखा ।

मण्डली की कार्यकारिणी समिति

४५. पचपन वर्ष की दीर्घकालीन अवधि का उपभोग करने वाली इस सर्वप्रथम व सर्वप्रसिद्ध नाटक मण्डली का अपने नाटकीय इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । अपने कार्यकाल में इसके द्वारा किए गए नाट्य प्रयोग भले ही कुछ क्षेत्रों में पूर्ण सफल न हो सके हों किन्तु इस दृष्टि से उनका महत्व अवश्य माननीय है कि अन्य नाटक मण्डलियों के वे अनुकरणीय आदर्श थे । विक्टोरिया नाटक मण्डली के इतिहास के अध्ययन में यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि लगभग सभी नए प्रयोगों के श्रेय की अधिकारिणी यही नाटक मण्डली थी ।

४६. एक स्थायी एवं सुनिश्चित आधार पर कार्यकारिणी समिति का निर्माण भी विक्टोरिया का अपना प्रयोग था । इस समिति के निमन्त्र निर्माणकर्ता केखशरू न० काबराजी थे जिन्होंने स्वयं सेक्रेटरी पद का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हुए श्री विनायक जगन्नाथ शंकर सेठ-- सभापति, पेस्तन जी धनजी भाई मास्टर -- निर्देशक, डा० भाऊदा जी, सोराबजी शापुर जी बंगाली, खरशेद जी नशरवान जी कामा, खरशेद जी रुस्तम जी कामा, बरजोर फराम जी सुस, जहांगीर जी मेरवान जी प्लीडर, मेरवान जी माणेक जी सेठ[१] आदि बारह अन्य व्यक्तियों को भी इस समिति में सम्मिलित किया । इस समिति के परामर्श से ही कम्पनी की समस्त कार्यवाहियां परिचालित होती थीं ।

विक्टोरिया नाटक मण्डली के प्रथम नाटक

४७. डा० धनजीभाई मेहता, जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता दाराशा शियावक्श शरौफ व चन्द्रवदन मेहता -- इन सभी विद्वानों ने व्यावसायिक स्तर पर 'बेजनमनीजेह' को इस मण्डली का प्रथम नाटक सिद्ध किया है । किन्तु

१- डा० धनजीभाई न० मेहता-- पारसी नाटक तख्ताना तवारीख, १९३१, पृ०८३

बम्बई के 'रास्त गोफ्तार' में इस नाटक से पूर्व अन्य तीन नाटकों के विवरण मिलते हैं जो कि इस प्रकार हैं--

१- 'सइयो डुंगर अने कहाड्यो उंगर' -- शनिवार १६ मई १८६८ को सर्वप्रथम अभिनीत हुआ । यह शेक्सपियर के कामेडी नाटक 'मच एडो अबाउट नथिंग' का गुजराती रूपान्तर था जो इस समय के एकमात्र रौयल थियेटर में ईरानी वेशभूषा में खेला । २३ मई व ३० मई १८६८ को उसके द्वितीय व नाटक काफी लोकप्रिय हुआ व शनिवार तृतीय प्रयोग भी जनदृष्टि के समक्ष आए । नाटक की सफलता के ये स्पष्ट प्रमाण है । इन अन्य प्रयोगों में कॉमिक बदल दिया गया था व 'साचक साहनी साजवाला' प्रहसन प्रस्तुत कियागया ।

४८. इस एक नाटक के उपरान्त कम्पनी की कार्यकारिणी समिति ने ५ जुलाई सन् १८६८ को नाट्य लेखन के सम्बन्ध में एक विज्ञापन प्रकाशित किया जिसमें पसन्द की कसौटी पर खरी उतरने वाली रचना के लिए सौ रुपए का पुरस्कार भी घोषित किया गया था । 'सइयो डुंगर अने कहाड्यो उंगर' के पश्चात् खेलने वाले निम्नलिखित दोनों नाटक इसी उद्घोषणा के परिणाम थे--

२- ४६. 'करणी तेवो पार उतरणी' शनिवार २१ नवम्बर १८६८ई० को खेला । यह वाल्टर्स स्कॉट के अंग्रेजी नाटक 'इवान होव' (Ivanhobe) का गुजराती रूपान्तर था । रूपान्तरकार थे उस समय के एल्फिन्स्टन कालेज के कवि विद्यार्थी एदलजी जमशेद जी खोरी जिन्होंने अपनी रुचि की प्रेरणा पर इसे पारसी गुजराती भाषा में रूपान्तरित किया था । प्रस्तुतिकरण के समय इसकी वेशभूषा पूर्णत: इंग्लिश थी । अंग्रेजी नाटक का आधार ग्रहण ही इसका मूल कारणथा । नाटक के साथ मूल कथा से पूर्णत: स्वतन्त्र 'होरा जी अने अर्धा आफत उर्फ लगन तलाकनो एक नवो दवारो' प्रहसन अभिनीत हुआ । शनिवार २८ नवम्बर १८६८ को नाटक का द्वितीय सफल प्रयोग हुआ ।

५०. तृतीय नाटक 'बन्दीखाने थी बाप ने छोड़ावोनार बेटी' १६ जनवरी सन् १८६९ को खेला । पूर्व नाटक के समान यह भी एक पुरस्कार उद्घोषित नाटक था जिसका २३ जनवरी १८६९ई० को द्वितीय प्रयोग हुआ । इन दोनों ही प्रयोगों में मूल नाटक के साथ 'कुमेक डाक्टर' नामक प्रहसन संयुक्त था ।

५१. इन तीनों ही नाटकों से कम्पनी को सम्यक् रूपेण अर्थलाभ न हो सका । फलत: निराशा में डूबते उतराते मालिक कम्पनी को बन्द करने के विचार में थे कि बेताब काबराजी ने उचित समय पर सहायता देकर मालिकों को एक नये मार्ग का दर्शन कराया । मृतप्राय: कम्पनी को उन्होंने नव स्फूर्ति दी । यह सहायता एक नए नाटक के रूपमें थी जिसे स्वयं काबराजी ने 'बेजन मनीजेह' के नाम से फिरदौसी के शाहनामे के आधार पर क्यानी भाषा में लिखकर तैयार किया था । प्रस्तुतिकरण में प्रभुत धनराशि व्यय हुई था किन्तु नाटक की सफलता ने नाटकीय जगत में कम्पनी के उखड़ते हुए पावों को पुन: दृढ़ता से जमा दिया व निरन्तर विकास के लिए अवरुद्ध मार्गों को खोल दिया । प्रस्तुत नाटक का नाटकीय जगत में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिनका संक्षिप्त अध्ययन यहां आवश्यक होगा --

वेशभूषा व यथार्थवादी दृष्टिकोण

५२. यदि देशकालानुसार पात्रों की वेशभूषा रखी जाए तो यथार्थवादिता के कारण नाटक अधिक प्रभावपूर्ण व श्रीसम्पन्न हो सकता है । पारसी जो अब तक अपने पात्रों की वेशभूषा के प्रति सजग नहीं थे तथा जिनके राजा महाराजा भी कुर्सी और कोच की गद्दियों के कपड़ों सेअपने राजकीय वैभव में चार चांद लगाते व कई-कई दृश्यों में चाहे वह महल का हो या जंगल का दृश्य एक ही अपरिवर्तित वेशभूषा में अभिनय करते थे[1] उन्हें प्रथम बार यथार्थवादिता का बोध हुआ । ईरान देश की कथा से सम्बन्धित इस नाटक की पारशियन ड्रेसें उन्होंने पूर्णत: नए ढंग से तैयार करवाई जिनको 'नवा ईरानी और तूरानी लिबास' का विशेषण भी दिया गया । उनके इस प्रयत्न ने आगे के नाटकों को इस क्षेत्र में काफी प्रभावित किया ।

१- जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता के विचार उनके 'खुदाने फायदो' नाटक में ।

देशी संगीत की संयोजना

५३. देशी संगीत के प्रति पारसी वर्ग प्रारम्भ से ही उदासीन रहा है। उनके पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में इस कला को सम्माननीय स्थान प्राप्त न था। संगीत प्रेमी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अपने वर्ग की अनेक कुरीतियों पर प्रहार करके उनका उन्मूलन करने वाले काबराजी ने इस क्षेत्र में भी सराहनीय कार्य किया। 'संगीत उत्तेजक मण्डली' की स्थापना व उसके द्वारा निःशुल्क संगीत शिक्षा का प्रचार करके, इस विषय पर अपने अनेक भाषणों व और उद्योगों द्वारा प्रस्तुत कला को प्रोत्साहन देकर उन्होंने इसको उचित स्थान दिलवाया। अन्यथा इस नाटक से पूर्व की स्थिति तो यह थी कि हिन्दु प्रेक्षकों की रुचि के विचार से नाटक के अन्त में दो चार गीत देना ही पर्याप्त समझा जाता था। काबराजी ने इस स्थिति को सुधारा व सर्वप्रथम 'बेजनमनी जेह' नाटक में बीच - बीच में परिस्थित्यानुसार गीतों की योजना करके एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। प्रस्तुत नाटक के गीतों को तैयार किया था उस्ताद इम्दाद खान ने। वाद्य यन्त्रों में केवल सारंगी और तबले को ही स्थान दिया गया था। हारमोनियम का प्रवेश बाद में हुआ।

परिवारों के लिए अभिनय

५४. अब तक पारसी कम्पनियों के अभिनय केवल पुरुष वर्ग के लिए ही होते थे जिनमें स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था। स्त्रियों के लिए लोकप्रिय नाटकों के विशेष अभिनय ही किए जाते थे। विक्टोरिया ने सर्वप्रथम इस नाटक द्वारा परिवारों के लिए अपने प्रयोग किए जिनमें केवल दम्पत्ति प्रवेश कर सकते थे -- केवल स्त्री या केवल पुरुष नहीं। नाटक की सीनरियां पूर्णतः नई तैयार की गई थीं जिनके निर्माणकर्ता इटालियन पेंटर सीरोनी थे।

५५. नाटक यद्यपि पूर्णतः निर्दोष और त्रुटिरहित नहीं था किन्तु अभिनय की दृष्टि से इसे अद्भुत सफलता मिली। 'गुरगीन' तथा 'कोबाद' का अभिनय करने वाले कावस जी होरमस जी तथा खुरशेद जी बालीवाला 'कावस जी गुरगीन' व 'खुरशेद कोबाद' के नाम से ही लोकप्रिय हो गए। इसने सब विवरण

के पश्चात् पूर्ण नाटक की दृष्टि से इसे विक्टोरिया के प्रथम नाटक का श्रेय देना अनुचित न होगा। इस एक नाटक से कम्पनी को इतना अर्थ लाभ हुआ कि उसने ग्रांटरोड पर विक्टोरिया थियेटर नाम से अपनी स्वतन्त्र नाटकशाला का निर्माण प्रारम्भ करा दिया।

५६. 'बेंजन मनीजेह' की अभूतपूर्व सफलता से उत्साहित कम्पनी मालिकों के आग्रह पर काबराजी ने फिरदौसी के शाहनामा के आधार पर विक्टोरिया के लिए अपने दूसरे नाटक 'जमशेद' की रचना की। इसकी रचना के पीछे ईरानी नाटकों की उद्घोषणा के फलस्वरूप अस्तित्व में आने वाले सभी नाटकों की कम्पनी मालिकों की रुचि की कसौटी पर असफलता से उद्भूत मालिकों का असन्तोष था। आश्चर्य की बात यह है कि ये सभी ईरानी ड्रामें इसी उपर्युक्त विषय को लेकर लिखे गए थे। अतः काबराजी ने इसी विषय को अपना कर अपने ढंग से उसे प्रस्तुत किया व स्वयं ही निर्देशन किया। नाटक सन् १८६६ में ग्रांटरोड थियेटर में अभिनीत हुआ जिसमें दादा भाई रतन जी ठूंठी, होरमस जी दादाभाई मोदी, खुरशेद जी मास्टर, फराम जी गुस्ताद जी, धनजी भाई सोराब जी, धनजी भाई फरदून जी केरावाला, दाराशाह सोराब जी तारापोरवाला, कावस जी नशरवान जी कोहीदारू, जहांगीर मीणतवाला, नशरवान जी फराम जी मादन, पेस्तन जी फराम जी मादन, जहांगीर खंभाता व खुरशेद जी बालीवाला ने क्रमशः जमशेद, अरजास्प, वजीर गौरशे, सिपहसालार जामास्प, काफूर कातर्, जोहाक, फिरंग, शेहेरनवाज, रमननाज, फैनी, जमशेद की बहन अरनवाज और नकीब का क्रमशः अभिनय किया[1]। इसी ईरानी नाटक को 'पारसी नाटक मण्डली' ने 'जाफ़्मशाह' के नाम से अभिनीत किया।

५७. काबराजी के सेक्रेटरीशिप के विक्टोरिया के रंगमंच पर तीसरा नाटक एदलजी जमशेद जी खोरी का 'रुस्तम सोहराब' (१८६६ ई०) खिला जिसमें दादाभाई ठूंठी, जमशु मनीजेह, खुरशेद जी बालीवाला, फराम जी गुस्ताद जी

१- जहांगीर पं० खंभाता -- मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ०६१

दलाल, नसरवान जी फराम जी मादन ने रुस्तम, सोहराब, गोरदाफरीद, शाहजादा कअकाउस व सोहराब की माता तेहेमीना का अभिनय किया। यह नाटक पूर्ववर्ती दोनों नाटकों के समान लोकप्रिय नहीं हुआ। इसके दर्शक अधिकांशत: पारसी वर्ग के थे।

५८. उपर्युक्त नाटकों के उपरान्त अगस्त १८६९-७० में काबराजी ने कमेटी के सदस्यों से पारस्परिक मत वैभिन्य के कारण कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। फलत: कम्पनी के इतिहास में एक नई परिवर्तित स्थिति आई।

प्रथम मोड़ (१८७० से १८७३ तक का कार्यकाल)

५९. सन् १८७० से १८७३ के मध्य की समस्त गतिविधियां दादाभाई सोराब जी पटेल के निर्देशन में हुई जो काबराजी के उपरान्त कार्यकारिणी समिति द्वारा कम्पनी के डायरेक्टर पद पर चुने गए थे। इससे पूर्व सोराब जी ईरानी नाटक मण्डली में इसी पद को संभाल चुके थे। यहां इनके निर्देशन में निकले 'रुस्तम और बरजो' के अलौकिक दृश्य विधान व रंगमंच पर यथार्थता के समावेश तथा नाटक की अभूतपूर्व सफलता ने इनकी योग्यता के साथ उन्हें विक्टोरिया मण्डली के इस सम्माननीय महत्वपूर्ण पद का अधिकारी बना दिया। दादाभाई पटेल का निर्देशनकाल निम्न प्रयोगों के कारण विक्टोरिया के इतिहास में महत्वपूर्ण रहा।

उर्दू नाटकों का अभिनय

६०. पारसी कम्पनियों के रंगमंच पर अब तक केवल पारसी गुजराती नाटकों का आधिपत्य था। किन्तु नवीनता के लिए उत्सुक पटेल के हृदय को इससे सन्तोष नहीं मिला। उनका मन सदैव कुछ नई स्थापना के लिए छटपटाता रहा। इसी खोज में सन् १८७१ में उन्होंने 'सोने के मूल की खुरशेद' नाटक के रूप में हिन्दुस्तानी नाटकों के अभिनय की परम्परा का सूत्रपात किया। अपने इस प्रयोग के लिए उन्हें अनेक दुष्कर मार्गों से निकलना पड़ा, क्योंकि जहां गुजराती भाषी पारसियों को उर्दू का ज्ञान न था वहां पारसी वर्ग इस हिन्दुस्तानी भाषा के पक्ष में भी नहीं था। उन्होंने एदल जी जमशेद जी खोरी से 'कामावती' नामक प्रसिद्ध हिन्दू

कथा पर गुजराती में ही 'सोनाना मूल्ना सोरशेद' की रचना करवाई व 'रास्त गोफ्तार' के अधिपति सेठ बेहराम जी फरदून जी मर्जबान से उसे हिन्दुस्तानी में रूपान्तरित कराया[1] क्योंकि सोरा जी का हिन्दुस्तानी पर सम्यक अधिकार न था। कुछ कालोपरान्त कम्पनी का स्वाधिकार अपने हाथ में आ जाने पर पटेल ने अनेकों उर्दू नाटकों का अभिनय किया।

उर्दू गीति नाट्य

६१. उर्दू नाटकों के साथ 'बेनजीर बदरेमुनीर' आपेरा द्वारा सोराबजी पटेल ने उर्दू गीति नाट्यों का आरम्भ किया और वह भी उन विपरीत परिस्थितियों में जब कि संगीत पारसी रंगमंच पर लोकप्रिय न था। इस क्षेत्र में भी अपने पूर्व प्रयोग की भांति वे पूर्ण सफल रहे तथा उनके निर्देशन में 'जहांगीरशाह गउहर', 'शकुन्तला', 'पद्मावत' आदि अनेक गीतिनाट्य खिले।

विदेश यात्रा

६२. दकन-हैदराबाद वाले सर सालारजंग के आग्रह पर सन् १८७२ में विक्टोरिया नाटक मण्डली व को हैदराबाद ले जाकर सोराबजी ने नाटक कम्पनियों को बाहर ले जाने की प्रथा का सूत्रपात किया। इसके पश्चात् तो कम्पनियों ने न केवल इस देश के विभिन्न भागों में वरन् विदेश तक कि लम्बी यात्राएं कीं। सन् १८६५ में विक्टोरिया की लन्दनयात्रा स्वयं इसका प्रमाण है।

स्टेज पर स्त्रियां

६३. सोराब जी पटेलका जो प्रयोग पूर्णतः असफलसिद्ध हुआ वह था 'इन्दर सभा' नाटक में चार हैदराबादी बेगमों को परियों के रूप में रंगमंच पर लाना। इसे पारिवारिक मान सम्मान का उपहास समझकर इस समय के प्रमुख पारसियों ने घोर विरोध कियाव दादी पटेल अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। लेकिन उनकी यह पराजय ही अन्य कम्पनियों का अनुकरणीय आदर्श बन गई। उन्हें इस प्रयोग के कारण अच्छा अर्थ लाभ हुआ/किन्तु धीरे धीरे यह तथ्य ही पारसी रंगमंच को ले डूबा। पारसी जिस रंगमंच को कला का पूज्य स्थान समझते थे वहीं अब अश्लीलता का आधार हो गया था।

१-(अ) जहांगीर पेस्तनजी खम्भाता- मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ०६०
(आ) चन्द्रवदन मेहता- बाघ गठरिया, भाग२, पृ०५१

६४. सन् १८७० में दादा पटेल के डायरेक्टर पद के निर्वाचन समय तक 'विक्टोरिया थियेटर' का निर्माण कार्य पूरा हो चुका था । अस्तु उनके समस्त अभिनय अपने ही थियेटर में हुए ।

६५. विक्टोरिया नाटक मण्डली के अपने कार्यकाल में सोराब जी पटेल ने गुजराती और हिन्दुस्तानी दोनों ही भाषाओं के नाटक बड़ी सफलता के साथ अभिनीत किए । सन् १८७० से १८७१ का काल पारसी गुजराती नाटकों का काल रहा जिसमें निम्न नाटक अभिनीत हुए --

१- 'बेजनमनीजेह' (१८७०)	ये तीनों ही विक्टोरिया के पुराने नाटक थे जिनको
२- 'जमशेद' (१८७०)	सोराब जी ने अपने निर्देशन में विक्टोरिया थियेटर
३- 'रुस्तम सोहराब' (१८७१)	में पुन: अभिनीत कराया ।

४- 'दादे दरियाव अथवा खुशरोनी सामींद खुदा' (१८७१)

५- 'सौदादाद' (१८७१)

६- 'हजमबाद अने ढगनजान' (१८७१)

६६. 'दादे दरियाव' शेक्सपियर के लोकप्रिय नाटक 'पेरीक्लीज़' के आधार पर लिखा गया था । रचनाकार थे डोसाभाई फराम जी रांडेलिया । रंगमंच के विचार से काबराजी ने इसमें कुछ रूपान्तर किए थे । नाटक के प्रस्तुतिकरण में दादा भाई रतन जी ढुंढी व पेस्तन जी फराम जी मादन का खुशरो (Pericles) व आवान (Marina) का अभिनय अधिक लोकप्रिय हुआ । सौदादाद' 'दादे दरियाव' के प्लाट पर ही लिखा गया था । 'हजमबाद अने ढगननाज' स्वल जी जमशेद जी सोरी का लिखा कामेडी नाटक था जिसे उन्होंने शेक्सपियर के विभिन्न नाटकों से सुन्दर दृश्यों का चुनाव करके संगठित किया था । किन्तु नाटक सफल न हो सका । 'हजमबाद' का अभिनय करने वाले दादा भाई ढुंढी एक ट्रेजिक अभिनेता थे । अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल न पड़ने के कारण वे इस कॉमिक अभिनय के प्रति न्याय न कर सके ।

६७. सन् १८७१ में सोने के मूल की खुरशेद' की अभूतपूर्व सफलता के पश्चात् सोराब जी पटेल का झुकाव निरन्तर उर्दू नाटकों की ओर बढ़ता गया । परिस्थितियाँ भी पटेल की इस मनोवृत्ति के अनुकूल थीं जिससे उन्हें

और भी पोषण मिला । विक्टोरिया का स्वाधिकार सन् १८७१ तक पटेल के हाथ में आ गया था । पूर्व निर्धारित षड्यन्त्र के अनुसार उन्होंने अपने विचार, धारणाओं तथा मान्यताओं को कसौटी पर लादना आरम्भ कर दिया था जिससे क्षुब्ध होकर चारों ही भागीदारों ने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिए व सोराब जी अपनी योजना में सफल सिद्ध हुए ।

६८. कम्पनी की बागडोर हाथ में आ जाने के उपरान्त सोराब जी की इच्छा पूर्ति के पूर्ण अवसर मिले । उन्होंने नशतान जी खानसाहब की कई रचनाओं को जिनमें मुख्य हैं--'हातिमताई', 'गुलबकावली', 'बागो-बहार' (आपेरा), 'जहांगीरशाह-गौहर' (आपेरा), 'शकुन्तला', 'पद्मावत' (आपेरा) 'बेनजीर', 'गोपीचन्द', 'गुलबसनोबर' आदि को बड़ी तन्मयता के साथ अभिनीत किया । 'हातिमताई' में तो यह कैखुसरो अभिनेता स्वयं हातम के रूप में प्रथमबार व्यावसायिक रंगमंच पर उतरा व अपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त की । ट्रांसफारमेशन सीन व ट्रैप वाले जिसमें देव अथवा परियों को जमीन से निकलता और आकाश में उड़ता दिखाया जाता था - का प्रारम्भ सर्वप्रथम पटेल ने अपने इन्हीं उर्दू नाटकों के द्वारा किया[1] । खान साहब के 'बागो बहार', 'आलमगीर', 'बेनजीर' -- तीनों नाटक शेक्सपियर के 'किंगलीयर', 'सिम्बेलीन' व 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' के आधार पर लिखे गए थे । पटेल के निर्देशन में निकले नाटक पूर्ववर्ती उर्दू नाटकों से दो बातों में भिन्न थे --

१- पूर्णतः गद्य में लिखे गए थे (गीतिनाट्यों को छोड़कर)

२- गीतों की योजना परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल की गयी थी जब कि पूर्ववर्ती उर्दू नाटक पूर्णतः काव्य रूप और गीति बहुल होते थे जिसमें परिस्थिति एवं वातावरण का ध्यान पूर्णतः उपेक्षित था ।

६९. सन् १८७२ में सोराब जी पटेल ने 'नूरजहां' नाटक के अभिनय में कुंवर जी नाजर से समझौता कर लिया जिसके परिणामस्वरूप एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब में शंकर सेठ के थियेटर में प्रस्तुत नाटक का अभिनय किया ।

१- डा० धनजीभाई म० पटेल-- 'पारसी नाटक तख्तानो तवारीख, १९३१, पृ०१३०

यही नहीं, इस भागीदारी के फलस्वरूप शहनशाह ड्यूक आफ एडिनबर्ग के बम्बई से विदा होने के उपरान्त काटजु का नौलाखा खरीदकर 'एल्फिन्स्टन थियेटर' का निर्माण किया गया, जिसका दूसरा नाम 'नाज़र नी नाटक मण्डली' था[1]। दादी पटेल का 'इन्दरसभा' इसी थियेटर में अभिनीत हुआ जो कि चार हैदराबादी बेगमों को रंगमंच पर लाने के कारण पूर्णत: असफल रहा। अपनी इस असफलता व भागीदारी से सन्तुष्ट न होने के कारण सौराबजी ने पूर्ण अधिकार नाज़र जी को सौंपकर सन् १८७३ में कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इस घटना के फलस्वरूप कम्पनी के इतिहास में पुन: एक नया परिवर्तन आया।

द्वितीय मोड़ (१८७३ से १८७५ ई० तक)

७०. दादी पटेल के अलग हो जाने के उपरान्त कम्पनी की बागडोर, उसकी पूर्ण सत्ता तथा एकाधिकार कुंवर जी सौराब जी नाजर के हाथ में आ गया जो कि विक्टोरिया के साथ ही उस समय अपनी 'एल्फिन्स्टन नाटक मंडली' का स्वतन्त्र रूप से संचालन कर रहे थे। अपने निर्देशन काल (१८७३-१८७५ ई०) में नाज़र ने विक्टोरिया को अधिकांशत: शहर से बाहर रखा तथा दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, बनारस व पूना की यात्राएं कीं। दिल्ली की यात्रा सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही।

दिल्ली यात्रा

७१. सन् १८७४ में कुंवर जी नाज़र ने खुरशेद जी बालीवाला फराम जी दादा भाई अप्पु, डोसाभाई फरदुन जी मगोल, धनजी भाई खुरशेद जी घड़ीयाणी, मेरवान जी मनचेरजी बालीवाला, कावस जी माणिक जी कन्ट्राक्टर, पेस्तन जी लठी, एदल जी दादाभाई, अरदेशर सौराब जी बादशाह, पेस्तन जी माधन व अरदेशर बीमाई को लेकर कम्पनी के साथ दिल्ली की यात्रा की। कम्पनी का यहां यह पहला आगमन था। अत: नाजर जी के मन में उर्दू नाटकों के अपने अभिनयों द्वारा सुन्दर भविष्य की ऊंची आशाएं थीं जो कि इस प्रकार

---

[1] जहांगीर पं० संभाता — मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ०९९

के अभिनयों की सफलता के आधार स्तम्भ खुरशेद जी बालीवाला और पेस्तन जी मादन पैसु आवान पर मुख्यतः अवलम्बित थी । किन्तु यात्रा से पूर्व इन दोनों अभिनेताओं को सोराब जी पटेल ने अपनी नाटक कम्पनी के लिए फोड़कर उनकी आशाओं को धूल-धूसरित कर दिया । एडु कौलेजर और वरदेशर के रूप में नाज़र जी को पुनः एक नया अवलम्ब मिला और उन्होंने दिल्ली में एक बड़ा सा मण्डवा तैयार करके सर्वप्रथम नशरवान जी खानसाहब के उर्दू नाटक 'गोपीचन्द' का अभिनय किया । नाटक सफल ऐसे सिद्ध हुआ जिससे प्रेरित होकर उन्होंने कम्पनी के पुराने व नए अनेकों नाटकों का अभिनय किया ।

७२. लखनऊ, कलकत्ता, बनारस व पूना की यात्राएं कम्पनी के लिए विशेष लाभप्रद नहीं रहीं । सन् १८७५ में कम्पनी के व बम्बई लौटने के उपरान्त एडवर्ड सप्तम के पुत्र प्रिंस आफ वेल्स बम्बई पधारे जिनके स्वागतार्थ अनेक राजा, रजवाड़े व अन्य सम्मानित पुरुष एकत्रित हुए । इस समय कुंवर जी नाज़र के आधिपत्य में उस समय के तीनों ही प्रसिद्ध थियेटर विक्टोरिया थियेटर, एलफिन्स्टन थियेटर, तथा शंकर सेठ का थियेटर थे । अस्तु इस स्वर्ण अवसर का पूरा लाभ उठाकर उन्होंने इन महान पुरुषों के लिए एक ही दिन में कई कई नाटकों का अभिनय किया व पूर्व हुई अपनी आर्थिक क्षति की पूर्ति की चेष्टाएं कीं ।

७३. इतना सब होने के उपरान्त भी कम्पनी की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी । अतः खुरशेद जी बालीवाला, फराम जी दादा भाई अप्पु, डोसाभाई फरदुन जी मगोल, धनजीभाई घड़ीयाणी, पेस्तन जी लालो व कावस जी माणिक जी आदि प्रमुख सदस्यों की एक समिति बुलाकर कम्पनी की आर्थिक दशा व्यक्त करते हुए नाज़र जी ने उसे भागीदारी में चलाने व कम्पनी से अपने सम्बन्ध विच्छेद का मत प्रकट किया । उनके इस मंतव्य पर --

१- खुरशेद जी बालीवाला
२- डोसाभाई फरदुन जी मगोल
३- धनजीभाई घड़ीयाणी
४- फराम जी आप्पु

चारों ने भागीदारी में कम्पनी खरीद ली व दादा भाई रतन जी ढुंढी को भी भागीदार बनाकर निर्देशक पद के लिए चुन लिया, क्योंकि ढुंढी जी अभिनेता होने

के साथ ही कम्पनी मालिक व निर्देशक पद के अनुभवों से पूर्णत: अवगत थे । इन परिवर्तनों के फलस्वरूप विक्टोरिया के नाटकीय इतिहास में पुन: एक नया मोड़ आया ।

तृतीय मोड़ (१८७६-१८७७ई०)

७४. यह दादाभाई रतन जी ढूंढी का निर्देशन काल था । विक्टोरिया नाटक मण्डली से अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ करने पर भी दादाभाई कुछ पारस्परिक मतभेदों के कारण सन् १८७२ में कम्पनी से अलग छूट गए थे । किन्तु भागीदारी के समय (१८७५ई० में) वे पुन: कम्पनी में आ गए व निर्देशक के रूप में एक वर्ष तक कम्पनी का संचालन करते रहे । क्राइस्ट धर्म के प्रति अपने विशेषानुराग व कुछ समय तक उसे अपनाने के कारण दादाभाई ढूंढी 'दादी क्राइस्ट' के नाम से विख्यात थे ।

७५. ढूंढी जी के निर्देशन-काल में कम्पनी के रंगमंच पर निम्न मुख्य घटनाएं घटीं --

१- जलसों का प्रारम्भ-- कम्पनी की आर्थिक दुर्दशा व नवीन नाटकों के अभाव में ये जलसे प्रारम्भ किए जाते थे ।

२- नाटक की संगीत पुस्तिका का प्रकाशन -- अब तक किसी भी कम्पनी का कोई भी नाटक , कथासार अथवा संगीत पुस्तिका प्रकाशित नहीं हुई थी । इस क्षेत्र में आगेवानी करने वाले सर्वप्रथम पुरुष रुस्तम जी बाम जी थे, जिन्होंने उस समय के विक्टोरिया थियेटर में चल रहे 'अलाउद्दीन अथवा अजीबोगरीब चेराग' के लोकप्रिय गानों को छपवाकर स्वतन्त्र रूप से बेचा । होरमस जी शापुरजी तावरा ने एक सहायक व सहयोगी के रूप में थियेटर में जाकर उसके सभी गानों की धुनें नोट करके इस कार्य में उनकी सहायता की । इसके पश्चात् ही पूर्ण नाटक तो नहीं, किन्तु संगीत पुस्तिका अवश्य प्रकाशित होने लगी ।

१- जहांगीर पं० संभाता-- मारो नाटकीयो अनुभव , १६१४,पृ०१५६

७६. कम्पनी की आर्थिक दशा व ग्रांटरोड के नाटकीय वातावरण को देखते हुए दादाभाई ढूंढी ने अधिकांशत: अपनी कम्पनी को बम्बई के बाहर रखा व मद्रास, कलकत्ता, बनारस, दिल्ली व लाहौर तथा जयपुर की यात्राएं कीं । ये यात्राएं सब अपने उद्देश्य में पूर्णत: सफल रहीं । मद्रास में कम्पनी ने चायना बाजार में अपना मण्डवा तैयार करके वहां दो-चार नाटकों का अभिनय किया जिनमें 'छैल बटाऊ मोहना रानी' तथा 'कुबेंक डाक्टर (प्रहसन) अधिक लोकप्रिय हुए । भयंकर तुफान व वर्षा के कारण ढूंढी जी यहां अपने अधिक नाटकीय प्रयोग न कर सके और कम्पनी बम्बई लौट आई जहां उसने 'फरौख सभा' का सफल अभिनय किया । कुछ समय यहां रहने के पश्चात् दिल्ली दरबार (जनवरी १८७०ई०) के अवसर पर एक माहपूर्व अर्थात् दिसम्बर १८६६ के प्रारम्भिक सप्ताह में कम्पनी ने पुन: दिल्ली यात्रा की व जामा मस्जिद के सामने मण्डवा तैयार करके एक महीने तक अनेकों नाटकों का अभिनय किया । कम्पनी का यहां यह दूसरा आगमन था । इससे पूर्व सन् १८७४ में कुंवर जी नाजर के नेतृत्व में कम्पनी यहां आ चुकी थी । यहां से अमृतसर व लाहौर में नाटक खेलती हुई कम्पनी जयपुर पहुंची व निर्देशक दादाभाई ढूंढी यहीं रुक गए । इसके कारण रूप में श्रीमती विद्यावती 'नम्र'[1] ने व डा० धनजीभाई[2] ने अपनी कृतियों में जो उल्लेख किया है कि समुद्र पार की यात्रा माफिक न आने के कारण ढूंढी जी ने पहले से ही कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया--तर्कसंगत नहीं है । वस्तु सत्य तो यह है कि नाटक प्रेमी जयपुर नरेश ने अपनी व्यक्तिगत नाटकशाला में ७०० रुपए मासिक पर एक सुपरवाइजर के रूप में अपने यहां नियुक्त कर लिया था जिसके लिए उन्हें कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा । ढूंढी जी के साथ ही दूसरे भागीदार फराम जी अप्पू भी कम्पनी से लगभग इसी समय अलग हो गए व माणिक जी सारेनडावाला, रुस्तम मोटा फराम, पेस्तन जी पोखराज

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'-- हिन्दी रंगमंच और नारायणप्रसाद 'बेताब' शोधप्रबन्ध, १९६७, पृ०१०८

२- डा० धनजीभाई न० मेहता- पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, १९३१, पृ०१९७-९८।

व रुस्तम जी मिस्त्री आदि कुछ अभिनेताओं ने भी आपसी मतभेदों के कारण कम्पनी छोड़ दी । इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप सारा उत्तरदायित्व बालीवाला के कंधों पर आ गया ।

चतुर्थ मोड़ (१८७७ -१९१३)

७७. सन् १८७७ से १९१४ तक का समय विक्टोरिया नाटक मण्डली के इतिहास में उसकी चरमोन्नति का स्वर्णकाल रहा है जिसके श्रेय के अधिकारी स्वर्गीय खुरशेद जी मेहरबान जी बालीवाला हैं। उनके अनेक अविस्मरणीय योगदानों के कारण कम्पनी को 'बालीवाला नाटक कम्पनी' के नाम से भी सम्बोधित किया जाने लगा जो आज तक उसी तरह प्रचलित है । प्रस्तुत कम्पनी के सम्पूर्ण इतिहास में बालीवाला ही ने सर्वप्रथम ३५-३६ वर्ष की लम्बी अवधि तक सफलतापूर्वक कम्पनी का निर्देशन भार संभाला जब कि कम्पनी के पूर्ववर्ती निर्देशक दो तीन वर्षों का पदाधिकार भोग कर कम्पनी से अलग हो गए थे ।

७८. खुरशेद जी बालीवाला एक गरीब परिवार के व्यक्ति थे व सात रुपए मासिक पर एक मुद्रणालय में कम्पोज़िटरी का कार्य किया करते थे । यहां के अपने कार्यकाल के समय ही 'रॉबिनसन क्रूसो' का पार्ट करने वाले धन जी सौलर के अभिनय का इनके मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा । एक दिन 'विक्टोरिया नाटक मण्डली के कुछ अभिनेताओं से अपने सामान्य वार्तालाप में वे उक्त नाटकों में कुछ संवादों को बड़े ही सुन्दर,प्रभावपूर्ण व नाटकीय ढंग से सुना बैठे । वस्तुत: उनका यह संवाद सुनाना ही उन्हें 'बेजनमनी-जेह' नाटक में 'कौबाद' के रूप में ले आया । इस अभिनय की अभूतपूर्व सफलता ने उन्हें 'खुशरू कौबाद' के रूप में विख्यात कर दिया । इसके पश्चात् तो सोने के मूल की खुरशीद में फिरोज़', बेनज़ीर बदरेमुनीर' में बेनज़ीर ,'भोलीजान' में हीरा वाड़ीवाला व 'तकदीरनी तासीर' में नशरवान जी इराकी के अभिनयों ने बालीवाला को न केवल मान सम्मान की चोटी पर पहुंचाया वरन् १५ रुपए मासिक पर अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ करने वाले इस अप्रतिम कलाकार को

सन् १८८७ में विक्टोरिया जैसी विशाल और अन्तर्राष्ट्रीय मान सम्मान वाली नाटक कम्पनी का निर्देशक व अन्त में एकाधिकारी बना दिया । अपनी उच्च कला के बल पर उन्होंने 'इरविंग आफ इण्डियन स्टेज' व 'इण्डियन डी लेनु' की उपाधियाँ भी प्राप्त कीं ।

७६. विक्टोरिया नाटक मण्डली के निर्देशक के रूप में बाटली-वाला ने सर्वप्रथम 'सोतमेहमान' नाटक का अभिनय किया । तदुपरान्त हमायुं-नासीर, 'पूरण भगत', 'हीरा राम्का' आदि अनेक नाटक लिखे । किन्तु उनके कार्यकाल में कम्पनी की विदेश यात्राएं आलोच्य नाटक कम्पनियों के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं के रूप में सिद्ध हुईं । सन् १८७८ से १८८६।९० के बीच कम्पनी ने कई विदेश यात्राएं कीं , जिनमें मुख्य हैं--

१- रंगून और सिंगापुर की यात्रा (सन् १८७८ में)
२- माण्डला और बर्मा की यात्रा (सन् १८८१ में)
३- लन्दन की यात्रा (सन् १८८५ में)

८०. रंगून और सिंगापुर की सफल यात्रा के पश्चात सन् १८८१ में बर्मा के राजा थीबू के निमन्त्रण पर खुरशेद जी बाटलीवाला ने धनजीभाई घड़ीयाणी, दोसाभाई मगोल, पेस्तन जी माधन(संनिवेशक), मेरवान जी पेस्तनजी मेहता, नशरवान जी बीर जी गोल्पोरिया, धन जी भाई ब० अंजीरबाग, होरमस जी शापुर जी तांतरा, होरमस जी मुल्ला, बमन गरदा, रुस्तम पं० मेहता, केखशरू होरमस जी लाला, बापुजी होरमस जी पुनेगर, पेद्द होरमस जी लाली, पेस्तन जी जांजी बाटली वाला आदि अनेक पारसियों के साथ बर्मा की राजधानी माण्डले की यात्रा भी की तथा वहां ३५ नाटक अभिनीत किए[१]। कम्पनी को यहां आशातीत सफलता के साथ थीबू से पचास हजार रुपए व पुरस्कार में बहुमूल्य

१- दाराशा शियावक्षा शरोफ -- पारसी नाटक तख्तो, १९५०, पृ०१२६

मणि माणिक्य प्राप्त हुए । किन्तु वर्मी भाषा न जानने की कठिनाई के कारण बालीवाला को रंगून से, जहाँ कि इसके पूर्व जाकर वे अपना प्रभुत्व जमा चुके थे, कावस जी गांधी को एक दुभाषिये के रूप में बुलाना पड़ा था ।

८१. इसी सफलता के उत्साह में बालीवाला को कम्पनी को समुद्र पार ले जाने का दुष्कर साहस हुआ । ये ही प्रथम व्यक्ति थे जो पच्चीस चुने हुए कलाकारों के साथ अपनी कम्पनी को सन् १८८५ में विलायत की 'इण्डियन एण्ड कॉलोनियल एक्जीबिशन' में ले गए[1] व वहां के पोर्ट लैण्ड हॉल में उर्दू नाटक 'सयफरु सुलेमान' का अभिनय किया । नाटक के 'पागल खान' प्रहसन में बालीवाला के अभिनय ने अंग्रेजों का अत्यधिक ध्यान आकर्षित किया । 'हरिश्चन्द्र', 'महमूदशाह', 'हुमायूं नासीर', 'आशक्का खून' आदि अनेकों नाटक यहां अभिनीत हुए । यही नहीं बालीवाला ने महारानी विक्टोरिया व एडवर्ड सप्तम के समक्ष 'हरिश्चन्द्र' व 'अलाउद्दीन' आदि नाटकों के अभिनय का श्रेय भी लिया[2]।

८२. कुल मिलाकर कम्पनी को इस यात्रा से अर्थहानि हुई फलतः बालीवाला कम्पनी सहित सन् १८८६ में स्वदेश लौट आए । किन्तु इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा कि नवीन रंगमंचीय तकनीकियों का प्रयोग होने लगा तथा मुन्नीबाई, मिस गौहर, मिस मैरी फेंटन जैसी कुशल अभिनेत्रियाँ स्टेज पर आने लगीं ।

८३. सन् १८८६ में स्वदेश वापस आने पर कम्पनी की अर्थहानि व आर्थिक दशा को देखकर धनजीभाई पट्टीयाणी (कम्पनी के भागीदार) ने उससे अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लिए व मार्च १८८८ में हिन्दुस्तान की यात्रा के समय कम्पनी के दूसरे मालिक डोसाभाई फरडून जी मगोल की मृत्यु के कारण

१- आर०के० याजनिक -- इण्डियन थियेटर, प्र०सं०१९३३, पृ० २२०

२- इण्डियन स्पोर्टिंग एण्ड ड्रामैटिक न्यूज़ खण्ड २, भाग ७, फरवरी १६, प्र०का० १८९३ ।

बाटलीवाला उसके स्वयं मालिक हो गए । उपर्युक्त यात्राओं के फलस्वरूप हुई अर्थहानि से कम्पनी की स्थिति सुधारने के लिए बाटलीवाला ने विनायक प्रसाद 'तालिब' से 'हरिश्चन्द्र' नाटक लिखवाया । प्रस्तुत नाटक से कम्पनी को अच्छी अर्थ प्राप्ति हुई व इसी के बल पर सन् १९०९ में 'बाटलीवाला थियेटर' का निर्माण हुआ ।

८४. खुरशेद जी बाटलीवाला ने कुंवर साजई, महेल्लू मेहता, धनजी मिस्त्री, नवरोजी संभाता, दौराब जी सचीन वाला, नसरवान जी लाली, बरजोर जोबा उर्फ बदलु फकीरी, रुस्तम सचीन, अरदेशर हीरामाणेक पेसु लाली उर्फ दार्जिड्यो पेसी, पेस्तन जी बाटली वाला, नसलु प्रौम्पटर, होरमसजी तांतरा, होरमस जी कराणी, रुस्तम बिरादर, डोलु धामर, दोसू, कपरूस्म हाथीराम, नवरोजी दांटिया, दौराब कवा, फराम जी रतन जी अप्पू आदि अभिनेताओं के सहयोग से कई वर्ष तक कम्पनी का सफल संचालन किया । किन्तु सन् १९१३ में बाटलीवाला की मृत्योपरान्त कम्पनी का इतिहास निरन्तर अवनति की ओर उन्मुख होता गया व दौराब मेवावाला तथा जहांगीर मास्टर के प्रयत्नों के उपरान्त भी कम्पनी अधिक समय तक नहीं चल सकी । सन् १९२४ में कम्पनी पूर्ण रीति से बन्द हो गई व विक्टोरिया नाटक मण्डली का ५०-५५ वर्षों का इतिहास भी समाप्त हो गया ।

अल्फ्रेड नाटक मण्डली

८५. विक्टोरिया नाटक मण्डली के कार्यकाल में ही इसकी सफलता से प्रेरित होकर अनेक नाटक मण्डलियां उद्भूत हुईं । १८७० ई० में स्थापित होने वाली अल्फ्रेड भी एक ऐसी ही नाटक कम्पनी थी जो कि व्यावसायिक नाटक कम्पनियों के इतिहास में विक्टोरिया के पश्चात् स्थापित हुई । इसका नाटकीय जीवन बड़ा ही संघर्षपूर्ण रहा । उत्थान और पतन के वात्याचक्रों में घूमती हुई कम्पनी ने कालगति के साथ नष्टप्राय: होकर अनेक जन्म लिए व लोकरंजन की भरपूर चेष्टा की । इस दृष्टि से इसका इतिहास बड़ा ही वैविध्यपूर्ण रहा ।

प्रथम जन्म (१८७०ई०)

८६. जिस प्रकार विक्टोरिया नाटक मण्डली (१८६८ई०) अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण चार भागीदारों के सहयोग से स्थापित हुई, उसी का अनुकरण करने वाली अल्फ्रेड नाटक कम्पनी भी उसी प्रकार -

१- माणेक जी जीवन जी मास्टर

२- खुरशेद जी कावस जी बापासोला

३- भीखा जी नसरवान जी कल्याणी वाला

४- रुस्तम जी शापुर जी बाटलीवाला

के सहयोग से पोषित हुई[1]। कम्पनी के मूल संस्थापक थे 'जेंटलमैन अमेच्युर्स क्लब' के प्रसिद्ध अभिनेता फराम जी रुस्तम जी जोशी, जिन्होंने क्लब के स्थापक फराम जी गुस्ताद जी दलाल से कुछ आपसी मतभेदों के कारण मण्डली से अलग होकर सन् १८७० में अल्फ्रेड की स्थापना की। इस कम्पनी के सभी अभिनेता पूर्णतः नए थे, अंग्रेजी के प्रसिद्ध व ख्यातिप्राप्त अमेच्योर अभिनेता हीरजी भाई अस्पन्दयार जी सभाता कम्पनी के निर्देशक थे।

८७. तीन नाटक खेलकर समाप्त हो जाने वाली इस अल्प-कालिक नाटक मण्डली ने अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ 'शाहजादा-शियावश' से किया। नाटक के रचनाकार खरशेद जी अमन जी फरामरोज ने फिरदौसी के शाहनामे के आधार पर अपने इस द्वैजिडी नाटक का निर्माण किया था। सात आठ महीने के पर्याप्त प्रशिक्षण के पश्चात् नाटक सर्वप्रथम २३ अप्रैल १८७० को 'रोयल थियेटर' में खेला और पर्याप्त सफल हुआ। भीखा जी कल्याणी वाला, फराम जी जोशी, खुरशेद जी फराम जी व जमशेद जी फराम जी मादन के शाहजादा शियावश, फिरंगीज, गुरगीन, व रामेशगर के अभिनय बड़े ही निर्दोष और प्रभावपूर्ण थे। ट्रेजिडी नाटक होने के कारण हास्य के अधिक संयोग

१- जहांगीर पं० संभाता- मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ०३५

न मिलने पर भी युद्ध के मैदान में गुणगान के अभिनय द्वारा इस क्षति पूर्ति की बड़ी संयत चेष्टा की गई थी । नाटक के प्रत्येक अंक के अन्त में पीरोशाह शराफ व फरामरोज -- ये दोनों बालक प्रलोग(Prologue) बोलते थे । यजदानी यारी के गायन से कार्यारम्भ की पद्धति कम्पनी की अपनी देन थी ।[1]

८-. द्वितीय नाटक शेक्सपियर के 'टेमिंग आफ दि श्रू' का गुजराती रूपान्तर था जो सर्वप्रथम ७ जून १८७१ को अभिनीत हुआ । रूपान्तरकार थे नाना भाई रुस्तम जी राणीना । इसके उपरान्त १५ अप्रैल सन् १८७१ को 'जहांबक्श गुलरुखसार' खिला । यह एक ईरानी नाटक था जिसके कृतिकार खरशेद जी बमन जी फरामरोज थे । श्रीमती विघावती 'नम्र' ने अपने शोधप्रबन्ध में 'जहांबक्श' और 'गुलरुखसार' को दो स्वतन्त्र नाटकों का मान दिया है[2] जब कि वस्तुत: यह एक पूर्ण नाटक है । अलौकिक एवं चमत्कारिक दृश्यों के निर्माणकर्ता दादाभाई दलाल एवं उनके सहायक भाऊदाजी थे । वस्तुत: अल्फ्रेड नाटक कम्पनी ने ही इस प्रकार के दृश्य व सैटसीन दिखाने की पहल की थी । अभिनय व अच्छे दृश्य संयोजन के प्रयत्नों के उपरान्त भी किन्तु सुन्दर थियेटर के अभाव के कारण कम्पनी अधिक समय तक नहीं चल सकी । सभी कम्पनियों का सर्वसुलभ रौयल थियेटर काफी लम्बे समय के लिए कुंवर जी नाज़र के आधिपत्य में आ गया था जिसके कारण अन्य नाटक कम्पनियों की नाटकीय गतिविधियों का संचालन कठिन ही नहीं, दुष्कर हो गया । इन्हीं कठिनाइयों व माणेकजी मास्टर के भागीदारी से विलग हो जाने के कारण अक्टूबर १८७१ ई० में कम्पनी बन्द हो गई ।

१- इसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं --

'कर मदद तु आ तके ओ श्क्सिना साहेब पुरा
मदद तारी सरी औरमष फतहना कण बाणी रे
मदद तारी जो होय नहीं थाये आलमना हाल पुरा..
-- जहांगीर पंथकीभाता -- मारो नाटकीयो अनुभव, १९१४, पृ०३७

२- श्रीमती विघावती 'नम्र' -- हिन्दी रंगमंच और नारायणप्रसाद 'बेताब' १९६७, पृ०१४२

द्वितीय जन्म (१८८४ ई०)

८९. सन् १८७१ में बन्द होकर सितम्बर १८८४ में कम्पनी ने पुन: सिर उठाया । उसके इस पुनर्जन्म का कावसजी पालन जी खटाऊ के व्यक्तित्व से बड़ा निकट सम्बन्ध है । अत: उसे समझने के लिए पूर्व पीठिका के रूप में इस अभिनेता के नाटकीय जीवन का अध्ययन अत्यावश्यक होगा ।

९०. कावस जी खटाऊ एक प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेता थे जिन्होंने व्यावसायिक रंगमंच पर अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ जहांगीर जी रुस्तम जी खंभाता की 'दी इम्पीरियल विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी एण्ड लिमिटेड' से किया था । नाटकीय प्रशिक्षण भी उन्होंने खंभाता जी से ही लिया । अपनी उत्कृष्ट कला के कारण श्रेष्ठ अभिनेता की प्रसिद्धि उन्हें इसी कम्पनी में मिली जो कि उन्हें एक नाट्य प्रेमी आयरिश महिला मिस मैरी फेंटन के केवल निकट ही नहीं लाई, वरन् आगे भविष्य में उन्हें प्रणयसूत्र में बांध दिया ।

९१. इम्पीरियल विक्टोरिया के बन्द हो जाने के पश्चात् कावस जी पुन: निराश्रित हो गए । इस समय इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी । अत: उन्होंने इस रंगमंच पर एक अंग्रेज महिला को उतार कर धनोपार्जन का विचार किया । इन्हीं प्रेरणाओं व सफलताओं की सम्भावनाओं के साथ सन् १८८२ में फ्राम जी कावस जी हॉल में आपने निम्नलिखित नाटक अभिनीत किए--'नैरंगे-- इश्क' (२१जून १८८२), 'इन्दर सभा' (२८ जनवरी १८८२), 'हैलू बटाऊ अने मोहना रानी' (१ फरवरी १८८२), 'लैला मजनूं' (४ फरवरी १८८२), 'नक्शे सुलैमानी यानि सदादी बहेश्त' (११ फरवरी १८८२), 'शकुन्तला' (१८ फरवरी १८८२), 'अलाउद्दीन' (४ मार्च १८८२) आदि । इनके अतिरिक्त अन्य कम्पनियों के बहुत से पुराने नाटकों के चुने हुए सुन्दर दृश्य भी प्रस्तुत किए गए । इन सभी अभिनयों में मैरी फेंटन ने प्रमुख स्त्री पात्र की भूमिका की, किन्तु पूर्ण शिक्षा के अभाव में उसके ये अभिनय अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हुए ।

धनाभाव भी एक ऐसा तथ्य रहा, जिसके कारण कावस जी अपने वांछित उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहे। 'स्टूडेन्ट्स सोसायटी' के विरोधी ने फराम जी कावस जी हॉल छीनकर इनकी अवशिष्ट आशाओं को भी नष्टप्राय: कर दिया।

६२. निरुपाय कावस जी के अप्रतिम नाटकीय प्रेम को देखकर नाना भाई रुस्तम जी राणीना ने सहृदय भाव से इन्हें आर्थिक सहायता दी तथा 'नाटक उत्तेजक मण्डली' के नीलाम हुए सामान को खरीदकर सितम्बर १८८४ में पुन: नाटक कम्पनी की स्थापना की जिसका नाम ... 'नाटक मण्डली' रखा गया।

६३. प्रभूत धनराशि देकर भी नानाभाई राणीना कम्पनी से स्वतन्त्र रहे। उसका पूर्ण संचालन, माणिकजी जीवनजी मास्टर, मोहम्मद इब्राहीम अली बोरा, कावस जी पालन जी खटाऊ के निर्देशन में ही संचालित हुआ। अपने जीवन-काल में कम्पनी ने निम्नलिखित नाटक अभिनीत किए --

रचनाएँ	तिथि	लेखक
१- 'तिलस्मे सुलैमान उर्फ अक्सीरे आजम'	बुद्ध २४ सितम्बर १८८४	
२- 'तिलस्मे जमशेद'	बुद्ध ८ अक्टूबर १८८४	
३- 'नैरंगे इश्क उर्फ दामने अस्मत'	बुद्ध ८ सितम्बर १८८४	
४- 'हुमायूं अजिज'	शनिवार १नवम्बर १८८४	
५- 'मोहम्मदशाह आदिल उर्फ सितारे गजनवी।'	,, २ ,, ,,	
६- 'काणा मेंढा उर्फ संसार सुलना शत्रु'	,, ६दिसम्बर ,,	नाना भाई रुस्तम राणीना, संगीत संयोजक-फिरोज रुस्तम बाटलीवाला।
७- 'अकर्मी करनी सकर्मी बैरी यानि संकटनु समाधान'	,, ३०जनवरी १८८५	
८- 'फरेबे इफरीत उर्फ आबे इब्लीस'	बुद्ध, १५ अप्रैल १८८५	हरिजी भाई असपन्दयारजी संभाला।
९- 'हरिश्चन्द्र'	,, २१ मई १८८५	रणछोड़भाई उदयराम परिवर्तनकार-कावराजी

६४. अपने इस अन्तिम नाटक के उपरान्त छ: महीने तक कम्पनी ने कोई नाटकीय प्रयोग नहीं किए और लगभग बन्द रहा। नवम्बर १८८५ में पुन: कार्यारम्भ हुआ किन्तु अब सारी कार्यविधियां कम्पनी के अपने स्वतन्त्र थियेटर 'अल्फ्रेड थियेटर' में हुई जो इस मध्य बनकर तैयार हो गया था। इस थियेटर में खेले जाने नाटक हैं --

१०- 'पद्मावत'	शनिवार	२२ नवम्बर १८८५	खान साहब आराम
११- 'सुभद्राहरण'	,,	२६ दिसम्बर१८८५	शौकर बापुजी त्रिलोकेकर
१२- 'जूना बाई विरुद्ध नवाबाई'	,,	१० अप्रैल १८८६	अरदेशर् बहरामजी पटेल, संगीत संयोजक - फिरोज रुस्तम बाटलीवाला

१३- 'सुल्ताना फरीद याने अंजामे आफत' शनिवार १५मई १८८६

डायरेक्टर सोराब जी ओग्रा

६५. अन्तिम नाटक के पश्चात् १५ महीने तक कम्पनी के अन्य नाटकीय प्रयोगों के विवरण नहीं मिलते। किन्तु इस मध्य एक ऐसी घटना घटी, जिसने कि कम्पनी के नाटकीय जीवन को काफी प्रभावित किया। यही नहीं, वरन् कम्पनी के जीवन में एक नया परिवर्तन ला दिया। यह है सोराब जी ओग्रा का निर्देशक होना। सन् १८५८ में एक सामान्य परिवार में जन्मे सोराबजी ने बीस वर्ष की अवस्था अर्थात् सन् १८७७ के लगभग दादाभाई सोराबजी पटेल की 'ओरीजिनल विक्टोरिया नाटक मण्डली' से अपने नाटकीय जीवन का प्रारम्भ किया था। परिवार के निर्धन किन्तु प्रतिमा के धनी इस कलाकार ने शीघ्र ही प्रसिद्ध प्राप्त की व अपनी योग्यता के बल पर 'एलफिन्सटन नाटक मण्डली' (१८७६) में व कलकत्ते में जे०एफ० मैडन के यहां कुछ काल तक कार्य करने के पश्चात् अल्फ्रेड का निर्देशक होने का सम्मान पाया। सोराबजी के आने से पूर्व मिस मैरी फेंटन के अल्फ्रेड छोड़कर अन्य नाटक कम्पनियों में चले

जाने के कारण कम्पनी की दशा काफी अस्तव्यस्त और डांवाडोल थी । एक कुशल निर्देशक और अभिनेता के रूप में सोराब जी ने स्थिति को काफी संभाला । किन्तु पूर्व अनुभवों से भिन्न इस निर्देशक के कार्यकाल में स्त्री अभिनेत्रियाँ रंगमंच पर न आ सकीं । कैखशरू लाला , जमशेद जी असलाजी,पेस्तन जी ढेढ़ी व रणछोड़दास आदि पुरुष पात्रों ने स्त्री भूमिकाएं संपादित कीं । औग्रा जी के कार्यकाल में निम्नलिखित नाटक खेले गये --

रचनाएं	अभिनय तिथि	लेखक
१-'श्रीपाल राजा'	शनिवार अक्टूबर १८८७	
२-'अफलातून'	,, ३१ दिसम्बर१८८७	
३-'ताशीरे ख्वाब'	,, १८ फरवरी१८८८	
४-'होमली हारुं'	बृहस्पति १२ अप्रैल ,,	नानाभाई रुस्तम जी राणीना, संगीत संयोजक - फिरोज रुस्तम बाटलीवाला
५-'बीमारे बुलबुल उर्फ जवानी जैकी'	शनिवार १७ नवम्बर१८८८	खान साहब 'आराम'
६-'बोस्ताने बेदाद'	,, १६ जनवरी १८८६	

६६. इस नाटक के उपरान्त अमृत केशव नायक,पन्नालाल केशव नायक,लीलाधर, केवलराम, लल्लुशंकर आदि नटों ने कम्पनी में प्रवेश किया। औग्राजी के आगमन के समय में गोविन्द मोती नायक तथा लल्लु मोती नायक कम्पनी में सम्मिलित हो चुके थे ,जिन्होंने अभिनय के क्षेत्र में पर्याप्त कीर्ति अर्जित की ।

७-'खलीफा हारुन रशीद'	शनिवार २३ मार्च १८८६	
८-'किस्मत का सितारा उर्फ अली बाबा चालीस चोर'	,, २४ अगस्त १८८६	मुंशी मुराद अली

इस नाटक के पश्चात् 'अल्फ्रेड' कम्पनी थियेटर नष्ट हो जाने के कारण कम्पनी को पुन: 'नावेल्टी' और 'गेइटी थियेटर' में अपने प्रयोग करने पड़े ।

६-'श्री कृष्ण विजय'	शनिवार ८ फरवरी १८६०	शंकर बापुजी त्रिलोकेकर

मालिक कावसजी खटाऊ

उपर्युक्त अन्तिम

६७. वैष्णवों द्वारा नाटक के प्रस्तुतिकरण के समय अनेक प्रश्न उठाए गए, किन्तु इस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है, कम्पनी की मिलकियत में आमूल परिवर्तन । मौहम्मद इब्राहिम अली बौरा कम्पनी से संबंध विच्छेद करके स्वतन्त्र हो गए, व स्त्री अभिनेत्रियों को लेकर खटाऊ से अपने मत-भेदों के कारण सोराब जी ओग्रा ने भी कम्पनी छोड़ दी, फलत: कम्पनी का कार्य-पूर्णभार कावस जी खटाऊ पर आ पड़ा व मार्च १८६०ई० में वे इसके स्वतन्त्र व एकाकी मालिक हो गए । मेरी फेन्टन को पुन: कम्पनी में लाकर इन्होंने अपने आधिपत्य में निम्न नाटकों का अभिनय किया --

१-'गामडेनी गोरी' शनिवार १२ अप्रैल १८६० बहमानजीनवरोजी काबराजी

६८. बहमन जी नवरोजी काबराजी का व्यावसायिक रंगमंच पर यह पहला नाटक था जो काफी सफल रहा व बहराम के रूप में अमृतकेशव नायक तथा मेरी फेंटन का अभिनय लोकप्रिय हुआ । प्रस्तुत नाटक के उपरान्त कम्पनी कुछ समय के लिए पूना और अहमद नगर की यात्रा पर चली गई जिससे कि इसके नए प्रयोगों के विवरण नहीं मिलते । वहां से लौटकर कम्पनी ने पुन: नए नाटकों का अभिनय किया ।

२-'अलाउद्दीन उर्फ अजीबो ग़रीब चेराग़' शनिवार ३०मई १८६१ मुंशी मुरादअली

३-'मौली गुल्यानि गुल्नी बूल' ,, २६ मार्च १८६२बहमन जी नवरोजी काबराजी

४-'सारा खुरशीद' शुक्रवार २६ अप्रैल १८६२

तृतीय जन्म (१८६५)

६६. उपर्युक्त चार नाटकों को खेलने के पश्चात् जून १८६२ में कम्पनी बन्द हो गई व कावस जी खटाऊ एक भागीदार के रूप में 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' में सम्मिलित हो गए । मिस मेरी फेंटन भी इसी कम्पनी में चली आई । किन्तु १८६४ में डोरमस जी [illegible] से अपने आपसी मतभेदों के कारण

उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया व मित्रों को एकत्रित करके 'न्यू अल्फ्रेड' के आधार पर 'ओरीजनल अल्फ्रेड कम्पनी' (१८६५) की स्थापना की। कम्पनी का प्रथम नाटक 'कलजुग' १ जनवरी १८६५ को अभिनीत हुआ जिसमें फाइमन (इस समय ही कम्पनी में प्रवेश किया था) व मेरी फेंटन दोनों ने क्रमशः पेरान और शीरीन का अभिनय किया। 'भोली गुल' और 'गामठेनी गोरी' (कम्पनी के पूर्व नाटक) के उपरान्त कम्पनी मुंशी मिर्जा मोहम्मद काज़िम के 'लैला उर्फ सितारे मंगरेलिया' की तैयारी में संलग्न थी कि होरमस जी तांतरा ने कम्पनी को बन्द कराने के विचार से छलपूर्वक मेरी फेंटन को १ मई १८६५ की अभिनय तिथि से पूर्व ही भगा दिया। तैयारी में अत्यधिक व्यय व अभिनय न हो सकने के कारण कम्पनी को काफी आर्थिक हानि हुई। तांतरा जी की योजना पर्याप्त सफल रही व 'न्यू अल्फ्रेड' के मालिक महम्मदअली बोरा ने कम्पनी को खरीद कर खटाऊ को अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। मई १८६५ से १८६७ तक कावसजी खटाऊ इसी कम्पनी में रहे।

<u>डायरेक्टर अमृत केशव नायक</u>

१००. सन् १८६८ में 'न्यू अल्फ्रेड से सम्बन्ध विच्छेद करके कावस जी ने पुनः 'अल्फ्रेड के-अभिनेता, नाटक व कम्पनी' की स्थापना की, जिसके निर्देशक के उत्तरदायित्व को 'न्यू अल्फ्रेड' के अभिनेता, अमृत केशव नायक ने संभाला। विक्टोरिया के फरामजी चोक्सी व मास्टर मोहन भी इस समय कम्पनी में आ गए। अमृत केशव के निर्देशन में कम्पनी ने 'एडोलसियर थियेटर' में निम्न नाटकीय प्रयोग किए --

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
१- 'खूने नाहक' (शेक्सपियर के हेमलेट पर आधारित)	१५ जून, १८६८	मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी

पात्र-- फरंगस--अलामोहम्मद, हेमलेट-खटाऊ, अख़तर-जोसेफ डेविड, मेहरबानो-- मास्टर मोहन, मेहरुन्निसा-अमृत केशव नायक, रेहाना-- वल्लभ केशव नायक, फरखीना--रामलाल वल्लभ, प्रभुदास लहरी-- पुन्नालाल आदि।[1]

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'-हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब' थीसिस, १८६७, पृ०१३६

यह नाटक ५४ बार अभिनीत हुआ ।

२-'बज्मे फानी' (शेक्सपियर के रोमियो जुलियट के आधार पर) — बुद्ध, ६ नवम्बर १८९८ — मुंशी मेंहदी हसन 'लखनवी'

पात्र-- कुशल-- खटाऊ, असगर-- अमृत केशव नायक, बशीर-- पन्नालाल, शीरीन-- मास्टर मोहन, सौसन--वल्लभ--केशव नायक, गुलनार--रामलाल वल्लभ ।

३-'मुरीदे शक' (विंटरस टेल पर आधारित) — बृहस्पत, ६ अप्रैल १८९९ — आगा हश्र 'काश्मीरी'

पात्र-- बादशाह-कावस जी खटाऊ, दरोगा का बेटा--पन्नालाल, रामा--रामलाल, हुस्नारा-- मास्टर मोहन, गुलनार--वल्लभ केशव नायक, हमीदा--अमृत केशव नायक, गडरिया --रामलाल वल्लभ ।

४-'मारे आस्तीन' (स्कीलीन पर आधारित) — बृहस्पति १६ नवम्बर १८९९ — आगा हश्र

पात्र-- मिजाजी--अता मौहम्मद, अशरफ-- अमृत केशव नायक, मुसलमान--खटाऊ, दमड़ीबेग-- फराम जी बोमन, दूधवाला- पन्नालाल, परवान--मास्टर मोहन, बिल्की-- रामलाल वल्लभ, सलीमा--वल्लभ केशव नायक ।

अप्रैल १९०० के पश्चात् कम्पनी दिल्ली गई व वहां 'असीरे हिर्स' का अभिनय किया ।

५-'असीरे हिर्स' (पिजारो पर आधारित) — १९०० ई० — आगा हश्र 'काश्मीरी'

पात्र-- नासिरुद्दौला-अमृत केशव नायक, बेग-खटाऊ, रुस्तम--फराम जी बोमन, सफदरजंग--मंचेरशा, महजबीन-पुरुषोत्तम नायक, नौशबा--मास्टर मोहन, सलीना-वल्लभ केशव नायक, फंफट--रामलाल वल्लभ ।

इसके पश्चात् कम्पनी बम्बई में अधिक समय तक नहीं रह सकी व दिल्ली लखनऊ, मेरठ आदि जगहों में अपने पुराने नाटकों का अभिनय करती रही । अप्रैल १९०१ को पुन: बम्बई लौटकर कम्पनी ने रोयल थियेटर में निम्न नाटक का अभिनय किया--

६- 'चन्द्रावली' — शनिवार २१ जून, १९०१ — मुंशी मेंहदी हसन 'लखनवी' ।

१०१. 'असीरे हिर्स' भी यहां कई बार अभिनीत हुआ। आगा हश्र का 'शहीदे नाज़' (मेजर फॉर मेज़र पर आधारित) दिल्ली में सन् १९०३ में खेलकर कम्पनी पुन: बम्बई लौट आयी व अब के कारोनेशन थियेटर' में उसने अपने नाटकीय प्रयोग किए। यहीं अप्रैल १९०४ में मिस गौहर ने कम्पनी में प्रवेश किया व कई पुराने नाटकों में अभिनय किया। १९११ तक कम्पनी के अन्य नये नाटकों के विवरण नहीं उपलब्ध होते। इस अन्तराल में कम्पनी ने अधिकांशत: उत्तर भारत की यात्रा की व १२ अगस्त १९११ को पेशवा में नए नाटक 'तौबा शिकन' का अभिनय किया। अभिनय के कुछ काल उपरान्त ही अमृत केशव नायक की मृत्यु हो गई फलत: डायरेक्टर मंचेरशा छापगर ने कम्पनी के उत्तरदायित्वों को संभाला व अपने निर्देशन में 'बेताब' के 'गोरखधन्धा' (शनिवार ३१ अगस्त १९१२), 'महाभारत,' (शनिवार २१ जून १९१३) 'रामायण', (सन् १९१५) नाटकों का अभिनय किया।

१०२. 'महाभारत' से 'हिन्दी रंगमंच के इतिहास में एक नई क्रान्ति का बीजारोपण ही हुआ था कि विपरीत परिस्थितियों से जूझकर इस क्षेत्र में साहसिक कदम उठाने वाले काउसजी पालन जी खटाऊ की १६ अगस्त १९१६ में पथरी के ऑपरेशन में मृत्यु हो गई। काउसजी की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी की बागडोर उनके पुत्र जहाँगीर जी पालन जी खटाऊ के हाथ में आ गई व उक्त रंगमंच पर 'बेताब' का 'पत्नी प्रताप' खिला। अपनी बुरी आदतों के कारण जहाँगीर जी कम्पनी का अधिक समय तक संचालन न कर सके व इस एक नाटक के पश्चात् ही मैडन ने अल्फ्रेड कम्पनी खरीदी और वह मैडन थियेटर में विलीन हो गई।

न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी (१९११-१९३२)

जन्म_

१०३. अनेकों हिन्दी नाटकों के अभिनय द्वारा हिन्दी रंगमंच के विकास में योगदान देने वाली इस महत्वपूर्ण नाटक कम्पनी का जन्म अल्फ्रेड के एक खण्डित अंश से हुआ था। सन् १८९० में जब कि अल्फ्रेड पुना

और अहमदनगर की यात्रा पर गई हुई थी महम्मद अली बौरा ने मार्च १८६१ में कम्पनी के बम्बई-आगमन से पूर्व ही सौराब जी ओग्रा, माणेक जी मास्टर अमृत केशव नायक और उसके भाइयों के सहयोग से एक स्वतन्त्र नाटक कम्पनी की स्थापना की तथा अल्फ्रेड के आधार पर कम्पनी का नाम 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' रखा। उपर्युक्त सभी अल्फ्रेड नाटक कम्पनी के सदस्य थे, जिन्होंने सन् १८६० में कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। सौराब जी ने अल्फ्रेड के समान ही प्रस्तुत कम्पनी में भी निर्देशक (Director) के पद को संभाला।

~~डायरेक्टर-सौराब-जी-ओग्रा~~ -

१०४ डायरेक्टर सौराब जी ओग्रा के निर्देशन में कम्पनी ने निम्न अभिनयों द्वारा अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया --

रचनाएं	अभिनय तिथि	लेखक
१- 'अजीब चिन्ह उर्फ अलाउद्दीन'।	शनिवार ३० जून १८६१	मुंशी मुरादअली

शनिवार ३० मई १८६१ में 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' के ने मुंशी मुरादअली के 'अलाउद्दीन उर्फ अजीबो गरीब चैराग' का अभिनय किया था, जिसमें अनेक अलौकिक, अद्भुत एवं चमत्कारिक दृश्यों का संयोजन था व सुन्दर सेट सीन रंगमंच पर प्रस्तुत किए गए थे। इसकी लोकप्रियता व दृश्यविधान से प्रभावित होकर 'न्यू अल्फ्रेड' ने भी मुंशी मुराद से इसी नाटक को कुछ परिवर्तित रूप में लिखाकर नाम से अभिनीत किया।

पात्र--

जादूगर अब्नेज़ार -- सौराब जी ओग्रा
अलाउद्दीन -- अमृत केशव नायक
बदरुल बादर -- लल्लूशंकर

२- 'बीमारे बुलबुल'	१६ सितम्बर १८६१	मुंशी मुरादअली
३- 'इन्दर सभा'	१३ जनवरी १८६२	
४- 'तासीरे ख्वाब'	बुद्ध २७ जनवरी १८६२	

(हिन्दी नाटकशाला में खिला)

५- 'अली बाबा' शनिवार ५मार्च १८९२ मुंशी मुराद अली

६- 'तिलस्मै सुलैमान' २मई १८९२ --

७- 'आबे इबलीस' ६जून १८९२ --

८- 'सुल्तान फरीद' बुद्ध२७ जुलाई ,,

इस नाटक के उपरान्त कम्पनी ने दिल्ली, रामपुर, अमृतसर व लखनऊ की यात्राएं कीं व पुन: लौटकर निम्न अभिनय किए --

९- 'अख्तरे हिन्द' १० जुलाई १८९३ मुंशी मुरादअली

१०- 'लैला मंजनू' १ नवम्बर ,, कम्पनी पुन: बम्बई से बाहर गई ।

११- 'राजा हरिश्चन्द्र' २ सितम्बर १८९४ --

१२- 'लैला उर्फ सितारे मंगरेलिया' १८९५ मुंशी मिर्जा मोहम्मद काज़िम ।

१०५. वस्तुत: यह वही नाटक है, जिसे 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' काफी तैयारी के पश्चात् १ मई १८९५ को अभिनीत करने वाली थी । किन्तु होरमस जी तांतरा द्वारा मेरी फेंटन को भगा देने के कारण अभिनीत न कर सकी थी व आर्थिक हानि में डूबकर न्यू अल्फ्रेड के हाथ बिक गई । अत: उसका यह पूर्ण तैयार नाटक भी 'न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर ही खिला । कावस जी खटाऊ तथा अमृत केशव नायक ने तौरीन तथा अलाउद्दीन का ~~अभिनय~~ अभिनय किया ।

१३- 'खुरशेद जरनिगार' १८९५ मुंशी मुरादअली

१४- 'ताजे नेकी' शनिवार २१जुलाई १८९७
(यह चन्द्रावली नाटक का ही कुछ परिवर्तित रूप था ।)

१५- 'दिल फरोश' (शेक्सपियर के मर्चेण्ट ऑफ वेनिस पर आधारित) शनिवार १५ अक्टूबर १८९८ मेंहदी हसन लखनवी, संगीत संयोजक - मुंशी मुरादअली

१०६-

१०६. 'दिल फरोश' नाटक के उपरान्त कम्पनी की मिलकियत में परिवर्तन हुआ। महम्मदअली बैरा की मृत्यु के कारण कम्पनी का एकाधिकार माणेकजी मास्टर के हाथ में आ गया। यद्यपि उन्होंने महम्मद अली के पुत्र को भागीदार के रूप में सम्मिलित कर लिया था, किन्तु अल्पायु व अनुभवहीन होने के कारण सर्वसत्ता माणेकजी के आधिपत्य में ही रही।

१६- 'भूल भुलैया' १७ अक्टूबर १६०० मुंशी मेंहदी हसन लखनवी

१७- 'दांव पेंच फयजे सोहबत' बम्बई से बाहर हुआ सैयद नज़ीर हुसैन सखा 'देहलवी'

यही नाटक सन् १६०६ में आगा हश्र ने "सैदे हवस" के नाम से लिखा जो कि 'मुम्बई नाटक मण्डली' में अभिनीत हुआ।

१८- "ख्वाबे हस्ती" १ मई १६०७ आगा हश्र 'कश्मीरी'

१६- 'खूबसूरत बला' बुद १८ दिसम्बर १६०६ ,, ,,

१०७. यह नाटक काफी लोकप्रिय हुआ। हास्य कलाकार सोराब जी ओग्रा का "मैर सल्ला" का अभिनय अप्रतिम था, जिससे प्रभावित होकर देश की नाटक कम्पनियों ने ही नहीं वरन् विविध क्लबों ने भी बड़े मनोयोग पूर्वक इसका अभिनय किया। राधेश्याम 'कथावाचक' भी इसके प्रभाव में ही नाट्य जगत में उतरे[१]। इस नाटक से पूर्व कम्पनी की आर्थिक स्थिति काफी अस्तव्यस्त थी। अभिनेताओं ने नोटिस दे रखे थे व कम्पनी मालिक पूर्णत: उदासी में डूबे हुए थे। किन्तु प्रस्तुत नाटक के अभिनय की प्रथम रात्रि में ही सोराब जी ओग्रा, सोराब जी कात्रक, हल्लू, जगन्नाथ, सहेलाणी व दोराब मेवावाला के अपूर्व अभिनय ने न्यू अल्फ्रेड में नव जीवन का संचालन कर मालिकों की उदासी पूर्णत: प्रक्षालन कर दिया। चार महीने तक खिलने वाले इस नाटक ने कम्पनी की स्थिति को काफी

१- "यही पहला नाटक था-जिसे देखकर मैं उसमें बह सा गया.. वास्तव में खूबसूरत बला नाटक देखकर ही मुझे अब उत्कट उत्कंठा हो गई कि इस दरिया में कूदूंगा।"

--राधेश्याम कथावाचक, 'मेरा नाटक काल' १६५७, पृ०२४

सुदृढ़ बनाया ।[1]

२०-`शरीफ बदमाश`   २४ जनवरी १६१२   मेंहदी हसन लखनवी

१०८. सोमवार ८ जुलाई १६१२ में `दिलफरोश` नाटक के उपरान्त मण्डवे में आग लग जाने व काफी आर्थिक हानि होने के कारण कम्पनी बन्द हो गई । सोराब जी कात्रक, लल्लू शंकर व कावस जी आदि अनेक अभिनेता `न्यू अल्फ्रेड छोड़कर `पारसी इम्पीरियल नाटक मण्डली में सम्मिलित हो गए, जो कि इस समय कोरोनेशन थियेटर में अपने अभिनय कर रही थी । मास्टर जगन्नाथ ` त्रि पुरानी अल्फ्रेड नाटक कम्पनी में चले गए । १५ महीने के कठोर संघर्ष के पश्चात् जुलाई १६१४ में माणेक जी मास्टर के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप कम्पनी पुनर्जीवित हुई और उसने विक्टोरिया थियेटर में अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया ।

२१- `अछूता दामन`   शनिवार,६मई १६१४   आगा हश्र`कश्मीरी'

१०६. इसी समय (अर्थात् १६१४ में) माणेक शाह बलसारा ने एक क व्यवस्थापक (Manager) के रूप में कम्पनी में प्रवेश किया व बिजली इंचार्ज के भार को संभाला । राधेश्याम`कथावाचक'भी एक नाटककार के रूप में कम्पनी में लगभग इसी समय आए । क्योंकि`अछूता दामन' के पश्चात् उनके `वीर अभिमन्यु `के अभिनय का विवरण मिलता है ।

२२-`वीर अभिमन्यु'(दिल्ली के संगम थियेटर में खिला )     ५फरवरी१६१६     राधेश्याम`कथावाचक'

पात्र-- श्रीकृष्ण -- मोतीलाल, अभिमन्यु-- अम्मूलाल, अर्जुन-रलीजर,भीम-- अब्दुल रहमान काबुली, सुभद्रा -मास्टर जगन्नाथ ,उत्तरा मास्टर निसार, युधिष्ठिर -- रियाज़ , द्रोणाचार्य--मगनलाल, जयद्रथ-- अमर भाई ,खटपट सिंह-सोराब जी ढूंढी, शंकर - गंगाप्रसाद भाई, सुन्दरी - चशा पुरुषोत्तम ।

२३-`बज्मा पुर्वा'   २७ फरवरी १६१६   मेंहदी हसन लखनवी

१- शिवाबदा दाराशा श्रॉफ - पारसी नाटक तख्तो - १६५०, पृ०६५

११०. सिकन्दर के रूप में सौराब जी ओग्रा का अभिनय प्रस्तुत नाटक में काफी लोकप्रिय हुआ । अपने उपर्युक्त सभी नाटकों की अद्भुत सफलता से कम्पनी की आर्थिक स्थिति इस समय तक सुदृढ़ हो चुकी थी । इसी का परिणाम था कि सन् १९१६ के पश्चात् मालिक- माणिक जी जीवन जी मास्टर ने अहमदाबाद में `मास्टर थियेटर` के नाम से एक लाख में अपनी स्वतन्त्र नाटकशाला का निर्माण कराया जहाँ सर्वप्रथम `भक्त प्रहलाद` अभिनीत हुआ ।

२४- `भक्त प्रहलाद` १९२४ राधेश्याम`कथावाचक`

१११. नाटक में लोभीलाल का अभिनय करने वाले सौराब जी ने दिल की बीमारी के कारण इस नाटक के उपरान्त अभिनय करना छोड़ दिया किन्तु वे `न्यू अल्फ्रेड` से सम्बन्धित रहे । अस्वस्थता के कारण उनके उत्तरदायित्व को सहायक निर्देशक (Asst Director) मोगीलाल ने संभाला । किन्तु कम्पनी का यह रूप अधिक समय तक सुरक्षित न रह सका । शेयर बाजार के कारण माणेक जी को काफी आर्थिक हानि हुई और उनमें इतनी कमजोरी आ गई कि वे कम्पनी का भार न संभाल सके तथा --

१- फ्रामरोज कोंजिया

२- मेहबान जी कापड़िया (मैनेजर)

३- माणिकशा बल्सारा (मैनेजर)

को कम्पनी का मालिक बनाकर सदा के लिए उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया । सौराब जी ओग्रा भी सन् १९२४ में कम्पनी से स्वतन्त्र हो गए । फलतः कम्पनी के लम्बे इतिहास का एक अध्याय समाप्त हो गया ।

निर्देशक के रूप में सौराब जी

११२. सफल हास्य अभिनेता के साथ ही सौराब जी ओग्रा एक कुशल संचालक व निर्देशक थे, जिन्होंने अल्फ्रेड और न्यू अल्फ्रेड (१९११-१९१४) दोनों ही कम्पनियों का लम्बे समय तक संचालन किया था । इनकी सफलता का मुख्याधार भाषा सम्बन्धी उच्च ज्ञान ही नहीं, वरन् चरित्र के विषय में उनकी दृष्टि सम्पूर्णता भी है । चरित्र के विभिन्न पहलुओं के सामंजस्य से वे भली भांति

१- राधेश्याम कथावाचक`मेरा नाटककाल`, १९५७, पृ० ९०

अवगत थे व उसके पूर्ण प्रकाशन में आंगिक और वाचिक अभिनयों के सामंजस्य का महत्व भी उनके सहज स्वाभाविक ज्ञान से छिपा न था । सोराब जी के मतानुसार "यदि सीन अच्छे से अच्छा लिखा हुआ हो- और बोलने वाले ऐक्टर्स उसे सही तौर पर अच्छे से अच्छा बोल जाएं तो कोई का रण नहीं जो नाटक फेल हो[1]।"

"न्यू अल्फ्रेड में उनके निर्देशन काल की मुख्य विशेषताएं

१- ११३. अनेक कई प्रतिभाओं को रंगमंच के अनुकूल सजाया, संवारा गया । सोराब जी कात्रक , दोराब मेवावाला ,एदु सेलानी, ऐदल जी ऐंची ,पीरोशा पीठावाला, सोराब जी धैढ़ी,ससक बीनाई, इब्राहिम पिजारा, ऐलाहीजर, रामचन्द्र, जोसेफ डेनियल ,लल्लू भाई, मास्टर जगन्नाथ, भोगीलाल आदि अभिनेता सोराब जी की ही खोज हैं, जिन्होंने ओग्राब जी से अभिनय शिक्षा लेकर नाट्य जगत् में अपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त की ।

२- प्रोम्ट(Prompt) नहीं दिए जाते थे व नाटक की पुस्तक भी स्टेज पर नहीं रहती थी । पात्रों को अपनी प्रतिभा के बल पर ही रंगमंच पर उतरना होता था ।[2]

३- कम्पनी के तीन बार जलने व नष्ट होने पर भी उसकी नियमितता व नियम-बद्धता में शिथिलता नहीं आई ।

४- चारित्रिक उच्चतर पर बल देने के कारण कोई स्त्री अभिनेत्री सोराब जी के निर्देशन-काल में रंगमंच पर नहीं उतर सकी ।

५- रंगमंच पर अभिनेताओं को पुरस्कार अथवा पदक से सम्मानित नहीं किया गया ।

६- सोराब जी के निर्देशन काल में राजा-महाराजा, व बाहर के अन्य गणमान्य व्यक्ति तथा स्वयं कम्पनी मालिक कभी भी अभिनय के समय रंगमंच पर न आ सके ।

७- कम्पनी सनातनधर्मी थी ।

१- राधेश्याम कथावाचक -"मेरा नाटक काल",प्रथमावृत्ति,१९५७,पृ०४३

२- ,, ,, ,, ,, पृ० ४३-४४

अभिनेता सोराब जी

११४. यह सत्य है कि सोराब जी एक 'आल राउण्ड ऐक्टर' (all round actor) नहीं थे व हरिश्चन्द्र जैसे ट्रैजिक पात्रों के अभिनय में वह सफल न हो सके किन्तु हास्य अभिनय में उनकी कीर्ति आज भी, अलभ्य है । "दिल फरोश" का मुबारक, "भूल भुलैया" का अब्दुल करीम, "खूबसूरत बला" का "खैरसल्ला", "शरीफ बदमाश" का कुक्नुस तथा 'चलता-पुर्जा' का यह सिकन्दर " हल्के व भौंडे प्रकार के हास्य का पक्षपाती नहीं था । अपने हास्य अभिनय में गंभीर तत्व की रक्षा करते हुए तथा स्वाभाविक अभिनय के साथ "वे अपने सेन्टेंसेज़ (Sentences) दर्शकों के कानों में इस प्रकार डालते थे, जैसे श्रावण में किसी बाग के भीतर -शीतल मन्द पवन हमें झकोरों द्वारा स्वतः ही आनन्द देती है[1]।" इनकी अभिनय कुशलता पर प्रसन्न होकर निजाम हैदराबादी ने सोने की अशर्फियों के पुरस्कार से इन्हें सम्मानित किया व कम्पनी के इलाहाबाद आने पर सर चार्ल्स मनरों से भी पर्याप्त सम्मान मिला । 'इम्पीरियल नाटक मण्डली' के जोसेफ डेविड व "पारसी थियैट्रिकल कम्पनी' के अमृत केशव नायक का निर्देशकत्व (Directorship) सोराब जी का ही ऋणी है[2]। ३ अप्रैल १९३३ को ७५ वर्ष की अवस्था में रंगमंच के इस महान साधक ने, व ग्रांट रोड पर 'प्ले हाउस' के इस 'बजते घुंघरू' ने सदा के लिए मौन धारण कर लिया । ऐसे कलाकार को दी गई "डेविड गैरिक(इंगलैण्ड का प्रसिद्ध नट) की उपमा में थोड़ी भी अतिरंजना नहीं है ।

कार्यकर्ता

११५. सोराब जी के काल में कम्पनी के अन्य कार्यकर्ता निम्नलिखित थे--

---

१- राधेश्याम कथावाचक--" मेरा नाटक काल", श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली १९५७, पृ० ४३

२- शिवाक्षा दाराशा शरोफ " पारसी नाटक तख्तों " कैसरे हिन्द प्रिंटिंग प्रेस बम्बई, १९५०, पृ०९५

१- निर्देशक -- सोराब जी ओग्रा । सहायक निर्देशक-- भोगीलाला भाई

२- स्थायी लेखक-- (अ) मेहदकि मुंशी बेकल --(५० रुपए मासिक)

(ब) मेहदी हसन 'अहसन' लखनवी-(१०० रुपए मासिक)

(स) आगा साहब अधिक वेतन चाहते थे, अत: कम्पनी से सम्बन्ध तोड़ दिया ।

३- गायक वृन्द-

(अ) छोटा तबला मास्टर-- गुलाम हुसैन(न्यू अल्बर्ट से आया था)
बड़ा तबला मास्टर -- निहालचन्द ।

(ब) नाच मास्टर -- भोगीलाल भाई ।

४- ड्रेस मास्टर -- मोहम्मद अली ।

५- पेंटर -- हरिश्चन्द्र नामक पंजाबी युवक (मुख्य रंग निर्देशक)वासुदेव दिवाकर

६- व्यवस्थापक (Manager) तीन व्यक्ति

(अ) गौरीशंकर मिश्र (बरेली से ही कम्पनी व्यवस्थापक के रूप में न्यू अल्फ्रेड में प्रवेश किया)

(ब) माणिक शाह बह्लारा -- बिजली इंचार्ज

(स) मेहरबान जी खुरशेद जी कापड़िया-- रोटी घर के इंचार्ज ।

<u>द्वितीय मोड़(१९२५)</u>

११६. 'न्यू अल्फ्रेड' के नाटकीय इतिहास में यह परिवर्तन उस समय आया जब कि १५ नवम्बर सन् १९२४ को कम्पनी से स्थायी नाटककार के सम्बन्ध जोड़ने वाले श्री राधेश्याम 'कथावाचक' १ अप्रैल १९२५ को कम्पनी के निर्देशक पद पर नियुक्त हुए । इनके पूर्व भोगीलाल भाई और डेनियल दादा भी इस भार को संभाल चुके थे किन्तु उनका काल अल्पकालिक होने के साथ ही किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ , यही कारण है, उसकी यहां चर्चा नहीं की गई । 'कथावाचक' जी के निर्देशन में अधिकांशत: उन्हीं की रचनाएं ही अभिनीत हुई --

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
१- 'परिवर्तन'	मार्च १९२५	'कथावाचक

पात्र-- श्यामलाल-- शाकिर भाई,लक्ष्मी--नर्मदाशंकर , चौबे रामकृष्ण--
व ज्ञानचन्द वकील, गोल्डेन गौर्ली-- छगनलाल, शम्भूदादा-- इब्राहीम मोटे ।
उस युग में जब कि नाटक सप्ताह में दो दिन अर्थात् शनिवार और इतवार
को होता था 'परिवर्तन' लगातार नौ दिन सफलतापूर्वक तक अभिनीत हुआ
जो कि उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है ।

२- 'मशरिकी हूर' (उर्दू में)   १९२६   'कथावाचक'

पात्र-- रौशन आरा-- फिदा हुसैन, दिलेर जंग-- नन्दकिशोर,सलामत बैग--
फीरोजशा पीठा वाला ।

३-'श्रीकृष्णावतार'   १९२६ में विजयादशमी पर   'कथावाचक'
(सर्वप्रथम अमृतसर में लिखा)

४-'रुक्मिणी मंगल'   १९२७   ,,

५-'श्रवणकुमार' (सर्वप्रथम दिल्ली   १९२८   ,,
में अभिनीत हुआ)

६-'ईश्वर भक्ति' (देहली में   १९२९   ,,
अभिनीत हुआ)

पात्र-- अम्बरीष--चौबे रामकृष्ण, पद्मा-- नर्मदाशंकर, मणिकान्त--नन्दकिशोर,
उमा-- फिदाहुसैन, नाभाग-- मुंशी रियाज, सुकेशी-- 'पुरुषोत्तम,
दुर्वासा- शाकिर भाई, रुद्रदत्त-- शान्ति,भगवान विष्णु-- गंगा प्रसाद गवैया,
गरुड़-- मगनलाल,सुदर्शन- गंगा प्रसाद शर्मा(कौमिक में),घण्टाकरण-- फीरोजशाह
लीला-- हीरा ।

७- 'द्रौपदी स्वयम्बर'   १९२९   कथावाचक

यात्रा--

१९७, ११ फरवरी सन् १९३० में 'कथावाचक' जी ने कम्पनी
से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया । इनके कार्यकाल में 'न्यू अल्फ्रेड' ने बम्बई, इन्दौर
जयपुर , देहली,मथुरा, आगरा, कानपुर,लखनऊ ,बनारस, लुधियाना ,जालन्धर,
अमृतसर ,लाहौर ,पेशावर तथा अलीगढ़,मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर व मुरादाबाद
की नुमाइशों की सफल यात्राएं की[१]।

१- राधेश्याम कथावाचक--'मेरा नाटककाल', १९५७,पृ० १८०

कार्यकर्ता

११८. 'कथावाचक' जी के समय कम्पनी में निम्न कार्यकर्ता थे--

१- निर्देशक (Director) श्री राधेश्याम 'कथावाचक'

सहायक निर्देशक-- (अ) उर्दू नाटकों में -- श्री इब्राहीम भाई

(ब) हिन्दी नाटकों में -- नर्मदाशंकर त्रिभुवन नायक

२- नाच मास्टर व घण्टी चक्करी का कार्यकर्ता-- नर्मदाशंकर

३- मिस्टेक इंचार्ज -- श्री रामतेज शास्त्री

४- कलाकार -- नन्दकिशोर, भगवत किशोर 'व्याकुल', गिरिजाशंकर, गंगाप्रसाद गवैया, फीरोजशाह मीठावाला आदि । 'कथावाचक' जी के आगमन के पश्चात् कम्पनी में निरन्तर हिन्दुओं की संख्या वृद्धि होती रही और उसने हिन्दू नाटक कम्पनी का रूप ग्रहण कर लिया ।

११९. 'कथावाचक' जी के पश्चात् 'न्यू अल्फ्रेड' ने 'हिन्दू विधवा ~~(१९३१)~~ उर्फ सुधरा जमाना' (सन् १९३१ में मेरठ नौचन्दी में खेला) व 'गंगावतरण' का अभिनय किया जो कि राधेश्याम जी की ही सशक्त कलम के (से नाटक अपनी) संशोधित रूप थे । अच्छे अभिनेताओं के अभाव में प्राण संचालन न कर सके व कुछ पेशेवर मुस्लिम अभिनेताओं के सहयोग से 'लैला मजनूं' व 'शीरीं फरहाद' जैसे निम्नकोटि के खेल लेकर सन् १९३२ में कम्पनी पूर्णतः डूब गई ।

नाटक उत्तेजक मण्डली (१८७५-१८८४)

जन्म

१२०. सन् १८५३ से १८७० तक तत्कालीन रंगमंच पर पारसी गुजराती नाटकों का प्राधान्य रहा । १८७१ में मर्कवान कृत 'सोने के मूल की खुरशेद' के उपरान्त नाट्य जगत में एक नया मोड़ आया व कम्पनियों की प्रवृत्ति उर्दू नाटकों के अभिनयों की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने लगी । इसके पीछे अद्भुत व भड़कीली दृश्य सज्जा, चोंचीली भाषा व रंगमंच पर स्त्रियों के आगमन

के कारण जनता का इन अभिनयों के प्रति निरन्तर बढ़ता हुआ आकर्षण उत्तरदायी था । इसी से प्रेरित होकर ग्रांट रोड की तत्कालीन सभी नाट्य कम्पनियां उर्दू (नाटकों के) अभिनयों में संलग्न रहीं ।

१२१. बदलते हुए नाटकीय वातावरण में पारसी गुजराती नाटकों को काल-कवलित होता हुआ देखकर कुछ प्रमुख पारसी अभिनेताओं ने अपनी मातृभाषा के नाटकों की रक्षा के लिए एक स्वतन्त्र नाटक कम्पनी स्थापित करने का विचार किया व

१- फ्रराम जी गुस्तादजी दलाल

२- कावस जी नशरवान जी कोहीदारु, उर्फ कावस जी 'गुरगीन'

३- होर्मस्द जी धनजी भाई मोदी 'काकावाल'

१२२.ने सन् १८७५ में 'संगीत उत्तेजक मण्डली' के आधार पर 'नाटक उत्तेजक मण्डली' की स्थापना की । कैखशरू नवरोजी काबराजी इसके सेक्रेटरी थे । यह उस समय की सामान्य धारणा थी कि काबराजी के सहयोग के बिना कोई भ्र मण्डली भली प्रकारेण संचालित नहीं हो सकती । इनके काबरा जी के सहयोग से मण्डली ने निम्नलिखित नाटकों का अभिनय किया --

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
१-'सुढ़ी बच्चे सोपारी'	२७ मार्च, १८७५	कैखशरू काबराजी

१२३. यह एक हास्य प्रधान ईरानी नाटक था, जिसका प्रस्तुतिकरण विक्टोरिया थियेटर में हुआ । दो तीन महीने के प्रशिक्षण (रिहर्सल) के पश्चात् भी नाटक असफल रहा । क्योंकि जन-रुचि ईरानी कथाओं की संकुचित सीमाओं से कहीं आगे बढ़ गई थी । नाटक की असफलता से मालिकों में फैले हुए असन्तोष और निराशा को निवारित करने के लिए काबराजी ने कमला (आपनी) को अपना धार्मिक भावों से सम्पन्न दूसरा नाटक दिया--

२-'हरिश्चन्द्र'	३० अक्टूबर १८७५	रणछोड़भाई उदयराम परिवर्तनकार - कैखशरू काबरा जी

१२४. रणछोड़भाई उदयराम की रचना साहित्यिक गुणों से सम्पन्न थी । अत: उसे तत्कालीन रंगमंच के अनुकूल परिवर्तित करके व यत्र-तत्र कुछ गीतों का संयोजन करके काबराजी ने धोबी तलाब पर फ्रामजी कावस जी हॉल में नाटक का अभिनय कराया जिसे कि इन्होंने एक वर्ष के लिए किराए पर ले रखा था । नाटक को आशातीत सफलता प्राप्त हुई और वह लगातार एक वर्ष तक अभिनीत होता रहा । इसी से प्रेरित होकर खुरशेद जी बालीवाला ने भी विनायकप्रसाद 'तालिब' से विक्टोरिया के लिए 'हरिश्चन्द्र' की रचना करवाई । पात्र-- हरिश्चन्द्र -- होरमस जी धन जी भाई 'काकावाला', तारामती-- अरदेशर होरामती, विश्वामित्र-- फराम जी गुस्ताद जी दलाल, नक्षत्र-- कावस जी नसरवान जी कोहीदारू, ढेढ़ी - पेस्तन जी ।

१२५. नाटक से कम्पनी को अच्छी अर्थ प्राप्ति हुई और उसने अधिशासी अभियन्ता मंचेर जी मर्कीबान के सहयोग से 'क्राफर्ड मार्केट' में 'एस्प्लेनेड थियेटर' के नाम से अपनी स्वतन्त्र रंगशाला का निर्माण कराकर अपने अनेक नाटकीय प्रयोग किए ।

३- 'नल-दमयन्ती'   १३ दिसम्बर १८७६   रणछोड़भाई उदयराम,
परिवर्तनकार-
केखशरू काबराजी

पात्र-- दमयन्ती -- दादाशाह नौरोजी पटेल, उर्फ नानाभाई नस्कोरी ।

४- 'फरीदून'   १८७७   केखशरू काबराजी

१२६. काबराजी ने इस नाटक की रचना सन् १८७४ में दादाभाई रतन जी ठूठी की 'हिन्दी नाटक मण्डली' के लिए की थी । किन्तु मण्डली के असमय में बन्द हो जाने व शर्त के अनुसार रचनाकार को सौ रुपये न मिलने के कारण नाटक काबराजी के आधिपत्य में रहा व १८७७ में नाटक उत्तेजक में छपा ।

५- 'सीताहरण'   बुद्ध २१ मई १८७८   कवि नर्मदाशंकर,
रूपान्तरकार-
केखशरू काबराजी

पात्र- राम-सौराबजी बजा, सीता-- सौराबजी रुस्तम जी बाच्छा, सौलू सीता' रावण--धनजीभाई न० मास्टर , इन्द्रजीत--नवरोजी दौराब जी दीदिया, विभीषण -- रुस्तम जी बाच्छा (सौराबजी रुस्तम जी बाच्छा के पिता), हनुमान-- कावस जी नसरवान जी गुरगीन' कोहीदारु'

६- 'लवकुश' ६ अगस्त १८७६ केखशरू काबराजी

७- 'विनाश काले विपरीत २६ नवम्बर १८७६ केखशरू काबराजी
बुद्धि' अथवा जुगारी भोलानाथनी
पतिव्रता प्रेमकुंवर'
('Hut of The Red Hill Mountain' पर आधारित)

८- 'नन्दबत्रीसी' ६ नवम्बर १८८० केखशरू काबराजी

मागीदारों में परिवर्तन

१२७. 'नन्द बत्रीसी' नाटक के उपरान्त फरवरी १८८१ में इनि कावरा जी नसरवान जी कोहीदारु व शौरमस जी धनजी भाई मौदी इन दोनों ही भागीदारों ने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, क्योंकि फरामजी गुस्ताद जी कुछ तीक्ष्ण प्रकृति के थे व एकाधिकार के इच्छुक थे। इन परिवर्तनों के साथ काबराजी ने भी सेक्रेटरी पद त्याग दिया व फराम इसके एकाकी मालिक हो गए। अपने आधिपत्य में फराम जी ने काबराजी के अतिरिक्त अन्य हिन्दू कृतिकारों की धार्मिक रचनाओं को भी रंगमंच पर प्रस्तुत किया जिनमें हाईकोर्ट के अनुवादक शंकरबापुजी त्रिलोकेकर का मुख्य स्थान है।

९- 'मालिनी' १८८१ शंकर बापुजी त्रिलोकेकर

१०- 'परिस्तान परियाँ बुद्ध १२ जून १८८१ ,,

११- 'विक्रम चरित्र यानि ,, १५ फरवरी १८८२ ,,
शनि महात्म्य'

१- डा० धनजीभाई न० मेहता 'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख' १६३१, पृ० ३००

१२- 'चित्रसैन गान्धर्व'   शनिवार १४ अक्टूबर १८८२-शेकर बापुजी त्रिलोकेकर

१२८. धीरे-धीरे कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी। जिसे देखकर दोनों भागीदार पुन: कम्पनी में आ गए तथा अपनो निर्देशन में निम्न रचनाएं अभिनीत कीं --

१३- 'ललिता दु:ख दर्शक'   बुद्ध २४ जनवरी१८८३ रणछोड़भाई उदयराम

१४- 'दमयन्ती स्वयम्बर'   शनिवार१८ अगस्त १८८३, शेकरबापुजी त्रिलोकेकर

१५- 'निन्दाखानु'   बुद्ध,२६ सितम्बर १८८३, केखशरू काबराजी

यह नाटक शेरिडन के ('स्कूल फॉर स्कैण्डल' (School Fors Scandal) के आधार पर पारसी संसार के लिए रचा गया था और काफी सफल सिद्ध हुआ। पात्र-- बहली भगत-- धनजी भाई मास्टर, जरी जौहाब- पेसु कुहत्सेन उर्फ 'पेसु ठेढ़ी', नाजाभाई नसरू-- दाराशाह म्हरोजी पटेल।

१२६- कम्पनी का यही अन्तिम नाटक था। शैयर बाजार का रंग चढ़ जाने के कारण फरामजी दलाल इसका अधिक संचालन न कर सके व जून १८८४ में कम्पनी बन्द हो गई। इसका नाटकीय सब सामान नीलाम हो गया जिसे कि नानाभाई २०।न। ने अपनी 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' के लिए खरीद लिया। पता नहीं किस आधार पर डा० पटेल कम्पनी का जीवन-काल १६ वर्ष मानते हैं, जब कि स्पष्टरूप से उन्होंने इसका उद्गम १८७४-७५ में व अवसान १८८४ में माना है। विचार करने पर इस दृष्टि से तो इसका अस्तित्व ६-१०वर्ष का ही सिद्ध होता है।

एलफिन्स्टन ड्रामैटिक क्लब (१८६१)

जन्म

१३०. वासुदेव नन्दनप्रसाद ने अपने शोधप्रबन्ध में प्रस्तुत कम्पनी का विवरण देते हुए सन् १८६०-६१ में कुंवर जी सुराबजी नाजिर नामक एक पारसी सज्जन व हीरजी कर्मट्ट के सहयोग से स्थापित 'एलफिन्स्टन ड्रामैटिक क्लब' को इसके-म

सबसे पुरानी व्यावसायिक नाट्य संस्था[1] की संज्ञा दी है । किन्तु यह धारणा सर्वथा सारहीन है और निरर्थक है । पिछले पृष्ठों में भली भांति स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रथम व्यावसायिक नाटक कम्पनी का श्रेय सोराब जी की एलफिन्स्टन को नहीं वरन् केखशरू नवरोजी काबराजी के मंत्रित्व में सन् १८६८ में स्थापित "विक्टोरिया नाटक मण्डली" को है । एलफिन्स्टन, विक्टोरिया तथा अल्फ्रेड जैसी दो महत्वपूर्ण कम्पनियों के उद्भवोपरान्त व्यावसायिक नाट्य कम्पनियों के इतिहास में समाहित हुई । अतः इसे "प्रधान होने का श्रेय देना उचित नहीं प्रतीत होता । पता नहीं डाक्टर साहब ने किन आधारों पर अपनी धारणाओं का निर्माण किया है। हीरजी समन्ध के सहयोग से निर्मित जिस एलफिन्स्टन ड्रामैटिक क्लब की उन्होंने चर्चा की है, वह वस्तुतः 'ओरीजिनल एलफिन्स्टन क्लब' (१८६१) है, जिसे पारसी हाई स्कूल के प्रिंसिपिल फरामजी बमन जी ने हीरजी भाई[2] अपन्डयार जी संमाता व बालकृष्ण वासुदेव के सहयोग से स्थापित किया था । नाज़र द्वारा स्थापित "एलफिन्स्टन ड्रामैटिक क्लब" के निर्माण में संमाता जी का कोई सहयोग नहीं रहा ।

१३१. प्रस्तुत क्लब के संस्थापक बम्बई के गणमान्य धनिक सेठ कुंवर जी सोराब जी नाजर थे, जिन्हें अपने विद्यार्थी जीवन से ही अंग्रेजी नाटकों व अभिनय कला के प्रति अपार लगाव था । इसी प्रेम व पारसियों द्वारा स्थापित तत्कालीन नाट्य क्लबों के प्रयोगों व सफलताओं से प्रेरित होकर सोराबजी ने एलफिन्स्टन कालेज में अपनी शिक्षा समाप्ति के पश्चात् डा० नसरवान जी नवरोजी पारख व तथा डाक्टर धनजी शाह नवरोजी पारख आदि सहपाठियों व मित्रों के सहयोग से कॉलेज के नाम पर सन् १८६१ में एलफिन्स्टन ड्रामैटिक

१- वासुदेव नन्दनप्रसाद, भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य और रंगमंच" पटना विश्वविद्यालय (शोधप्रबन्ध) सन् १९५६, पृ० ३०६

२- जहांगीर जी पैस्तनजी संमाता, पारसी नाटकीयों अनुभव-१९१४, पृ०४

क्लब की स्थापना की । यह एक अमेच्युर नाट्य कम्पनी थी , जिसने दस वर्ष तक अर्थात् सन् १८६१-१८७१ तक के अपने अवैतनिक नाट्य जीवन में अंग्रेजी विशेषतः शैक्सपियर के नाटकों का अभिनय किया ।

अभिनेता -- इस समय कम्पनी के अभिनेताओं व सहायकों में मुख्य थे- डा० नशरवान जी नवरोजी पारख, लेफ्टिनेन्ट कर्नल डा० धनजीशाह नवरोजी पारख, पैस्तन जी नशरवान जी वाडीया, डी०एन०वाडीया, मेरवान जी नशरवान जी वाडीया धनजी भाई मास्टर उर्फ पालखीवाला, के०एच० कांगा, मांगेकशा सुरती, कुंवर जी सौराब जी नाजर आदि।

नाटक-- अपने अवैतनिक रूप में कम्पनी ने बहुत से अंग्रेजी नाटकों का अभिनय किया जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं--

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
'ओथैलो'	१६ फरवरी १८६६ को दूसरी बार अभिनीत हुआ	शैक्सपियर

पात्र-- एमीलिया-- डा० नशरवान जी नवरोजी पारख, डैस्डीमोना-डा० धनजीशाह नवरोजी पारख, इआगो-- जांगीर नीमचवाला ओथैलो-- अरदेशा ऊनवाला आदि ।

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
२- 'द सेविन क्लर्क्स'	१४ नवम्बर १८६८	
३- एक ट्रेजिडी नाटक (महारानी विक्टोरिया की सालगिरह पर अभिनीत हुआ)	२४ दिसम्बर १८६६	
४- 'टेमिंग आफ द श्रू' (Taming of The Shrew)		शैक्सपियर

प्रस्तुत नाटक 'लेडी डफरिन वाण्डिलाल फण्ड' के लिए अभिनीत हुआ था । कम्पनी स्थापक कुंवरजी सौराबजी नाजर का क्याराइन का अभिनय इसमें अधिक लोकप्रिय हुआ ।

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
५- 'मर्चेन्ट ऑफ वैनिस'	१८६८ के बाद	शैक्सपियर

इसमें
पात्र-- एन्टौनियो--रुस्तम जी मेरवान जी पटेल, बसानयो-दादाभाई सोराब जी पटेल, शॉयलाक--सिंगापुर के बेरिस्टर ऐदलजी जमशेदजी खोरी, पोरशिया--डा० नशरवान जी नवरोजी पारख । डा०पारख का स्त्री पात्र का यह अभिनय अपने आप में इतना पूर्ण था कि दर्शकगण अनुमान न लगा सके कि अभिनय करने वाला वस्तुत: पुरुषपात्र है अथवा स्त्री ।

६- टू जेन्टेलमैन आफ वरोना -- शेक्सपियर

पात्र-- वेलनटाइन--अल्फ्रेड हाईस्कूल के प्रिंसिपल नशरवान जी हीरजीभाई पटेल, प्रोटीयस--खरशेद जी ऐदल जी, पुरीयो--जांगीर जी ऐदल जी दावर, लौन्स--खरशेद जी सोरनई, सिलवया--होमस जी जहांगीर जी मामा६, जुल्या--जमशेद जी जीजीभाई, पारसी बेनीवोलनट इन्स्टीट्यूट के प्रिंसिपल डोसाभाई आदि ।

ये सभी नाटक रौयॅल थियेटर में अभिनीत हुए । सोराब जी की गतिविधियों का केन्द्र यही रंगशाला थी। प्रशिक्षण (रिहर्सल) का सम्पूर्ण कार्य बोबी तलाव स्थित नाज़र जी के घर पर चलता था[१] ।

व्यावसायिक नाटक मण्डली के रूप में (१८७१)

१३२. सन् १८७१ में जब कि 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' 'हजामबाद अने ठगननाज़' नामक अपने हास्य प्रधान नाटक का अभिनय कर रही थी, अंग्रेजी नाटकों का अभिनय करने वाली सोराब जी की एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब के कलेवर में आपूर्ण परिवर्तन आया जिसने कम्पनी को अवैतनिक व अव्यावसायिक नाट्य संस्था से वैतनिक व व्यावसायिक नाटक कम्पनी के रूप में प्रस्थापित कर दिया । इस रूप परिवर्तन के साथ ही उसके नाटकों में सीमा विस्तार भी स्वाभाविक था । अंग्रेजी के साथ ही गुजराती, उर्दू व हिन्दी नाटकों को भी उसने अपने अभिनय में समेट लिया ।

विशेषताएं

१३३. व्यावसायिक धरातल पर एलफिन्स्टन ने कुछ नए नाट्य प्रयोग किए जो परवर्ती व तात्कालिक नाट्य कम्पनियों के लिए न केवल माननीय और अनुकरणीय सिद्ध हुए वरन् प्रमुख आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी व्यावसायिक

नाट्य-जगत की कुछ विशेषताओं के रूप में प्रस्थापित हो गए ।
१- इन्दरसभा, परियों या सभाओं वाले नाटक अथवा उसके अनुकरणवर्ती नाटक सर्वप्रथम एल्फिन्स्टन कम्पनी के रंगमंच पर अभिनीत हुए । कम्पनी ने सन् १८७३ में 'इन्दरसभा' का अभिनय करके इस प्रकार का साहसपूर्ण कदम उठाया था ।
२- हिन्दू कथा पर आधारित धार्मिक नाटकों के अभिनय का श्रेय भी ई सेठ कुंवर जी सोराब जी नाज़र को है। सन् १८७२ में गुजरात के अन्तिम राजा दानी कर्ण के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का 'करणघेलो' के नाम से उन्होंने सर्वप्रथम अभिनय किया ।

१३४. अपने व्यावसायिक जीवन में कम्पनी ने कुंवर जी नाज़र के आधिपत्य में अनेकों गुजराती उर्दू नाटकों का अभिनय किया जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं--

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
'करणघेलो'	१८७२	

पात्र-- कर्ण-- दादाभाई अप्पु, रूपसुन्दरी-कावसजी माणेकजी ।

१३५. ऐसे नाटकीय वातावरण में जहां शाहनामा, अवेस्ता ईरानी कथाओं व अंग्रेजी नाटकों पर आधारित नाटकों के अभिनय की धूम थी परम्परा से अलग हटकर किसी हिन्दू कथा को अपने अभिनय का आधार बनाना निश्चय ही उस समय के लिए महत्व की बात थी । पारसी लोग हिन्दू धर्म उनकी रीति परम्पराओं और क्रियाओं से पूर्णत: परिचित नहीं थे । अत: उनके अभिनय में कहीं कोई ऐसा दृश्य न आ जाए जिससे हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं पर आघात पहुंचे - इस भय से सोराब जी ने कुछ ब्राह्मणों द्वारा अपने अभिनेताओं को काफी समय तक सम्यक् रूपेण हिन्दू धर्म की शिक्षा दिलवाई-क्योंकि वे अपने इस प्रथम धार्मिक नाटक को हर दृष्टि से सम्पूर्ण बनाना चाहते थे । नाटक पहले गुजराती व पुन: उर्दू में अभिनीत हुआ । अभिनय में श्मशान भूमि तक की कई क्रियाएं दिखाई गई थीं, किन्तु फिर भी नाटक वांछित सफलता न प्राप्त कर सका जिससे क्षुब्ध होकर सोराब जी ने पुन: इस प्रकार का प्रयोग करने की चेष्टा नहीं की । इस मृतप्राय: परम्परा को

आगे सन् १८७४ में स्थापित 'नाटक उत्तेजक मण्डली' में पुनर्जीवित किया ।

२- अलाउद्दीन और उसका चिराग़ १८७२

पात्र-- जादूगर-- धनजी भाई डी० मास्टर उर्फ पालखीवाला, अलाउद्दीन--डा० नशरवान जी नवरोजी पारख, चीन की शाहजादी बदरुलनादर -- जमशैद जी फराम जी मादन ।

१३६. यह एक तिलस्माती नाटक था जो विविध यन्त्रों की सहायता से प्रस्तुत किया गया था । अत्यधिक खर्च से निर्मित इसकी चमत्कारिक दृश्य व दृश्यावली के निर्माण कर्ता थे रुस्तम जी नामक एक सिविल इन्जीनियर । प्रचुर व्यय के पश्चात् भी 'जमशेद गुलसार (अल्फ्रेड कम्पनी का नाटक) की सफलता में प्रस्तुत नाटक का दृश्य विधान लोकप्रिय न हो सका ।

३-'नूरजहां' (विक्टोरिया तथा एल्फिन्सटन की साझेदारी में अभिनीत हुआ ।	१८७२	गुजराती में लिखा एदलजी जमशेदजीसोरी ने व उर्दू में रूपान्तरित किया नशरवान जी मेरवान जी खान साहब ने ।

४-'इन्दरसभा' १८७३

पात्र-- गुलफाम--डा० नशरवान जी नवरोजी पारख, सब्जपरी--शियावक्श रुस्तम जी मास्टर, इन्दर--खरशेद जी बहमन जी लीलाभाई हाथीराम ।

इस नाटक में भी अनेक यांत्रिक दृश्य थे । लाइम लाइट व रंगबिरंगे चित्र सर्वप्रथम इसी खेल में प्रस्तुत किए गए थे ।

१३७. उर्दू नाटकों की सफलता ने ही सोराब जी को इस नए प्रयोग के लिए प्रेरित किया जिससे उत्कंठित होकर उन्होंने उस समय जब कि रंगमंच पर देशी संगीत लोकप्रिय न था अमानत के लोकप्रिय गीति नाट्य (आपेरा) को पूर्णत: एक राग में प्रस्तुत करके अपने बुद्धि वैभव के कारण पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की । किन्तु आर्थिक दृष्टि से उतना लाभ न हुआ जितना कि नाटक लोकप्रिय हुआ ।

५-'हूबहू इन्दर सभा' १८७३

नामानुसार ही इसमें सब बाल अभिनेता थे । नाटक, 'एल्फिन्सटन थियेटर' के नाम से कम्पनी की स्वतन्त्र रंगशाला जो सन् १८७३ में बनकर तैयार हो गई थी , के

रंगमंच पर सर्वप्रथम अभिनीत हुआ ।

६-'सुलैमानी समशेर उर्फ निर्दोष नूरानी'--(१८७३) डा०नशरवान जी नवरोजी पारख

पात्र-- डा० नशरवान जी नवरोजी पारख व जमशेद फराम जी मादन ने प्रमुख भूमिकाएं कीं । नाटक के साथ 'आसमान बल्ली' नामक कॉमिक भी संलग्न था जिसका अभिनय नशरवान जी बाच्छा नामक एक हास्य अभिनेता ने किया ।

७-'पाकदामन गुलेनार'	१८७४	मूललेखक-खरशेद जी बमन जी फरामरोज व संशोधक, रुस्तम जी राणीना

पात्र-- गुलनार--डा० नशरवान जी नवरोजी पारख, परी- बालमगन्धर्व शियावक्ष मास्टर ।

कम्पनी की अपनी रंगशाला में न खेलकर प्रस्तुत नाटक शंकरसेठ थियेटर में अभिनीत हुआ ।

८-'फलक्सुर और सलाम' (त्रिअंकी)	१८७५	डा०नशरवान जी नवरोजी पारख ।
६-'रितमगर उर्फ मैकवस्त बनाडेला बार'	,,	खलजी जमशेद जी सोरी

१३८. यह एक अर्ध ईरानी नाटक था जो ईरानी वेशभूषा में अभिनीत हुआ । नाटक ने कम्पनी को मास्टर रतन नवरोजी मीनवाला, मेरवान जी मुंशी आदि कई नए अभिनेता दिए । नाटक दादाभाई रतन जी ढूंढी के निर्देशन में रॉयल थियेटर में उस समय खेला गया जब कि नाजर जी विक्टोरिया नाटक मण्डली को लेकर दिल्ली की यात्रा पर गए हुए थे ।

१३६. अब तक कम्पनी पूर्णत: सोराबजी के आधिपत्य में थी । किन्तु कम्पनी जब कलकत्ते की यात्रा पर गई तो यह आधिपत्य केंद्रित न रहकर कुंवर जी सोराबजी नाजर, फराम जी सक्लात, जमशेद जी फराम जी मादन, डा०नशरवान जी नवरोजी पारख इन चार भागीदारों के मध्य विभाजित हो गया । विभाजन के फलस्वरूप कम्पनी अधिक समय तक संचालित न हो सकी व २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसके एक भागीदार जमशेदजी फरामजी मादन

कम्पनी के स्वतन्त्र मालिक हो गए जिन्होंने कलकत्ते में रहकर काफी समय तक कम्पनी का संचालन किया व अनेक हिन्दी नाटक अभिनीत किए । एल्फिन्स्टन कम्पनी में ये हिन्दी नाटक वस्तुत: मादन जी के आधिपत्य में खेले । इससे पूर्व कम्पनी के रंगमंच पर गुजराती और उर्दू नाटकों का ही अधिकार रहा । इतने अधिक लम्बे समय तक उर्दू नाटकों के अभ्यस्त अभिनेताओं को हिन्दी के पूर्णत: शुद्ध उच्चारण व खेलन में कठिनाई होती था । यही कारण है कि पारसी एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब हिन्दी के नाटकों का अभिनय उतना उत्तम न कर सके जितना चाहिए था । उनके उच्चारण में बहुत दोष रह जाते थे ।... फिर भी कम्पनी के नाटक उत्तम हैं ।

पारसी नाटक मण्डली

१४०. पारसी नाटक मण्डली तत्कालीन रंगमंच की सर्वप्रथम नाटकमण्डली थी, जिसकी स्थापना सन् १८५३ में हुई । इस सर्वप्रथम और सर्वप्रसिद्ध नाट्य संस्था ने अल्फ्रेड के सदृश्य ही काल कवलित होकर कई बार पुनर्जन्म लिया जिनका अध्ययन पारसी रंगमंच के इतिहास की सम्पूर्णता के विचार से यहां आवश्यक प्रतीत होता है ।

प्रथम जन्म (१८५३)

१४१. फराम जी गुस्ताद जी दलाल ने पेस्तन जी धनजी भाई मास्टर, नाना भाई रुस्तम जी राणीना, दादाभाई एलियट, मंचेरशाह मेहरवान जी, भीखा जी ह० मुस, कावस जी होरमस जी, बीलीमोरिया, डा० रुस्तम जी होरमस जी हाथीराम व कावस जी गुरगीन के सहयोग से सन् १८५३ में इस पारसी नाटक मण्डली की स्थापना की थी, जिसकी परामर्शदात्री समिति में दादाभाई नवरोजी, खरशेद जी नसरवान जी कामा, अरदेशर फराम जी मूस जहांगीर जी बरजोरजी वाच्छा, डा०भाऊदाजी जैसे प्रमुख सदस्य थे । प्रस्तुत नाटक मण्डली ने समिति के सहयोग से निम्न नाटकों का अभिनय किया --

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
१- 'रुस्तम जाबुली और सोहराब', प्रहसन-- 'धनजागरक'।	२६ अक्टूबर १८५३	
२- 'शियावखानो जन्म तथा तकावखाऊन शमशेर बहादुर' नाटक।	६ मई १८५४	
३- 'पठाण फिफरेज तथा दीवान गौलु और अलाउद्दीन तथा	शनिवार १६ सितम्बर १८५४।	
४- बानुछेबा'।		
४- 'किंग जमशेद अने टायरन्ट जोहाक'।	१४ अक्टूबर १८५४	
५- 'जोहाक अने फरीदून'	२५ नवम्बर, १८५४	
६- 'पादशाह फरेदुन दास्तान' प्रहसन-- 'उठाउगीर'	२७ फरवरी, १८५५	

इसके बाद ढाई वर्ष तक कोई नए नाटक नहीं हुए।

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
७- 'नादिरशाहना - लगन'	-- शनिवार २१ फरवरी १८५७	
८- 'टेमिंग आफ दि श्रू' (गुजराती प्रकारान्तर)	२३ मई, १८५७	
९- 'कॉमेडी आफ ऐरर्स' (गुजराती प्रकारान्तर)	५ दिसम्बर १८५७	
१०- 'एक औरत भरी सबरी प्रहसन-हिन्दी हाकेमीनी हाकेमाई'	शनिवार ३० मार्च १८५८	
११- मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' (गुजराती प्रकारान्तर) प्रहसन-- हेडी प-तुजिओ'	२७ नवम्बर १८५८	

१४२. सन् १८५३ से १८५८ तक मण्डली का नाटकीय जीवन निरन्तर विकासोन्मुख रहा, क्योंकि उस समय की यही एकमात्र नाटक मण्डली थी । किन्तु सन् १८५८ में "जोराष्ट्रियन नाटक मण्डली" के उद्भव के पश्चात ह्रास प्रारम्भ हो गया व विक्टोरिया नाटक मण्डली के जन्म के समय यह उसी में विलीन हो गई । उसके अभिनेता व समिति के सदस्य "विक्टोरिया में सम्मिलित हो गए । अतः श्रीमती विद्यावती लक्ष्मणराव 'नम्र' का मत कि सन् १८५३ में स्थापित यह नाट्य मण्डली कुछ कालोपरान्त बन्द सी हो गई, व व १८५८ में मराठी अल्तेकर के नाट्य प्रयोगों से प्रेरित पेस्तन जी धनजीभाई मास्टर व माणेक जी होरमस जी बारमाया के सद्प्रयत्नों से थियेटर में पुनर्जीवित हुई[१] तथ्यहीन है । यह सत्य है कि २७ फरवरी १८५५ के बाद हमें ढाई वर्ष तक इसके नाटकीय प्रयोग नहीं मिलते किन्तु २१ फरवरी १८५७ को मराठी अल्तेकर की प्रेरणा व फल से पूर्व ही पुनः नये नाटक के अभिनय का विवरण मिलता है । अतः यह कहना कि मराठी अल्तेकर के नाटकों की प्रेरणा से पारसी नाटक मण्डली को पुनर्जन्म दिया तर्करहित है ।

द्वितीय जन्म

१४३. 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' के बाहर चले जाने पर विक्टोरिया थियेटर को खाली देखकर कुछ पारसी युवकों ने चार भागीदारों के निर्देशन में एक स्वतन्त्र नाट्य मण्डली की स्थापना की जिसका नाम रखा गया 'पारसी नाटक मण्डली' । नवरोजी दोराब जी मजामवाला, कावस जी मिस्त्री, धनजी भाई फोटोग्राफर, माणेक जी मिस्त्री, पेसू पोखराज, पेसू नूरानी, कुवर जैक, दादाभाई मेहता, दीनशा दादाभाई अप्पु, बापू ठाठरी, मोबेद शेहरीयार जी, कुंवर जी कुचिया आदि इसके अभिनेता अभिनेत्री और अभिनेता थे जो अपने स्वतन्त्र व्यापार व्यवसाय के साथ ही अभिनय की ओर भी प्रवृत्त थे ।

१४४. कम्पनी के पास अपना स्वतन्त्र नाटक कोई नहीं था ।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र' "हिन्दी रंगमंच और नारायणप्रसाद 'बेताब' शोधप्रबन्ध, १८६७, पृ०७८

विक्टोरिया तथा अन्य नाटक मण्डलियों के खेले हुए नाटकों का ही यह अभिनय करती थी, जिनमें से 'इन्दरसभा', 'लैला मजनूं', 'बेनजीर बदरेमुनीर', 'पद्मावती' 'शकुन्तला', जहांगीरशाह', गुलरू', 'हलबटाऊ मोहना रानी' मुख्य हैं। ये सभी गीति नाट्य (Opera) 'आराम' कवि रचित हैं[१]।

तृतीय जन्म

१४५. अपने नाटकीय जीवन में कम्पनी का यह काल सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा। जब कि भागीदारों के सहयोग से पुनर्जीवित होकर मण्डली ने बड़े पैमाने पर अपने नाटकीय प्रयोगों का संयोजन किया। भागीदारों के प्रयास से पुनर्स्थापित होने के कारण कम्पनी भागीदारी नाटक मण्डली के नाम से विख्यात है।

१४६. प्रस्तुत नाटक मण्डली की स्थापना 'मुम्बई नाटक मण्डली' से हुई जो अक्टूबर १८८५ में चार भागीदारों --

१- दादाभाई अप्पु
२- दिनशा दादा भाई अप्पु
३- दोराब जी कावस जी बना
४- नवरोजी दोराबजी दोटिया

के सहयोग से स्थापित हुई थी। इसने निम्न नाटकों का अभिनय किया --

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
१-'इन्दरसभा' (रिपन थियेटर में खेला)	५ दिसम्बर १८८५	
२-'अलादीन'	२३ जनवरी १८८६	
३-'बकावली'	अनिवार्य मई १८८६	
४-'गुलिस्ताने खानदाने हामान'	,, १४मई १८८७	मुंशी करीमुद्दीन

यह नाटक अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और लगभग दो वर्ष तक अभिनीत हुआ।

१- डा० धनजीभाई नअेरुजा, 'पारसी नाटक मण्डल तख्ताना तवारीख' १९३१ पृ० ३६१

५- 'चतराबकावली' ६ फरवरी १८६८ मुंशी करीमुद्दीन
६-'खुदादाद' शनिवार १६अगस्त१८६०
७-'सितमगर' ,, २६सितम्बर१८६१

१४७. इन नाटकों के उपरान्त पारस्परिक मतभेदों के फलस्वरूप भागीदारी में आमूल परिवर्तन के कारण दादाभाई ढूंढी कम्पनी के स्वतन्त्र मालिक हो गए। किन्तु अधिक समय तक कम्पनी का संचालन नहीं कर सके व नौ महीने की अल्पकालीन अवधि के पश्चात् २१ जून १८६२ को अन्तिम बार 'चतराबकावली' खेलकर 'मुम्बई नाटक मण्डली' समाप्त हो गई। दादाभाई ढूंढी के अथक प्रयासों के फलस्वरूप सन् १८६६ में मण्डली पुनर्जीवित हुई जिसका अपना स्वतन्त्र इतिहास है।

१४८. फिनशा दादाभाई अप्पु, दोराबजी दाटिया ने ढूंढी की 'मुम्बई नाटक मण्डली' से सम्बन्ध विच्छेद करके दादा भाई भिस्त्री के सहयोग से 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ऑफ बाम्बे' (१८६१) की स्थापना की। भागीदारों के सहयोग से बनी इस मण्डली ने अपने अधिकांश प्रयोग विक्टोरिया थियेटर में किए जहां पहले 'मुम्बई नाटक मण्डली' अपने अभिनय किया करती थी। कम्पनी का प्रथम नाटक २ नवम्बर १८६१ को अभिनीत हुआ।

नाटक	अभिनय तिथि	लेखक
१-'चतराबकावली'	२नवम्बर १८६१	
२-'हामान'	७नवम्बर ,,	
३-'सितमगर'	दिसम्बर ,,	
४-'युसुफ जुलैखा'	३० जनवरी १८६२	
५-'खुदादाद'	६ मार्च ,,	
६-'गुलबासनोबर'	१८ जून ,,	
७-'गुलबकावली'	२७ जुलाई ,,	
८-'जमरुद जान'	१८दिसम्बर ,,	
९-'लैली मजनूं'	१ मार्च १८६३	
१०-'आलमशाह'	७अक्टूबर ,,	

यह नाटक वस्तुतः 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' के 'जमशेद' नाटक का ही कुछ परिवर्तित रूप था जो मुसलमानों के विरोध के कारण 'आलमशाह' ९(२१ फरवरी १८६४ को) नाम से भी अभिनीत हुआ और अत्यधिक पसन्द किया गया।

११- 'बहारे परस्तान' ११ अगस्त १८६४

१२- 'गुलरुखसार' ३ अक्टूबर १८६५

अल्फ्रेड नाटक कम्पनी ने इस नाटक को 'जहांबख्श गुलरुखसार' के नाम से अभिनीत किया ।

१३- 'जहांगीर शाह' १२ सितम्बर १८६५

१४- 'बुल्मे बहेशी' २६ जून १८६६

१४६. इस नाटक के पश्चात् कम्पनी दक्षिण भारत की यात्रा पर गई व ६ जनवरी १८६८ को पुन: बम्बई लौटी । बम्बई से बाहर रहने के कारण इस मध्य के नाटकीय विवरण उपलब्ध नहीं होते । केवल 'तबदिले किस्मत' और 'नल दमन' इन दोनों नाटकों का परिचय मिलता है । मद्रास में दिनशा दादाभाई जन्म अप्पू की मृत्योपरान्त लिखा । अत: दिनशा की मृत्यु के पश्चात् उनके भाई रतनजी दादाभाई अप्पु कम्पनी के भागीदार के रूप में नियुक्त हुए । तीन महीने बम्बई रहने के पश्चात् कम्पनी पुन: हैदराबाद की यात्रा पर गई जहां "हामान का अभिनय करने वाले प्रसिद्ध अभिनेता नशरवाज की मृत्यु हो गई । इस समय कम्पनी के संगीत निर्देशक (Music Director) थे लखनवी उस्ताद नन्हें खां । पखावज व सारंगी वादक थे श्री चिरंजीलाल व मीरा बक्स । यात्रा से लौटकर कम्पनी ने सर्वप्रथम 'हरिश्चन्द्र' का अभिनय किया ।

१५- 'हरिश्चन्द्र' १ दिसम्बर १६००

१५०. विभिन्न नाट्य मण्डलियों के द्वारा पारसी रंगमंच पर हरिश्चन्द्र नाटक सर्वाधिक प्रिय हुआ । सीलोन के सर पदमकुमार ने इसे सर्वप्रथम अंग्रेजी में लिखा था जिसका रणछोड़भाई उदयराम ने गुजराती में रूपान्तर किया और जो सर्वप्रथम १८७३ में 'आर्य गुर्जर नाटक मण्डली' में अभिनीत हुआ । केखशरू काबराजी के संक्षिप्त परिवर्तनों के पश्चात् 'नाटक उत्तेजक मण्डली' ने १८७५ में इसका अभिनय किया । विक्टोरिया कम्पनी में यह विनायकप्रसाद 'तालिब' की कलम से निसृत होकर २६ सितम्बर १८८४ में अभिनीत हुआ । 'तालिब' का यह हिन्दी उर्दू मिश्रित अथवा हिन्दुस्तानी नाटक लगभग ४००० बार से भी अधिक अभिनीत हुआ जो इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है । 'न्यू अल्फ्रेड' ने १८८४ में इसे यदि उर्दू में खेला तो पारसी नाटक मण्डली ने सन् १६६० में इसे हिन्दी भाषा में अभिनीत किया । इन सभी कम्पनियों की सफलता में पारसी नाटक

मण्डली का नाट्य रूप सर्वांग व सर्वश्रेष्ठ ह था । मूल रचना का यही सच्चा अनुवाद था ।

१६- 'दोरंगी दुनिया'	१८ मई १६०१	बहमन जी नवरोजी कारबराजी
१७- 'बागे बहिश्त'	१४ दिसम्बर १६०१	,, ,,

दोरंगी दुनिया का हिन्दी अनुवाद नारायणप्रसाद 'बेताब' ने प्रस्तुत किया ह और शनिवार २५ मार्च १६०३ को सर्वप्रथम बैठला हाउस लाहौर में खिला ।

१८- 'हूरनारा (उर्दू में था)	१६ मार्च १६०४	मुंशी मौहम्मद मुरादअली
१६- 'मीठा ज़हर' (शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' पर आधारित)	जुलाई १६०५	नारायणप्रसाद बेताब
२०- 'जहरी सांप'	१६०६	,,
२१- 'अमृत'	२६ अप्रैल १६०८	,,

१५१. नाटक की तैयारी हो रही थी कि सन् १६०५ में ('मीठा ज़हर' के पश्चात्) डायरेक्टर के रूप में कम्पनी में आए अमृत केशव नायक की मृत्यु हो गई । उनके प्रति अपने अनन्य प्रेम के कारण ही लेखक ने स्मृति रूप में अपनी इस रचना का नाम 'अमृत' रखा । सन् १६०८ में इस नाटक के अभिनय के पश्चात् कम्पनी पुन: बाहर यात्रा पर गई व दो वर्ष बाद नवम्बर १६११ में लौटी । इस मध्य वल्लभ केशव नायक, मिस गौहर (जिन्होंने अमृत केशव के साथ ही कम्पनी में प्रवेश किया था) व कुछ गुजराती सरगणों ने बम्बई में रहकर 'शेक्सपियर नाटक मण्डली' की स्थापना की जो कि पारसी नाटक मण्डली के बम्बई आगमन के साथ ही विलीन हो गई ।

२२ - 'मस्तान मनी जेह'	१६११	जहांगीर जी नशरवान जी 'गुलफाम' पटेल ।
२३- 'कागजी नाव या जहांन बारा' (शेक्सपियर नाटक मण्डली भी इसका अभिनय करती थी)	१६१२	अब्बास अली
२४- 'चन्द्रावली'	२३ जून १६१२	
२५- 'फांकड़ी फीतुरी'	३ अगस्त १६१२	गुलफाम पटेल

पटेल के इस नाटक को सफल बनाने के श्रेय के अधिकारी हैं वल्लभ भाई उर्फ मास्टर वणो , मिस गौहर, व मास्टर मोहन ।

~~२६--दुखिया-दुलहन~~

२६- 'दुखिया दुलहन'	५ फरवरी १६१३	
२७- 'परता कम्प'	३१ मई १६१३	जहांगीर जी पेस्तन जी संभाला
२८- 'महाभारत' (अल्फ्रेड नाटक मण्डली के 'महाभारत' का लगभग अनुवाद था)	२० फरवरी १६१५	
२६- 'जैंटिलमैन डौफर'	१ अगस्त १६१५ ~~३-फरवरी-१६१७~~	'गुलफाम' पटेल
३०- 'कीमती आंसू'	३ फरवरी १६१७	
३१- 'अफलातून'	नवम्बर १६१७	मर्कबान

१५२. ३१ मार्च १६१८ को कम्पनी समाप्त हो गई व जमशेद जी मैडन ने उसे खरीद कर 'एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली' में सम्मिलित कर लिया। जहां 'रामायण', 'महाभारत', 'श्रीकृष्ण चरित्र', 'सती सावित्री', 'मधुर मुरली', 'बार बालक', 'पत्नी प्रताप', 'ध्रुव चरित्र' आदि हिन्दी नाटककारों की अनेक रचनाएं कौरन्थियन थियेटर में अभिनीत हुई। मिस गौहर व मास्टर मोहन ने अधिकांश नाटकों में प्रमुख भूमिकाओं का निर्वाह किया। अत: स्पष्ट है हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त का यह मत कि दिसम्बर १६१३ में एल्फिन्स्टन और पारसी थियेट्रिकल कम्पनी का ~~अभिनय~~ सम्मिलन हुआ है, पूर्णत: गलत है, क्योंकि सन् १६१७ तक निबाध रूपेण कम्पनी के २८ नाटकीय प्रयोगों के विवरण 'रास्त गोफ्तार' में उपलब्ध होते हैं।

<u>ओरीजनल विक्टोरिया नाटक मण्डली (१८७४-१८७६)</u>

१५३. हिन्दी के नाट्य सम्बन्धी आलोचनात्मक ग्रन्थों में फराम जी द्वारा स्थापित जिस 'ओरीजनल थियेट्रिकल कम्पनी' (१८७०) की चर्चा है वह वस्तुत: 'ओरिजनल विक्टोरिया' नाटक मण्डली है, जिसकी स्थापना सन् १८७० में न होकर १८७३-७४ में हुई। स्थापक थे दादाभाई सोराब जी पटेल। अपनी प्रखर नाटकीय रुचि के कारण पारिवारिक विरोधों के उपरान्त भी उन्होंने इस नाटक मण्डली की स्थापना की।

१- एच०एन०दास गुप्ता-- इण्डियन स्टेज, भाग४, १६४४, पृ०२३१

जन्म

१५४. प्रस्तुत नाटक मण्डली का जन्म विक्टोरिया की स्पर्द्धा में हुआ था । उर्दू नाटकों को रंगमंच पर लाकर उसमें नए प्रयोगों के लिए उत्साहित दादाभाई पटेल ने सन् १८७२ में 'नूरजहाँ' का अभिनय करके इस क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए सफलता की आशा से कुंवर जी सोराब जी नाज़र तथा उनकी एल्फिन्स्टन कम्पनी को सन् १८७३ में विक्टोरिया की मिल्कियत में एक भागीदार के रूप में सम्मिलित कर लिया । किन्तु न तो वे इस भागीदारी से प्रसन्न हो सके और न ही उनकी योजना सफलीभूत हो सकी । अतः सन् १८७३ में उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया व स्वतन्त्र नाट्य मण्डली के लिए योजना बनाने लगे । इसके लिए उनकी दृष्टि अपने पुराने अभिनेताओं पर बराबर बनी रही । सन् १८७४ में जब कि विक्टोरिया अपनी देहली यात्रा की तैयारी में संलग्न थी दादी पटेल ने खुरशेद जी मेहरबान जी बालीवाला व पेस्तन जी फराम जी माधन 'पेडू आथन' (उर्दू नाटकों की लोकप्रियता व सफलता के आधार स्तम्भ) को विक्टोरिया से उखाड़ कर 'ओरीजनल विक्टोरिया नाटक मण्डली' की स्थापना की जिसमें नशरवान जी मेरवान जी खान साहब, नशरवान जी फराम जी बोगा, खुरशेद जी बोमनी बस, खुरशेद जी अस्पन्दयार जी बानाई, मीठा जी कल्याणीवाला, नशरवान जी दोराब जी पटेल, नशरवान जी प्रौम्पटर, जमशेद जी दाजी, धनजी भाई फरदून जी नवरोजी पारसी वाला, रतनशा जी बावी दावर, रुस्तम जी दादाभाई बीनोमीनी, गनपत पेंटर आदि[1] अन्य सदस्य भी सम्मिलित थे । दादी पटेल की यह नाट्य मण्डली डे क्लब (Day Club) के रूप में थी, जिसके सभी कार्यकर्ताओं के लिए नाटकीय व्यवसाय ही जीवन निर्वाह का अवलम्ब था ।

१५५. दादी पटेल ने अपनी कम्पनी के साथ सर्वप्रथम मद्रास की यात्रा की व प्रिन्स आफ वेल्स जो प्रवास के लिए मद्रास में ही ठहरे हुए थे- के

१- डा० धनजीभाई न० पटेल, १८७६ पारसी नाटक तख्तानी तवारीख' १६३१, पृ०६

के आग्रह पर 'शकुन्तला' नाटक से उसके जोगी वाले दृश्य का पन्द्रह मिनट का ब अभिनय किया । पटेल का यह प्रयोग काफी प्रशंसित हुआ व पुरस्कार में उन्हें प्रिंस से पांच हजार रुपए भी प्राप्त हुए, जिसने कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ बनाने में पर्याप्त योगदान दिया । मद्रास से कम्पनी हैदराबाद गई किन्तु यात्रा के समय ही उनकी अस्वस्थता के कारण सोराब जी बम्बई लौट आए जहां कि पैट के ऑपरेशन में १७ मार्च १८७६ में ३२ वर्ष की अल्पावस्था में उनकी मृत्यु हो गई ।

१५६. दादाभाई पटेल के मृत्योपरान्त कम्पनी बम्बई लौट आई । यहां उसके अस्तित्व को लेकर अनेक प्रश्न खड़े हुए । कुछ सदस्यगण इसे बन्द करने के पक्ष में थे तो कुछ पटेल के इस स्मृति चिन्ह को सुरक्षित बनाने की योजना में संलग्न थे । वादाविवाद की निर्णयात्मक स्थिति में --

१- नशरवान जी फरामजी मादन ।

२- कावस जी नशरवान जी दारूवाला ।

३- भीखाजी कल्याणी वाला ।

४- पैस्तन जी फरामजी मादन ।

५- धनजी भाई फरूजी 'धनजी सैठी'

१५७. इन पांच अभिनेताओं ने भागीदारी में सम्मिलित होकर कम्पनी को पुन: संचालित करने का प्रयास किया । वे 'ओरीजनल विक्टोरिया' को बंगलौर ले गये किन्तु इनके प्रयत्न सफलीभूत न हो सके । बंगलौर में कम्पनी को काफी आर्थिक हानिउठानी पड़ी , जिससे क्षुब्ध होकर धीरे-धीरे सभी अभिनेताओं ने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया व मालिकों को १८७६ में कम्पनी बन्द करनी पड़ी ।

<u>दि पारसी इम्पीरियल विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी एण्ड लिमिटेड(१८७६)</u>

<u>जन्म</u>

१५८. ओरिजनल के समान ही इस थियेट्रिकल कम्पनी का उद्भव भी विक्टोरिया के ही एक खण्डित अंश से हुआ था । यही कारण है कि दोनों नाट्य कम्पनियां विक्टोरिया के नाम को लेकर अग्रसरित हुईं ।

१५६. प्रस्तुत नाटक कम्पनी की स्थापना (१८७६में) विक्टोरिया के प्रसिद्ध अभिनेता जहांगीर जी पैस्तन जी खंभाता ने की जिन्होंने हौरजी भाई अस्पन्दायार जी खंभाता (अंग्रेजी नाटकों के लोकप्रिय अभिनेता व अल्फ्रेड के निर्देशक) से अपने पारिवारिक सम्बन्धों के कारण दस वर्ष की अल्पावस्था में ही अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ कर दिया था। किन्तु उनके इस जीवन के व्यवस्थित अध्ययन का आरम्भ विक्टोरिया नाटक मण्डली के 'जमशेद' नाटक से होता है जिसमें जहांगीर जी ने जमशेद का बहन अरनवाज का सफल अभिनय किया। खंभाता जी की नाट्य कला को पर्याप्त प्रस्फुटित और विकसित करने में दादाभाई रतन जी ठुंठी और कैखशरू नवरोजी काबराजी का भी पर्याप्त योग है।

१६०. जहांगीर जी ने विक्टोरिया नाटक मण्डली के अतिरिक्त रतन जी ठुंठी की हिन्दी नाटक मण्डली में भी कार्य किया। किन्तु वहां भी स्थिर होकर नहीं रहे। अपनी कला अस्थिर प्रवृत्ति के कारण योग्यता होने पर भी वे लक्ष्मी के विशेष कृपापात्र न बन सके और उनके इस दुर्भाग्य का फल अप्रत्-- अप्रत्यक्षरूपेण रंगभूमि को सहना पड़ा। अन्यथा पाश्चात्य नाट्य विधाओं एवं तकनीकों से रंगमंच को सुसज्जित करने के स्वप्न देखने वाले इस महान कला साधक के सहयोग से रंगभूमि की उन्नति की काफी सम्भावनाएं थीं।

१६१. देहली में जन्म लेने वाली यह एक 'जौइंट स्टाफ' कम्पनी (Joint Staff Company) थी जिसके प्रमुख हिस्सेदार थे लाला लालसिंघ। किन्तु कम्पनी को निकालने का मुख्य श्रेय लाला बतुमल जी को है, जिन्होंने दादी पौलादबन्द (पैस्तन जी बैलाती) की 'परशियन जौराष्ट्रियन क्लब' में पौलादबन्द देव के प्रसिद्ध अभिनय के कारण 'पौलादबन्द' नाम) के सहयोग से जहांगीर जी खंभाता के व्यक्तित्व में अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति को अपनी कल्पना को साकार पाकर इस प्रकार का प्रयत्न किया। इनके आग्रह पर ही रतन जी ठुंठी के कठोर नियम बन्धनों से खिन्न खंभाता जी ने विक्टोरिया से सम्बन्ध विच्छेद करके इस भार को संभाला व भागीदारों के विचार से अपनी नई कम्पनी का नाम 'दि पारसी इम्पीरियल विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी एण्ड लिमिटेड-स्टार-।

लिमिटेड रखा[1] ।

कलाकार

कम्पनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स (Bord of Directors) द्वारा नियुक्त जहांगीर जी संभाता ही इसके निर्देशक, व्यवस्थापक एवं मुख्य अभिनेता थे, जिनके अन्य सहयोगी कलाकारों में कावस जी खटांगर कराने, काऊ हॉडी (विक्टोरिया का अवकाश प्राप्त अभिनेता), दोराब जी नवरोजी सवीन माला, पेस्तन जी खुरशेद जी मादन, नशरवान जी रतन जी सरकारी तथा कावस जी पालन जी खटाऊ अधिक प्रसिद्ध हुए । कावस जी का व्यावसायिक नाटक कम्पनियों में वस्तुत: यही प्रथम प्रवेश था[2] जहां जहांगीर जी की नाट्य शिक्षा के कारण सफलीभूत होकर एक प्रसिद्ध अभिनेता के साथ ही उन्होंने अल्फ्रेड जैसी विशाल एवं प्रसिद्ध नाटक कम्पनी के मालिक होने का श्रेय प्राप्त किया ।

विशेषताएं

१- कम्पनी के पूरे कार्यकाल में उसके रंगमंच पर एक भी स्त्री अभिनेत्री नहीं उतर सकी । दोराब जी ओगरा के समान ही जहांगीर जी भी रंगमंच पर स्त्री अभिनेत्रियों के आगमन के विरोधी थे । एल्फिन्स्टन नाटक कम्पनी के भूतपूर्व प्रसिद्ध अभिनेता व निर्देशक नशरवान जी रतन जी सरकारी ने ही इन भूमिकाओं का निर्वाह किया ।

२- बम्बई से आने वाले उपर्युक्त कलाकारों के साथ कम्पनी का एक वर्ष का अनुबन्ध था । अत: सब प्रकार से सफल और सम्पन्न होने पर भी कम्पनी दीर्घजीवी नहीं हो सकी और असमय में ही डूब गई ।

१- जहांगीर पेस्तन संभाता, मारो नाटकीयो अनुभव , १९१४,पृ०१७६

२- ,, ,, ,, ,, ,,

नाटकीय प्रयोग

१६३. दिल्ली में स्थापित होने वाला इस नाटक मण्डली ने जन्मस्थान से ही अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया व पांच छ: मास के अपने प्रवास में अली बाबा चालीस चोर, 'गुलबकावली', 'इन्दरसभा', 'छैल बटाऊ मोहनरानी' व 'सौदा बक्श' नाटकों को प्रस्तुत किया । ये सभी अभिनय चांदनी चौक के एक अस्थायी काम चलाऊ (Temporary) थियेटर में हुए जिनका प्रशिक्षण चौक की पुरानी तहसील के नाम से प्रसिद्ध एक भव्य भवन में होता था ।

इन्दर सभा

१६४. नाटकीय जगत में पांव जमाने के लिए जहांगीर जी अपनी नाटक कम्पनीका आरम्भ एक ऐसे नाटक से करना चाहते थे जो सरस, सुमधुर व सुललित होने के साथ ही रंग वैचित्र्य से युक्त हो। विभिन्न नाट्य कम्पनियों द्वारा अभिनीत 'इन्दर सभा' में उन्हें इस रसपूर्णता का आभास मिला । अत:इस नाटक द्वारा ही उन्होंने एम्प्रेस विक्टोरिया के नाटकीय इतिहास का आरम्भ किया ।

विशेषतायें अन्य कम्पनियों के 'इन्दरसभा' से जहांगीर जी का नाटक कुछ बातों में भिन्न था --

१- अन्य कम्पनियों का गुलफाम अब तक साधारण प्रेमी के रूप में व्यक्तित्व रहित व कठपुतलियों के समान घूमने वाला शाहजादा था । जहांगीर जी ने शाहजादे के रूप में उसमें व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की व उसके चरित्र के पूर्णत्व को उभारा ।

२- गुलफाम तथा सब्जपरी के संवादों को अधिकाधिक सरस एवं स्वाभाविक बनाया । पात्र-- शाहजादा गुलफाम-- काबस जी पालन जी खटाऊ,सब्जपरी--नशरवानजी सरकारी,राजा इन्दर-- काबस जी डांड़ा, पुखराजपरी-- दोराब जी नवरोजी सवीनवाला,लालदेव--काबस जी कलीगंर ।

रचना	अभिनय तिथि	लेखक
२-'छैला बटाऊ मोहना रानी'	१८७७	
३-'गुलबकावली'	१८७७	

प्रमुख पात्र-- ताजुल मुलक-- कावस जी खटाऊ, बकावली-- नशरवान जी सरकारी ।

४-'सोदावदा'	१८७७	एदैलजी जमशेदजी खोरी

१६५. अल्फ्रेड नाटक कम्पनी के खोरी द्वारा रचित इस उर्दू नाटक को खंभाता जी ने अपने मुंशी हीर जी से इसे रूपान्तरित कराकर पंजाब की किसी रियासत के राजा के आग्रह पर पांच दिन की तैयारी में अभिनीत किया था। इतना कम समय होने के कारण त्रुटियों और अपूर्णताओं का होना स्वाभाविक था किन्तु फिर भी कम्पनी को पर्याप्त पुरस्कार मिला । जहांगीर खंभाता व कावस जी खटाऊ ने नाटक में सोदावदा व नादीर की मुख्य भूमिकायें कीं ।

५-'अलीबाबा चालीस चोर'	१८७७	कावस जी खटाऊ

१६६. यह एक गीति नाट्य(   ) था जो विभिन्न राग रागनियों में बद्ध किया गया था । रचयिता थे कावस जी खटाऊ जिन्होंने खंभाता की सहायता से कि किस अंक में किस व पात्र का क्या पार्ट रहेगा, गीतों में पात्रों के अभिनय को नियोजित किया था ।

पात्र-- अली बाबा -- कावस जी खटाऊ

चोरों का सरदार -- खंभाता

१६७. उक्त नाटक के उपरान्त कम्पनी ने मीरत की यात्रा की व वहां अंग्रेजी नाट्य कम्पनियों के लिए 'मौल' पर बने स्टेशन थियेटर (Station Theater) में अपने पुराने नाटकों का अभिनय किया । यह थियेटर कैटवोर्नी नामक एक अंग्रेजी कम्पनी द्वारा निर्मित था जिसके नष्ट हो जाने के उपरान्त मि० वेस्टन और मि० होगीन्स इन दो व्यक्तियों की कमेटी इसका संचालन व निरीक्षण कार्य कर रहा था[१]।

१- जहांगीर पेस्तन खंभाता, मारो नाटकीयो अनुभव', १९१४, पृ०१८९

नया नाटक यहाँ केवल एक ही अभिनीत हुआ ।

६- 'सौदादाद' १९ जनवरी १८७८ मुंशा हौर जी

लाहौर यात्रा

१६६. भारत से कम्पनी लाहौर गई, जहाँ 'गुलबाग' नामक सुन्दर बंगले में पांच महीने तक रहकर हीरामण्डी (किले के पास का मैदान) में शेड डालकर उसने अनेक नाटकों का अभिनय किया । ~~कम्पनी के पास नए नाटकों का अभिनय किया~~ । कम्पनी के पास नए नाटकों का अभाव था, अत: उसने वि विक्टोरिया या अन्य नाट्य मण्डलियों के साथ स्वयं अपने ही पुराने नाटकों का अभिनय किया । 'अलाउद्दीन' सर्वप्रथम यहीं अभिनीत हुआ ।

७- 'अलादीन' १८७८

१७०. विक्टोरिया नाटक मण्डली के इस परिवर्तित नाट्य रूप की ड्रेसें, व दृश्यावली पूर्णत: योरोपी ढंग पर ही निर्मित थीं । सर्वप्रकारेण सुन्दर होने पर भी यहीं से (लाहौर से) कम्पनी का विघटन प्रारम्भ हो गया क्योंकि एक वर्ष की अनुबन्ध अवधि समाप्त हो चुकी थी । अत: कावस जी खटाऊ, मेरी फेंटन (अभिनय नहीं करती थी) नसरवान जी सरकारी आदि कुछ अभिनेताओं को छोड़कर लगभग सभी ने नोटिस दे दिया । एक अन्य कारण यह भी था कि एक पारसी सज्जन लाहौर में ही एक नई कम्पनी निकालने की योजना में अभिनेताओं को शेयर खरीदने के लिए उभार रहे थे । बंमाता जी के चातुर्य के कारण इस पारसी की योजना भले ही सफल न हो सकी हो किन्तु उसने कम्पनी के अस्तित्व को पूर्णत: झकझोर दिया और आगे अमृतसर की यात्रा में मिली आर्थिक हानि ने इस थियेट्रिकल कम्पनी को पूर्णत: डुबो दिया ।

इम्प्रैस नाटक मण्डली

१७०. इम्प्रैस विक्टोरिया के नष्ट हो जाने के उपरान्त जहांगीर बंमाता ने मित्रों द्वारा आर्थिक सहायताउपलब्ध होने पर 'इम्प्रैस नाटक मण्डली' के नाम से स्वतन्त्र नाटक मण्डली की स्थापना की जिसने 'सौदादाद' से अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया ।

१७१. रॉयल थियेटर' के बिक जाने व विक्टोरिया थियेटर की अनुपलब्धि (चूंकि जहांगीर जी ने विक्टोरिया से अलग होकर अपनी स्वतन्त्र कम्पनी स्थापित की थी और ईर्ष्यावश विक्टोरिया के मालिकों ने अपना थियेटर देना अस्वीकार कर दिया) के कारण कम्पनी के अधिकांश नाटकीय प्रयोग बोरी-बन्दर स्टेशन के सामने बने 'टीवोली थियेटर' में हुए। किन्तु प्रथम नाटक विक्टोरिया थियेटर में ही खेला जो कि काफी अनुनय-विनय के पश्चात् सोमवार व शुक्रवार के 'आड़े दिनों' के लिए कम्पनी को उपलब्ध हो सका था।

१७२. यात्रा--'इम्पीरियल नाटक मण्डली' कहीं भी एक जगह स्थिर होकर नहीं रही व अपने छोटे से जीवन में इन्दौर, मऊ, रतलाम, इलाहाबाद मिर्जापुर, बनारस, चुनार, पटना, डुमराऊ, दानापोर व गया की यात्राओं पर रही। इन्दौर व रतलाम जैसी देशी रियासतों में अपने नाटकीय प्रयोगों के लिए कम्पनी को काफी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। किन्तु यह कलासाधक कभी पराजित नहीं हुआ।

१७३. युरोपियन दर्शकों के समक्ष सफलतापूर्वक हिन्दुस्तानी नाटक करने वाली कम्पनियों में खंभाता जी की यह कम्पनी ही सर्वप्रथम है, जिसने मऊ और दानापोर में अंग्रेज अफसरों विशेषत: मिलिट्री सैनिक व अफसरों के लिए अपने अनेक नाटक स्टेज किए। दानापोर तो एक मिलिट्री स्टेशन ही है। यहां के 'गैरिसन थियेटर' में कम्पनी ने लगभग बीस दिन तक अपने प्रयोग किए। मऊ के 'डुगन थियेटर' के अभिनयों में भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी। 'अलीबाबा' यहां लगातार पांच रात तक अभिनीत हुआ। खुरशेद जी इन्जीनियर, सोराबजी फराम जी ओगरा, अस्पन्दीयार जी जमशेद जी जोशी, नवरोजी काबस जी आरसी, नशरवान जी सरकारी, छोटाभाई हाथीराम आदि कलाकारों के सहयोग से संचालित होने वाली यह नाटक कम्पनी पटना में आकर बिखर गई जब कि वहां एक नई ऋषीयान कम्पनी आ खड़ी हुई और अभिनेताओं ने उधर आकर्षित होने के कारण कम्पनी को नोटिस दे दिया।

हिन्दी नाटक मण्डली (१८७२-१८७५)

जन्म

१७४. यह नाट्य मण्डली सोराब जी पटेल और रतन जी ठूंठी की प्रतिद्वन्द्विता और पारस्परिक मतभेदों का परिणाम थी । विक्टोरिया नाटक मण्डली के एक समय के ये दोनों कलाकार (निर्देशक-अभिनेता) तेल और पानी के सदृश्य कभी मिल नहीं सके । 'बेनजीर बदरेमुनीर' गीतिनाट्य के इस संवाद में जिसमें कि बेनज़ीर के पिता का अभिनय करने वाले ठूंठी जी ने महारूपपरी के बेनजीर पर मुग्ध होकर उसे पलंग सहित उड़ा ले जाने वाले दृश्य पर पटेल की आलोचना की थी -- में दोनों के मत वैभिन्य की तीव्रता, व मनोवृत्तियों के परस्पर विरुद्ध रूप की फलक मिलती है--

ठूंठी -- 'अरे खुदा ने खातर ए रीत बदली नाखो। ए तो बच्चा नो खेल एम लागेछ ।

पटेल-- बेना- करता सारी राते बेनजीरनो पलंग तु तारी कलबमां उड़ारी देखाड़जो ।'

ठूंठी-- इंशाल्ला । जो खुदानी मरजी हशे तो तेम तशे ।'[1]

१७५. इतना ही नहीं, पटेल को नीचा दिखाने के लिए 'जहांगीर' नाटक में जहांगीर का अभिनय करने वाले रतन जी ठूंठी ने अभिनय की रात्रि ही अपनी असमर्थता व्यक्त करके नाटक को बन्द करवाना चाहा । किन्तु जहांगीर का अभिनय करने वाले दाराशाह कर्मक के कारण उनकी यह योजना सफल न हो सकी । कम्पनी से उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया व सन् १८७२-७३ में 'हिन्दी नाटक मण्डली' के नाम से ग्रांटरोड पर अपनी स्वतन्त्र नाट्यशाला के निर्माण में प्रवृत्त हो गए ।

कलाकार

१७६. ठूंठी जी की इस नाटक मण्डली के दादाभाई

१- डा० धनजीभाई न० पटेल, पारसी नाटक तख्तानी तवारीख', १६३१, पृ०२७७

असपन्दीयार जी मिस्त्री, अरदेशेर शरोफ, जहांगीर जी पेस्तन जी संभाता, कावस जी कलीगर करीने ,नवरोजी बाटलीवाला, ऐदल जी तम्बोली, कावस जी पालन जी खटाऊ, कावस जी मिस्त्री, फराम जी गुस्ताद जी दलाल, जमशेद जी कावस जी दारी, जहांगीर नवरोजी मानवाला, डोसाभाई फराम जी कांगा व माणेक जी मिस्त्री आदि प्रमुख अभिनेता थे जिनके सहयोग से उन्होंने कामाटीपुर के पुरीहाउस नामक विशाल कोठी में अपनी नाटकीय गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं। दादाभाई ढुंढा का यह प्रशिक्षण (रिहर्सल) लगभग छ: महीने तक चला। इसी मध्य हिन्दी थियेटर बनकर तैयार हो गया व व कम्पनी के सभी नाटक अपने ही थियेटर में अभिनीत हुए।

१७७. सोराब जी पटेल से अपनी प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही दादाभाई ढुंढी ने 'बेनजीर' से व कंपनी के नाटकीय जीवन का आरम्भ किया। इसके यान्त्रिक दृश्यों का निर्माण किया भाऊ जी नामक एक हिन्दू गृहस्थ ने। यद्यपि दादाभाई ने बेनजीर और महारुखपरी के चरित्रों को उभार कर अपने नाटक को प्रभावपूर्ण बनाने की पर्याप्त चेष्टा की थी, किन्तु सुन्दर दृश्य विधान व नाटकीय तथा ओजपूर्ण भाषा होने पर भी उनका यह प्रथम प्रयोग संगीत के अभाव में असफल रहा। गाने वाले अभिनेता न होने के कारण वे अपने नाटक में गीतों की योजना न कर सके।

१७८. 'बेनजीर' के असफल हो जाने के पश्चात कम्पनी की स्थिति संभालने के लिए कैखुशरू काबराजी ने अपना ईरानी नाटक 'फरीदून' दिया जो फिरदौसी के शाहनामे के अक्षर-पर आधार पर लिखा गया, किन्तु मस्त था। नाटक लेपड़ गफ्फुड की हास्यात्मक कथा के साथ सफलतापूर्वक अभिनीत हुआ। स्वयं काबराजी ने अपने इस नाटक का निर्देशन किया। पात्र-- फरीदून -- जमशेद जी कावस जी दाजी, फरांक की जगह फ्रांक - जहांगीर जी पेस्तन जी संभाता, स्यामक-- दादाभाई रतन जी ढुंढी व अन्य अनेक। अभिनय के समय शेरदलाल, फराम जी गुस्ताद जी आदि प्रसिद्ध व पुराने अभिनेता कम्पनी में पुन: सम्मिलित हो गए।

१७९. कम्पनी का तीसरा नाटक 'बेजनमनीजेह' था जो मारकूट चाकर और केसरना' कॉमिक के साथ अभिनीत हुआ। यह कोई नया नाटक नहीं था। इससे पूर्व विक्टोरिया नाटक मण्डली में इसी नाम से

लगभग पचास बार सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुका था ।

१८०. अपने छोटे से जीवन-काल में ही कम्पनी ने भावनगर की यात्रा की, जहां कि उपर्युक्त नाटक ही अभिनीत हुए, क्योंकि कम्पनी के पास अभिनययोग्य नए नाटकों का अभाव था । वहां से लौटते समय सूरतवासियों ने कम्पनी के नाटक देखने की इच्छा व्यक्त की किन्तु थियेटर के अभाव में यह सम्भव न हो सका व कम्पनी सीधे बम्बई लौट आयी ।

१८१. यहां आकर कम्पनी कर्ज में डूब गई । मण्डली को रखकर रुपया लेने, नाटक में अत्यधिक व्यय व अपनी बुरी आदतों के कारण दादाभाई ढूंढी कर्ज पूर्ति न कर सके अत: उसे असमय में ही काल कवलित होना पड़ा व उसके विविध नाट्य प्रयोग नाट्य-संसार के समक्ष न आ सके ।

पारसी इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी

१८२. सन् १६०० के लगभग स्थापित होने वाली यह नाटक मण्डली सेठ रामदास के संरक्षण में जन्मी जिसके निर्देशक पद के कार्यभार को संभालते हुए जोसेफ डेविड ने विकास की अनेक मंजिलें तय कीं । किन्तु अपनी अन्तिम परिणति में सन् १६२८ में यह मैडन थियेटर्स के हाथ बिक गयी और इसके एकवर्ष पश्चात् ही बन्द हो गई । इसका मूल कारण था कम्पनी के मुख्य अभिनेता रतनशाह धीनोर व आगा हश्र का कलाकार व लेखक की श्रेष्ठता के प्रश्न पर आपसी मतभेद जिससे कि उपेक्षित होकर आगा साहब को नीचा दिखाने के लिए उनकी प्रसिद्ध उर्दू रचना 'रुस्तम सोहराब' में रुस्तम का अभिनय करने वाले रतनशाह ने पुरुषोचित शौर्य के स्थान पर नारी जनित कोमलता अपनाकर न केवल नाटकीय सौन्दर्य को क्षति पहुंचायी वरन् उसे पूर्णत: विफल कर दिया । अभिनेता और रचयिता की इस प्रतिद्वन्द्विता में कम्पनी की आर्थिक स्थिति गम्भीर रूप से प्रभावित हुई थी कि अन्त में उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को ही अपने में समाहित कर गई ।

१८३. 'पारसी इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी' के स्थायी नाटककार थे -मुंशी नासर, अम्बालवी जिन्होंने कम्पनी के लिए 'बागे ईरान'

'शिकारी सितारा', 'गाफिल मुसाफिर', 'शाही लुटेरा' , 'कौमी दिलेर', 'शेरे काबुल', नूरे वतन', 'अलाउद्दीन' , 'तलवार का धनी', 'खाक का पुतला', 'हूरे अरब' 'संसार लीला' आदि लगभग तीस नाटकों की रचना की । ये सभी रचनाएं कम्पनी के मुख्य अभिनेता रतनशाह सीनोर को दृष्टि में रखकर ही स्थापित की गयी थी । नाटकों के अधिकांश गीतों को स्वर दिया कम्पनी के मुख्य गायक अभिनेता मास्टर मुहम्मद ने । मुंशी अम्बालवी के अतिरिक्त अन्य किसी कृतिकार की रचनाएं[३४] कम्पनी के रंगमंच पर नहीं खिल सकीं ।

१८४. सेठ रामदास की संरक्षणता में कम्पनी मुख्यत: बम्बई ही में रही व सर्वप्रथम सन् १६२८ में उसने यात्रा के लिए अपनी योजनाएं सुनिश्चित कीं । दिल्ली व बनारस में नाटकीय प्रयोग करते हुए लाहौर आकर इसकी सभी योजनाएं असफल हो गईं ,क्योंकि कम्पनी के सभी नाटक बम्बई वासियों के अनुसार स्थापित किए गए थे जिसका सीमा -विस्तार काफी परिमित था । कम्पनी की इस दुर्बलता का उस समय के सर्वाधिक सम्पन्न मैडन थियेटर्स ने पर्याप्त लाभ उठाया ३५ तीस हजार में खरीद कर लाहौर से कलकत्ते बुला लिया जहां कि उसके रंगमंच पर 'अलाउद्दीन' सफलतापूर्वक खिला । यहां से कम्पनी पुन: बम्बई गई व सन् १६२६ में 'रुस्तम सोहराब' की असफलता के उपरान्त इसका तीसवर्ष का इतिहास सदा के लिए काल के अंधेरे में छिप गया ।

पारसी अलेक्जेण्ड्रा थियेट्रिकल कम्पनी

१८५. इस नाटक कम्पनी की स्थापना सन् १६२८ में हैदराबाद में हुई जिसने कि --

१- कम्पनी मालिक-- श्री मोतीलाल सेठ

२- निर्देशक -- श्री हाथीराम डोसाभाई

३- व्यवस्थापक -- (अ) श्री हबीब सेठ } आगे कम्पनी मालिक
(ब) श्री मोहम्मद सेठ }

के निर्देशन में अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया । कुछ कालोपरान्त कम्पनी श्री हबीब सेठ और मोहम्मद सेठ के आधिपत्य में आ गई व दिल्ली को केन्द्र स्थान बनाकर कृष्णा थियेटर में इसने अपने विविध नाटकीय प्रयोग किए । यहीं से इसकी शाखा प्रशाखाओं ने प्रस्फुटित होकर विभिन्न नगरों की यात्राएं कीं ।

१८६. 'पारसी अलेक्जेण्ड्रा कम्पनी' ने बेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली' के 'प्यार की मार', 'सफेद खून', मुंशी अब्बास अली के 'काल का जादू', 'सोने की चिड़िया', 'शादी की पहली रात', 'एक ही पैसा', 'इन्द्र विजय' तथा मुंशी शम्स लखनवी के 'सुल्ताना डाकू', 'हक की फतह' आदि अनेकों नाटकों का अभिनय किया। कम्पनी में एक भी स्त्री अभिनेत्री नहीं थी व मास्टर फूलचन्द मिस्टर शिप्रे, मिस्टर शाणे ही इन भूमिकाओं का निर्वाह करते थे। श्री हबीब सेठ और मौहम्मद सेठ की लड़ाकू प्रकृति के कारण सन् १९३२ में कम्पनी पूर्णत: डूब गई व १५ लाख की कम्पनी को श्री मथुरा साहू ने १५ हजार में खरीद कर काफी अर्थलाभ उठाया।

न्यू अल्बर्ट थियेट्रिकल कम्पनी

१८७. श्री नानकचन्द खत्री के आधिपत्य में 'न्यू अल्बर्ट कम्पनी' की स्थापना सन् १९०० के लगभग हुई जब कि इम्पीरियल भी अपने अस्तित्व के लिए कसमसा रही थी। निर्देशक थे रहीम बख्श किन्तु सच्चे अर्थों में इस भार का निर्वाह कर रहे थे अब्दुल रहमान काबुली। मास्टर निसार, मास्टर प्रभु, रहमतअली, गुलाम अली हैदर अली सिन्धी व जसौधा सिंह आदि कम्पनी के मुख्य अभिनेता थे। अन्य छोटी कम्पनियों के समान ही इस नाटक कम्पनी में भी इधर उधर की चोरी के नाटक ही खिले थे[1]। श्री राधेश्याम कथावाचक के नाटकीय जीवन का आरम्भ न्यू अल्बर्ट से ही हुआ था। नानक चन्द ने अपने 'रामायण' नाटक का इन्हीं से संशोधन व निर्देशन कराया। सन् १९१३ में जब कि कथावाचक इस कम्पनी के लिए अपने 'वीर अभिमन्यु' की रचना कर रहे थे नानकचन्द की अस्वस्थता के कारण 'न्यू अल्बर्ट' टूट गई। अत: श्री फिदाहुसैन का यह मत कि कावसजी खटाऊ द्वारा इसके अभिनेताओं को अपनी कम्पनी (अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी) में ले लेने के कारण सन् १९२२-२३ में कम्पनी बिखर गई तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

१- राधेश्याम कथावाचक--'मेरा नाटक काल', १९५७, पृ०२८

दि डुब्ली थियेट्रिकल कम्पनी

१८८. सन् १८६१-६२ में स्थापित 'एल्फिन्सटन ड्रामेटिक क्लब' के १८७२ में व्यावसायिक रूप ग्रहण करने पर सोराब जी नाजर ने सन् १८८५ में विभिन्न शहरों में विचरण करते हुए नाटक करने के निमित्त डुब्ली थियेट्रिकल कम्पनी का स्थापना की जिसने अनेक उर्दू नाटकों का अभिनय किया। मनोनुकूल अभिनेताओं की अप्राप्ति पर स्वयं नाजर जी ने इनमें मुख्य भूमिकाएं कीं। इन उर्दू रचनाओं में मुंशी 'अहसन' लखनवी का 'चन्द्रावली' विशेष लोकप्रिय हुआ जिसके नाटकीय वातावरण से मनोमुग्ध होकर हश्र जी भी इस क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए प्रेरित हुए और उन्होंने अपनी सर्वप्रथम कृति 'आफताबे मुहब्बत' की रचना की।[1] नाजर जी अपनी कम्पनी के साथ मारवाण मुल्कों की यात्रा कर रहे थे कि मार्ग की भीषण गर्मी के कारण उनकी मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के साथ ही कम्पनी भी बन्द हो गई।

१८६. 'ग्रेट अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी', दि ग्रेट शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी-- इन तीनों कम्पनियों को व्यावसायिक रंगमंच के शीर्ष नाटककार आगा साहब ने स्थापित करके रचनाकारों के समक्ष एक नये साहसपूर्ण पथ की स्थापना की। उनकी प्रथम नाटक कंपनी 'ग्रेट अल्फ्रेड' २५ अगस्त सन् १६११ को हैदराबाद में राजा राघवेन्द्र राव के सहयोग से स्थापित हुई जिसने सूरत और बम्बई की यात्राएं कीं। आगा साहब का 'सिल्वरकिंग' इसी कम्पनी के रंगमंच पर अभिनीत हुआ। इसके दो वर्षीय जीवन के पश्चात् सन् १६१३ में लाहौर में स्थापित उनकी द्वितीय कम्पनी 'इण्डियन शेक्सपियर' ने दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना व कलकत्ता की यात्राएं कीं व आगा साहब के 'यहूदी की लड़की', 'भक्त सूरदास' और 'वनदेवी' के साथ ही अन्य कृतिकारों की रचनाओं का भी अभिनय किया। सन् १६१७ में कम्पनी अमृतसर गई व वहां से सियालकोट पहुंचकर इसी वर्ष समाप्त हो गई। सन् १६२५ में 'दी ग्रेट शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' के नाम से आगा साहब ने उसे पुनः नव रूप दिया। उनका

१- श्री अब्दुल कुद्दूस नैरंग -- 'आगा हश्र की जीवनी', आज, २५ अगस्त १९६४

यह प्रयत्न भी पूर्व प्रयत्नों के समान दीर्घकालिक न होसका व तीन वर्ष के जीवनोपभोग के के पश्चात् कम्पनी पुन: गहन अन्धकार में विलीन हो गई।

१६०. सन् १८६८ में 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' के उद्भव के साथ उस समय की लगभग सभी अमेच्योर्स नाट्य संस्थाएं समाप्त प्राय: हो चुकी थीं। किन्तु जनता की मनोवृत्तियों के झुकाव और समय की मांग पर ऐसी ही संस्थाओं में से कुछ परिवर्तित नामकरण व कुछ अपने पुराने नाम से व्यावसायिक धरातल पर व एक बड़े पैमाने पर पुन: संगठित हुई। इनमें से कुछ थोड़े से-ही समय पश्चात् ही काल कवलित हो गई तो कुछ ने विशाल नाटक कम्पनियों के रूप में नाट्य संसार में प्रसिद्धि प्राप्त की। 'विक्टोरिया नाटक मण्डली', 'एल्फिन्स्टन नाटक कम्पनी', 'अल्फ्रेड नाटक व कम्पनी', 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'इम्प्रैस विक्टोरिया', 'जौराष्ट्रियन' व 'मैडन थियेटर' ऐसी ही विशाल नाटक कम्पनियां थीं। किन्तु इस पारसी नाट्य संसार में बाहुल्य छोटी-छोटी कम्पनियों का रहा जिनमें 'इण्डियन आपेरा थियेट्रिकल कम्पनी', 'कौरोनेशन थियेट्रिकल कम्पनी', जहांगीर जी खटाऊ की 'खटाऊ थियेट्रिकल कम्पनी', 'पारसी बेरोनेट क्लब', 'दि बाम्बे मौलन्टियर्स थियेट्रिकल कम्पनी एण्ड लिमिटेड', 'जौराष्ट्रियन क्लब', 'पारशियन जौराष्ट्रियन नाटक मण्डली', 'दि जौराष्ट्रियन ड्रामेटिक सोसायटी', 'दि शाहे आलम नाटक मण्डली', 'दि पारसी नाटक मण्डली', 'मून आफ इण्डिया कम्पनी', 'शाहजहां थियेट्रिकल कम्पनी', 'व्याकुल भारत' व 'नूर विजय' नाटक कम्पनी अधिक लोकप्रिय हुई।

१६१. 'दि शाहे आलम नाटक मण्डली' दादाभाई सौराबजी पटेल व विक्टोरिया में एक मित्र की तरह आने वाले डोलू थावर के नाटकीय कार्य की कुशलता व उसकी सफलता के प्रश्न पर उत्पन्न आपसी मतभेदों के कारण अस्तित्व में आई। इस मत वैभिन्न्य से उपेक्षित होकर ही डोलू थावर ने दादी पटेल को नीचा दिखाने के लिए विक्टोरिया से ऊंचे नाम का चयन करते हुए इस नाटक कम्पनी की स्थापना की थी व एल्फिन्स्टन थियेटर में 'जाने आलम बने अन्जुमन आरा' नाटक का अभिनय किया[१]। नाटक में थावर जी का जाने आलम

१- जहांगीर संभाता --'मारो नाटकीयो अनुभव' १६१४, पृ०१०२

का अभिनय पटेल के हातम के समान ही काफी लोकप्रिय हुआ । कम्पनी का दूसरा नाटक था --

'जाह्ली सैलम अने अफलातून जीन ।
गुळलाला परीने पाकदामन शीरीन ।'

१६२, उक्त नाटक के पश्चात कंपनी बन्द हो गई किन्तु इसने पेस्तु पोसराज और पेस्तन जी जोजी माई बक्सके बाटलीवाला जैसे मूल्यवान रत्न नाट्य संसार को समर्पित किए । कावस जी खटाऊ के पुत्र जहांगीर जी खटाऊ की कम्पनी का 'अबीरे हिर्स' काफी लोकप्रिय हुआ । कम्पनी में सभी पेशेवर नर्तकियां थीं, जिनके निर्देशन के उत्तरदायित्व को वीर अभिमन्यु का अभिनय करने वाले लोकप्रिय अभिनेता अम्बूलाल ने संभाला[1]। सन् १८७५ में नशरवान जी फारवस, व उनके बड़े भाई रुस्तम जी फारवस के सहयोग से स्थापित 'पारसी बैरोनेट क्लब' का इतिहास उसके एकमात्र ईरानी नाटक 'बरजो अने मेहर सीमनोबार' के साथ समाप्त हो गया । श्री विट्ठलदास द्वारा भागीदारी में स्थापित 'दि बाम्बे वौलन्टियर्स थियेट्रिकल कम्पनी' ने मुंशी रौनक बनारसी के गीतिनाट्यों, नशरवान जी मेरवान जी खान साहब का उर्दू नाटक 'हीरा' व रुस्तम जी जमशेद जी खौरी के 'मगली हजाम' कॉमिक को अभिनीत किया । इन सब में मुख्य अभिनय कम्पनी स्थापक का था । कम्पनी का प्रशिक्षण कार्य पांजरापोल की गली के एक म्युनिसिपल स्कूल में चलता था । 'मगली हजाम' के पश्चात् विट्ठलदास के यात्रा पर निकल जाने के कारण कम्पनी बन्द हो गई । पेस्तन जी फराम जी बेलाती की सन् १८७१ में स्थापित 'परशियन जोरास्ट्रियन नाटक मण्डली' दादाभाई रुस्तम जी पोलनखान वाला 'बन्देसुता' के 'बरजो अने मेहरसीमीन के पश्चात् बेलाती के असफल अभिनय के कारण टूट गई । अनेक यांत्रिक दृश्यों से युक्त यह नाटक शंकर सेठ थियेटर में अभिनीत हुआ । 'शेक्सपियर नाटक मण्डली' के असमय में ही खण्डित हो जाने के कारण उसके अभिनेताओं में से पेस्तन जी दीनशा कांगा, बेहराम जी पेस्तन जी कोवरजी, बेहराम जी नशरवान जी कात्रक फराम जी हौरमस जी काकावाल, रुस्तम जी हौरमस जी बामजी ने परस्पर अपनी भागीदारी में सन् १८७९-८० में 'दि जोरास्ट्रियन ड्रामेटिक सोसायटी' की स्थापना की ।

१- राधेश्याम कथावाचक--'मेरा नाटककाल', १९५७, पृ०१००

इसने डाक्टर धनजी भाई नसरवान जी पटैल के 'रुस्तम सोहराब' गीतिनाट्य को जो कि विकट राग रागनियों में[1] संगठित किया गया था 'नाटक उत्तेजक मण्डली' के ऐसप्लेनेड थियेटर में सफलतापूर्वक अभिनीत किया । दूसरा गीति नाट्य 'बेजनमनीजेह' था । किन्तु थियेटर की अप्राप्ति पर यह खिल न सका और कम्पनी बन्द हो गई ।

१६३. इनके अतिरिक्त नाट्य संसार में अन्य बहुत सी नाटक कम्पनियां आविर्भूत हुई यथा औलादअली की 'जुबली कम्पनी', महबूब की 'कोरोनेशन थियेट्रिकल कम्पनी', 'इम्पायर थियेट्रिक कम्पनी' आदि । 'न्यू अल्बर्ट' के टूटने पर उसके अभिनेता रहमत अली ने पंजाब में अपनी स्वतन्त्र नाट्य कम्पनी स्थापित की । इसी प्रकार जहांगीर जी खटाऊ की कम्पनी के निर्देशक अम्मूलाल ने भी शरीफा के सहयोग से अपनी अलग कम्पनी बनाई । वस्तुत: उस समय नाट्य कम्पनियों का उद्भव और अवसान एक सामान्य बात थी जिसके लिए किसी गम्भीर और विशाल योजना की आवश्यकता न थी । इन छुटपुट कम्पनियों का नाटकीय स्तर कितना उच्च था यह मुसलमानी नाटक कम्पनी 'धीम-थराम-ना-टकम-हणी' अर्थात 'दि मद्रास नाटक मण्डली' और एक जमादार मुसलमान के सहयोग से बनी नवरोजी नवलपुरी की 'दी लैडीज़ एण्ड जेण्टलमैन थीरेटिकल (थियेट्रिकल नहीं)[2] कम्पनी' के नामकरण से ही स्पष्ट है ।

१६४. पारसी भाइयों के अनुकरण पर ही कुछ हिन्दू सज्जनों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण करने का साहस किया व पारसी नाट्य कम्पनियों की टैकनीक व नाट्य रूढ़ियों की अनुरूपता में अनेक नगरों में अपनी स्वतन्त्र नाट्य कम्पनियां स्थापित कीं । 'व्याकुल भारत' और 'सूर विजय' इस क्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रिय हुई ।

१- डा० धनजी भाई न० पटैल--'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख, १६३१, पृ० २७३
२- जहांगीर पैस्तनजी खंभाता-'मारो नाटकीयो अनुभव', १६१४, पृ० १०३-४ ।

१६५. 'व्याकुल भारत' एक लिमिटेड कम्पनी थी जिसे हिन्दी के गणमान्य लेखक श्री विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' ने मेरठ के धनिकों के सहयोग से सन् १९१६-१७ के लगभग स्थापित किया था। शिक्षक वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले इस संगीतकार को राधेश्याम 'कथावाचक' के वीर अभिमन्यु से ही इस दरिया में कूदने की इच्छा हुई[1] और 'भगवान बुद्धदेव' द्वारा उन्होंने अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ कर दिया।

१६६. नाटक सर्वप्रथम दिल्ली के बनारसी कृष्ण थियेटर में अभिनीत हुआ जिसमें चुन्नीलाल का भगवान बुद्ध का अभिनय अप्रत्याशित रूप से भावपूर्ण था। केवल अभिनय की मात्र परिपूर्णता और रससिद्धता की दृष्टि से ही नहीं, वरन् शारीरिक संगठन की दृष्टि से भी वह साक्षात् बुद्ध प्रतीत हो रहा था। नाटक के रचयिता स्वयं कम्पनी स्थापक थे। इस नाटक के उपरान्त व्याकुल जी अपनी अस्वस्थता के कारण कम्पनी से अलग हो गए। फलत: इस गुरुतर कार्यभार को संभालने श्री प्यारेलाल व्यवस्थापक (Manager) और निर्देशक श्री अली अख्तर साहब थे जिनके निर्देशन में कम्पनी ने अपने तीन वर्ष के जीवनकाल में अनेक नाटकों का अभिनय किया। इनमें 'व्याकुल' जी का 'बुद्धदेव', जनेश्वरप्रसादमायल का 'वेनी विलाप', 'सम्राट चन्द्रगुप्त' व अब्दुलसमीसाहब अरजू का 'कलियुग की सती' सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। सन् १९१७ में स्थापित यह कम्पनी सन् १९२० में कालकवलित हो गई।

शूर विजय नाटक कम्पनी

१६७. धार्मिक नाटकों को खेलने के उद्देश्य से काठियावाणी ब्राह्मणों द्वारा स्थापित यह नाटक मण्डली 'व्याकुल' भारत कम्पनी के आविर्भाव के समय ही उद्भूत हुई थी जिसने अपनी गतिविधियों के लिए दिल्ली को केन्द्रस्थान बनाकर अनेक हिन्दी नगरों की यात्राएं कीं।

१- राधेश्याम कथावाचक -- 'मेरा नाटककाल', १९५७, पृ० ७५

१- कम्पनी मालिक १- श्री दुर्लभ राम जी रावल ⦚ माई थे ।
२- श्री लव जी माई त्रिवेदी ⦚

२- कम्पनी व्यवस्थापक-- श्री हिम्मतराम

३- निर्देशक (Director) -- श्री भगवान जी ।

१६८. 'सूर विजय' ने अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ श्री नाथूराम जी सुन्दर शुक्ल के हिन्दी नाटक 'सूरदास' से किया जो सर्वप्रथम सन् १६१७ में दिल्ली के संगम थियेटर में अभिनीत हुआ । अन्धे सूरदास के रूप में श्री लवजी माई का अभिनय और उनके 'सेवक की सुधि लीजो रे श्याम सलोने' और 'हां रे रंग जो लागा- सो लागा, काहे सोये फिर जो जागा' आदि गीतों ने जन मानस को पूर्णत: झकझोर दिया[1], उनके हृदयों को आन्दोलित करके उसे रसप्लावित किया । सूरदास के पश्चात् राधेश्याम 'कथावाचक' के 'श्रवणकुमार' और 'बालकृष्ण' नाटक कम्पनी के रंगमंच पर आए । ये दोनों नाटक काफी सीमित समय में रूपयित किए गए थे । उनकी सजावट तथा दृश्य सज्जा अनुपम थी । पंजाब के मुंशी किशनचन्द 'जेबा' ने स्थायी नाटककार के रूप में कम्पनी को 'सीता बनवास', 'गंगावतरण', 'महात्मा विदुर', 'महात्मा कबीर', 'देव संग्राम' आदि धार्मिक भावनाओं से परिपूरित अनेक नाटक दिए । कथावाचक जी का 'ऊषा अनिरुद्ध' इसी के रंगमंच से जनदृष्टि के सम्मुख आया । दिल्ली के संगम थियेटर के स्थान पर यह सर्वप्रथम बरेली में अभिनीत हुआ । बनारस से प्रकाशित होने वाले भारत जीवन में उनके अतिरिक्त कम्पनी के 'सती अनुसूया', 'सावित्री सत्यवान' और 'कादम्बरी' नाटकों के अभिनय के विवरण उपलब्ध होते हैं । प्रथम २१ जुलाई १६१६ को बनारस में अभिनीत हुआ था जिसके अभिनय के विषय में 'भारत जीवन' में समालोचना की गई है कि अध्यक्ष मायाशंकर लवजी जिस समय स्टेज पर आते हैं लोग उनकी प्रेम भक्ति देखकर गद्गद हो जाते हैं[2]।' 'कादम्बरी' ११ अगस्त १६१६ को

१- राधेश्याम कथावाचक--'मेरा नाटककाल', १६५७, पृ०८२

२- भारतजीवन, २१ जुलाई १६१६

को अभिनीत हुआ थ 'सावित्री सत्यवान' इसके एक सप्ताह बाद बनारस वासियों के लिए रंगमंच पर आया । कम्पनी के नाटकों का रूप और अभिनय कैसा था ? इस विषय में भारतजीवन का यह मंतव्य अधिक समीचीन है' इस कम्पनी के जितने तमाशे हैं सब में ईश्वर भक्ति और धर्म का विषय भरा हुआ है । साथ ही पात्रों का कर्तव्य और सीन-सीनरी की तो जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है।[1]'

१९९. सन् १९२२-२३ तक चलने वाली इस नाटक कम्पनी के छ: वर्ष के अल्पकालिक इतिहास में अभिनीत होने वाले नाटकों में 'सूरदास', 'श्रवणकुमार' और 'गंगावतरण' अधिक लोकप्रिय हुए । गंगावतरण में अपने भीष्म के अभिनय द्वारा कम्पनी स्थापक श्री लवजी भाई ने महाराजा माधो सिंह को इतना प्रभावित किया कि मुग्ध होकर उन्होंने लवजी भाई के लिए ५०० रुपया मासिक निश्चित कर दिया । किन्तु भाई दुर्लभराम जी की मृत्योपरान्त (१९२२)समस्त भार को अकेले न संभाल सकने के कारण लवजी भाई सन् १९२३ में कम्पनी बन्द करके सौराष्ट्र में कॉन के व्यापार में लग गए ।

२००. 'व्याकुल भारत' और सूर विजय' के अतिरिक्त 'शाहजहां थियेट्रिकल कम्पनी','मून आफ इण्डिया' कम्पनी','पीटर्स कम्पनी', 'हर मैजेस्टी द विक्टोरिया ड्रामेटिक थियेट्रिक कम्पनी' आदि अनेक नाटक मण्डलियां उद्भूत हुई । अन्तिम दोनों ने धौलपुर और बांस बरेली में अपना जन्म ग्रहण किया । 'शाहजहां थियेट्रिकल कम्पनी' सन् १९४०-४१ में स्थापित हुई जिसके रंगमंच पर अनेक हिन्दी नाटक अभिनीत हुए । श्री राधेश्याम कथावाचक का पौराणिक नाटक 'सती पार्वती' जो सन् १९४४ में लिखा इस कम्पनी का सर्वप्रिय प्रयोग था । इस कम्पनी में ही श्री फिदाहुसैन ने पण्डित मधुर जी के 'भक्त नरसी मेहता' में अपने नरसिंह के प्रभावपूर्ण अभिनय द्वारा दिल्ली-यज्ञ(१९४४) के अवसर पर जगद्गुरु श्री शंकराचार्य और पण्डित मदनमोहन मालवीय से 'प्रेमशंकर' और 'नरसी' की उपाधियां प्राप्त कीं । कम्पनी-के मालिक श्री माणिकलाल और निर्देशक श्री चौबे रामकृष्ण ने कम्पनी के उत्तरदायित्व को संभालने के साथ ही कुशल अभिनेताओं के रूप में अनेक

१-'भारतजीवन'- २ अक्टूबर १९१८

नाटकों में भाग लिया ।

२०१. पारसी भाइयों के अनुकरण पर हिन्दी भाषी नगरों में ही नहीं, वरन् सौराष्ट्र गुजरात को छोड़कर (जहां कि पारसियों द्वारा संचालित कम्पनियां कार्यशील थीं) बंगाल और बिहार जैसे अहिन्दी भाषी नगरों में भी अनेक नाट्य कम्पनियाँ खड़ी हुई जो अपने उद्देश्य,नाट्य विधियों और नाट्य रूढ़ियों में पूर्णत: पारसी कम्पनियों की अनुरूपवर्तिनी थीं । इन सभी नगरों में नाट्यरुचि का बीजारोपण करने का मुख्य श्रेय पारसी कम्पनियों को ही है, जिन्होंने सर्वत्र भ्रमण करके लोगों की मनोरंजनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित किया । बिहार के सम्बन्ध में केशवराम भट्ट का यह कथन कि "जब पारसी एलफिन्स्टन मण्डली और बंगाल नेशनल नाटक कम्पनी वालों ने यहां (बिहार में) अभिनय न किए तो उस वक्त से और भी लोगों की ख्वाहिश बढ़ती गई"[1] विस्तृत रूप में अन्य नगरों के लिए भी सत्य है । वस्तुत: इसी प्रेरणा के फलस्वरूप बिहार की प्रथम नाटक मण्डली दिसम्बर १८८४
'बिहार थियेट्रिकल क्लब' नाम से आविर्भूत हुई जिसका विवरण 1 जनवरी, 1885 के 'बिहारबंधु' में यह विवरण उपलब्ध होता
में 'बिहार थियेट्रिकल क्लब' नाम की एक कम्पनी यहां तैयार हुई । इस कम्पनी ने ३० दिसम्बर से अभिनय करना शुरू किया है । कल बुधवार (३०दिसम्बर १८८४)को 'इन्दरसभा' का अभिनय हुआ था । चीजें इस कम्पनी के पास कुछ नई हैं और स्टेज भी बहुत उम्दे तरह से तैयार किया है ।परदे भी नये हैं ।

२०२. उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि उस समय हिन्दी और अहिन्दी भाषी दोनों ही नगरों में नाट्य रुचि से प्रेरित होकर अर्थलाभ के हेतु पारसी कम्पनियों की अनुवर्तनी ऐसी अनेक नाटक कम्पनियां आविर्भूत हुई जो अल्पकालीन जीवन भोग कर काल-कवलित हो गईं । यदि गणना के साथ इनका पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाय तो एक स्वतन्त्र प्रबन्ध प्रस्तुत हो सकता है ।

-०-

१- डा० वासुदेव नन्दनप्रसाद --'भारतेन्दु युगीन रंगमंच और हिन्दी नाटक शोधप्रबन्ध,पृ०२०

अध्याय -- ३

-0-

इन्दर सभा

`इन्दर सभा`

१. उन्नीसवीं शताब्दी के इस लोकप्रिय गीतिनाट्य (Opera) के रचयिता लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह (शासन-काल १८४७ से १८५७ तक) के समकालीन लेखक श्री सैयद आगा हसन अमानत थे। आपका जन्म सन् १८१६ में लखनऊ में हुआ। बचपन से ही काव्य-प्रतिभा - सम्पन्न इस लेखक ने पन्द्रह वर्ष की अल्प आयु में ही मियाँ दिलगीर के निर्देशन में मर्सिया लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसके उपरान्त आपने उर्दू के प्रसिद्ध कवि नासिख से काव्य-शिक्षा ली। काव्य-प्रणयन की मंजिलें पार करते लेखक पर अपने समकालीन नवाब वाजिदअली शाह की रहस परम्परा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ये रहस शाही परिवार से सम्बन्धित व्यक्तियों के मनोरंजनार्थ गोमती नदी के किनारे कैसरबाग में निर्मित `रहसखाने` में यदा-कदा अभिनीत होते थे। सामान्य जनता का इन खेलों में प्रवेश निषिद्ध था। उत्कण्ठित व अभिलाषित होने पर भी उसकी इस विषय में शाही महल तक पहुंच न थी। जनता की बढ़ती उत्कंठा और उत्सुकता को देखकर अमानत ने अपनी मित्र-मण्डली के आग्रह पर १ अगस्त सन् १८५२ में इस रहस-परम्परा की समकक्षता में एक गीतिनाट्य (Opera) लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें शाहजादा गुलफाम व सब्जपरी की प्रणय-गाथा कलमबन्द की गई थी। `इन्दर सभा` के नाम से लिखा जाने वाला यह आपेरा डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८५३ में लिखकर तैयार हुआ व सन् १८५५ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ।

२. नवाब वाजिदअलीशाह की समकालीनता व उनकी रहस-परम्परा के अनुकरण के कारण अमानत की `इन्दर सभा` के प्रणयन के मूल स्रोतों के विषय में नाट्य-साहित्य में कुछ भ्रामक धारणाएं प्रचलित हैं--

१- अमानत का शाही दरबार से निकट सम्बन्ध था और उन्होंने वाजिदअली शाह के आदेश पर इन्दरसभा की रचना की ।

२- वाजिदअली शाह ने अपने फ्रांसीसी मुसाहिब से मग़रिबी (पश्चिमी) थियेटर और फ्रांसीसीआपेरा का हाल सुनकर अमानत से बिल्कुल उसी तर्ज़ का एक गीति-नाट्य प्रस्तुत करने का आग्रह किया ।

३- इन्दरसभा कैसर बाग में अभिनीत हुई , जिसमें स्वयं नवाब ने इन्दर का पार्ट किया ।

३. रामबाबू सक्सेना की `हिस्ट्री आफ दि उर्दू लिटरेचर` और मोहम्मद उमर नूर इलाही की `नाटक सागर` के यथातथ्य अनुकरण के कारण ही हिन्दी आलोचकों में यह धारणाएं प्रचलित हुईं[1]। किन्तु अब यह इतिहास पुराना पड़ गया । यदि `शरहे इन्दर सभा` में लेखक की निम्नलिखित उक्तियों का अध्ययन किया जाय, जिसमें उन्होंने स्वयं रचना के प्रेरणा स्रोतों के विषय में अपने मन्तव्यों को व्यक्त किया है तो इसकी अप्रमाणिकता और निरर्थकता स्वयं स्पष्ट हो जायगी ।

" ज़ा के ख़्याल से कहीं आता था न आता था । ज़बान की बावस्तगी से घर में बैठे-बैठे जी घबराता था । एक रोज का ज़िक्र है कि हाजी मिरज़ा आबिद अली तख़ल्लुस `इबादत शागिर्दे अव्वल` उन्होंने अज़राहे अ मुहब्बत कहा कि बेकार बैठे-बैठे घबराना अबस है । ऐसा कोई जल्सा रक्स के तौर पर तबाज़ाद नज़्म किया जावां चाहिए कि दो-चार घड़ी की सूरत होवे और ख़ल्क(जनता) में शोहरत होवे । आख़िरुल अम्र(अन्ततोगत्वा) मुवाफ़िक

१-(क) - सोमनाथ गुप्त--`हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास`,चतुर्थ संस्करण, १९५७, पृ० ८ ।

(ख) - डा० देवर्षि सनाढ्य--`हिन्दी के पौराणिक नाटक`, प्र०सं०, सं० २०१७ वि०, पृ०२२० ।

उनकी फरमाइश के बन्दा इसके कहने पर आमादा हुआ ।"

दोस्तों ने फरमाइश की कि किस्सा राजा इन्दर इस तरह नज़्म कीजिए कि जिसमें गजलें,मसनवी,नत्र,ठुमरियां ,होलियां,बसन्त और सावन,दादरे और छन्द हों । ताकि इस जबान में भी तबियत की जूदत और जहन की रसाई देखें ।"

४. इससे स्पष्ट है कि अमानत ने अपने मित्रों के आग्रह से ब रह्स के तौर पर नज़्म (कविता) में इन्दरसभा का प्रणयन किया था । अमानत का यह कथन कि`जबान की बावस्तगी से घर में बैठे-बैठे जी घबराता था` भी ध्यान देने योग्य है । बीस वर्ष की अवस्था में ही यानि १२५१ हिज़री में अमानत की जबान बन्द हो गई थी, जो १२६७ हिज़री में खुल तो गई किन्तु उनका हकलाना मृत्युपर्यन्त कायम रहा । अपने इस दोष से अमानत काफी क्षुब्ध थे व हीनता का अनुभव करते थे । इसी शर्म के कारण `इन्दरसभा` के लिखे जाने तक वे अधिकांशत: घर में ही रहें । अत: दरबार से सम्बन्धित होने ब का कोई कारण ही उपस्थित नहीं होता ।

५. यदि अमानत का शाही दरबार व वाजिदअली शाह से कोई सम्बन्ध होता तो वे अवश्य ही शरहे इन्दरसभा` में इसकी चर्चा करते । किन्तु न तो अमानत ने इस प्रकार की कोई चर्चा की और न वाजिदअली शाह ने ही अपने इतिहास में इस प्रकार का कोई संकेत दिया ।

६- अमानत अपनी इस कृति से सन्तुष्ट न थे । उन्होंने एक जगह लिखा भी है --`चूंकि यह जलसा कहना सब को मरग़ूब(पसन्द) था मगर अपने नज़दीक मायूब(बुरा) था इस लिहाज से अपना तख़ल्लुस बदलकर इसमें उस्ताद लिखा। लेकिन लोगों ने गज़लों के सबब से बन्दे का कलाम दरयाफ़्त कर लिया ।` यदि प्रस्तुत रचना का किसी प्रकार राजदरबार से सम्बन्ध होता तो अमानत अपने को इसप्रकार छुपाने की चेष्टा न करते वरन् राजकी सम्मान को प्राप्त करके गौरवान्वित अनुभव करते ।

७. वाजिदअली शाह के दरबार में कभी कोई फ्रांसीसी अथवा युरोपियन मुसाहिब नहीं रहा । वस्तुत: नवाब का अंग्रेजों से कोई लगाव

न था । उनकी इस प्रकृति के सम्बन्ध में उस समय के रेजीडेंट कर्नल स्लीमन ने नवाब मेजर ट्रूड को लिखा था कि 'उन पर किसी युरोपियन शख्स का कोई जाती असर न कभी था न कभी होगा ।'

८. चूंकि इन्दरसभा व अमानत का वाजिदअली शाह से कोई सम्बन्ध न था अत: उसका कैसरबाग में खेला जाना और नवाब का राजा इन्दर के अभिनय करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

९. उपर्युक्त विवरण के पश्चात् स्वभावत: यह शंका उठती है कि फिर किन कारणों से इसका सम्बन्ध वाजिदअली शाह से जोड़ा गया ? यदि इन्दरसभा का नवाब के द्वारा प्रणीत व अभिनीत विभिन्न रहसों की सापेक्षता में गहराई से अध्ययन किया जाए तो दोनों में अनेक समान तत्वों के दर्शन होंगे । वस्तुत: १३ वीं शताब्दी से चली आती हुई रास और नृत्य गीत की परम्परा में ही नवाब ने अपने मनोरंजनार्थ राधा-कृष्ण की प्रेम-गाथा पर अनेक रहस लिखे और उनका अभिनय किया । चूंकि अमानत ने इसी रहस-परम्परा का अनुकरण किया है व अपनी रचना में यत्र-तत्र राजा की प्रशंसा,उसकी विलास-प्रियता ,राजदरबार की झलकियां व दरबार में आने तथा प्रसिद्धि प्राप्त करने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की है --

'हुआ है मेरा जब इस महफिल में आना ।
जब से सारा देश विदेश उस्ताद ने जाना ।'

\+ \+ \+

'उस्ताद अंजुमन में रहे सुर्खरू सदा
अल्लाह से दुआ ये मेरी सुबहो शाम है ।

१०. इसी कारण उनकी इन्दरसभा को साधारणत: वाजिदअली शाह व राजदरबार से सम्बन्धित माना जाता है । लेकिन इस प्रभाव में लिखी जाकर भी इन्दरसभा एक स्वतन्त्र रचना है , जो लखनऊ की सामान्य जनता के लिए लिखी गई व उसी के मध्य सामान्य से कामचलाऊ रंगमंच पर अभिनीत हुई । प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्राध्यापक प्रो०मसीहुज्जमां, लखनऊ विश्वविद्यालय के सैयद मसऊद हसन रिज़वी व श्री एस० एहतिशाम हुसैन ने

इन्दरसभा के सम्बन्ध में इसी उपर्युक्त धारणा की पुष्ट किया है । उनका स्पष्ट मत है कि अमानत का वाजिदअली शाह के दरबार से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा ।

११. अनेक आलोचकों ने अमानत की 'इन्दरसभा' को हिन्दी-उर्दू रंगमंच का प्रथम नाटक सिद्ध करने की चेष्टा की है व कलात्मक दृष्टि से महत्वहीन मानते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसके महत्व को सहर्ष स्वीकार किया है[1] । लेकिन यह दृष्टिकोण पूर्णत: सत्य नहीं है । ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण होते हुए भी यह सर्वप्रथम रंगमंचीय नाटक नहीं कहा जा सकता है । इसके पूर्व ही वाजिदअली शाह 'किस्सा राधा कन्हइया' का अभिनीत कर चुके थे[2]। जोगन सहरा राधा कन्हइया का नाच २४ वर्ष से न देख पाने के

१-(अ) 'हिन्दी नाटक के इतिहास में अमानत की इन्दरसभा वह मील का पत्थर है, जहां से हिन्दी के आधुनिक रंगमंच का नया दौर शुरू हुआ है ।'-- वासुदेवनन्दन प्रसाद--'भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य और रंगमंच'-- शोध-प्रबन्ध , पटना विश्वविद्यालय, सन् १९५९, पृ०८२

(आ) 'लोक रुचि और लोकरंजन की दृष्टि से यह नाटक केवल रंगमंच से ही नहीं, उसकी मौलिकता से भी आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रथम मौलिक नाटक होने का अधिकारी है ।' --डा० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिर, -'हिन्दी गद्य का विकास',पृ०६१

(इ) सोमनाथ गुप्त--'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास',हिन्दी भवन, इलाहाबाद,चतुर्थ सं०, १९५७,पृ०६

(ई) 'यह हिन्दी-उर्दू का प्राचीनतम उपलब्ध रंगमंचीय नाटक है ।'डा०रणधीर उपाध्याय --गुजराती और हिन्दी नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' प्र०सं०, अक्टूबर, १९६६,पृ०२९८ ।

(उ)- डा० देवर्षि सनाढ्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक',प्र०सं०,सं०२०१७वि० पृ०२२०

२- (अगले पृष्ठ पर देखें)

के कारण गम में जोगन हो जाती है । गुरबत को जब उसके दुःख के कारण का पता चलता है तो वह उफरीत से जोगन की इच्छापूर्ति में सहायता के लिए निवेदन करता है । उफ़रीत सहृदय होकर उसे जाफरान व अंबान परी के पास ले जाता है । वह जोगन को लाने का आदेश देती है व राधा कृष्ण का नृत्य होता है । नृत्योपरान्त मुरली को लेकर राधा कृष्ण की मान-मनौवल की छोटी-सी निम्न-स्तरीय व अश्लीलता से पूर्ण कथा है । इस अभिनय में राधा-कृष्ण जैसे दैव पात्रों को लखनऊ के तत्कालीन विलासितापूर्ण वातावरण के नीचे धरातल पर पहुंचा दिया गया है । आज यह रचना उपलब्ध नहीं है ।

१२. लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह के अतिरिक्त फांसी के राजा श्रीमन्त गंगाधर राव(महारानी लक्ष्मीबाई के पति) ने भी अनेक नाटक किए । नाटक -प्रयोक्ता से आगे बढ़कर वे स्वयं अभिनेता के रूप में रंगमंच पर उतरे । किन्तु यह नाट्य-रुचि जन-साधारण को प्रभावित करती कि इसके पहले ही सन् १८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम आरम्भ हो गया और उसकी घूर्णि लहरों में फांसी का राज-सिंहासन व लखनऊ का शाही तख्त दोनों ही डूब गए । यही कारण है कि आज वे नाटक और उनके अभिनय के विवरण हमें उपलब्ध नहीं होते । इन्दर सभा जो कि उस समय की एकमात्र प्रकाशित रंगमंचीय रचना है उसी से सन्तोष करना पड़ता है तथा उसी को प्रथम रंगमंचीय नाटक मानना पड़ता है ।

१३. अधिकांश आलोचकों ने कलात्मक दृष्टि से इन्दर सभा पर आक्षेप किए हैं । उसे भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से भ्रष्ट रचना कहा है । प्रतापनारायण मिश्र ने इसे 'चौपट' की उपाधि से विभूषित किया है

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ का विवरण)

२- (अ) 'इससे (इन्दर सभा से) पूर्व भी राधा और कन्हैया की प्रेम कहानी के विषय पर अवध के अन्तिम बादशाह सुल्तान आलम वाजिदअली शाह ने एक नाटक लिखा था, जब वह केवल राज उत्तराधिकारी थे ।' —प्रो० मसीहुज्जमा- 'तीन इन्दरसभाएं' —(हस्तलिखित)

(आ) शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय —'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक' का परिशिष्ट। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र०सं०, सम्वत् २०१८

तो अकबर गोरक्षा' नाटक में जगत नारायण ने इसे देश का नाश करने वाली कहा है । इतना अतिरेक तो नहीं, हाँ साहित्यिकता और कला सुरुचि सम्पन्नता की दृष्टि से इसे अवश्य उच्च श्रेणी की रचना नहीं कहा जा सकता । किन्तु इसके लिए भी उसका लेखक इतना उत्तरदायी नहीं, जितना कि उस समय का वातावरण व लेखक को विरासत में मिलने वाली परम्परा उत्तरदायी है, किसी भी कृतिकार के लिए अपने समय के समाज और वातावरण से पूर्णत: मुक्त रहना सम्भव नहीं है ।

१- अमानत के समक्ष नाटकीय रचना का कोई आदर्श न था ।

२- १३ वीं शताब्दी से चली आती हुई लोक-नाटकों (यात्रा,रासलीला,स्वाँग, नौटंकी आदि) की परम्परा में, जिसके अनुकरण में अमानत ने अपने गीतिनाट्य (Opera) का कलेवर सजाया इस समय तक उनमें पर्याप्त अश्लीलता और अभद्रता कब आ चुकी थी ।

३- तत्कालीन लखनऊ का वातावरण प्रेम के उदात्त पक्ष के विकास के स्थान पर विलासिता का परिपोषक था ।

इन समस्त कारणों के अतिरिक्त लेखक की प्रथम नाट्य-रचना होने के कारण भी उसमें बहुत-सी अपूर्णताएं और अभाव दृष्टिगत होते हैं ।

१४. कथानक-- इन्दर सभा एक शृंगारप्रधान गीति-नाट्य (Opera) है, जिसमें शाहजादा गुलफाम व सब्जपरी की प्रेम कथा का नाटकीकरण किया गया है । इन्द्रपुरी से सम्बन्ध रखने वाली परी एक सामान्य मानव से प्रेम करके राजदरबार व देवनागरी की मर्यादा का उल्लंघन करे--यह राजा इन्द्र को सह्य नहीं । इसीलिए गुलफाम के अमरावती आने की लालदेव द्वारा चुगली खाए जाने पर इन्द्र क्रुद्ध होकर न केवल सब्जपरी के पर नुचवा कर उसे दरबार से निकलवा देता है, वरन् गुलफाम को भी कुएं में कैद कर लेता है । विरह में भटकती सब्जपरी जोगन बन जाती है तथा हृदय को उद्वेलित करने वाले मार्मिक व्यथा से पूर्ण अपने गीतों द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करके पुन: गुलफाम को प्राप्त करती है । इसी मिलन के आह्लाद और संगीतमय वातावरण में नाटक का अन्त होता है । वस्तुत: इन्दरसभा में किसी लम्बी कथा का नाटकीकरण नहीं कियागया और न ही उसके

कथा-विस्तार और संगठन में पूर्ण उतार-चढ़ाव है । एक छोटी सी प्रेम कहानी है जो सीधे सादे और सामान्य ढंग से गीतों के माध्यम द्वारा विकसित की गई है ।

१५. चरित्र-चित्रण -- नाटक में राजा इन्द्र, शाहजादा गुलफाम, सब्जपरी, पुखराजपरी, नीलमपरी आदि परियाँ तथा लालदेव और काला देव आदि कई पात्र हैं । किन्तु नाटककार ने संवाद, कार्यों और पात्रों की गतिविधियों द्वारा उनके चरित्र का विकास नहीं किया । वरन् प्रत्येक पात्र आकर स्वयं अपना परिचय देता है और वस्तुत: उतना ही तथा वही उसका चरित्र है । उदाहरणार्थ इन्द्र का यह कथन --

'राजा हूं मैं क़ौम का इन्दर मेरा नाम ।
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम ।
सुनो रे मेरे देव रे । दिल को नहीं करार ।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार ।'

१६. उसकी विलासिता को प्रकट करता है । सम्पूर्ण नाटक में उसके चरित्र के इसी पक्ष की झांकियां हैं । इसके अतिरिक्त नाटककार ने पात्रों की आमद के समय उपन्यासकार के समान तटस्थ भाव से स्वयं भी पात्रों का परिचय दिया है जिससे चरित्र की थोड़ी सी झांकी ह मिलती है । उदाहरण के लिए पुखराज परी के आने के समय संगीतज्ञ उसका परिचय इस प्रकार देते हैं --

महफ़िले राज में पुखराज परी आती है ।
सारे माशूक़ों की सरताज परी आती है ।
जिसका साया न कभी ख्वाब में देखा होगा ।
आदमी जादों में वह अब परी आती है ।
दौलते हुस्न से हो जायगा आलम मामूर ।
करने इस बज़्म में अब राजपरी आती है ।
रंग होंगे ज़र्द हसीनों का न क्यों कर 'उस्ताद' ।
गुल है महफिल में पुखराज परी आती है ।

१७. गुल्फाम को तो नाटककार ने तत्कालीन लखनऊ के शाहजादों ब के समान बिल्कुल खिलौना बना दिया है, जिसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं और जो स्वयं कुछ नहीं करता।

कथोपकथन और गीत--

१८. इन्दरसभा के कथोपकथन अन्य नाटकों के समान कथा और चरित्र का विकास करने वाले मुख्य उपादान नहीं,वरन् जनता का मनोरंजन करने वाले, उन्हें रस से सराबोर करके वाह-वाही लेने वाले गीत गज़ल और पद हैं, जिन्हें विभिन्न पात्र रंग-बिरंगी,भड़कीली वेशभूषा में सजकर रंगमंच पर आकर गाते हैं। जो थोड़े-बहुत कथोपकथन हैं, वह पद्य में हैं अथवा मसनवी के तौर पर हैं। वस्तुत: अमानत ने जनता की रुचि के अनुसार एक ऐसे साहित्य का सृजन किया, जिससे लोकप्रिय नृत्य संगीत प्रस्तुत हो सके तथा गानों की विविध धुनें हर श्रेणी का मनोरंजन कर सकें। ये गीत ही नाटक का आधार है। यदि इनको निकाल दिया जाए तो नाटक बतौर मसनवी रह जाए।

१६. इसे छोटे से नाटक में ३१ गज़लें ,२ चौबेले, ५ छन्द और १४ गीत हैं,जिनमें ८ ठुमरियां ,४ होली, एक सावन,एक बसन्त और एक फाग सम्मिलित हैं। राजा इन्दर चारों परियों और जोगन का प्रवेश आदि सब गज़ल में होता है। सब्ज़परी जोगन का गुल्फाम को मांगना भी गज़ल में ही है। वस्तुत: इस समय के समाज में गज़ल और ब ठुमरियां ही जनता के मध्य अधिक लोकप्रिय थीं। अत: अमानत की इस जनप्रिय रचना में भी इन्हीं की सर्वाधिक प्राप्ति होती है।

२०. भाषा -- इन्दर सभा की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन सर्वप्रथम रोज़ेन नामक एक अंग्रेज विद्वान ने किया था। उन्होंने इसकी भाषा को पढ़े-लिखे पुरुषों की उर्दू,ब्रज की गोपियों की ठेठ बोली, तथा शहरी स्त्रियों की रेख़्ती बोली, इन तीन भागों में विभाजित किया और पात्रानुकूल इस भाषा-विभेद को संस्कृत परम्परा का प्रभाव माना। यह धारणा पूर्णत: समीचीन

नहीं है । इन्दर सभा की भाषा वस्तुत: उर्दू है । इसकी सभी गज़लें (३१ गज़लें) दोनों चौबेले,पांचों छन्द और सम्पूर्ण सम्वाद प्रधानतया उर्दू में ही हैं । गीतों में विहाग के अतिरिक्त जो उर्दू में है, शेष सभी गीत हिन्दी में हैं, जिसमें अवधी और ग्रामीण बोलियों के विभिन्न शब्द मिले-जुले हैं । वस्तुत: 'इन्दर सभा' की सोमनाथ गुप्त के शब्दों में 'हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा'[1] कहना अधिक अधिक तर्कसंगत होगा ,क्योंकि यह न तो शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भाषा है और न फारसी शब्दों से बोझिल कठिन उर्दू ही जो सरलता से समझ में न आए । यही कारण है कि 'इन्दरसभा' की गणना हिन्दी और उर्दू दोनों के रंगमंचीय नाटकों में समानरूप से की जाती है ।

२१. रंगमंच -- पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि नवाब वाजिदअली शाह के रहसखाने में होने वाले अभिनयों की सापेक्षता में ही अमानत ने लखनऊ की सर्वसाधारण प्रजा के लिए इन्दरसभा का संगठन किया था । अत: उसका रंगमंच भी उसी के अनुरूप सीधा-सादा और सरल था ,जिसके लिए न किसी बड़े भवन की आवश्यकता थी और न किसी हाल की । किसी भी जगह शामियाना तानकर सुगमता से इसके खेलने का प्रबन्ध कर लिया जाता था । १५-२० फुट लम्बे और लगभग उतने ही चौड़े स्थान के एक छोटे-से रंगमंच, उसके दाहिनी ओर कालीन, गाव और तकियों से सुसज्जित तख्त व उसके पीछे तीन-चार कुर्सियाँ तथा एक लाल पर्दा जिसके पीछे से पात्र मंच पर प्रवेश करते थे, यही उस रंगमंच के आवश्यक उपादान थे जिनको जुटाने में किसी भारी खर्च की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । पात्र एक बार प्रवेश करके अन्त तक मंच पर ही रहते थे । दृश्य परिवर्तन की सूचना पर्दों के द्वारा नहीं,वरन् गीतों के द्वारा दी जाती थी । वस्तुत: इन्दरसभा का रंगमंच सच्चे अर्थों में लोक-रंगमंच था ।

२२. अपनी इस सरलता और सादगी के साथ इन्दरसभा जब प्रथम बार लखनऊ में खेला गया और उसमें परियों के पार्ट खूबसूरत लड़कों ने किए

१- सोमनाथ गुप्त--'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', चतुर्थ संस्करण, १९५७, पृ०८ ।

तो उसे देखकर लोगों ने इतना पसन्द किया कि शायकीन के हजूम लग गए। दिन पर दिन गुजरे, लेकिन लोगों की तृप्ति न हुई और मोहल्ले-मोहल्ले इसको खेला जाता ~~रहे~~ लगा। गली-गली इसके चर्चे हुए और यह शहर और देहातों में ऐसी मकबूल हुई कि कम ही चीजों को इतनी लोकप्रियता प्राप्त होती है।

इन्दरसभा और पारसी थियेट्रिकल कम्पनियां

२३. इन्दर सभा की इस बढ़ती लोकप्रियता का प्रभाव आगे चलकर पारसी कम्पनियों के व्यवस्थापकों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा। किन्तु यह कहना कि इन्दरसभा की परम्परा में पारसी कम्पनियों की स्थापना हुई[1] थी अथवा इन्दर सभा के नाटकों के ही उत्तराधिकारी हैं, आज के पारसी थियेट्रिकल नाटक अथवा इसकी लोकप्रियता ने ही व्यावसायिक पारसी-कम्पनियों को आकर्षित किया और कम्पनी के स्वामियों ने हिन्दू-मुस्लिम कथानकों[2] को इन्दरसभा एवं पश्चिमी शैली पर उपस्थित करना प्रारम्भ कर दिया या इन्दर सभा की रफ्ता-रफ्ता बढ़ती मकबूलियत देखकर बाज पारसियों को इसमें तिजारत के अच्छे इमकानात नज़र आए, चुनांचे उन्होंने बम्बई, देहली और कलकत्ते में बाक़ायदा ड्रामा कम्पनियाँ खोल लीं[3] सरासर गलत है। ये कम्पनियां इन्दरसभा की लोकप्रियता से प्रेरित होकर उद्भूत नहीं हुई, वरन् उनकी स्थापना के पीछे अंग्रेजी नाट्य-कम्पनियों और उनके नाट्य-प्रयोगों का प्रमुख हाथ था, जैसा कि पूर्व के अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है। यदि ये कम्पनियां इन्दरसभा की प्रेरणा के फलस्वरूप स्थापित हुई होतीं, जैसा कि विद्वानों का मत है, तो इन्दरसभा को निश्चय ही

१- डा० रामचन्द्र मिश्र--'भारतेन्दु पूर्व हिन्दी नाटक', सरस्वती पत्रिका, १९६३, भाग५०, संख्या ४।

१- शान्तिगोपाल पुरोहित--'हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन', पृ० ३४८

३- प्रो० सैयद मसऊद हसन रिज़्वी --'इन्दर सभा का सबब और तालीफ़' नामक अध्याय', हमारी नाट्य परम्परा, प्र०सं० १९५६।

निश्चय ही व्यावसायिक रंगमंच का प्रथम नाटक होना चाहिए । किन्तु ऐसा हुआ नहीं । सर्वप्रथम कुंवर जी सौराब जी नाज़र की `एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब` ने ग्रांट रोड पर स्थित शंकर सेठ थियेटर में सन् १८७३ में अमानत कृत `इन्दरसभा` को विभिन्न यन्त्रों की सहायता से लाइम लाइट के साथ प्रस्तुत किया जब कि विक्टोरिया नाटक मण्डली के रूप में व्यावसायिक रंगमंच का उद्भव सन् १८६८-६६ में ही हो चुका था । नाटक पूर्णत: एक ही राग में प्रस्तुत किया गया था और वह सफल भी हुआ । इसकी इसी सफलता से प्रेरित होकर नाज़र जी ने पुन: १८७३ में `एलफिन्स्टन थियेटर` में `बुलबुली इन्दरसभा` प्रस्तुत की । तदुपरान्त दादाभाई सौराब जी पटेल ने भी इस दिशा में प्रयास किया । उन्होंने विभिन्न राग-रागनियों में चार हैदराबादी बेगमों के साथ `विक्टोरिया थियेटर` में `इन्दर-सभा` का अभिनय किया । स्त्रियों को सर्वप्रथम रंगमंच पर लाने के कारण दादाभाई का यह प्रयोग असफल रहा । किन्तु इसी के बाद लगभग प्रत्येक कम्पनी ने `इन्दरसभा` का अभिनय किया । ये कम्पनियां जब भी बाहर जातीं इस नाटक का प्रयोग अवश्य करतीं[१] ।

२४. चूंकि ये पारसी कम्पनियाँ व्यावसायिक थीं और इनका उद्देश्य अधिकाधिक धनोपार्जन करना था अत: कम्पनी व्यवस्थापक निरन्तर ऐसे नाटक व की खोज में रहते व थे जो जनता का मनोरंजन करने के साथ ही उनकी जेबें भी भर सकें । इन्दर सभा में जहां उन्हें तत्कालीन जनता की रुचि के अनुकूल श्रृंगार, गीत, गजल, पद्यात्मक संवाद और नाच-कूद मिला वहीं आश्चर्यकारी दृश्यों की संयोजना, रंगमंचीय तकनीक व भड़कीली पोशाक दिखाकर तथा नित्य नए प्रयोग करके आर्थिक लाभ के विपुल अवसर भी दृष्टिगत हुए । यही कारण है कि इन्दरसभा पारसी रंगमंच पर इतनी अधिक लोकप्रिय हुई ।

२५. इन्दरसभा की इसी लोकप्रियता के कारण रंगमंच पर इसके अनुकरण में अनेक रचनाएं लिखी व खेली गयीं । मदारीलाल की `इन्दर सभा`

१- जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता, `मारो नाटकीयो अनुभव` , १६४४, पृ० १७६

`फ़रबौल सभा`, `राहत सभा`, `जश्ने परिस्तान`, `हवाई मजलिस`, `नाटक जहांगीर` `बन्दर सभा`, `लैला मजनूं`, `अलादीन और तिलस्मी चिराग`, `नूरुद्दीन व हुस्न अफरोज` `तुहफये दिलकुशा`, `खादिम हुसैन`, `अफसोस का वज्मे सुलेमान`, इनाम बख्श का `नागर सभा`, `नामी` का `आशिक सभा`, इनायत अली बेग का `नैचर सभा`, मासूक अली खां का `निशाते इश्क`, मुहम्मद खां फकीर का `मसनवी इन्दर सभा`, `अकबर इलाहाबादी` का `कर्जन सभा`, शालिग्राम वैश्य का `इश्क चमन`, उस्ताद इन्दर का `रागींल, गोपीचन्द`, कृष्ण बिहारी शुक्ल का `इन्दरसभा`, व रामभजन मिश्र का `दयायी इन्दर सभा` उपर्युक्त नाटक की अनुकरणवर्ती रचनाएं हैं जिनमें हिन्दू-मुस्लिम कथानक इन्दर सभा की गीतिशैली में संगठित किए गए हैं।

२६. केवल इस प्रकार की स्वतन्त्र रचनाएं ही प्रस्तुत की गई हों, ऐसा नहीं, वरन् अनेक पौराणिक नाटकों में भी, उदाहरणार्थ नजीर बेग का `हरिश्चन्द्र नाटक`, `रामभजन मिश्र `स्वतन्त्र` का `हरिश्चन्द्र` नाटक, हाफिज मोहम्मद अब्दुल्ला का `शकुन्तला नाटक`, रामभजन मिश्र के `प्रह्लाद` नाटक में, इन्दर सभा विशेष अंश के रूप में जोड़ी गयी है। केवल पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों ने ही नहीं, वरन् इसकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर अनेक गुजराती और मराठी नाटक कम्पनियों ने भी अपने नाटकीय जीवन में इन्दरसभा के प्रयोग किए[१]।

-0-

१- डा० रणधीर उपाध्याय -- `गुजराती और हिन्दी नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन`, प्र०सं०, अक्टूबर, १९६६, पृ० ३०१।

अध्याय --४

-o-

पारसी रंगमंच के नाटककार और उनकी रचनाएं

पारसी रंगमंच के नाटककार और उनकी रचनाएं

१. साहित्य की प्रत्येक विधा जीवन के प्रांगण में पालित पोषित होती है। जीवन के सामीप्य व सान्निध्य में ही उसके अस्तित्व की सुरक्षा निहित है। फिर नाटक तो अपनी परिभाषा में ही लोकतत्व व लोक-रुचि को समाहित किए हुए है[१]। रंगभूमि पर अभिनेताओं के माध्यम से दर्शकों की दृष्टि के समक्ष आकर ही उसकी कला का निखार प्रकट होता है। रंगमंच ,अभिनेता व दर्शक इन तीन बिन्दुओं के समन्वय में ही उसकी पूर्णता निहित है। अत: इनकी अवहेलना नाटककार के लिए दुष्कर ही नहीं, असम्भव है (असम्भव शब्द इसलिए कि पाठ्य नाटक में भी नाटककार के समक्ष दर्शक,अभिनेता व रंगमंच-- तीनों तत्व रहते हैं। भले ही वह अपने युग की दर्शक-रुचि,अभिनेता व रंगमंच के रूप-निर्माण व आकार-प्रकार से भिन्न रूप अपनाए)। चूंकि बदलती समय धारा,परिवर्तित युग -मान्यताएं व मानवीय रुचियों ने इस त्रिकोण(तीनों बिन्दु) को प्रभावित किया है, अत: नाटककार के लिए उसके अप्रत्याशित प्रभाव से बचना असम्भव है।

२. पारसी नाटक कम्पनियों का कार्यकाल लगभग आठ दशकों (१८५२ई० से १९३५ई० तक) की लम्बी अवधि में आबद्ध है। इतने लम्बे समय तक युगीन परिस्थितियों,मान्यताओं एवं रुचियों में एकरूपता रहना सम्भव नहीं। यही कारण है कि इस काल के नाटकों में भाषा,विषय व संगठन इन सभी दृष्टियों से युगानुरूप वैभिन्य दृष्टिगत होता है।

१- (अ) 'नाट्यम लोक स्वभावकम्'

(आ)'लोक वार्तानुकरणं नाट्यम्' (ना०शा०, अध्याय १।११२)

(इ)' नाट्यम भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनः' --कालिदास--मालती-माधव।

३. इस तथ्यता के आधार पर कम्पनियों में अभिनीत होने वाले नाटकों को भाषाभिभेदानुसार तीन श्रेणियों में विभाजित करना अध्ययन की दृष्टि से अधिक सुगम व सुविधाजनक होगा --

१- पारसी गुजराती नाटक (१८६८ ई०)

२- उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी नाटक (१८७१ई०)

३- हिन्दी नाटक (१८७२ई०)

४. यह विभाजन किसी निश्चित् काल-सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमें ऐसे कोई ठोस प्रामाणिक सत्य उपलब्ध नहीं हैं, जिनके आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सके कि इस काल से इस काल तक कम्पनी ने इस प्रकार के नाटकों का अभिनय किया। जब कि किसी भी कम्पनी के सम्पूर्ण जीवन-काल में इन सभी प्रयोगों के विवरण उपलब्ध होते हैं। अस्तु, इस वर्ग-विभाजन में अध्ययन की सुविधा ही मुख्य आधार है।

५. प्रथम दोनों वर्गों के नाटकों का विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन परिशिष्ट में दिया गया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की विषय-सीमाओं ~~के~~ व विस्तार -भय से यहां केवल हिन्दी नाटकों का अध्ययन ही अभीष्ट प्रतीत होता है।

६. हिन्दी नाटकों का आरम्भ कब से हुआ ? वे कौन सी परिस्थितियां थीं, जो आलोच्य रंगमंच पर इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं ? आदि प्रश्नों का समाधान भाषा सम्बन्धी अध्याय में दिया गया है। अत: उसका यहां पुनर्विवेचन केवल कलेवर की वृद्धि होगी। प्रस्तुत अध्याय हिन्दी नाटक एवं नाटककारों के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है, जो दो भागों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम प्रकरण में आलोच्य व्यावसायिक रंगमंच से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित कृतियों का विवेचन है। किन्तु द्वितीय प्रकरण के प्रतिपाद्य वे नाटक हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से व्यावसायिक रंगमंच से सम्बन्धित न होकर भी उसी के ~~जीवन~~ प्रभाव में प्रणीत किए गए हैं।

प्रकरण--१

विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी (१८५५-१६२२)

७. रंगमंच के अनन्य साधकों को जन्म देने में बनारस की भूमि सदा से वैभव-मण्डित रही है। इसके साहित्यिक वातावरण ने अनेक कलाकार और साहित्यकार समाज को अर्पित किए। स्वर्गीय श्री विनायक प्रसाद 'तालिब' इस पवित्र भूमि की ही एक भेंट हैं, जिन्होंने सन् १८५५ में जन्म लेकर अपनी साधना से रंगमंच को सम्पन्न बनाने की अथक चेष्टाएं कीं। आपका सम्बन्ध मुख्यरूपेण खुरशेद जी मेरवान जी बाली वाला की 'विक्टोरिया' अथवा 'बाली वाला नाटक मण्डली' से रहा। यहां सन् १८८५-८६ (जब कि 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' कोलोनियल एक्ज़ीबीज़न, लन्दन में अपने नाट्य-प्रयोगों और वहां मिलने वाली आर्थिक हानि के साथ पुन: बम्बई लौट आई थी) में नियुक्त होकर सन् १६१३ तक आपने रंगमंच के लिए अपनी अनेक हिन्दी-उर्दू कृतियों का संगठन किया। किन्तु सन् १६१३ में कम्पनी-मालिक बालीवाला की मृत्यु के साथ ही 'तालिब' की कलम का प्रवाह सदैव के लिए रुक गया। होरमस जी तांतरा (कम्पनी के संचालक - बालीवाला के पश्चात्) के आग्रह पर भी कम्पनी को आप आगे और रचनाएं न दे सके। बालीवाला से पूर्व 'तालिब' ने कावसजी पालन जी खटाऊ के लिए भी कुछ रचनाएं तैयार की थीं।

८. बालीवाला की मृत्यु के साथ अपने नाटकीय जीवन का अध्याय समाप्त होने पर विनायक प्रसाद वेंकटेश्वर पत्र की सेवा में रत हो गए। यहां कार्य करते हुए सन् १६२२ में आपने चिरशान्ति प्राप्त की। आपकी निम्न-लिखित रचनाएं प्राप्त हैं--

'सत्य हरिश्चन्द्र'

६. कोलोनियल एक्ज़ीबीज़न, लन्दन में मिलने वाली आर्थिक हानि से क्षुब्ध बालीवाला एक ऐसे नाटक की खोज में आतुर थे जो कम्पनी की अर्थ व्यवस्था को कम से कम पूर्ववत् कायम करने में सहायक हो सके। विनायकप्रसाद

'तालिब' की अब तक की सभी रचनाएं कम्पनी-मालिक की रुचि से प्रणीत थीं। किन्तु 'सत्य हरिश्चन्द्र' इन व्यवधानों से दूर लेखक का अपना स्वतन्त्र प्रयास था, जो कृतिकार की अमर निधि के रूप में उसके पास सुरक्षित था। अर्थ-ग्रस्तता से कम्पनी को उबारने की अनेक नई योजनाओं और नए नाट्य-प्रयोगों की खोज में व्यस्त बाळीवाला का 'तालिब' (विक्टोरिया कम्पनी के नाट्य-लेखक) की इस अछूती रचना पर ध्यान गया। अपनी मनस्तुष्टि के लिए मित्रों व हिन्दू धर्म के कर्णधार पण्डितों और ब्राह्मणों से इस कृति की समीक्षा लेकर उन्होंने हिन्दू जनता की मांग पर उन्हीं के धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत यह करुणा रस पूरित पौराणिक नाटक अभिनीत किया। बाळीवाला का यह प्रयास सर्वप्रथम १८६२ में 'नौवेल्टी थियेटर, बम्बई' में साकार हुआ, जिसमें निम्न कलाकारों ने भाग लिया- हरिश्चन्द्र-- होरमस जी तांतरा, नक्षत्र-मेरवान जी पाकवल, किन्तु दर्शकों के आग्रह पर बाद में यह पार्ट बाळीवाला ने किया, तारामती-- अमृतसर की मिस मुन्ना जो निश्चित समय के लिए बुलाई गई थीं, अतः उनके बाद यह स्त्री भूमिका मेरवान जी मेहता ने निबाही, विश्वामित्र --बहराम जी तांतरा, राजकुमार -- मोहन जो आगे मास्टर मोहन के रूप में ख्याति प्राप्त हुए, अग्निसेन --बरजोर, कालका बहन- धनजीभाई मिस्त्री, मंगल मिश्र-- धनजी शाह कंबीरबाग आदि आदि।[१]

१०. हरिश्चन्द्र की सत्यता दर्शाने वाले इस पौराणिक नाटक में परवर्ती रंगमंचीय कृतियों के समान सौन्दर्य का अभाव है, किन्तु उस समय के नाट्य वातावरण को देखते हुए इसे असुन्दर भी नहीं कहा जा सकता। पौराणिक सत्य की रक्षा के साथ कथानक का समुचित संगठन करते हुए चरित्रों को उभारा गया है। हरिश्चन्द्र की आपदाओं को घनीभूत बनाने में विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र को उनके पीछे लगाकर नाटककार ने जहां चरित्र की महानता और आदर्श को गहरा रंग दिया है, वहां गम्भीरता के साथ ही नक्षत्र के द्वारा हास्य सृष्टि भी की है। परम्परा के अनुसार रंगमंच में कोई स्वतन्त्र हास्य-कथा न रखकर मुख्य कथा में हास्य की यह योजना नाटककार का प्रशंसनीय प्रयास है।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'--'हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब' शोधप्रबन्ध- १९६७, पृ० ११३-१४

११. भिड़ाऊ प्रकृति नारद का विश्वामित्र के आगे वशिष्ठ के शिष्य हरिश्चन्द्र की सत्य और न्यायप्रियता की प्रशंसा, विश्वामित्र द्वारा परीक्षा, जिसमें सफल होने वाले हरिश्चन्द्र के जीवन में आने वाली आपदायें ही नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु है, जिसके नाटकीकरण की नाटककार ने पूर्ण चेष्टा की है । किन्तु मार्मिक प्रसंगों को पहचान कर भी वह उनका सम्यक् अंकन नहीं कर पाया । तारामती का कालकूट के हाथ बिकने पर पति-वियोग की घड़ी में यह कथन-- ' प्राणनाथ ! विदा होती हूं । हाय न जाना था कि जीते जी कदम छोड़ जाना पड़ेगा ? न जाना था जान तन में रहते हुए जुदाई का वियोग उठाना पड़ेगा ? नसीब में होगा तो यह कदम फिर देखूंगी नहीं तो दर्शन की प्यासी मरूंगी[1] ' व इसी प्रकार पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर विलाप ~~इसका~~ इस बात के उदाहरण हैं । पौराणिक रचना होते हुए भी नाटक उर्दू प्रधान है । लेकिन इसके लिए उत्तरदायी 'तालिब' से अधिक उस समय के रंगमंच की उर्दू भाषा है, जिससे एकदम से अलग हटना व्यापारिक मनोवृत्ति वाले कम्पनी मालिकों के लिए असम्भव था ।

१२. कथा अयोध्या,काशी,गोमती का किनारा, श्मशान घाट आदि कई स्थलों पर चलती है । गानों के साथ ही पद्यात्मक संवादों की बहुलता है जो कहीं-कहीं काफी लम्बे हैं । पौराणिक कृति होने के कारण अलौकिकता और चमत्कारिकता का पर्याप्त विधान है ।

१३. कथात्मक दृष्टि से रचना कैसी भी हो, किन्तु सर्वप्रियता की दृष्टि से यदि इसे 'तालिब' की कीर्ति का आधार स्तम्भ कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी । 'तालिब' की इस पौराणिक कृति को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, ऐसी कम ही कृतियों को उपलब्ध होती है । सन् १८६२ में अपने प्रथम अभिनय से सन् १९१९ तक लगातार खिलने वाले नाटक के सम्बन्ध में अनेक बार इसका अभिनय देखने वाले एक पारसी सज्जन का यह मन्तव्य --'पुराने उर्दू और हिन्दी नाटकों में 'हरिश्चन्द्र 'सर्वोत्तम नाटक के रूप में अपना रेकार्ड रखता है । यह नाटक

१- अंक३, दृश्य १,पृ० ८०

चार हजार से भी अधिक बार अभिनीत किया गया और लगातार दर्शकों का ध्यान आकर्षित करता रहा[1]' बहुत महत्वपूर्ण है। सन् १९११ में किंग जार्ज पंचम के राज्याभिषेक पर कम्पनी ने अपने इसी लोकप्रिय नाटक का अभिनय किया। नाटक की सफलता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे प्राप्त होने वाले धन ने न केवल कम्पनी की डगमगाती अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ किया, वरन् सन् १९०६ में 'बालीवाला थियेटर' के निर्माण का यह एकमात्र उपकरण बना।'

१४. 'सत्य हरिश्चन्द्र' के अतिरिक्त 'रामायण', 'कनकतारा' 'भर्तृहरि', 'महाराजा गोपीचन्द', 'नल दमयन्ती', 'रामलीला', 'शकुन्तला' आदि अनेक हिन्दी नाटक उपलब्ध होते हैं, जिनमें हिन्दी के साथ ही उर्दू का भी पर्याप्त मिश्रण है, वरन् उर्दू का ही आधिक्य है। प्रेमचन्द का यह मन्तव्य--'भला हो मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी का कि, उन्होंने उन दिनों की विख्यात 'बालीवाला विक्टोरिया कम्पनी' को 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा', भर्तृहरि' आदि हिन्दी के ड्रामे सबसे पहले लिखकर दिए और खिलवाए। इस खूबी के साथ उन्होंने इन नाटकों में हिन्दी दी थी कि उर्दू-हिन्दी के सम्मिश्रण में हिन्दी की चाशनी का आनन्द भी नाटक-प्रेमी जनता को प्राप्त हुआ और नाटक भी पास हो गए[2]', 'तालिब' के नाटकों का सही रूप प्रस्तुत करता है। वस्तुत: ये रचनाएं 'हिन्दी-उर्दू' प्रधान न होकर 'उर्दू-हिन्दी' प्रधान अधिक हैं[3]। इसका कारण है- उस समय के उर्दू नाटकों का रंगमंच पर एकछत्र अधिकार। आर्थिक हानि के भय से कम्पनी-मालिक हिन्दी के प्रयोग में हिचकिचाते थे और उनका यह भय ही नाट्य-लेखकों को हिन्दू पौराणिक धार्मिक कथाओं को लेकर चलने वाली कृतियों को भी बार बार उर्दू के रंग में डुबाने के लिए बाध्य कर देता था।

१- श्रीमती विद्यावती नम्र--हिन्दी रंगमंच और नारायणप्रसाद 'बेताब'- शोधप्रबन्ध, १९६७, पृ०११२।

२- 'हिन्दी रंगमंच' (लेख) माधुरी, वर्ष ८, संख्या ६।

३- सेठ सुखदेव जी बालीवाला ने हिन्दुओं की श्रेष्ठ कथा रामायण का नाटक स्वर्गीय विनायकप्रसाद 'तालिब' से लिखवाकर स्टेज किया था। उसमें भी यह सावधानी बरती गई थी कि दर्शकों को यह ध्यान नहीं आने दिया कि हम हिन्दी या हिन्दुओं का नाटक देख रहे हैं।... वह समय ही ऐसा था कि हिन्दी को रंगभूमि में रंग जमाने की आशा ही न थी।'

--नारायणप्रसाद 'बेताब' चरित्र, पृ०१०५

१५. उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त डा० अब्दुल अलीम 'नामी'[१] ने 'तालिब' के 'लैलो निहार उर्फ खूबी तक्दीर' (१८८४), 'फिसानए अजायब' (गीति नाट्य १८८४), 'चमन-ए-इश्क' (१८८४), 'निगाहे गफ्लत' (१८८८), 'दिलेर दिलशेर' (१८६०), 'संगीन बकावली' (१६००), 'तिलस्माते चिराग़ उर्फ अलादीन' (१६०५), 'अली बाबा चालीस चोर' (१८६२), 'खजानए गैब उर्फ चोर दरवाजा' (१८६२), 'तिलस्माते गुल' (१८६२), 'करिश्मए कुदरत उर्फ अपना या पराई' (१८६२), 'विक्रम विकास यानि सात अन्धे' (१६११), 'इन्दर सभा' आदि उर्दू नाटकों का परिचय दिया है। एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब में सन् १८८४ में अभिनीत होने वाला 'तालिब' का 'फिसानए अजायब' 'रौनक' बनारसी के 'फसानए अजायब' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एल्फिन्स्टन के उपरान्त यह नाटक कुछ रूपान्तरों के साथ विक्टोरिया नाटक कम्पनी में भी खिला। 'चमन ए इश्क'—'अलिफ लैला', से, 'दिलेर दिलशेर' धनपतराय 'बेताब' के 'दिलेर दिलशेर' से, 'गोपीचन्द' खान साहब 'आराम' के इसी नाम के नाटक से तथा संगीत बकावली' व 'आशिक का खून' रौनक बनारसी के नाटकों के आधार पर सामान्य परिवर्तनों और रूपान्तरों के साथ संगठित किए गए हैं। तीन अंकी नाटक 'तिलस्माते गुल' (१८६०), 'ताजुल मलूक' और 'गुलबकावली' का किस्सा है[२]। ये सभी नाटक 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' में अभिनीत हुए।

नारायण प्रसाद 'बेताब'

'बेताब' और नाटक --

१६. विषम आर्थिक परिस्थितियों से जूझने वाले 'बेताब' के जीवन में नाटकीय रुचि का बीजारोपण उस समय से हुआ, जब कि पांच रुपये माहवार पर लाला देवी सहाय अग्रवाल के 'कैसरे हिन्द प्रेस' में छपाई का

१- डा० अब्दुल अलीम नामी-- बिबलियोग्राफिया उर्दू ड्रामा भाग१, प्र०सं०१६६६ पृ० १०३।

२- ,, ,, --'उर्दू थियेटर' भाग२, प्र०सं० १६६२, पृ०११५

काम करते समय उन्हें जमादार साहब की थियेट्रिकल कम्पनी के लिए विज्ञापन छापने का अवसर मिला । इसके फलस्वरूप मिलने वाले पासों तथा उक्त कम्पनी के नाट्य-लेखक श्री धनपतराय जी 'बेकस' की अनुपस्थिति में कम्पनी के मालिकान के आग्रह पर एक गीत लिखकर देने व उसके एवज़ में 'इन्दर सभा' जैसे भड़कीले नाट्य अभिनयों को देखने के अवसर मिले । वस्तुत: यह प्रथम नाटक 'इन्दर सभा' ही था, जिसकी 'दिन की चुड़ैलों और रात की परियों' ने हमारे हृदय में अभिनय व नाट्य-रुचि का बीजारोपण किया । किन्तु रुचि को उभार कर एक कृतिकार के रूप में उन्हें इस क्षेत्र में लाने का श्रेय 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के नाट्य-लेखक मुंशी मुराद अली लखनवी[1] और ~~नाटक~~ उनके नाटक 'खुर्शीदे जर निगार' को है । इस रचना से प्रेरित होकर 'बेताब' ने भी एक कृतिकार के रूप में प्रस्थापित होने की चेष्टाएं कीं । असफलताओं, सफलताओं के भिन्नतों में घूमते हुए अन्तत: वे अपनी उद्देश्य प्राप्ति में सफल हुए ।

'बेताब' और कृतियां

१७. हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने शेक्सपियर के 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' (Comedy Of Errors) के आधार पर रचित 'गोरखधन्धा' को 'बेताब' की प्रथम रचना माना है[2]। किन्तु वस्तु सत्य इसके विपरीत है । अपने आत्मचरित में लेखक ने अपनी प्रथम कृति 'हुस्नेफरंग' (१९०२) के सम्बन्ध में स्वीकार किया है कि 'यही ड्रामा लिखने के क्रम से मेरा पहला ड्रामा है और रंगमंच पर आने से दूसरा[3]।' रंगमंच पर आने वाली इनकी पहली

१- 'मुंशी मुराद साहिब तो पहले देहली से फिर दुनिया से चले गए, मगर ड्रामा लिखने का शौक छोड़ दे गए ।' बेताब चरित्र,पृ०५८ ।

२-(क) श्रीकृष्णदास-- 'हमारी नाट्य परम्परा',प्र०सं० १९५५
(ख) दशरथ ओझा--'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास',द्वि०सं०१९५४,पृ०२६७
(ग) सोमनाथ गुप्त --'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास',तृ०सं०१९५१,पृ०११७

३- नारायण प्रसाद 'बेताब'--'बेताब' चरित्र ,पृ०५८

रचना 'कत्ले नज़ीर' (१९०१) है। दिल्ली की नज़ीर नामक वेश्या के कत्ल की सत्य घटना पर आधारित यह नाटक जमादार साहब की कम्पनी के रंगमंच पर १९०१ में सर्वप्रथम लाहौर में अभिनीत हुआ।

१८. सन् १९०१ से १९४५ तक के अपने लम्बे नाटकीय कार्यकाल में 'बेताब' ने इब्राहिम करीम, अब्दुर्रहीम साहिब, रहीमबख्श और हकन तइयब के निर्देशन में संचालित होने वाली जमादार साहब की 'मार्गीदारी' अथवा 'पारसी नाटक मण्डली', कावसजी पालन जी खटाऊ और जहांगीर जी पालन जी खटाऊ की 'अल्फ्रेड नाटक मण्डली' तथा मैडन थियेटर्स के लिए लगभग सत्ताईस नाटकों की रचना की जो उपर्युक्त कम्पनियों के रंगमंच पर समय-समय पर अभिनीत हुए।

१९. 'कत्ले नज़ीर' (१९०१), 'हुस्ने फरंग' (१९०२), 'कृष्णावतार' (१९०२) तथा 'मयूरध्वज' (१९०३) में जमादार साहब की थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा, 'कसौटी' (१९०३), 'मीठा ज़हर (१९०५)', 'ज़हरी सांप' (२७ जून १९०६); 'फरेबे नज़र' (१९०७), 'वहम का पुतला' (१९०७-८), 'अमृत' (२९ अप्रैल १९०८), पारसी नाटक मण्डली द्वारा, 'तौबा शिकन उर्फ इन्तिकाम (१२ अगस्त १९११), 'गोरखधन्धा' (३१ जुन १९१२), 'महाभारत' (२९ जनवरी १९१३), 'रामायण' सन् (१९१५) कावसजी खटाऊ की 'अल्फ्रेड कम्पनी' द्वारा, तथा 'पत्नी प्रताप' सन् १९१९ को जहांगीर जी खटाऊ द्वारा संचालित 'अल्फ्रेड कम्पनी' द्वारा, 'कृष्ण सुदामा' (सन् १९२०) 'शैल की शरारत' (१९२०), 'गणेश जन्म' (१६ अगस्त सन् १९२८) 'कुमारी किन्नरी अर्थात् मदर इण्डिया' (दिसम्बर सन् १९२८), 'सीता वनवास' (६ मई १९२९) 'समाज' (सितम्बर १९२९) को मैडन के अधिकार में अधिकृत 'अल्फ्रेड कम्पनी, कलकत्ता' द्वारा अभिनीत हुए। इनके अतिरिक्त 'हमारी भूल' सन् १९३७ को 'दी पारसी कारोनेशन थियेटर कलकत्ता' में व अन्तिम नाटक 'शकुन्तला' ६ मार्च सन् १९४५ को रॉयल आपेरा हाउस बम्बई में अभिनीत हुए। 'अली बाबा' और 'फूट का फल' ये दो अन्य नाटक और उपलब्ध होते हैं जिनका निर्माण रंगमंच के लिए ही हुआ था किन्तु वे किस कम्पनी में खेले, और उनकी अभिनय-तिथि क्या थी, यह ज्ञात नहीं। अपने मित्र व 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' के डायरेक्टर श्री अमृत केशव नायक के शेक्सपियर के नाटकों में अत्यधिक रुचि के आग्रह से प्रेरित होकर 'बेताब' जी ने शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद प्रकाशित करके

जनता को उन कृतियों से परिचित कराने व उनमें नाट्य-रुचि उत्पन्न करने के लिए देहली से `शेक्सपियर` नामक एक पत्र भी निकाला जिसमें ऐसे कई अनुवाद प्रकाशित हुए। `एज़ यू लाइक इट` (As You Like It) या `जैसा तुम चाहो` का निर्माण किसी रंगमंच के लिए नहीं, वरन् इस पत्रिका के लिए ही हुवा था।

२०. `बेताब` की इन हिन्दू- उर्दू दोनों प्रकार की कृतियों के विवरण से स्पष्ट है कि उनके हिन्दी नाटक कावस जी पालन जी व जहांगीर जी पालन जी खटाऊ (इनकी अधीनता में केवल एक नाटक लिखा) की `अल्फ्रेड नाटक कम्पनी बम्बई` तथा अधिकांश में मैडन थियेटर्स, कलकत्ता द्वारा `महाभारत` से अर्थात् २६ जनवरी १६१३ से मार्च १६४५ तक क्रमश: अभिनीत हुए। उर्दू नाटकों की सापेक्षता में `बेताब` की पौराणिक, सामाजिक हिन्दी रचनाओं ने अधिक सफलता प्राप्त की।

<u>महाभारत (२६ जनवरी १६१३)</u>

२१. `महाभारत` `बेताब` का प्रथम हिन्दी नाटक है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अतिथि के रूप में आए कौरवों का पाण्डवों के ऐश्वर्य तथा द्रौपदी के इस उपहास--

> `चकाचौंध से भवन की बिगड़ गया सब तौर,[1]
> अन्धे की औलाद है, सूझे क्यों कर ठौर।`

से कुढ़कर उन्हें इस अतुल सम्पत्ति से वंचित करने के लिए दुर्योधन व शकुनि द्वारा जुए के षड्यन्त्र की योजना, पाण्डवों की पराजय, द्रौपदी का चीर-हरण, १२ वर्ष के बनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के पश्चात् राज्यप्राप्ति के लिए युद्ध, द्रौपदी का भीष्म पितामह से अखंड सौभाग्य का आशीर्वाद लेना-नाटक की यह मुख्य कथावस्तु भागवत तथा पद्मपुराण से ली गयी है। `बेता - चमार` (जिसकी कथा भक्तमाल से ली गई है) अथवा `मन्त्रामार्ग` व पातिव्रत्य धर्म के उद्देश्य की परिपूरक `सती सौपा` की उपकथाएं भी नाटक में संयुक्त हैं। कोई स्वतन्त्र हास्य कथा नहीं है, जैसा कि उस समय की नाट्य पद्धति थी। वरन् एक क़दम आगे बढ़कर `बेताब` जी ने मुख्य कथानक में ही बड़े शिष्ट ढंग से हास्य सृष्टि की है।

१- अंक१, दृश्य १, पृ० ११

२२. महाभारतीय कथा पर आधारित सत्रह दृश्यों वाला यह तीन अंकी नाटक २६ जनवरी १६१३ को सर्वप्रथम संगम थियेटर दिल्ली में अभिनीत हुआ , जिसमें निम्न कलाकारों ने कार्य किया -- कावसजी पालन जी खटाऊ-- दुर्योधन, मंचेरशा कापगर-- धृतराष्ट्र , असलाजी-- भीष्म पितामह, महबूब खां-- द्रोणाचार्य, मुंशी हशमत अली-- दुःश्शासन, केकी रंजना-- प्रातकामी, जहांगीर जी खटाऊ-- विकर्ण, अता मोहम्मद-युधिष्ठिर, जीवा सिंह--भीम, जाफ़र खां-- राजा विराट्, माधवलाल-- चैता का लड़का, ऐदलजी ईंची--नन्दा नाई, मास्टर भगवानदास-- द्रौपदी, मिस सांवरिया-- सत्यभामा, मिस नन्हीजान-- भानुमति, अशरफ खां-- साधु १, मामा जूनी-- साधु२ आदि । सन् १६३० में मैडन थियेटर्स ने प्रस्तुत नाटक का चित्रपट तैयार किया[1] ।

२३. "बेताब" का यह प्रथम हिन्दी नाटक पूर्णतः दोषरहित नहीं है । परम्परानुसार ही विपुल पद्य प्रयोग है । प्रत्येक पात्र गद्य के साथ पद्य में वार्तालाप करता है । स्वगतोक्तियां तथा अनेक गीत हैं । भाषा भी इतनी मंजी हुई नहीं है, जितनी परवर्ती रचनाओं में है । घटनाओं के घटाटोप में भीष्म को छोड़कर जिसकी क्रोधी प्रकृति और व्यग्रता विभिन्न घटनाओं के माध्यम से पूर्णता के साथ सामने आई है, अधिकांश चरित्र उभर नहीं सके हैं । फिर भी उस समय के नाटकीय वातावरण को देखते हुए सुरुचि सम्पन्नता और हिन्दी नाटकों की परम्परा के सूत्रपात में योगदान के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से नाटक का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । अपने इन्हीं गुणों के कारण रचना पर्याप्त लोकप्रिय हुई । विद्वानों ने इसे "नवयुग प्रवर्तक, क्रान्तिकारक, हिन्दू इतिहास प्रदर्शक , पवित्रता पूर्वक मनोरंजक[2] " आदि सम्मानपूर्ण उपाधियों से गौरवान्वित किया है । बाबू श्यामसुन्दर दास ने " साहित्यलोचन" में 'बेताब' के इस सराहनीय उद्योग की भूरि - भूरि प्रशंसा की है[2] । यह लोकप्रियता यहां तक थी कि चलते हुए खेल में ही दूसरे खेल के लिए

१- नारायण प्रसाद "बेताब"--"बेताब" चरित्र , पृ० २०८

२- "इस सम्बन्ध में दिल्ली के पण्डित नारायण प्रसाद "बेताब" का उद्योग परम प्रशंसनीय है, जिन्होंने पहले-पहल "महाभारत" नाटक की रचना करके और एक पारसी कम्पनी की रंगशाला में उसका अभिनय कराके लोगों का ध्यान कुरुचि-पूर्ण नाटकों की ओर से हटाया और उन्हें सुरुचिपूर्ण हिन्दी नाटकों की ओर प्रवृत्त किया ।" --"साहित्या लोचन" , पृ० २२७

सीट सुरक्षित हो जाती थी । यही नहीं, मेरठ,सहारनपुर,मुरादाबाद,अलीगढ़, आगरा और दूर-दूर स्थानों से भी पत्रों और तारों द्वारा सीट रोकी जाने लगीं ।

२४. प्रस्तुत नाटक के सम्बन्ध में आलोचकों की ये धारणाएं वस्तु सत्य से दूर नहीं हैं --

१- उसने स्टेज का तख्ता पलट दिया ।

२- नाटकीय दुनिया में क्रान्ति को जन्म दिया ।

३- उर्दू नाटकों को स्टेज खाली करने का नोटिस दे दिया ।

४- हिन्दी के प्रचार में खासी मदद दी ।

२५. नाटक की अभूतपूर्व सफलता से प्रेरित होकर न केवल 'बेताब' ने आगे अपनी हिन्दी रचनाएँ प्रस्तुत कीं वरन् अन्य अनेक नाटककारों ने उर्दू का चोला फेंक कर अपनी कृतियों को हिन्दी का परिधान पहनाने की चेष्टा की ।

'पत्नी प्रताप अर्थात् सती अनुसूया' (१९१६)

२६. 'रामायण' नाटक के पश्चात् 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' बम्बई से लाहौर चली गई जहाँ बुधवार, १६ अगस्त सन् १९१६ को कम्पनी मालिक कावसजी पालन जी खटाऊ का पथरी के ऑपरेशन में देहान्त हो गया । उनकी मृत्यु से क्षुब्ध होकर 'बेताब' ने कम्पनी से अपने नाट्य-लेखक का सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और बुलन्दशहर में ग्रामीण जीवन व्यतीत करने लगे । किन्तु तीन वर्ष पश्चात् कावसजी के पुत्र (जो कम्पनी संचालित कर रहे थे) जहांगीर जी खटाऊ के आग्रह पर ५०० रुपए मासिक पर पुनः कम्पनी में ~~सम्मिलित हुआ । कस एक नाटक 'पत्नी-प्रताप'~~ आ गए व कलकत्ते में अपना पौराणिक नाटक 'पत्नी प्रताप' लिखा जो सन् १९१९ में अभिनीत हुआ । इस एक नाटक के उपरान्त ही खटाऊ की कुछ बुरी आदतों के कारण कम्पनी मैडन थियेटर्स के हाथ बिक गई ।

१- नारायणप्रसाद 'बेताब'--'बेताब' चरित्र, पृ० ११४

२७. प्रस्तुत नाटक के द्वारा 'बेताब' ने उस समय के रोमाण्टिक और अश्लील नाटकों के स्थान पर नारी के समस्त रूपों में से उसके पत्नीत्व रूप की श्रेष्ठता सिद्ध करके पातिव्रत्य धर्म के महात्म्य को प्रस्तुत किया है। सती अनुसूया के सतीत्व बल के चमत्कारिक प्रभावों के अतिरिक्त योग भक्ति के द्वारा स्वर्ग में पहुंचकर पत्नीत्व के अभाव में वहां से तिरस्कृत रेखा होकर अन्धे गोपाल की पत्नी बनकर अपने पत्नी कर्तव्यों की पूर्ति तथा पातिव्रत्य धर्म के बल पर माण्डव्य ऋषि का तेज हरण, उनके श्राप के खण्डनार्थ सूर्योदय को रोकना, अनुसूया का राजा-प्रजा के आग्रह पर सूर्योदय के साथ ही गोपाल को नेत्रों सहित पुनर्जीवन देना आदि की कथा उनके इसी उद्देश्य की परिपूरक है। कथा का चयन नाटककार ने विभिन्न पुराणों से किया है। सती अनुसूया और दत्तात्रेय जन्म की कथा शिवपुराण, कैलाश संहिता, भागवत् तथा महाभारत से, रेवा व गोपाल गुप्त की कथा गरुण पुराण १-१४२, मार्कण्डेय पुराण १६,१४,८८ स्कन्द पुराण ५,३,१६६,१७२, पद्मपुराण का सृष्टि खण्ड तथा कौशिक पुराण से, माण्डव्य ऋषि और उनके चेलों तथा कोतवाल की कथा गरुण पुराण १-१४२, पद्म० - उत्तरखण्ड-५१, स्कन्द० ६-१३७, ५-३, १६६-१७२ से ली गई है।

२८. नाटक का रूप काफी विस्तृत है। मूल कथा अधिक लम्बी नहीं, किन्तु हास्यकथा जिसका मूल से कोई सम्बन्ध नहीं तीन हैं जो उलझी हुई और अस्पष्ट हैं। संगीत बहुलता है। कुछ स्थलों पर तो ये दो-दो पृष्ठों तक के हैं। पद्यात्मक संवाद भी काफी दूर तक चले हैं। स्थान के एकीकरण का अभाव है। पौराणिक कृति होने के कारण नाटककार को अलौकिक दृश्यों की योजना के पर्याप्त अवसर मिले हैं।

कृष्ण सुदामा (१६२०) --

२६. भक्ति रस पूर्ण इस नाटक को पूर्व नाटकों के समान ही मैडन थियेटर के आधिपत्य में अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी ने सन् १६२० में कलकत्ता में सर्वप्रथम अभिनीत किया। नाटक ने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की। पंजाब, उत्तरप्रदेश बम्बई आदि स्थानों में स्त्रियों के लिए दोपहर के समय इसके पृथक् प्रयोग हुए। सन् १६६१ में आकाशवाणी बम्बई से भी इसका प्रसारण किया गया। 'देशीय नाटक

समाज ,बम्बई, प्राणशंकर आचार्य की कम्पनी ने इन्दौर में व अन्य अन्य अनेक कम्पनियों ने प्रस्तुत नाटक को और कानूनी रूप में अभिनीत किया ।

३०. भाग लेने वाले कलाकार थे-- मा० लीलाधर-दुर्दैव,मा०अम्बालाल --कृष्ण, मा० निसार-- शारदा, मा० गोपालदास-- बेवकूफ, मा० गामा-- सुदामा आदि ।

३१. धार्मिक भावों से युक्त प्रस्तुत नाटक कृष्ण-सुदामा के मित्रत्व के साथ ही कर्मानुसार फल का प्रतिपादक है । सुदामा का चुपचाप चने खाना, फलत: कंगाली और दुर्दैव का प्रकोप व कृष्ण की मित्र को इस निर्धनता से उबारने की असमर्थता वस्तुत: इस कर्म-फल के प्रभाव को दर्शाने वाली है । प्रथमांक में संदीपनि गुरु के आश्रम में कृष्ण का ब्रह्मत्व ,गुरु-शिष्य के आदर्श, सुदामा की अनन्य गुरु-भक्ति के साथ कंगाली का निमन्त्रण व द्वितीयांक में दुर्दैव और उदारता के संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है , जिसकी परीक्षा की कसौटी सुदामा का जीवन बनाया जाता है । नाटककार ने इस संघर्ष व उसके झंझावातों में फंसे सुदामा के गृहस्थ जीवन का मार्मिक अंकन किया है । तृतीयांक में पत्नी शारदा के आग्रह पर सुदामा का मित्र कृष्ण के यहां प्रस्थान,मित्र-मिलन में अनन्य प्रेम का प्रवाह व कृष्ण का अप्रत्यक्षरूप में अतुल सम्पदा का दान(क्योंकि कर्म माला का एक (चना का) दाना अवशिष्ट था उसके प्रभाव के कारण अप्रत्यक्ष विधि से दान),वैभव के कारण पत्नी के प्रति शंका, कृष्ण द्वारा समाधान आदि कथासूत्रों का संयोजन किया गया है । नाटककार ने भक्ति और मित्रता के आदर्श के अतिरिक्त किसानों की कथा द्वारा कृषकों के सदाचरण का अनुपम आदर्श रखा है।[1] स्वामी उज्वलानन्द,चौधरी बुलबुल सिंह और बेवकूफ के द्वारा जहां नाटककार ने हास्य की सृष्टि की है, आज के पाण्डित्य पर व्यंग्य प्रहार किया है, वहां बेवकूफ के द्वारा निराकार ब्रह्म सम्बन्धी गम्भीर दार्शनिक मत को अत्यन्त सहज सुगम रीति से प्रस्तुत किया है ।

१- 'कोई रास्ता नहीं है कर्म करके फल न पाने का
कि इस खाते में रहता है हिसाब एक एक दाने का ।
सुदामा भक्त भी है मित्र भी है और सहपाठी भी
मगर चारा नहीं है कोई लिक्खे को मिटाने का ।'

अंक२,दृश्य ६,पृ०८३

३२. आधिकारिक कथा भागवत, १०-८०-७, ३-३-२, १० ४५-३१ से तथा महाभारत के सभापर्व व नरोत्तमदास कृत सुदामा चरित्र से ली गई है। हास्यकथा उत्पाद्य है।

३३. नाटक का गठन सुन्दर है। हास्य पुट से अनुस्यूत ,संयत व चुटीला है। नाटककार ने सुदामा के चरित्र को उभारने के लिए परिस्थितियों का निर्माण भली भांति किया है। एक के बाद एक घनीभूत होती हुई आपदायें भले ही दुर्दैव की योजना के कारण इतनी प्रभावपूर्ण न हो पाई हों, किन्तु चरित्र के विकास में उनसे पूर्ण सहयोग मिला है।

रामायण (१९१५)

३४. 'महाभारत' के पश्चात् 'बेताब' द्वारा प्रस्तुत हिन्दुओं के इस धार्मिक नाट्य ग्रन्थ को कावसजी खटाऊ ने सन् १९१५ में अल्फ्रेड कम्पनी द्वारा अभिनीत किया। सन् १९३५ तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में इसके प्रस्तुतिकरण हुए। नाटक में भाग लेने वाले मुख्य कलाकार थे, मंचेरशा डापगर--राम, जगन्नाथ-राम , गौहर--सीता,सांवरिया--सीता(अभिनय में परिवर्तन के कारण) कावसजी खटाऊ-- दशरथ आदि।

३५. 'बेताब' का प्रस्तुत धार्मिक नाटक सम्पूर्ण रामायणीय कथा का नाटकीकरण है, जिसमें छोटे-बड़े सभी प्रसंगों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इसी कारण न केवल नाटक की कलेवर वृद्धि हुई है ,वरन् कथा भी काफी शीघ्र गति से चली है। जनक वाटिका में सीता के साथ सखियों की छेड़छाड़, शबरी के प्रकरण में पम्पासुर तालाब के सड़ जाने का सम्बन्ध,साधुओं की अस्पृश्य भावना, कटी हुई भुजा द्वारा मौत का ब्यौरा देना आदि प्रसंगों को तूल देने व इनकी विस्तृत कथा को सनाहित करने के कारण यह स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। नाटक तीन अंकों है। प्रथम में ६,द्वितीय में १३ व तृतीय में ६ प्रवेश हैं। राक्षसों के अत्याचार से क्षुब्ध पृथ्वी और देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु का राम के रूप में अवतार,कुशध्वज ऋषि की अनाथ कन्या वेदवती का अपने रूप पर मुग्ध रावण द्वारा अंग स्पर्श की अग्नि-दाह में जल कर उसे सीता के रूप में जन्म लेकर अपने अपमान का बदला लेने का श्राप देना, विश्वामित्र

का दशरथ से राम को मांगना, यज्ञ-पुर्ति पर राम का जनकपुरी में आगमन,धनुष भंग व सीता से विवाह प्रथमांक में,मंथरा की कुमंत्रणा पर कैकेयी को कोप,राम को वनवास, भरत-आगमन, चित्रकूट सभा सुपर्णखा की नाक कटना, रावण के भय से मारीचि का स्वर्ण मृग बनना व रावण द्वारा सीता का हरण , शबरी की भक्ति व साधुओं का अहम् व मिथ्याभिमान का खण्डन, हनुमान का लंकागमन, रावण से विवाद, लंका दहन द्वितीय अंक में , युद्ध व सीता से मिलन तक की कथा तृतीयांक की कथावस्तु का निर्माण करती है ।

३६. कथा में कोई नवीनता नहीं है । नाटककार ने उसको उसी रूप में प्रस्तुत किया है जिस रूप में रामायण में उपलब्ध है । यह सत्य है कि नाटककार वह मार्मिकता व सप्राणता नहीं ला पाया जो रामायण में है, किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि नाटककार ने कहीं भी संस्कृति के विरुद्ध जाकर उसको निम्न स्तर पर नहीं उतारा है । मार्मिक प्रसंग भले ही अधिक मार्मिक न हो पाए हैं, किन्तु चरित्र गांभीर्य की पूर्णतः रक्षा की गई है । कोई स्वतन्त्र हास्य कथा नहीं है । रावण के गर्व हरण के प्रसंग द्वारा ही इसकी पूर्ति की गई है ।

३७. प्रथम व तृतीयांक की अपेक्षा दूसरे अंक में कथा अधिक तीव्र गति से अग्रसर हुई है,क्योंकि विस्तृत कथासूत्र इसी अंक में समेटे गए हैं । कथा का आधार ग्रन्थ बाल्मीकि रामायण है । रामचरित मानस,कवितावली आदि से भी पर्याप्त सहायता ली गई है ।

३८. पद्य और गीतों की बहुलता के साथ ही दृश्य दृश्यान्तरों व चमत्कारिक दृश्यावली की भी बहुलता है । कथा संगठन,चरित्र-चित्रण और साहित्यिकता की दृष्टि से नाटक सुन्दर है ।

गणेश जन्म (१६ अगस्त, १६२८)

३६.सन् १६२० में 'कृष्ण सुदामा' और 'शेख की शरारत' (एकांकी) नाटक के अभिनयोपरान्त 'बेताब' ने मैडन थियेटर्स से अपने नाटककार के सम्बन्धों को तोड़ लिया और इधर-उधर के साधनों से जीवनयापन करने लगे ।

किन्तु तंगदस्ती[१] और पुत्री के विवाह ने उन्हें पुनः इन सम्बन्धों के लिए बाध्य किया। अस्तु कम्पनी के लिए एक नए नाटक के निर्माण हेतु शान्त स्थान की खोज में हृषीकेश-भगवती भागीरथी के किनारे सुर्जेवालों की धर्मशाला में पहुंचकर 'गणेश जन्म' नाटक का कलेवर सजाया।

४०. सती का विरही राम की परीक्षा हेतु सीता का रूप धारण करना, शिव के मन का द्वन्द्व, परिवर्तित भाव के परिणाम[२], सती का दक्ष के यज्ञ में भस्मीभूत होना (प्रथमांक तक), पार्वती के रूप में जन्म, तपस्या, सप्त ऋषियों तथा शिव द्वारा सती की परीक्षा, शंकर-समाधि, कामदेव का भस्मीभूत होना और शिव-पार्वती विवाह की आधिकारिक कथा शिवपुराण, तुलसीकृत मानस व रुद्र संहिता आदि से, तथा प्रासंगिक कथाओं में कार्तिक जन्म, पदम०-- सृष्टि खण्ड-४४, मत्स्य पुराण-१६०, महाभारत--वनपर्व २-२१-६६, अनुशासन पर्व १३-१६ और शल्य पर्व ४५,६४ से ली गई है। नारद अहं भंग की पौराणिक कथा के साथ ही सेठ उधारचन्द और साधु की उत्पाद्य हास्य कथा भी आयोजित की गई है।

४१. 'गणेश जन्म' नाटक की मूल कथा इसी नाम के अन्य नाटकों के समान है, किन्तु उसके प्रतिपादन का ढंग 'बेताब' का अपना है। हास्य कथा के पात्र उधारचन्द के पुत्र कलराम के द्वारा कथा में कुछ नवीनता लाई गई है[३]।

१- 'कलेजा चीरती है चुपके चुपके मुफ़्लिसी कंगाली।
कि है मुर्गे के दिल का दर्द, पुः चिकना सिक्का काला।'
नारायण प्रसाद 'बेताब'--'बेताब' चरित्र, पृ०१२४

२- शिव--'पत्नी हो पति वचन का करत नहीं सम्मान।
जा घर में मतभेद है, ताको उजड़ा जान ।। अंक १, दृश्य३, पृ०१४

३- कलराम--'आने दो भय्या शंकर। यह बता तेरे मां बाप कौन हैं?
शंकर -- मेरे मां बाप तुम।
कलराम-- मैं?
शंकर -- हां
तुम्हीं हो मेरे हर रूप और आकार के कारण।
तुम्हीं तो हो पिता जी मेरे हर अवतार के कारण।
कलराम-- (हंसकर) मैं पिता जी इतना छोटा और बेटा इतना बड़ा? नहीं ब भय्या यह तो बेजोड़ बात रही... मैं छोटा हूं बाप तो नहीं बनूंगा अपना बेटा बनाले।' अंक१, दृश्य७, पृ०३६

कथा गणेश-जन्म से सम्बन्धित है । कंजूस पिता की अनुपस्थिति में ब्राह्मणों की सेवा करने वाला बलराम सत्संग के प्रभाव से शंकर का भक्त हो जाता है । किन्तु भोलाभाला है, और भोलेपन में शिव के प्रति उसका यह कथन-- ' मैं छोटा हूं, बाप तो नहीं सकूंगा-- अपना बेटा बना लें ' व शिव की स्वीकारोक्ति --

'यह भी स्वीकार है--

वर दिया यह भी तुम्हें होगा यूं ही कुछ काल बाद ।

पुत्र कहलाओगे निसंदेह थोड़े काल बाद ।'[1]

अंक ४ के दृश्य २ में उसे गणेश के रूप में जन्म देती है । नारद मोह की कथा नाटककार ने कुछ परिवर्तित करके अंक ४ के दृश्य २ में रखी है । गणेश और कार्तिक के विवाह के वादाविवाद को उठाकर उसके समाधान में पृथ्वी परिक्रमा नाटककार की अपनी कल्पना है । प्रसंग पुराना है, किन्तु उसकी यह योजना नई है ।

४२. नाटक सर्वप्रथम १६ अगस्त सन् १६२८ को अल्फ्रेड थियेटर हरिसन रोड, कलकत्ता में अभिनीत हुआ । अभिनय में भाग लेने वाले कलाकार थे-- मास्टर जगन्नाथ- भगवान शंकर, अब्दुर्रहीम भाई -हिमाचल,गोपालदास-कार्तिक,मा० निसार--सती-पार्वती, मा० गामा-- सेठउधारचंद, बालक केशव -- बलराम,मा० नैनूराम -- नारदमुनि आदि । सन् १६३४-३५ में बापू भाई नायक के निर्देशन में बम्बई में भी सफलतापूर्वक अभिनीत हुआ । नाटक की फिल्म भी तैयार की गई ।

४३. यह चार अंकी नाटक यद्यपि अपने स्वरूप में विस्तृत है, जिसमें अनेक कथाएं अनुस्यूत हैं । किन्तु संगठन की दृष्टि से नाटक शिथिल नहीं है । हास्य कथा को बड़ी ही निपुणता से मूल से जोड़ा गया है । भाषा,भाव,गीत व दृश्य विधान सभी दृष्टियों से नाटक वैभवपूर्ण और सम्पन्न है । पौराणिक नाटक होने के कारण चमत्कारिक दृश्य पर्याप्त है । चूंकि राधेश्याम 'कथावाचक' उस समय इसी विषय पर अपना 'सती या पार्वती' तैयार कर चुके थे, अत: 'बेताब' ने

१- अंक१,दृश्य ७,पृ० ३६

नाटक का नाम 'गणेश जन्म' रखा - जिसके प्रथम दो अंकों में सती और पार्वती की कथा ही मुख्य है ।

४५

समाज (१६२८)

४४. इस कृति से पूर्व 'बेताब' का समाज में प्रसारित बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या विक्रय, व नारी जाति पर होने वाले अत्याचारों से सम्बन्धित प्रथम सामाजिक नाटक 'कुमारी किन्नरी अर्थात् मदर इण्डिया'[1] १६२६ में अल्फ्रेड थियेटर, हरिसन रोड, कलकत्ता में अभिनीत हो चुका था । ब्रिटिश पदाधिकारियों की आंखों में आ जाने से अधिक न चल सकने वाला 'कुमारी किन्नरी' नाटक ही सितम्बर १६२८ में अल्फ्रेड थियेटर पर 'समाज' नाटक के नए रूप में अभिनीत हुआ । पूर्व कृति के समान इसमें भी वैवाहिक कुरीतियों को विभिन्न कथाओं के माध्यम से मार्मिक रूप में अंकित किया गया है । बाल विवाह और अनमेल विवाह के दूषित परिणाम तथा विधवा विवाह का समर्थन नाटक का मुख्य विषय है । नायिका गंगा की कथा विधवा - समस्या से सम्बन्धित है । लक्ष्मीमल और कलावती की अनमेल विवाह से सम्बन्धितकथा, प्रदीप और किशोरी की प्रेम कथा के साथ अर्वाचीन सभ्यता के कुत्सित और बाहरी रूप की चकाचौंध में विस्मृत दुराचारी टीकमदास जो अपनी सती साध्वी पत्नी सीता का परित्याग करके (क्योंकि -- 'वो कोई हसीना थी ? महाजबीन थी ? बिल्कुल सादा । घर का मजदूर । न सिंगार, न सलीका न कपड़े पहनने का शऊर'[2]) विधवा मालती और किशोरी पर उनके धन और यौवन के प्रलोभन में अपनी नीचता का जाल फेंकता है-- की कथा द्वारा नाटककार ने समाज की अनेक कुरीतियों और उनके दुष्परिणामों का अंकन किया है ।

१- कृति उपलब्ध नहीं हुई ।

२- अंक १, दृश्य५(हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी जिसमें पृष्ठ संख्या नहीं दी गई थी) अत: उद्धरणों में यहां भी नहीं दी जा सकी ।

४५. वह समाज जो घर की मान-मर्यादा को वेश्याओं के झूठे सौन्दर्य में खोजता है,[१] भोली भाली स्त्रियों के सतीत्व से खेलकर अपने मान के झूठे गौरव में उन्हें विधर्मी बनने को बाध्य[२] करता है, नाटककार ने ऐसे धर्म ढोंगी समाज पर अच्छी फब्तियां कसी हैं, तीखा व्यंग्य-बौछार की है और मीठी चुटकियां ली हैं। 'कुमार आश्रम' की हास्य कथा भी एक ऐसा ही तीखा व्यंग्य है, जहां के सभी सदस्य बाह्य रूप में ब्रह्मचारी परन्तु वस्तु रूप में स्त्री भोगी है।

४६. भारतीय नारियों के प्रति 'बेताब' जी का सदैव ही सम्मान व गौरवपूर्ण भाव रहा है। इसी से उनके मुख्य स्त्री पात्र अत्याचार व अन्याय की असह्य वेदना पर भी आदर्श के प्रतिस्थापक हैं। प्रस्तुत नाटक की गंगा, किशोरी और सीता ऐसी ही पात्रियां हैं। पति द्वारा त्यक्त सीता सीताराम के रूप में पति की सहायता करके अपने कर्तव्यों का पालन करती है तो किशोरी प्रेम पर बलिदान होने वाली नारी है। सास के लांछनों पर भी उसके अवैध बालक के कलंक को अपने सिर पर लेकर कुल की इज्जत बचाने, व एक नर्सिंग हॉस्पिटल खोलकर समाज-सेवा में संलग्न विधवा गंगा के द्वारा नाटककार ने अपने नारी सम्बन्धी विचारों का अभिव्यक्तिकरण किया है।

४७. बीस दृश्यों वाला यह त्रिअंकी नाटक अपने स्वरूप में विस्तृत है, क्योंकि कई समस्याओं व समाज के कई पहलुओं के चित्रण के कारण अनेक उपकथाओं की योजना की गई है। अपने संगठनात्मक रूप में नाटक उत्तम है। कथा की दृष्टि से नाटक का अन्तिम अंक बड़ा महत्वपूर्ण है। सारा रहस्य यहीं निरावरित होता है। साथ ही पात्रों के परस्पर मिलन के सुखमय वातावरण में नाटक के अन्त से एक आह्लाद की सृष्टि होती है।

१- 'अब नहीं है बैर.है भारत तेरे उद्धार में।
    डूबते हैं रण्डियों के नाव घर की नार में। अंक१,दृश्य५

२- मालवी का कथन (समाज के प्रतिनिधि मुरारीलाल के प्रति) --
   'तुम हिन्दू नहीं ईसाइयों के कमीशन एजेण्ट हो, जो मेरे जैसों को अपने दरवाजे से धक्के दे देकर हटाते हो और ईसाइयों की तादाद बढ़ाते हो।'
        -- अंक ३, दृश्य २

सीता वनवास (१९२९)

४८. प्रस्तुत पौराणिक विषय इससे पूर्व आगा हश्र की कलम से सजकर सन् १९२६ में मैडन थियेटर्स की शोभा बन चुका था। प्रस्तुत नाटक उसी का रूपान्तरित नाटक रूप है जिसे 'बेताब' ने स्वयं आगा हश्र रचित स्वीकार किया है। नाटक का विषय यद्यपि पूर्व परिचित है, किन्तु उसके प्रतिपादन में लेखक की लेखनी का अपना रंग है। विष्णु के सुदर्शन से बचने के लिए राक्षस का भृगु ऋषि की पत्नी की शरण में जाना, उसके रक्षार्थ ऋषि पत्नी का बलिदान, क्रुद्ध ऋषि द्वारा विष्णु को पत्नी वियोग[1] व पत्नी का संस्कार न करने देने के कारण लक्ष्मी को भी तदनुरूप शाप[2] सम्पूर्ण आगत कथावस्तु को अपने में समेटने के साथ ही भगवान विष्णु के राम रूप में अवतार द्वारा कर्मफल के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। कर्मफल के सिद्धान्त पर ही नाटककार ने अपनी सम्पूर्ण कथावस्तु का भवन खड़ा किया है। प्रथमांक के छठें प्रवेश के राजभवन वाले दृश्य में सखियों के नृत्यगान (इसमें एक राम बनती है, दूसरी सीता जिसके मुकुट पर मोह लिखा है, तीसरा लड़का खादी ड्रेस में है, जिसकी टोपी पर प्रजानुरंजन लिखा है) में राम का दोनों ओर खिंचना तथा अन्त में प्रजानुरंजन को चुनने के प्रसंग द्वारा आगे के कथानक की सूचना नाटककार की मौलिकता की परिचायक है। नाटक के अन्त में अयोध्यावासियों की पुनः शंका पर सीता के पृथ्वी में समा जाने के बाद विगलित कथानक को सुखकर अन्त देने व सीता के चरित्रोज्ज्वलता की साक्षी देने के लिए परिप्रेक्ष्य में स्वर्ग के दृश्य का विधान किया गया है, जहाँ रावण स्वयं सीता की आरती उतार रहा है।

१- 'तुझे भी मनुष्य देह धारण करके पत्नी वियोग का महादुख सहना पड़ेगा। किंकर्तव्य विमूढ़ होकर बरसों बेचैन और अशान्त रहना पड़ेगा .... तू राजा भी होगा तो तेरे बैरी तेरी प्रजा होकर भी इसका बदला लेंगे, तुझे गद्दी पर चैन से बैठने न देंगे।' अंक१, दृश्य१, पृ०८

२- 'हे वासों वाली अभी देवी! जाओ, तुम भी अपने पति के साथ पति-वियोग कर दुःख सहो, बरसों तक कुढ़ो, जलो-तड़पो और इस सती साध्वी की तरह मरते समय दाह-संस्कार से भी वंचित रहो।'
— अंक१, दृश्य१, पृ०१०

४६. सीता के परित्याग की यह मार्मिक करुण-कथा वाल्मीकि रामायण--उत्तरखण्ड, कथा सरित्सागर ६-१-६६, भागवत ६-११-६, पद्मपुराण--सृष्टि खण्ड--१७ व उत्तरखण्ड ५७ तथा अद्भुत रामायण के अयोध्याकाण्ड से ली गई है[१]। इस आधिकारिक कथा के साथ शम्बूक के तप और ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु तथा धोबी की प्रासंगिक कथाएं भी अनुस्यूत हैं। प्रेम और कर्त्तव्य के बीच संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करने वाला यह चार अंकी पौराणिक नाटक कथावस्तु की दृष्टि से भली प्रकार संगठित है। मार्मिक प्रसंगों की रचना व चरित्रों के उभार के साथ-साथ पौराणिक आदर्शों को भी उनके तत्सम् रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। किन्तु हिन्दी-उर्दू के भाषागत मिश्रण अथवा हिन्दुस्तानी आग्रह में राम के मुख से निसृत इस प्रकार की भाषा[२] उस समय के सांस्कृतिक वातावरण के मेल में नहीं बैठती।

हमारी भूल (१९३७)

५०. सामाजिक नाटक है जो दहेज प्रथा, कन्या विक्रय, वृद्ध विवाह आदि समाज में प्रचलित विवाह के विविध प्रकार, पतिभक्ति आदि सामाजिक समस्याओं के साथ चरखा, खादी, साम्यवाद आदि अनेक राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर चला है। नाटक की मुख्य व आधिकारिक कथावस्तु है, भारतीय नारी का जागरण, पाश्चात्य देशों की नारियों के सदृश्य अपने अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष, इस हेतु विविध सभाओं का आयोजन और आन्दोलन। नाटककार ने भारतीय सभ्यता और ~~संस्कृति~~ संस्कृति को परिप्रेक्ष्य में रखकर इसी को 'हमारी भूल' कहा है और इसके फलस्वरूप उद्भूत समस्याओं का चित्रण किया है।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'-- हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब' -- शोध प्रबन्ध, १९६७, पृ० ५२१

२- लव कुश को देखकर राम का कथन--

'मदर दर्शन है बच्चों का कि दीदारे आइना।
यह है आश्चर्य रुखसार या रुखसारे आईना।
इधर भी है मेरी सूरत उधर भी है मेरी सूरत।
खुला मैदान है या हर तरफ दीवारें आईना।।
अंक३, दृश्य४, पृ०८९

५१. सन् १६२६ के बाद आठ वर्ष के विराम के पश्चात् सन् १६३७ में 'दी पारसी कारोनेशन थियेट्रिकल कम्पनी कलकत्ता' द्वारा अभिनीत होने वाला यह नाटक अपने कलात्मक और अभिनयात्मक दोनों रूपों में सुन्दर है ।

५२. 'बेताब' के नाटकीय जीवन की अन्तिम कृति एक पौराणिक कथा पर अवलम्बित उनका 'शकुन्तला' नाटक है जो ६ मार्च १६४५ को सर्वप्रथम 'रौयल आपेरा हाउस , बम्बई में अभिनीत हुआ ।

५३. उपर्युक्त रचनाएं 'बेताब' की प्रमुख हिन्दी रचनाएं हैं, जो पौराणिक कथाओं व समाज के बहुमुखी चित्रण के साथ अपने कलात्मक रूप में भी सुन्दर व संगठित हैं । इनके अतिरिक्त 'कसौटी उर्फ दोरंगी दुनिया', 'मीठा ज़हर', 'ज़हरी सांप' उर्फ कटोरा भर खून', 'अमृत' व 'गोरखधन्धा' नाटक भी हिन्दी में प्राप्त हैं । किन्तु इनमें वह सौन्दर्य उपलब्ध नहीं जो पूर्ववर्ती कृतियों में है ।

५४. 'मीठा ज़हर' व 'गोरख धन्धा' जो १६०५ में विक्टोरिया थियेटर बम्बई व ३१ सितम्बर १६१२ को 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' द्वारा अभिनीत हुए शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' व 'कॉमेडी आफ एरर्स' के आधार पर संगठित किए गए थे । बेताब' के 'मीठा ज़हर' को 'हुस्ने फरंग' व 'फ़रेबे नज़र' आदि उर्दू नाटकों की कोटि में रखना अधिक समीचीन है ,क्योंकि भाषा का रूप बहुत कुछ उर्दू नाटकों से मिलता जुलता है ।

५५. अधिकांशतः पद्य में रचित 'गोरखधन्धा' जो सर्वप्रथम छोटा किलीचिस्तान में अभिनीत हुआ , अन्टोनियस रूमी, अन्टोनिया शामी, हाला रूमी और हाला शामी के हमशक्ल होने के कारण उत्पन्न घोटाला है[१]। नाटक के अन्त में फिल्मी जगत के सदृश्य आकस्मिकता का आश्रय लेकर बरसों से बिछुड़े मां-बाप को लाकर इस रहस्य का निराकरण किया गया है । श्याम के

१- 'सत्य दुश्वार समझना है यह गोरखधन्धा ।
क्योंकि उसके हुए फन्दे में पड़ा है फन्दा ।
अंक १, दृश्य १, पृ०११२

सुल्तान लुई और उसके भतीजे जेम्स जो फ्रांसिस और हेरी जैसे दुष्ट मित्रों की प्रेरणा व धन लोभ में पिता की हत्या करना चाहता है, की एक अन्य कथा भी है, जिसका स्वरूप पूर्व कथा की अपेक्षा संक्षिप्त है। कोई चरित्र चित्रण नहीं। गाने कई हैं, किन्तु मन के कोमल भावों को लेकर चलने वाला कोई नहीं। भाषा में उर्दू शब्दों का बाहुल्य है।

५६. २६ अप्रैल सन् १६०८ को 'कारोनेशन थियेटर' बम्बई में अभिनीत होने वाला 'बेताब' का 'अमृत' एक सामाजिक नाटक है, जिसमें शाहजादे के द्वारा पुरुष की विलासी प्रवृत्ति का मुख्यरूपेण अंकन किया गया है। टाम्स और उसकी पुत्री ब्लॉच, कैलोहरोन और वास्तेल, कैलोहरोन और पुत्री टबरेज की मुख्य कथा के साथ सारटा बेविल, हेनरी जेम्स, मेरी जुलियट, एली ऑगट, पोम्प आदि पात्रों की उपकथाओं को लेकर चलने वाले इस रोमांचक नाटक को श्रीमती 'नम्र' ने अपने शोधप्रबन्ध में किसी विदेशी कहानी के आधार पर रचित माना है। पात्रों के नामकरण व नाटक के वातावरण से भी इसी सत्य की पुष्टि होती है।

५७. नाटक छोटा है, किन्तु अभिनय तत्व से पूर्ण है। अनेक अंग्रेजी गीत और धुनें रचना में बिखरी हुई हैं। निर्देशक अमृत केशव नायक के बीच में अचानक ही देहावसान हो जाने के कारण उनके प्रति अपनी मित्रता के आग्रह तथा स्नेह और स्मृति के रूप में 'बेताब' ने अपनी इस कृति का नाम ही 'अमृत' रख दिया जब कि इस नामकरण का कथावस्तु के साथ कहीं कोई सामन्जस्य नहीं है।

५८. २७ जून १६०६ को सर्वप्रथम 'विक्टोरिया थियेटर' बम्बई में अभिनीत होने वाला 'बेताब' का 'जहरी सांप' नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और लगभग दो वर्ष तक लगातार सफलता के साथ अभिनीत हुआ। नाटक पटना के फरेबी नवाब (खलनायक) जो असली नवाब की हत्या करके स्वयं उस पद का मालिक बन बैठा है, तथा इस प्रतिकार भावना से डाकू का पेशा अपनाने वाले नाहर सिंह (मृत नवाब का बड़ा पुत्र) के संघर्ष तथा खलनायक के अत्याचारों की

१- नाहर -- मैंने जो कुछ हाथ-पांव मारे हैं वह लखो ताज के लिए नहीं बल्कि एक जहरी सांप का जहर निचोड़ने के लिए।'
अंक१, दृश्य४, पृ०१०४

कहानी है। नाटक का नामकरण भी इसी पर है। बहराम खां की उपकथा तथा डा० गुलाम जीलानी की हास्य कथाएं भी हैं।

५६. नाटक का वातावरण मुसलमानी ढंग का है। अभिनय में भाग लेने वाले कलाकार थे-- अमृत केशव नायक-- बाकर गुलाम, दादी सरकारी-- नाहर सिंह, दास-- बहराम खां, उमर-- हमीद, दादी मामा-- डा० जीलानी, हरिहर-- नजीर, मिस पुतली--बेगम, पुरुषोत्तम नायक-- खुरशीद लंका, ईश्वर नायक-- मामूना, मा० नजीर-- चमेली, वल्लभ केशव नायक-- कुलसुम, नज़ीर का भाई लल्लू-- अकबरी।

६०. बहमन जी नवरोजी काबरा जी के 'दोरंगी दुनिया' (गुजराती नाटक जो सन् १६०१ में अभिनीत हुआ) पर आधारित 'बेताब' का 'कसौटी उर्फ दोरंगी दुनिया' सन् १६०३ को सर्वप्रथम बेडला हॉल लाहौर में अभिनीत हुआ। यह एक सामाजिक नाटक है, जिसमें निर्धन दिलबर और अमीर सईद के पुत्र अनवर की प्रेम कहानी द्वारा साम्यवादी विचारों की पुष्टि की गई है। प्रेम मार्ग की कठिनाइयां व उसपर भी पात्रों की स्थिरता नाटक के 'कसौटी' नामकरण का कारण है। अमीर सईद के भतीजे नासिर के रूप में दोमुखी व्यक्तित्व प्रस्तुत करके नाटककार ने इस दोरंगी दुनिया की झलक दिखाई है। अन्य कई छोटी छोटी उपकथाएं भी इसी प्रयोजनार्थ मूल से संयुक्त की गई है। नाटक कहीं भी अश्लील नहीं है। चरित्र विकास व संगठन की दृष्टि से भी इसे निम्नस्तरीय नहीं कहा जा सकता। अन्त में सभी पात्रों को मिलाकर रचना का सुखमय अन्त किया गया है। मूल व उपकथाओं के साथ ही खैर सल्ला की हास्य कथा भी चलती है।

६१. 'कृष्णावतार' और 'मयूर ध्वज'[१] जमादार साहब की नाटक कम्पनी द्वारा सन् १६०२ और १६०३ को सर्वप्रथम करांची में अभिनीत हुए।

१- ये रचनाएं उपलब्ध न हो सकीं।

६२. इसके अतिरिक्त 'कत्ले नज़ीर' (१९०१), 'हुस्ने फरंग' (१९०२)को 'रॉयल कारोनेशन थियेटर' में अभिनीत) अलीबाबा', फरेबे नजर' (प्रहसन है-- जो किसी कम्पनी के लिए नहीं, वरन् देहली से प्रकाशित होने वाली 'शेक्सपियर' पत्रिका के लिए लिखा गया था), फूट का फल' 'तौबा शिकन उर्फ इन्तिकाम' (१२ अगस्त १९११ को अभिनय), वहम का पुतला' 'बेताब' के उर्दू नाटक हैं। 'हुस्ने फरंग' मुंशी मुराद' लखनवी के 'खुर्शीदे जर निगार' के आधार पर लिखा गया था। रंगमंच के अतिरिक्त ३० जून १९३१ को 'बेताब' ने सिने जगत[१] में प्रवेश किया व सर्वप्रथम 'देवी देवयानी' की रचना की।

विशेषताएं--

६३. समस्त कृतियों के अध्ययन से 'बेताब' की नाट्य कला के विषय में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं वे निम्नलिखितहैं --'बेताब जी ने अपने समस्त नाटकों का कलेवर (शेक्सपियर पत्रिका में निकलने वाली दो एक कृतियां अवश्य अपवाद स्वरूप हैं) किसी न किसी कम्पनी के लिए सजाया। कम्पनी की आर्थिक स्थिति, उसके उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखने के साथ ही उनकी कथावस्तु और पात्र उसका प्रस्तुतीकरण करने वाले अभिनेताओं, अभिनय के क्षेत्र में उनकी विशेष योग्यताओं, (स्वभाव और कार्यक्षमताओं के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं) 'बेताब' ने अपने नाटकों का कलेवर किसी न किसी कम्पनी के लिए सजाया, क्योंकि नाटक के सम्बन्ध में उनकी धारणा रंगमंच सापेक्ष थी।

१- सिने जगत की उनकी निम्नलिखित रचनाएं हैं--'देवी देवयानी', 'राधारानी', 'सती सावित्री', 'शेख बाला', 'विश्व मोहिनी', 'मिस १९३३', 'कृष्ण सुदामा', 'तारा सुन्दरी', 'काश्मीरा' और 'अबूहसन', 'गुण सुन्दरी', 'मिस गृह लक्ष्मी', 'तूफानी तरुणी', 'अम्बरीष', 'नादिरा', 'शिवनगर', 'शाह बहराम', 'राज की रानी', 'बैरिस्टर की बीबी', 'कातिब की कन्या', 'देशदासी', 'मुर्दे वतन', कीमती आंसू', 'राज रमणी', 'सिपाही की सजनी', 'बालक चोर', 'मतलबी दुनिया', 'प्रभु का प्यारा', 'जहरी नाग', 'छोटी सी भूल', 'परदेसी पंछी' --इन समस्त नाटकों के गीत बेताब रचित हैं। इनके संवादों को भी 'बेताब' ने गुजराती से हिन्दी में रूपान्तरित किया है। --नारायणप्रसाद बेताब' - 'बेताब चरित्र', पृ०१५१

'दृश्य काव्य को श्रव्य काव्य कोई नहीं बना सकता .... कारण यह है कि दो इन्द्रियों का काम एक इन्द्रिय से नहीं लिया जा सकता ।' यही कारण है कि कम्पनी की आर्थिक स्थिति और उसके उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखने के साथ ही उनकी कथावस्तु और पात्र उसका प्रस्तुतीकरण करने वाले अभिनेताओं, अभिनय के क्षेत्र में उनकी विशेष योग्यताओं, स्वभाव और कार्यक्षमता के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं । ऐसा करने से नाटककार किसी बात को जिस रूप में रंगमंच पर लाना चाहता था, उसको उसी रूप में प्रस्तुतिकरण में सफल हो सका। उनके नाटकों की प्रभावविष्णुता में यह तथ्य बहुत कुछ उत्तरदायी है ।

६४. 'शेक्सपियर' पत्रिका में निकलनेवाले दो एक अनुवाद यथा 'जो आप पसंद करें (As you Like It) या 'फरेबे नज़र' अवश्य रंगमंच पर नहीं आए, किन्तु इनमें भी अभिनयतत्व का अभाव नहीं है ।

६५. थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों की सभी मुख्य विशेषताएं यथा पद्यात्मक संवाद, गीतों की बहुलता, गद्य-पद्य में ध्वन्यात्मकता का आग्रह, दृश्यावलियों की स्वतन्त्रता, घटनाओं का घटाटोप, समय-स्थान और कार्य-व्यापार की एकता का अभाव-- 'बेताब' की कृतियों में भी पर्याप्त हैं । किन्तु इसके लिए पूर्णत: उनको ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता । कम्पनियों के रंगमंच के माध्यम से अपनी कृतियों को सामने लाने वाले नाटककार के लिए उस समय की नाट्य प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं से एकदम अलग हटना असम्भव था । 'बेताब' के लिए यह कम श्रेय की बात नहीं कि उन्होंने इनमें सुधार की चेष्टा की । यदि उनकी कृतियों का क्रमानुसार अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट हो जायगा कि पूर्ववर्ती कृतियों में इन प्रवृत्तियों का जितना आग्रह है, परवर्ती रचनाओं में उतना नहीं । वे अधिक प्रौढ़ व कलात्मक दृष्टि से अधिक सम्पन्न रचनाएं हैं ।

६६. रंगमंचीय पौराणिक नाटककारों में तो 'बेताब' का बहुत ऊंचा स्थान है ही, सामयिक व सामाजिक तत्वों की दृष्टि से भी इनकी कृतियां कम महत्वपूर्ण नहीं हैं -- जहां सीधे-सादे शब्दों में अनेक सामाजिक समस्याओं को लपेटते हुए प्रखरता के साथ इन्हें चोटी पर पहुंचाकर, दुराचारियों के दुष्परिणामों व सत्पात्रों के संघर्षमय जीवन की दृढ़ता और स्थिरता द्वारा दर्शकों के हृदयों को आन्दोलित करके प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों विधियों से समस्या के समाधान के साथ

ही समाज के जागरण की उनकी चेष्टा की उपलब्ध है[1]।सरोज मूवीटौन के मालिक सेठ नानू भाई श्री० देसाई ने 'सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को सादा शब्दों में खोल देने' के 'बेताब' क जी के गुण का मुक्त कंठ से प्रशंसा की है । रामबाबू सक्सैना ने 'बेताब' जी को भावुक तथा चरित्र-चित्रण के सफल नाटककार माना है[2]।

६७. इतने सब विवरण के पश्चात् सोमनाथ गुप्त का यह मन्तव्य कि कला की दृष्टि से इनके नाटकों को उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता परन्तु जनता में लोकप्रियता के हिसाब से 'बेताब' किसी भी प्रकार अन्य समकालीन नाटककारों से कम नहीं असत्य है । लोकप्रियता के साथ ही कला की दृष्टि से भी आपकी कृतियां उच्च कोटि की हैं । हां , इतना अवश्य है कि इन नाटकों की समीक्षा के लिए कला की परख की कसौटी आज की नहीं, वरन् उस युग की नाट्य परिस्थितियों के अनुरूप होनी चाहिए ।

आगा हश्र 'काश्मीरी'

जन्म

६८.आगा साहब का जन्म दिनांक ४ अप्रैल सन् १८७९ ई० अर्थात् ११रबी उन्नीस १२९६ हिजरी शुक्रवार को बनारस में हुआ था । इनके पिता श्री आगा गनी शाह अठारह वर्ष की अवस्था में ही काश्मीर से शॉलों का धंधा लेकर अपने सगे मामा सैयद अहसरशाह उर्फ पीरजी के पास बनारस आ गए थे तथा सन् १८६८ में शेख अब्दुल रहमान 'काश्मीरी' की छोटी पुत्री से विवाह करके यहीं

१-'बेताब'जी की कलम सीधे साफ और सरल शब्दों को लपेटती हुई महज मामूली सी घटना को उठाती हुई चलती है, किन्तु विराम के साथ ही हम एकाएक चौंक जाते हैं , क्योंकि इन सरल सरल शब्दों में सागर की तरह गहरा भाव होता है, विश्व की बड़ी से बड़ी समस्या का उत्तर होता है । इन्हीं नाटकों और कविताओं की सरल पंक्तियों के पीछे से समाज-सुधार की गुलाब के इत्र जैसी खुशबू हमेशा आती रहती है ।' -- केव्ही० चतुर्वेदी -- '६ अपराधी' के सम्बन्ध में ।

२- हिस्ट्री आफ द उर्दू लिटरेचर ,पृ०१२७

स्थायीरूप से बस गए। आगा साहब ने अपने नेत्र सम्पुटों को सर्वप्रथम इसी पवित्र नगर में खोला। अत: यह कथन कि उनका जन्म अमृतसर में हुआ किन्तु सपरिवार बनारस में आकर बस गए[1] -- मिथ्या और निराधार है। मौलवी मिर्जा मुहम्मद जुल्फ़कार 'बनारसी' का फ़ारसी में लिखा जन्मपत्र अभी भी सुरक्षित है।

६६. जैसा कि उस समय अधिकांश मुस्लिम - परिवारों की स्थिति थी, आगा साहब का परिवार भी पूर्णत: धार्मिकता के रंग में डूबा हुआ था। पारिवारिक मनोवृत्तियों के अनुकूल ही हश्र जी की शिक्षा-दीक्षा आरम्भ हुई। धार्मिक ग्रन्थों से उनका अध्ययन प्रारम्भ किया गया। फ़ारसी अरबी की प्रारम्भिक पुस्तकों के साथ ही हश्र जी ने बनारस के जयनारायण हाईस्कूल में अंग्रेजी की शिक्षा भी प्राप्त की। अल्पावस्था से ही मुशायरों में गज़ल पढ़ने का शौक था अस्तु मिर्जा मुहम्मद हसन फ़ाइज़ बनारसी (हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर) के शागिर्द हुए और अपनी प्रारम्भिक गज़लें इन्हीं को दिखायीं।

७०. हश्र जी का पूरा नाम 'आगा मुहम्मदशाह "हश्र" 'काश्मीरी' था' मुहम्मद शाह आगा हश्र 'काश्मीरी' नहीं जैसा कि कृष्णाचार्य ने अपने एक लेख में लिखा है[2]। इनके व्यक्तित्व की पूर्ण झलक पण्डित जनार्दन भट्ट के इस कथन में स्पष्टता के साथ मिलती है जिसे कि उन्होंने हश्र जी के 'आंख का नशा' नाटक के उपरान्त उनसे कलकत्ते में मिलकर निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया --' लुंगी बांधे, नंगे बदन एक मियां दिखलाई पड़े जो रंग के गोरे और शरीर के सुडौल थे। चेहरे की मस्ती, बदन का गठन और सारे अंगों की फड़कन देखकर मालूम होता था कि कोई मस्त हाथी झूम रहा है। आंख से ज्योति निकल रही थी -- एक से कम दूसरी से ज्यादा। मैंने जाते ही पूछा --' क्या आपही का नाम आगा मोहम्मद हश्र 'काश्मीरी' है?' विस्मित हो, रुखाई से उत्तर दिया, जैसे कोई

१- श्रीकृष्णदास--'हमारी नाट्य परम्परा' प्र०सं०, १९५६, पृ०१५६

२- कृष्णाचार्य 'आफताबे मुहब्बत से भी भीष्म पितामह' तक मुहम्मदशाह काश्मीरी'
--धर्मयुग, २७ नवम्बर १९६६, पृ०१८

तकाज़गीर को देखकर घबड़ा जाय और उसको टरकाना चाहे । पर जब उनको मेरे आने का अभिप्राय समझ में आया तो जी खोल कर मिले ।[1]

७१. इनके व्यक्तित्व के विषय में एक बार रिपन थियेट्रिकल कम्पनी (जब कि कम्पनी बनारस आई हुई थी) के मालिक श्री मेहर जी ने अपने हास्य अभिनय के मध्य ही एक गीत -- 'सूरत तेरी काश्मीरी मंगीरी' से 'आगाकर' एक हल्की सी झलक दी ।

नाटक की ओर झुकाव

७२. जिस समय आगा हश्र जयनारायण हाईस्कूल में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी अपने कई नवीन नाटकों सहित बनारस आई । अन्य लोगों के समान ही आगा साहब को भी इसके सर्वप्रशंसित नाटकों को देखने की इच्छा हुई किन्तु टिकट खरीदने को सानुपात में पैसे कम थे, साथ ही कम्पनी में रियायती दर पर टिकट देने की प्रथा न थी, अत: हश्र जी की इच्छा पूर्ति न हो सकी । भावुक किशोर के मन पर आघात-सा लगा । क्षोभ तो था ही अत: मित्रों द्वारा क्रोधाग्नि को और भड़काए जाने पर उन्होंने कम्पनी के विरोध में एक लेख बनारस के ही किसी दैनिक पत्र में निकाला । स्थिति के बढ़ने पर तो उत्तर-प्रत्युत्तर व अनेक आलोचनाएं समालोचनाएं निकलीं । इससे धीरे-धीरे शिक्षा के प्रति उदासीनता बढ़ने लगी व उसी अनुपात में नाटकों के प्रति प्रेम भी अग्रसर होता गया । कम्पनी के 'चन्द्रावली' नाटक (अहसन लखनवी का) के प्रभाव ने इस रुचि को प्रोत्साहन दिया और यही अपनी अन्तिम अवस्था में 'आफ़ताबे मुहब्बत' नाटक के रूप में प्रतिफलित हुई । आगा साहब की इस प्रथम कृति की रचना मित्र मण्डली के लिए हुई थी और उन्हीं के समक्ष क्लब में अभिनीत हुआ । सन् १८६७ में जवाहर प्रेस बनारस से प्रस्तुत नाटक प्रकाशित भी हो चुका है ।

१- सोमनाथ गुप्त--' हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५१, पृ० १५७

७३. श्री कृष्णाचार्य ने अपने एक लेख में लिखा है कि आगा साहब अपने इस प्रथम नाटक (आफताबे मुहब्बत) को 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के रंगमंच पर देखना चाहते थे, किन्तु सफलता न मिली। इससे उत्साही युवक की आकांक्षा और उत्साह मलिन न हुआ, वरन् सम्पूर्ण उत्साह से नाट्य संसार में प्रवेश पाने के लिए शालों के व्यापार को छोड़कर सन् १६०१ में बम्बई जा पहुंचे[1]। यह कारण और तिथि दोनों ही गलत है। वस्तुत: आगा साहब की शिक्षा के प्रति निरन्तर बढ़ती उदासीनता को देखकर पिता आगा गनी शाह ने उनके जीवन को व्यवस्थित करने के विचार से म्युनिसिपिलटी में नौकर रखवाना चाहा और जमानत के रुपए लेकर उनके साथ कार्यालय गए। हश्र जी ने जमा करने के बहाने सब रुपए लेकर पिता को घर भेज दिया। आवेग में इस धन का एक बड़ा भाग बाजार में खर्च कर देने के कारण लज्जित होकर स्वयं दूसरे दिन बम्बई रवाना हो गए। यह सन् १८६८ की बात है[2] १६०१ की नहीं जैसा कि कृष्णाचार्य ने कहा है।

बम्बई पहुंचकर भी हश्र निरुद्देश्य ही घूमते रहे। हां मुशायरों में जाने व पुस्तकें पढ़ने का शौक था। अत: मुशायरों में शायरी आदि पढ़ने व पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनाएं प्रत्यालोचनाएं निकालने के कारण बम्बई की साहित्यिक मण्डली में अवश्य उन्होंने लोकप्रियता प्राप्त कर ली।

७५. जीवनयापन की दृष्टि से आगा साहब अभी तक कोई निश्चित् साधन न खोज पाए थे। किन्तु भाग्य सदैव अन्धकार में ही विलीन नहीं रहता। आगा साहब का जीवन भी परिवर्तित हुआ जब कि वे अचानक ही एक दिन कावसजी पालन जी खटाऊ के पास चाय के समय जा पहुंचे तथा उनके आग्रह पर 'चाय व कॉफी' शीर्षक पर तुरन्त ही एक कविता सुनाकर अपनी प्रतिभा से उन्हें मुग्ध कर लिया व ३५ रुपये महीने पर उन्हीं की कम्पनी के स्थायी नाटककार के रूप में चुन लिए गए। यहीं से आगा साहब के नाटकीय जीवन का आरम्भ हुआ।

१- कृष्णाचार्य---'आफताबे मुहब्बत' से 'भीष्म पितामह' तक मुहम्मदशाह आगा हश्र काश्मीरी' -धर्मयुग, २७ नवम्बर १६५६,पृ०१८

२- श्री अब्दुल कुद्दूस 'नैरंग'- 'स्वर्गीय आगा साहब हश्र', आज, अगस्त १६५४

नाटकीय जीवन

७६. आगा साहब का नाटककाल सन् १८९८ से १९३५ तक अर्थात् ३७ वर्ष की लम्बी अवधि में प्रसारित है। इस मध्य उन्होंने उर्दू व हिन्दी के लगभग छब्बीस नाटकों का प्रणयन किया। 'सिशिर कुमारी' नामक एक अन्य बंगाली नाटक का भी पता चलता है जिसकी लोकप्रियता के विषय में श्री प्रेमशंकर आतर्थी का मत है --' एक समय ऐई सिशिर - कुमारी' बंगाली दर्शक समाजे खुबई जनप्रिय छिल।' यह कोई मौलिक रचना नहीं है, वरन् 'यहूदी की लड़की' का ही बंगाली रूपान्तर है।

७७. आगा साहब की छब्बीस नाट्य रचनाएं[1] होने पर भी नाट्य संसार में उनके नाम से अनेक कृतियां उपलब्ध हैं। अतः उनकी मौलिक रचनाओं के

१-रचनाएं -- 'आफताबे मुहब्बत' ,'मुरीदे शक','मारे आस्तीन','असीरे हिर्स', 'दोरंगी दुनिया उर्फ मीठी छुरी','दामे हुस्न','सुफेद खून','सैदे हवस','ख्वाबे हस्ती' 'खूबसूरत बला','सिल्वर किंग उर्फ जुर्मे वफा','यहूदी की लड़की' , भक्त सूरदास उर्फ बिल्व मंगल','भारत रमणी','मधुर मुरली','भीष्म प्रतिज्ञा' ,'हिन्दुस्तान कदीम व जदीद','तुर्की हूर','पहला प्यार उर्फ संसार चक्र','आंख का नशा', 'सीता वनवास','रुस्तम सोहराब','धर्मी बालक','भारतीय बालक उर्फ समाज का शिकार' ,'दिल की प्यास','भगीरथ गंगा'।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र' ने अपने शोधप्रबन्ध --'हिन्दी रंगमंच और नारायण-प्रसाद बेताब', १९६७ में आगा साहब की बत्तीस कृतियां दी हैं, जो इस प्रकार हैं--

१- 'आफताबे मुहब्बत' - १८९७
२- 'मारे आस्तीन' - १९०३
३- 'मुरीदे शक' - १९०४
४- 'असीरे हिर्स उर्फ जालिम बबैस-१९०५
५- 'सूने नाहक' - १९०५
६- 'मीठी छुरी या दोरंगी दुनिया'-१९०५
७- 'शहीदे नाज' - १९०६
८- 'सुफेद खून या किंग लीयर'१९०७ ८
९- 'सैदे हवस' परिवर्तित रूप 'अंजामे हवस'- १९०८
१०- ,, ,, 'ख्वाबे हस्ती' १९०९-१०
११- 'खूबसूरत बला' - १९११
१२- 'सिल्वर किंग या जुर्मे वफा' १९१२

(शेष आगे पृष्ठ पर देखें)

निश्चय में बड़ी ही कठिनाई पड़ती है । यह कठिनाई केवल आगा साहब के साथ ही नहीं, वरन् व्यावसायिक नाट्य-कम्पनियों के सभी नाटककारों के साथ है, क्योंकि वहां नाटक के प्रकाशन के स्थान पर इसके सफल अभिनय को महत्व दिया जाता था । हश्र जी के साथ यह प्रश्न अधिक प्रखर रूप में सामने आता है । इसके पीछे यह तथ्य भी हो सकता है कि उन्होंने अपनी ही कृतियों के नाम बदलकर या थोड़ा बहुत परिवर्तित करके अपनी ही कम्पनियों (इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी, 'ग्रेट अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी,' ग्रेट शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी) के रंगमंच पर खेला हो या दूसरों के नाटक भी अपनी कम्पनी में अभिनीत किए हों जिससे उन कृतियों को भी आगा हश्र का समझ लिया गया है यथा--'गुलरू जरीना' 'जहरी सांप' ;'शर्म' 'शीरीं फरहाद' आदि । इसके अतिरिक्त आगा साहब के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता थी कि कोमल तथा भावुक मन कवि होने के कारण किसी नाटक की दुर्दशा को वह सहन नहीं कर पाते थे । यदि ऐसी कोई कृति

(विगत पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या-२)

१३- 'सुब परस्त' -- १९१४
१४- 'बिल्व मंगल' -- १९१५
१५- 'यहूदी की लड़की या मशरिकी सितारा' - १९१६
१६- 'भारत रमणी' (बनदेवी) - १९१६
१७- 'अनोखा बलिदान' - १९१७
१८- 'शेर की गरज' - १९१८
१९- 'मातृभक्ति' - १९१९
२०- 'भगीरथ गंगा' - १९२०
२१- 'हिन्दुस्तान' - १९२१
२२- 'तुर्की हूर' - १९२२
२३- 'पहला प्यार' - १९२३
२४- 'आंख का नशा या पति भक्ति' - १९२४
२५- 'सीता बनवास' - १९२६
२६- 'रुस्तम सोहराब' - १९२७
२७- 'भारतीय बालक या समाज का शिकार' - १९२९
२८- 'श्रीकृष्ण सुदामा' - १९२९
२९- 'धर्मी बालक' - १९३०
३०- 'मधुर मुरली' - १९३०
३१- 'दिल की प्यास' - १९३०
३२- 'अरके-रुस्तम सोहराब' का परिवर्तित रूप - १९३०
पृ० २४४-२४५

उनकी दृष्टि-पथ में आती तो उसमें प्राण डालने व पुनः संवारने के लिए उनका मन सदैव उद्विग्न रहता । जब तक कि वे उसका नये सिरे से पुनर्संगठन न कर डालते उनको चैन न मिलता था । इस प्रकार संवारी व सुधारी रचनाओं को भी लोगों ने आगा हश्र की कृतियों में संगृहीत करके उनकी मौलिक रचनाओं के निर्णय को पर्याप्त विवादास्पद बना दिया है ।

आगा हश्र और हिन्दी नाटक

७८. नाटकीय जगत में आगा साहब के आगमन से पूर्व रंगमंच पर उर्दू नाटकों का प्राधान्य था व अनेक कृतिकार इस क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे । उनसे प्रेरित होने से व अपनी भाषा होने के कारण हश्र जी ने भी उर्दू रचनाओं से ही अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया व सोलह कृतियां रंगमंच को अर्पित कीं । किन्तु सन् १९१५ में इस अबाध्य प्रवाह में एक नया मोड़ आया, जब कि इस मान्य कलाकार की मनोवृत्ति का झुकाव हिन्दी नाटकों की ओर उन्मुख होने लगा । भाषा के इस परिवर्तन के पीछे निम्नलिखित कारण कार्यशील थे--

१- अध्ययन के प्रति आगा साहब का गहरा लगाव था । अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं के अनेक ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया, जिससे उनकी रुचि हिन्दुओं के जीवन, उनके आचार-विचार, रीति-नियम, परम्परा आदि की परिपूर्ण जानकारी के प्रति क्रमशः बढ़ती गई ।

२- स्वामी मुरारी देव और पण्डित जगतनारायण नामक हिन्दू मित्रों के धार्मिक आक्षेपों का उत्तर देने की अकुलाहट ।

३- विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी व नारायणप्रसाद 'बेताब' के पौराणिक हिन्दी नाटकों की अतिशय लोकप्रियता व जनता के इन नाटकों के प्रति निरन्तर बढ़ते आकर्षण की प्रेरणा ।

४- जनता की मांग ।

५- नारायण प्रसाद 'बेताब' की इस अवहेलनात्मक उलाहना "-उर्दू आगा साहब की मातृ भाषा है, वो अगर उर्दू में लिखते हैं तो क्या कमाल करते हैं ? अगर हिन्दी में लिखें तो हम भी दाद दें।"[१] से उत्तेजित होकर हिन्दी नाट्य जगत में पदार्पण कर अपूर्व निश्चय," इस नन्हे बच्चे से कह देना कि अब हम भी हिन्दी में ड्रामे लिखेंगे बादि.

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'-हिन्दी रंगमंच और नारायणप्रसाद 'बेताब', शोधप्रबन्ध, १९६७, पृ०२३७

७६. यही निश्चय, धार्मिक हिन्दू ग्रन्थों का अध्ययन, व बनारस के साहित्यिक वातावरण की पृष्ठभूमि - सब एक साथ मिलकर सन् १६१५ में आगा साहब के प्रथम हिन्दी नाटक 'भक्त सूरदास' उर्फ 'बिल्व मंगल' के रूप में प्रस्फुटित हुआ। श्रीमती विद्यावती जी ने 'भारत रमणी' को हश्र जी की प्रथम हिन्दी कृति माना है जो गलत है। 'भारत रमणी' या बनदेवी यद्यपि सन् १६१५ में ही अभिनीत हुआ, किन्तु 'भक्त सूरदास' इसके कुछ समय पूर्व ही रंगमंच पर खिल चुका था। अतः 'भारत रमणी' को उनकी प्रथम हिन्दी कृति नहीं माना जा सकता।

८०. सन् १६१५ से १६३२ तक हिन्दी नाटकों के अपने प्रणयन काल में आगा साहब ने न केवल धार्मिक व पौराणिक वरन् एक सजग कलाकार के रूप में समाज पर दृष्टि दौड़ाते हुए अनेक सामाजिक नाटकों का प्रणयन किया। 'भक्त सूरदास', 'भारत रमणी' व 'सीता बनवास' को छोड़कर जो कि स्वयं आगा साहब की कम्पनी में अभिनीत हुए शेष सभी हिन्दी नाटक कलकत्ते के मैडन थियेटर में लिखे जब कि सन् १६१८ में जे०एफ० मैडन ने एक हजार रुपए महीने पर इन्हें अपने यहां स्थायी नाटककार के रूप में नियुक्त कर लिया था। इस बन्धन से सन् १६२३ में मुक्त होकर भी आगा साहब ने अपनी रचनाएं मैडन थियेटर को नहीं दीं। वस्तुतः यहीं रहकर उन्होंने हिन्दी की सेवा में अनेक पुष्प अर्पित किए जिसकी सुगन्ध काल सीमाओं से आगे आकर साहित्य वाटिका में आज भी फैली हुई है।

'भक्त सूरदास उर्फ बिल्वमंगल' (१६१५)

८१. अपनी ही इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी के लिए हश्र जी ने सन् १६१५ में कलकत्ते में अपना यह पहला हिन्दी नाटक लिखा। प्रथम प्रयास होने पर भी आगा साहब का यह पौराणिक नाटक भाषा, भाव व अभिनेयता इन सभी दृष्टियों से पर्याप्त सम्पन्न है। नाटक के प्रारम्भ में भगवान कृष्ण का शंकर के प्रति यह कथन हिन्दू धर्म के दर्शन (philosophy) के साथ ही साथ घटनाओं के कार्य कारण सम्बन्ध को भी प्रस्तुत करता है --'शंकर।.... यहां हर कार्य का एक कारण होता है।... तुम बिछड़े हुए को बनाने के लिए एक नहीं लाख उपदेश दो, परन्तु जब तक उसके बनने और सुधरने के कार्य इकट्ठे न हो जाएं,

उसका भूल से निकल कर सीधे मार्ग पर आना दुश्वार है । कारण यहां हर बात कर्मानुसार है ।[1] बिल्व मंगल की कथा इन्हीं तथ्यों की सत्यता सिद्ध करती है । शंकर के उपदेश इस वेश्या प्रेमी के लिए अर्थहीन रहते हैं, क्योंकि तब तक सुधार के लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारणों की भूमि तैयार न हो सकी थी । किन्तु एक दिन रात्रि की मौन नीरवता में किलखती धर्म पत्नी को ठुकराकर भयंकर झंझावात तथा घनघोर वर्षा में बढ़ती दरिया को लाश रूपी नौका से तैर कर कोठे तक पहुंचने वाले विल्व के ब्राह्मणत्व पर जब स्वयं चिन्ता प्रहार[2] करती है तो वेश्या की धिक्कार से स्वयमेव ही उसका ब्राह्मणत्व जाग उठता है, भूले हुए कर्तव्यों का स्मरण हो आता है तथा पश्चाताप की भावना कुकर्मों के प्रक्षालन व सत्पथ पर आने के लिए बाध्य करती है । अब उसे शंकर या अन्य किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं, वरन आत्मा की पुकार आत्मबोध कराती है । "ब्राह्मण का पुत्र और चाण्डाल? क्या सचमुच मैं बिल्कुल गिर गया हूं ? क्या धर्म और विद्या के सूर्य में संसार का पालन करने, रक्षा करने, उजाला देने के बदले सिर्फ जलने और जलाने ही की शक्ति रह गई है ?[3]" एक नीच वेश्या ब्राह्मणपुत्र को धर्म शिक्षा दे उसकी प्रतिक्रिया नाटककार ने विल्व की भावनाओं में बड़ी मनोवैज्ञानिक रीति से प्रदर्शित की है । वस्तुतः ये ही भाव बिल्वमंगल के जीवन को परिवर्तित कर देते हैं, जब कि शंकर के उपदेश प्रभावपूर्ण नहीं हो पाते ।

८२. चिन्तामणि वेश्या के परिवर्तन व चारित्रिक उच्चता को अस्वाभाविकता के प्रहार से बचाने के लिए नाटककार ने उसी के मुख से स्पष्टीकरण

१- अंक१, दृश्य २, पृ०४

२- चिन्तामणि--'विचार करो और न्याय करो कि जब ब्राह्मण झूठा खाना, दूसरे का उगला हुआ निवाला नहीं खा सकता तो एक बाजारी वेश्या,..... जिसको कि सैकड़ों कामी कुत्तों ने भिंभोड़ा है --

जिसकी ऐसी नीच अवस्था जिसका ऐसा हाल है ।
जाति का वह ब्राह्मण पर कर्म से चाण्डाल है ।।

अंक २, दृश्य१, पृ०५२

३- अंक २, दृश्य१, पृ०५२

करवा दिया है कि जीवन निर्वाह के लिए उसे इस पेशे को अपनाना पड़ा है अन्यथा उसका खानदान और लहू नीच नहीं है। माता-पिता के धर्म शिक्षण के संस्कार अभी भी उसके मस्तिष्क पर अंकित है।

८३. बिल्वमंगल को आदर्श के धरातल पर ले आकर भी नाटककार ने अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है। भक्ति में डूबने वाला यह भक्त एक सांसारिक जीव ही तो है जो कि कुछ समय पूर्व संसार के राग,द्वेष और कालिमाओं में पूर्णत: निमज्जित रह चुका है। अत: विषय वासनाओं की कीच से निकल आने पर भी यदि उसके निर्मित अथवा अर्जित संस्कार नगर सेठ की पत्नी भागीरथी के रूप-सौन्दर्य में भटका कर उसे कुछ समय के लिए मार्ग से विचलित कर देते हैं तो आश्चर्य क्या ? लेकिन अब वह दुर्बल हृदय नहीं है,[१] वरन् भक्ति के सम्बल ने उसके मन को दृढ़ बना दिया है। अत: पश्चाताप की भावना में अपने दोषी नेत्रों को फोड़कर भक्ति-पथ पर बढ़ता हुआ अन्त में उसी परमसत्ता में विलीन हो जाता है। उसका यह उज्ज्वल पक्ष और दृढ़ता ही उसके चरित्र की महानता है।

भारत रमणी (१६१५)

८४. आगा साहब ने इस नाटक को 'पारसी अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए नहीं जैसा कि 'उग्र' जी का मत है[२] वरन् स्व निर्मित 'इण्डियन शैक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए सन् १६१५ में लिखा था। यही नाटक थोड़े से रूपान्तर के साथ 'वनदेवी' अथवा 'जंगली फूल' नाम से अन्य कम्पनियों के रंगमंच पर भी खेला।

८५. प्रस्तुत पौराणिक नाटक अपने नामानुसार ऋषि पुत्री शान्ता के रूप में भारतीय रमणी के आदर्श को प्रस्तुत करने वाला है जो राजकुमारी सौतेली रोहिणी के सौतिया डाह का शिकार होकर भी उसके प्रति सब प्रकार के दुर्भावों से मुक्त है। तांत्रिक द्वारा अबोध बालकों की हत्या का

१- बिल्व---(स्वगत)' अभागे बिल्वमंगल। पांव तुझे उजाले और आनन्द की तरफ ले जा रहे थे। परन्तु आंखों ने तेरे लिए दु:ख, धिक्कार और नरक का रास्ता तजवीज किया।' अंक २, दृश्य७, पृ०८३

२- पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'--'रंगमंच' --पारसी अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के तीन खेल',आज २१ अगस्त १६२४

दोषारोपण व प्रजावत्सल राजा (श्वसुर) द्वारा प्राणदण्ड के आदेश पर जल्लाद की अनुकम्पा से बचकर वह अपने कर्तव्यों से विमुख नहीं होती । पुरुष वेश धारण कर एक ओर मित्र रूप में पति की प्रसन्नता की प्राणपण से चेष्टा करती है तो दूसरी ओर विद्वेष और कुढ़न की भावना से ऊपर उठकर अपना जीवन नष्ट करने वाली रोहिणी (सौत) को अपनाने व प्रेम करने का परामर्श देती है । कितना ऊंचा आदर्श है? इतना ही नहीं, संकटापन्न अवस्था में अपने पुरुष वेश का रहस्य खोलकर अपने त्याग और बलिदान से न केवल रोहिणी को बचाती है, वरन् दोनों के जीवन को प्रेममय व सुखमय बनाती है । मुसलमान अथवा विजातीय धर्म का होकर भी नाटककार ने भारतीय आत्मा में उतरे पैठकर उसकी नारी जाति के सम्पूर्ण सौन्दर्य को सूक्ष्मता से निहारा और अनुभव किया है तभी वह उसके पूर्ण अंकन में सफल हो सकता है[१]।

८६. सन् १९१३ में स्थापित अपनी 'इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' के १९१७ में टूट जाने के पश्चात् आगा साहब ने सन् १९२५ में पुन: 'दी ग्रेट शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' नाम से एक नई कम्पनी बनारस में स्थापित की जिसने पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत आगा साहब के केवल 'सीता वनवास' (१९२८) का ही अभिनय किया । नाटक की कथा रामायण के उत्तरार्द्ध से ली गई है । रामायण के अतिरिक्त द्विजेन्द्रलाल राय के 'सीता' नाटक ने भी कथानक की दिव्यता तथा आकर्षण के विकास में सहयोग दिया है[२]। सीता परित्याग की कथा लेकर नाटककार ने दर्शकों को पूर्णत: करुण रस में डुबोया है । लव-कुश की संयोजना बीच-बीच में हास्य के मधुर छींटे डालती है । हास्य सरस और व्यंग्य गर्भित है ।

१- 'प्लाट के संगठन, मौलिकता और भाषा की भव्यता की दृष्टि से यह नाटक 'वीर भारत' और 'कृष्ण सुदामा' से अच्छा है । हम जब यह विचार करते हैं कि नाटककार मुसलमान है तब तो नाटक का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है ।
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' --'रंगमंच'- पारसी अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के तीन खेल' ,आज २१ अगस्त १९२४ ।

२- डा० देवर्षि सनाढ्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक',प्र०सं०, १९६१,पृ०२२६

८७. आगा हश्र ने अपने 'सीता बनवास' में पौराणिक कथा से सम्बन्धित कुछ नए प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान देने की चेष्टा की है। अग्नि परीक्षोपरान्त भी कुछ अयोध्यावासियों को राम द्वारा सीता का ग्रहण मान्य नहीं था। पर गृह में रही स्त्री के प्रति उनका मन सशंक ही रहता है। जब उन्होंने स्वयं घटनास्थल पर उसके किसी पहलू को नहीं देखा तो उनके विश्वास का आधार भी क्या हो[1]? उनकी शंकाओं में नाटककार ने प्रजा की मान्यताओं और मनोवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है।

८८. कैकेयी द्वारा राम को बनवास व राम द्वारा सीता का परित्याग-- इन दो घटनाओं को लेकर नाटककार ने दोनों के चारित्रिक अन्तर की सूक्ष्मता व्यक्त की है[2]।

८९. सीता के जीवन की सबसे मर्मस्पर्शी व करुण-कथा को नाटककार ने उसमें पूर्णत: डूबकर व भावमग्न होकर प्रस्तुत किया है। इतने भावमय रूप में नाटककार के दर्शन हमें इससे पूर्व किसी अन्य कृति में नहीं होते। इन्हीं भावनाओं ने पात्रों के चरित्र के कोमल से कोमल अंश को उभारा है। अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति के लिए वशिष्ट मुनि द्वारा पुनर्विवाह के आग्रह पर राम का यह प्रत्युत्तर --'वह एक ही तरह हो सकता है.... कि इस हृदय को जिसमें सीता का प्रेम लहरें मार रहा है, शाप देकर मरु भूमि बना दीजिए...

१- दुर्मुख--'किन्तु रावण विजयी श्रीराम ने अग्नि परीक्षा लेने के बाद पूज्य सीता का ग्रहण किया है।

नगरजन--यह अयोध्या की नहीं, लंका की घटना है।

दुर्मुख -- इसलिए, जिसने अपनी आंखों से नहीं देखा उसके सन्तोष का कारण नहीं हो सकता।' -- अंक १, दृश्य २, पृ० ८

२- लव--'भगवन्! एक बात समझ में नहीं आती कि अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाने के लिए अनजान में रानी कैकेयी से जो अन्याय हुआ है, उसके लिए आपने अपनी रचित रामायण में उसे दुष्ट ठहराया है, किन्तु श्रीराम ने पुण्यमयी देवी को बनवास देकर कैकेयी से भी अधिक कठोरता दिखाई फिर भी आपने रामायण को अक्षर अक्षर में उनकी दया और उनके धर्म का गुण गाया है।

वाल्मीकि--'उनकी हुकूमत तलवार की हुकूमत थी, किन्तु ~~स्व~~ राम का राज्य धर्म का राज्य है... राम ने प्राण प्यारी पत्नी का परित्याग करके संसार को

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

'यह हृदय मन्दिर उसी वनवासिनी का धाम है।
जानकी में जान होगी, राम जब तक राम हैं।'[1]

न केवल राम के एक पत्नीव्रत आदर्श को प्रस्तुत करता है, वरन् सीता के चरित्र की झलक भी दिखाता है। निर्वासन की मर्मान्तक पीड़ा में राम के प्रेम का अटूट विश्वास ही उस वनवासिनी के प्राणों का अवलम्ब है। इस विश्वास पर ही उसके जीवन की आशा टिकी है।

६०. आगा साहब का 'सीता-वनवास' भाषा, भाव, चरित्र व कथा-संगठन तथा अभिनेयता इन सभी दृष्टियों से सौन्दर्यपूर्ण है। उसके इस अपूर्व सौन्दर्य व रंगमंचीय मूल्य पर मुग्ध होकर महाराजा बरखारी ने आठ हजार में हश्र जी से इसे खरीद लिया था।

६१. इन पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त 'मधुर मुरली' (१९१८-१९ के लगभग) 'भगीरथ गंगा'[2] (१९२०) व 'भीष्म प्रतिज्ञा'[3] (१९२४) धार्मिक पौराणिक इतिवृत्तों पर संगठित होकर जे०एफ०मैडन के थियेटर में अभिनीत हुए। राजकुमार देवव्रत की भीषण प्रतिज्ञा ही अन्तिम नाटक के नामकरण का कारण है। धीवर पुत्री मत्स्य गंधा सत्यवती के रूप पर पिता शान्तनु की आसक्ति व राज्य प्रलोभी धीवर की कठोर शर्तों पर पिता की मनो-वेदना से दुःखी होकर देवव्रत राज्य ग्रहण न करने तथा आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा करता है और यह प्रतिज्ञा ही उसके 'भीष्म' नामकरण का उपादान सिद्ध होती है।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्ट अंश)

सिखाया कि प्रजापालन किस प्रकार होता है? और सीता ने पति-आज्ञा शिरोधार्य करके आर्यावर्त्त की ललनाओं को यह शिक्षा दी कि स्वामी की सेवा कैसे की जाती है?' -- अंक २, दृश्य १, पृ० ३३-३४।

१- अंक २, दृश्य २, पृ० ३८-३९

२- 'मधुर मुरली' और 'भगीरथ-गंगा' नाटक प्रस्तुत प्रबन्ध की लेखिका को उपलब्ध नहीं हो सके।

३- ~~प्रस्तुत नाटक की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई, जिसमें पृष्ठ संख्या नहीं दी गई थी।~~

६२. किन्तु भीष्म का मार्ग निष्कंटक नहीं है । उसे काशी-नरेश की पुत्री अम्बा की प्रतिहिंसा का शिकार होना पड़ता है जो देवव्रत द्वारा हरण किए जाने के कारण ही अपने भावी पति शाल्व द्वारा ठुकराई जाती है व भीषण प्रतिज्ञा के कारण देवव्रत द्वारा भी ग्राह्य नहीं होती । --'तुमने मेरा प्रेम नहीं लिया तो अच्छा अब घृणा मिलेगी । ... अब यह जगत शून्य हो गया । कोई नहीं रहा -- केवल अम्बा है, भीष्म है और प्रतिहिंसा है ।' अपनी इसी प्रतिहिंसा की पूर्ति महाभारत युद्ध के समय वह शिखण्डी के रूप में शस्त्र प्रहार करके करती है, जब कि भीष्म ने नारी के प्रति मातृत्व भाव व सम्मान के कारण उसके विरोध में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर रखी है ।

६३. अनेक आलोचकों ने आगा हश्र की पौराणिक कृतियों में 'श्रवणकुमार' को भी संकलित किया है[१] । किन्तु सच तो यह है कि हश्र जी की इस नाम की कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है, वरन् उनके 'हिन्दुस्तान कदीम व जदीद' (प्राचीन और नवीन भारत - १६२१) का प्रथम अंक श्रवणकुमार की कथा को लेकर संगठित हुआ है ।

६४. धर्मग्रन्थों एवं पुराणादि में अपने नाटकों की कथावस्तु के चयन के अतिरिक्त आगा साहब ने समाज पर भी दृष्टिपात किया । उसमें फैली कुरीतियों व बुराइयों को देखा व अनुभव किया तथा उनके दुष्परिणाम दिखाकर

१-(अ) श्रीकृष्णदास--'हमारी नाट्य परम्परा' प्र०सं०, १६५६, पृ० ६१८

(आ) सोमनाथ गुप्त-- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', तृतीय संस्करण, १६५१, पृ० १५६ ।

(इ) डा० रणवीर उपाध्याय--'हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन', प्र०सं० अक्टूबर १६६६, पृ० ३१३

(ई) डा० देवर्षि सनाढ्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक', प्र०सं०, १६६१, पृ० २२७

समाज की आँखें खोलने के लिए सन् १९२४ में 'आंख का नशा'[1] नामक अपने सर्वप्रथम सामाजिक नाटक की रचना की । उससे पूर्व उर्दू में उनके इस प्रकार के प्रयास सराहनीय हो चुके थे, किन्तु हिन्दी में उनका यह पहला प्रयत्न था-जो पर्याप्त सफल रहा । नामकरण के अनुसार ही नाटक में रूपासक्त वेश्या प्रेमी और कामुक पुरुषों का साकार चित्र खींचा गया है । नायक कुशल एक ऐसा व्यक्ति है, जो कामलता वेश्या के बन्धन में अपनी समस्त सम्पत्ति व जीवन सुख का होम करके अन्त में अपनी धर्म परायणा पत्नी सरोजनी द्वारा सही मार्ग पर आने में समर्थ होता है । वेश्या के प्रेम की गहराई नाटककार ने स्वयं कामलता के मुख से व्यक्त करा दी है --' उस धर्म का पालन लग्न मण्डप से जिता तक साथ देने वाली पतिव्रता स्त्रियाँ कर सकती हैं । जरी की साड़ी और सोने की करधनी के लिए धर्म बेचने वाली वेश्या नहीं कर सकती ।'

६५. यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी कमजोरियों और बुराइयों का दूसरों के द्वारा व्यक्तीकरण असह्य होता है । नाटककार ने वेश्या समस्या के मूल में जाने के साथ ही इस मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर वेश्या मनोवृत्ति का अंकन किया है जो वेश्या होकर भी 'वेश्या' शब्द से अपने को अपमानित अनुभव करती है । पति की भीख मांगती सरोजनी के प्रति कामलता का नारी-हृदय द्रवीभूत हो उठता है, क्योंकि वह भी एक स्त्री है जो स्त्री की मनो-वेदना का भली प्रकार अनुभव कर सकती है किन्तु तभी वेश्या शब्द की चोट उसके सारे सद्भावों को भस्मीभूत कर देती है--' क्या कहा ? वेश्या ! ओह, मैं दया करने वाली थी कि तुमने ठीक समय पर थप्पड़ मार कर मेरी भूल मुझे बता दी'। वस्तुत: इस कथन के मूल में समाज के प्रति उसकी प्रतिहिंसा की भावना समाहित है, जिसने अपने छल,प्रपंचात्मक भोली रूप को दिखाकर उन्हें गृहस्थ जीवन से इस दलदल में खींच लिया तथा अपनी दुष्ट भावनाओं की परितृप्ति के लिए वैभव के झूठे आवरण में लपेट कर जीवन के सभी मार्गों को सदा के लिए अवरुद्ध कर दिया

१- प्रस्तुत नाटक की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई जिसमें पृष्ठ संख्या नहीं दी गई थी । अत: उद्धरणों में वहां भी न दी जा सकी ।

वही दाौम इन वेश्याओं को समाज के प्रत्येक व्यक्ति से बदला लेने के लिए बाध्य करता है ।

६६. वेश्या प्रेमी अन्धे मानवों के पतन के अंकन में नाटककार ने "बेनी बाबू" के द्वारा ऐय्याश व्यक्ति के पतन की वह सीमा दिखलाई है, जब कि वह ऐसी स्त्री के पास पहुंच जाता है जो स्वयं उसकी ही जाया(पुत्री) हो । दुलारी के रूप में कुटनियों और कुन्दन के रूप में दुष्ट महाजनों का चित्र प्रस्तुत किया गया है । माधव की सृष्टि आधुनिक 'गलेबाज' नेताओं के सदृश्य धर्म पर लेक्चर फाड़ने के लिए की गई है । नाटक में आदि से अन्त तक नाटकीय घात-प्रतिघातों का अच्छा चित्रण है । नायक कुशल के रूप में भारतीय समाज के पतन व सरोजनी की अपूर्व पतिभक्ति के रूप में नाटककार ने हिन्दू भावनाओं की व्यंजना की है ।

६७. अपने 'धर्मी बालक'[1] नाटक (१६३०) में आगा साहब ने कन्या व उसके पिता की दयनीय दशा के चित्र उतारे हैं । कैलाशनाथ एक अभागा पिता है, जो दु:ख की चहारदीवारी के अन्दर चिन्ता रूपी अंधेरी कोठरी में आबद्ध है, जिसके हाथों में कन्या रूपी बेड़ियाँ हैं व जिसकी बूढ़ी पीठ पर गरीबी के कोड़े अनवरत रूप से पड़ रहे हैं । किन्तु इस असह्य मर्मान्तक पीड़ा में भी उसका पितृ हृदय अपनी असमर्थता का लाभ उठाने वाले महाजन केशव की कुदृष्टि रूपी वज्राघात को अपनी भोली भाली, निरीह, मासूम कन्याओं पर गिरते देखकर बमक उठता है व दबी हुई क्रोधाग्नि अपनी पुत्री गोमती से केशव के विवाह का सन्देश लाने वाले पुरोहित पर भभक उठती है । उसके ये मनोभाव अनमेल विवाह की समस्या के स्पर्श के साथ ही जहां एक ओर पितृ-हृदय की स्वाभाविकता की रक्षा करते हैं, वहां समाज के अन्याय को मूर्त रूप देने के लिए कैलाश को सदैव के लिए धन मद में चूर दुष्ट महाजन का शिकार बना देते हैं । पिता को आपदाओं से ब बचाने के लिए गोमती की आत्महत्या द्वारा नाटककार ने समस्या को चोटी पर पहुंचा दिया है ।

१-हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई ।

६८. नाटक के नामकरण को सार्थक करने वाला पात्र है 'सेवा आश्रम' का सेवक सोना । इसके द्वारा नाटककार ने अत्याचारी समाज से संघर्ष करने के लिए युवकों को जागृति का उपदेश दिया है --' जागो भारत के नौजवानो .... कर्तव्य तुम्हें ललकार रहा है... और मानवता चीख चीख कर तुम्हें पुकार रही है ।'... आगे बढ़ो, युग का नक्शा पलट दो ।' युग की बदलती मान्यताएं नाटककार की दृष्टि से ओझल नहीं रहीं । सेठ मनोहर के पुत्र जगदीश द्वारा उसने युवकों में इस जागृति को अंकुरित होते हुए दिखाया है जो धनमद में डूबे अपने पिता के विरोध पर भी असहाय सावित्री का उद्धार करता है,क्योंकि यह युग की मांग थी । लेकिन सेवा समिति के इन छुट-पुट प्रयासों से जागृति का बीजारोपण भले ही हो जाए समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो सकता , जब तक कि सम्मिलित रूप से सामाजिक स्तर पर कोई भगीरथ प्रयास न किया जाए । 'सामाजिक व्रत किसी व्यक्ति-विशेष का व्रत नहीं.... इसके लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मन, वचन, कर्म,त्याग, तपस्या,सेवा इन सारे अस्त्रों को काम में लाना पड़ेगा ।' अपने इन्हीं विचारों के व्यक्तिकरण में नाटककार ने सोना द्वारा लम्बे-लम्बे भाषण दिलवाए हैं जो नाटक की अभिनेयता में थोड़ा व्याघात उत्पन्न करते हैं, वैसे भाषा,चरित्र व कथा संगठन की दृष्टि से नाटक उत्तम है ।

'दिल की प्यास' (१९३२)

६९. आगा साहब का अन्तिम सर्वप्रसिद्ध सामाजिक नाटक है जिसमें नाटककार ने कृष्णा व मनोरमा द्वारा भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों की झांकी प्रस्तुत की है । कृष्णा के लिए पति की प्रसन्नता ही जीवन का सबसे बड़ा सुख है । इसके लिए वह न केवल अपने अधिकारों को सहर्ष मनोरमा को दे देती है,वरन् अपने को न रोक पाने के कारण पुरुष वेश धारण करके सेवक के रूप में पति की परिचर्या करती है, जब कि मनोरमा को रुग्ण पति के साथ बंध कर अपनी स्वतन्त्रता का हनन किसी भी मूल्य पर सह्य नहीं । उसके लिए आत्म स्वतन्त्रता व स्वच्छन्दता ही सर्वस्व है । नाटक के अन्त में मदन के हृदय पर

कृष्णा की विजय दिखाकर नाटककार ने भारतीय सभ्यता व आदर्शों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है । किन्तु उसका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है । वह समय के साथ चलना चाहता है । डा० गणेश के द्वारा उसने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रकट कर दिया है कि हम पसन्द करें या न करें किन्तु हिन्दुस्तान धीरे-धीरे बदल रहा है । अत: जो लोग जबान या कलम से इस परिवर्तन को रोकना चाहते हैं वे तूफ़ान में गिरह दे रहे हैं । उन्हें 'सिवलीजेशन' को कोसने के स्थान पर प्रयत्न करना चाहिए कि यूरोप से आई हुई आज़ादी की लहर भारत के शरीर पर जमे हुए मैल के साथ ही भारत की आत्मा की खूबसूरती को भी बहा न ले जाए । 'एज्यूकेशन' के बाद भी भारत की औरत 'औरत' ही रहे ।

१००. नाटक के नामकरण की सार्थकता के आधार पर घटनाओं के समस्त उतार-चढ़ाव व नाटक के अन्त में उसके प्रतिफलन को नाटककार ने मनोरमा के प्रति शंकरी के इस छोटे से कथन में पूर्णत: समाहित कर दिया है --'सुनो, इस घर में तीन प्यासे थे, तुम्हें उनकी दौलत की प्यास थी, इन्हें फैशन की और इस देवी को पतिभक्ति की । तीनों के 'दिल की प्यास' आज बुझ गई । तुम्हारी प्यास धिक्कार के घूंट से, इनकी प्यास पछतावे के आंसुओं से और इस देवी के 'दिल की प्यास' पति मिलन की बरकत से ।'

१०१. आगा साहब का 'भारतीय बालक' (१९३२) एवं उपर्युक्त समस्त सामाजिक नाटक मैडन थियेटर के रंगमंच पर खिले । उस समय हश्र जी कम्पनी के स्थायी नाटककार नहीं थे । लेकिन सन् १९२३ में इस पद से त्याग करने के पश्चात् भी उन्होंने रुपए लेकर मैडन को ही अपनी कृतियां दीं ।

१०२. सन् १९३२ के पश्चात् रंगमंच से सम्बन्ध विच्छेद करके हश्र जी ने नाटकों की रचना सिने-जगत के लिए की व 'ईस्ट इण्डिया' कम्पनी के लिए 'शीरीं फरहाद', 'औरत का प्यार', 'न्यू थियेटर्स' के लिए 'यहूदी की लड़की', 'बागी तूफान', 'चण्डीदास', 'किस्मत का शिकार' आदि नाटक लिखे । सन् १९३४ में आगा साहब ने 'हश्र पिक्चर्स' फिल्म कम्पनी बनाई । इसके लिए 'भीष्म-पितामह' की शूटिंग हो रही थी कि २८ अप्रैल १९३५ को बीच में ही उनकी मृत्यु हो गई ।

राधेश्याम 'कथावाचक'

१०३. राधेश्याम जी का जन्म बरेली के बिहारीपुर मोहल्ले के एक छोटे से कच्चे व खपरैल वाले मकान में सोमवार २५ नवम्बर सन् १८९० को हुआ। पिता श्री पण्डित बांकेलाल जी व माता श्रीमती रामप्यारी देवी थीं।

१०४. हिन्दी-उर्दू की प्रारम्भिक शिक्षा को घर में पूरा करते समय ही बांकेलाल जी ने, जो संगीत के अनन्य प्रेमी थे, अपने प्रिय पुत्र को यह थाती सौंपने की चेष्टा की। सरस्वती का प्रिय पुत्र भला अफल कैसे होता? आठ वर्ष की अल्पायु में ही उसकी मधुर कंठ ध्वनि जन मानस की प्रशंसा की अधिकारिणी हो गई। संगीत के प्रति अपनी ~~जन-मानस~~ तन्मयता एवं अनन्यता को लेखक ने स्वयं वंश परम्परा का प्रभाव बताया है[१]।

१०५.

नाटकों के प्रति झुकाव

१०५. 'कथावाचक' जी के खपरैल वाले मकान के पूरब में समीप ही 'राजा चित्रकूट का महल' नाम से एक बड़ा भवन था। नाट्य व संगीत प्रेमी बरेली की जनता के लिए नाट्य कम्पनियां इस महल में आकर ठहरती व रिहर्सलें करती थीं। उनकी आवाजों ने संगीत प्रेमी इस किशोर के मन में भी नाट्य प्रेम का बीज बो दिया। जो आगे न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर तीन रात लगातार 'चन्द्रावली', 'अलाउद्दीन' व 'अलीबाबा' के अभिनयों से अंकुरित होकर स्वयंभी लहलहाने के लिए मचल उठा। जब कि शरीर की अवस्था केवल आठ वर्ष की ही थी।

१०६. दो तीन वर्षोपरान्त आगा हश्र 'काश्मीरी' रचित 'न्यू अल्फ्रेड' का 'खूबसूरत बला' नाटक देखने का अवसर मिला तो किशोर मन को दूसरे क्षेत्र में पदार्पण की तीव्र अभिलाषा हुई --' वास्तव में 'खूबसूरत बला' नाटक देखकर मुझे एक उत्कट उत्कंठा हो गई कि इस दरिया में कूदूंगा। हिन्दी के

१- रग रग में यह तपिश जो समाई हुई सी है।
यह मय तो पी नहीं है, पिलाई हुई सी है।
कथावाचक,-मेरा नाटककाल, प्र०सं०१९५७,पृ०३

प्रेम तो मेरा बढ़ ही रहा था- हिन्दी ही के नाटक का 'तोंबा' छाती के नीचे रखकर इस दरिया में तैरने का मंसूबा बांध रहा था[1]। इन मंसूबों को सन् १६१०-११ में बाबू नानकचन्द खत्री की 'न्यू अलबर्ट' कम्पनी के 'रामायण' नाटक के संशोधन में साकार होने का अवसर भी मिल गया। इस प्रारम्भिक प्रयत्न ने ही एक कथाकार की जीवनधारा को नाटक की ओर मोड़ दिया।

नाटककार राधेश्याम 'कथावाचक'

१०७. 'कथावाचक' के नाटकीय जीवन का आरम्भ किसी मौलिक रचना से न होकर न्यू अलबर्ट के 'रामायण' नाटक के संशोधन से हुआ था। केवल रचना में सुधार ही नहीं, वरन् उसका निर्देशन भार (Direction) भी संशोधनकार को ही उठाना पड़ा। नाटक संसार में उनका यही प्रथम प्रयास था। ~~नाटक संसार में उनका यही प्रथम~~ पर्याप्त लोकप्रिय हुआ व अब तक का कथावाचक नाटककार के रूप में जनता के समक्ष आया।

१०८. न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के नाट्य प्रयोगों की प्रेरणा पर इस ओर प्रयास करने वाले 'कथावाचक' ने अपने नाटकीय जीवन में 'सूर विजय', 'व्याकुल भारत', 'कौरन्थियन' और 'ग्रेट शाहजहां थियेट्रिकल कम्पनी' के अतिरिक्त सर्वाधिक सेवा 'न्यू अल्फ्रेड' की की थी। सन् १६१६ से फरवरी १६३० तक, आपकी कृतियों में से अधिकांश इसी के रंगमंच पर लिखी। निम्न कृतियां उपलब्ध हैं।

वीर अभिमन्यु (१६१६)

१०९. राधेश्याम जी का यह प्रथम मौलिक नाटक है, जिसकी रचना में काफी समय लगा। वस्तुत: यह उनके शौक का एक लैसन था, जल्दी या पाबन्दी की वस्तु नहीं। न्यू अलबर्ट के लिए संरचित होने वाला प्रस्तुत पौराणिक नाटक सन् १६११ में आरम्भ होकर असमय में कम्पनी के विघटन हो जाने के कारण

१- डा० देवर्षि सनाढ्य- हिन्दी के पौराणिक नाटक प्र०सं०, सम्वत २०१७, पृ० २२६

काट-छांट,रूपान्तर प्रकारान्तरों के पश्चात् शनिवार ४ फरवरी १९१६ को बसन्त पंचमी को दिन 'न्यू अल्फ्रेड' के द्वारा संगम थियेटर दिल्ली में सर्वप्रथम अभिनीत हुआ। नाटक का 'कन्ट्रेक्ट' सोराबजी (Director) से सन् १९१३ में हो ही चुका था। अत: इस 'शौक के लैसन' का रचना-काल १९१४ के लगभग मानना किसी भी दृष्टि से तर्क संगत नहीं है।

११०. अभिनय में भाग लेने वाले कलाकारों में मुख्य थे-- अम्बू लाल-- अभिमन्यु, ऐलाज़र -- अर्जुन,अब्दुल रहमान काबुली-- भीम,जगन्नाथ--सुभद्रा, मास्टर निसार-- उत्तरा, रियाज़ -- युधिष्ठिर,मगनलाल-- द्रोणाचार्य,अमर भाई-जयद्रथ, गंगाप्रसाद भाई -- शंकर,सोराबजी ढेढी-- सटपट सिंह, व पुरुषोत्तम-- सुन्दरी (ये दोनों कॉमिक के पात्र थे) आदि।

१११. नाटक के इतिवृत्त का चयन महाभारत के अभिमन्यु पर्व के महाभारत द्रोण पर्व(३३,४६,३०) से किया गया है। वीरत्व तथा पराक्रम की मूर्ति अभिमन्यु की कथा द्वारा अपने अलसाये देशवासियों में चेतना फूंककर उन्हें देशहित के लिए कटिबद्ध[१] करने के साथ ही उत्तरा की कथा द्वारा श्रृंगार रस की अश्लीलता का परिमार्जन भी नाटककार का उद्देश्य था।

११२. अर्जुन के संसप्तकों से युद्ध पर चले जाने के उपरान्त कौरवों के षड्यन्त्र से पितृ-कुल के गौरव की रक्षा हेतु अभिमन्यु की पितृ जनों के समक्ष प्रतिज्ञा,चक्रव्यूह भेदन के लिए प्रस्थान, वहां उसका शौर्य-पराक्रम: व क्षत्रियत्व की उदात्तता, सप्त महारथियों के एक साथ आक्रमण से नि:शस्त्र अभिमन्यु की मृत्यु, पुत्रशोक में अर्जुन का जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा व उसकी पूर्ति में कृष्ण की सहायता --नाटक के मुख्य कथासूत्र हैं। मूल कथा से भिन्न 'बहादुर सुन्दरी' का प्रहसन भी चलता है जिसे लाहौर के श्री जम्बूनाथ ने लेखक की आज्ञा पर अलग से प्रकाशित कराया। हास्य कथा के मुख्य पात्रों द्वारा नाटककार ने खुशामदी व 'जीहुज़ूरी' करने वाले सरकार परस्तों का उपहास किया है। चरित्रनायक अभिमन्यु की मृत्यु प्रथमांक में ही हो जाती है किन्तु

१- "यदि हमारे वीर बलवान का गुणगान सुनकर श्रोताओं में वीर रस फलक आये और यह रसिक स्वभाव वीर स्वभाव होकर भारत सरकार की ओर से भारत के शत्रुओं का युद्ध तोड़ने के लिए 'बेटिल फील्ड' में पहुंच जाए तो अच्छा है।"
-- प्रस्तावना,पृ०३

अर्जुन की प्रतिज्ञा उसकी युद्ध जनित वीर गति का ही प्रतिफलन है, अत: नाटक के नामकरण में शंका करना निर्मूल है ।

११३. हिन्दी के अनेक आलोचकों ने 'कथावाचक' के इस नाटक को हिन्दी के प्रथम नाटक का गौरव दिया है । सम्भवत: ये विद्वतगण भूल गए कि इससे पूर्व 'बेताब' का 'महाभारत' (१९१३) व आगा साहब की कुछ रचनाएं अभिनीत हो चुकी थीं । हां यह अवश्य है कि उनकी भाषा का आदर्श था 'न ठेठ हिन्दी न खालिस उर्दू' -- वरन् वे एक 'मिली - जुली' जिसे हिन्दुस्तानी भाषा कहना अधिक समीचीन होगा- प्रयुक्त करते थे, जब कि 'रामायण' के प्रणेता व धार्मिक वृत्ति वाले 'कथावाचक' अपनी रचनाओं को अधिक परिमार्जित हिन्दी से सम्पन्न करना चाहते थे । इस दृष्टि से उनके 'वीर अभिमन्यु' का अवश्य बहुत महत्व है । इतनी अधिक हिन्दी से पूर्ण अन्य कोई नाटक इसके पूर्व हिन्दी रंगमंच पर नहीं आया था । कम्पनी मालिक माणिकजी जीवनजी मास्टर के प्रति निर्देशक सोराब जी का यह कथन--'अधिक हिन्दी स्टेज पर पहुंचाकर हम परीक्षण कर रहे हैं,कर तो अच्छा ही रहे हैं अब भगवान जाने'[१] उस समय की भाषा की बदलती मनोवृत्ति और 'वीर अभिमन्यु' के इस क्षेत्र में योगदान का सूचक है । यहां 'अधिक हिन्दी' व 'परीक्षण' शब्द ध्यान में देने योग्य है । प्रेमचन्द जी ने भी इसके इस योगदान को स्वीकार किया है --' हम समझते हैं इससे पहले इतने हिन्दात्व का कोई नाटक पारसी कम्पनियों के स्टेज पर नहीं आया ।'[२]

११४. नाटक की सफलता का मुख्य आधार है कि न केवल रचना में वरन् अभिनय में भी 'हिन्दू और हिन्दी' का पूरा ध्यान रखा गया था । नाटककार ने प्रारम्भ में ही नट के मुख से कहलवा दिया है कि ' यह हिन्दू नाटक है । इसमें हिन्दी भाषा ही प्रधान है । पात्रों को समझा देना कि हाव-भाव में और उच्चारण में हिन्दी और हिन्दू जाति की प्रतिष्ठा का ध्यान रहे[३] ।' इसमें,पद्यमय कथोपकथन , अलौकिकता व आश्चर्यकारी दृश्यों का पर्याप्त विधान है, फिर भी संगठन, चरित्रों के विकास व पौराणिक आदर्श की दृष्टि से नाटक उत्तम है ।

१- कथावाचक -- मेरा नाटक काल' , श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्र०सं० १९५७,पृ०६०

२- हिन्दी रंगमंच (लेख) 'माधुरी, वर्ष-८, संख्या ६

३- मंगलाचरण,पृ०५

भक्त प्रह्लाद (१६२१)

११५. श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध पर संगठित होने वाला यह पौराणिक नाटक श्री विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' की 'व्याकुल भारत' थियेट्रिकल कम्पनी के लिए सन् १६१७ में लिखना प्रारम्भ हुआ था। लेकिन रचना के पूरा होने से पूर्व ही 'व्याकुल' जी ने अस्वस्थता के कारण कम्पनी से सम्बन्धविच्छेद कर लिया। भागीदारों की फूट के कारण कम्पनी में अस्तव्यस्तता आ गई। ऐसी स्थिति में 'कथावाचक' ने 'व्याकुल भारत' की अपेक्षा न्यू अल्फ्रेड को नाटक देना उचित समझा जहां इससे पूर्व उनका 'वीर अभिमन्यु' पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। कम्पनी ने सन् १६२१ में अहमदाबाद के अपने मास्टर थियेटर (कम्पनी का अपना स्थायी रंगमंच) में नाटक का अभिनय किया। भाग लेने वाले कलाकारों में मुख्य थे-- पुरुषोत्तम मारवाड़ी -प्रह्लाद, फूलचन्द मारवाड़ी - श्यामलता, शाकिर मार्ई-हिरण्यकशिपु आदि।

११६. नाटक का उद्देश्य भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करना है। अहंकारी और स्वयं को सर्वेश मानने वाले हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद के सुकोमल किन्तु राक्षसी वैभव के संकुचित वातावरण में पालित मन में भक्ति का बीजारोपण करने के लिए नाटककार ने प्रेममूर्ति कुम्हारी की कथा की अवतारणा की है जो उसके संस्कारों को जागृत करके सदैव के लिए अपने प्रभु में लीन हो जाती है। वस्तुत: उसके चरित्र की यही चरम सीमा है जो हमारे मन के कोमलतम अंग को स्पर्श करती है। स्वयं नाटककार ने इस दृश्य को अपने 'प्यार की वस्तु' कहा है। बीज के अंकुरण के पश्चात् सत्याग्रही प्रह्लाद का भक्ति की उच्चता को प्राप्त करने के लिए पिता प्रदत्त कष्टों को झेलना नाटक की मुख्य कथावस्तु है। लोमीराम और चंचला के द्वारा हास्य सृष्टि की गई है। नाम और दौलत के संघर्ष को लेकर चलने वाली यह कथा निरर्थक नहीं है। दोनों के स्त्रीकरण के समाधान के साथ नारी के ममत्व व स्नेह को ऊंचा स्थान देकर मूल कथा के साथ अनुस्यूत किया गया है।

११७. नाटक का स्वरूप कुछ विस्तृत है, कारण अनेक प्रकार के विचारों के प्रतिपादन की चेष्टा की गई है मुख्य हैं-- सन् १६२० के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन का प्रतिबिम्ब (प्रह्लाद की कथा द्वारा), नारी प्रकृति के विविध-

रूपों के दर्शन के साथ उसमें उद्भुत होने वाली जागरणशीलता का अंकन । वस्तुत: वे सभी विचार जो नाटक में विभिन्न कथाओं, उपकथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं-- निम्नलिखित हैं--

१- भक्ति की श्रेष्ठता-(आधिकारिक कथा)-प्रह्लाद,कुम्हारी-प्रमोद द्वारा ।

२- गांधी का सत्याग्रह--प्रह्लाद, प्रमोद व अन्य बालकगणों द्वारा ।

३- नारी और प्रेम-- (१) मातृ हृदय की वत्सलता } श्यामलता के द्वारा
(२) प्रति प्रेम की एकाग्रता और तन्मयता }

४- नारी की प्रतिकारात्मक और विद्वेषात्मक प्रवृत्ति -ढुण्ढा द्वारा ।

५- नारी की जागरणशीलता-- ब्राह्मण पत्नियां इसका प्रमाण हैं

६- वेदान्तिक विचार (१) ईश्वर निराकार और साकार दोनों एक रूप है ।
(२) ईश्वर सत् रज तम इन तीनों गुणों में वर्तमान है किन्तु ये तीनों गुण उसमें नहीं ।

७- ब्राह्मणों की दुर्दशा--उनकी चाटुकारिता । पाण्डे इसका प्रतीक है जो हिरण्यकशिपु की खुशामद में सत्य व धर्म को भी तिलांजलि दे देता है ।

इनके अतिरिक्त गुरु सम्मान, क्षात्रिय धर्म, ईश्वर प्रार्थना गोपालन, स्वातन्त्र्य - अनुराग, आत्मपरता, स्त्रियों के धर्मशास्त्र आदि पर भी फुटकर रूप में नाटककार ने कुछ संक्षिप्त प्रसंग रखे हैं ।

११८. दशरथ ओझा ने 'कथावाचक' के नाटकों को वर्तमान से विच्छिन्न माना है । उनके अनुसार समाज के दैनिक जीवन से प्राय: उनका सम्बन्ध नहीं रहता । यह धारणा आधारहीन है । सत्याग्रह, नारी- चेतना ,सामाजिक कार्य में उनके उतरने का आग्रह आदि प्रसंग इस बात के प्रमाण है । वस्तुत: प्रस्तुत नाटक नारी महात्म्य का गुणानुवाद है ।

११९. नाटक का रूप विस्तृत है । गीत व पद्यात्मक संवाद पर्याप्त है । अधिकांश गीत भक्ति प्रधान है । इन सब के ~~दृष्टान्त~~ उपरान्त भी नाटक कलात्मक दृष्टि से सुन्दर है । विद्यार्थी जी ने तो इसे आने वाले भारत के रूप की भविष्यवाणी कहा है ।

परिवर्तन (१६२५)

१२०. लेखक का प्रथम सामाजिक नाटक है जो 'वीर अभिमन्यु' और 'श्रवणकुमार' के पश्चात् सोराबजी की इस चुनौती --'यह तो धार्मिक नाटक है। कथावाचक के लिए ऐसे नाटक लिख देना कोई कठिन काम नहीं। सामाजिक नाटक लिखकर नाम कमाओ तब जानें'[1] पर संगठित किया गया था। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी से 'कथावाचक' के १५ नवम्बर १६२४ को नाटककार के रूप में स्थायी बन्धनों के पश्चात् यह मार्च १६२५ को दिल्ली में अभिनीत हुआ। इस एक रचना के उपरान्त कम्पनी का यह नाटककार नाट्य लेखन के उत्तरदायित्व के साथ ही १ अप्रैल १६२५ से न्यू अल्फ्रेड का निर्देशक (Director) भी बन बैठा। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का यह मत कि नाटक १६१४ में लिखा जा चुका था किन्तु किन्हीं कारणों वश 'प्रह्लाद' के पश्चात् सन् १६२५ में अभिनीत हुआ[2] तथ्यहीन है। वस्तुतः उस समय तो 'कथावाचक' अपने शौक के लेखन 'वीर अभिमन्यु' में व्यस्त थे।

१२१. अभिनय करने वाले कलाकार थे, शाकिर भाई-- श्यामलाल, नर्मदाशंकर-- लक्ष्मी, चौबे रामकृष्ण-- ज्ञानचन्द वकील, छन्नलाल-- गोल्डेन गौली, इब्राहीम मोटे-- शंभुदादा आदि।

१२२. यह एक सामाजिक नाटक है जिसमें वेश्या प्रेम और कुसंगति के परिणाम दर्शाये गए हैं। कथावस्तु को देखते हुए नामकरण पूर्णतः सार्थक है, परिवर्तन-- तब्दीली अर्थात् परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पात्रों का बदलना। नाटक के सभी मुख्य पात्र इस कसौटी पर कसे गए हैं। सच्चरित्र नायक श्यामलाल का कुसंगति से उद्भुत वेश्या प्रेम में पड़कर पतित होना --तदुपरान्त पश्चाताप और सन्यास, प्रतिनायिका चन्दा का लक्ष्मी की बहन होकर भी मास्टर बिहारीलाल के दबाव में वेश्या बनना- तत्पश्चात् अपने कुपरिणामों को देखकर सन्यासिनी बनना इसी परिवर्तन का प्रमाण है।

१- कथावाचक, मेरा नाटककाल, प्र०सं०१६५७,पृ०१०३
२- 'परिवर्तन' नाटक की भूमिका-- कौशिक

१२३. नाटककार ने वेश्याप्रथा व वेश्या प्रेम की समस्याएं अवश्य उठाई हैं, किन्तु उनका समाधान काल्पनिक सा है। श्यामलाल चन्दा के प्रेम में पड़कर जीवन की सम्पूर्ण सुख-शान्ति का होम कर देता है। अन्त में शान्ति हेतु संसार त्याग कर सन्यासी बनता है। यही है उसका समाधान जो कि पूर्णत: अस्वाभाविक है।

१२४. वेश्या प्रथा के उत्तरदायी समाज के वे कपटी लोग ठहराए गये हैं, जो असहाय और अनाथ बालाओं को फंसाकर उनसे यह घृणित कर्म कराते हैं और स्वयं उनकी धन सम्पत्ति पर पर ऐश करते हैं। बिहारीलाल इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। अपने लाभ हेतु वह चन्दा को इस कुकर्म के लिए बाध्य करता है। कन्या विश्व-विधालय के प्रसंग द्वारा नाटककार ने जो समाधान प्रस्तुत किया है कि वे सुधर कर समाज कल्याण करें-- पूर्णत: अस्वाभाविक है। एक वेश्या के द्वारा देश की बहनों की सेवा हिन्दू समाज करायगा ? इस प्रश्न से यद्यपि नाटककार ने आंखें नहीं बन्द की हैं, किन्तु ज्ञानचन्द्र के द्वारा उसका जो प्रत्युत्तर दिया है, उसमें स्थायित्व अथवा ठोसता के स्थान पर आदर्श का आग्रह ही अधिक है[१]।

१२५. चरित्रों के परिवर्तन के लिए नाटककार ने पश्चाताप के साधन को अपनाया गया है और नाटकीय यातनाओं का स्वप्न दिखाकर अन्य सामाजिकों के मन में वितृष्णा उत्पन्न करनी चाही है। आज की फैशनप्रियता का उपहास करने के लिए उत्पन्न माया और रमानी की हास्यकथा का संयोजन किया गया है।

१२६. नाटक में आकस्मिकता का पूर्ण योग है। फिर भी संगठन और चरित्र के विकास की दृष्टि से नाटक उत्तम है।

१- ज्ञानचन्द्र--'करायगा। इसका मैं साक्षी हूं। वेश्या जब थी तब थी। अब यह एक देवी है। जिस हिन्दू जाति में शबरी और गणिका की कथा आदर के साथ गाई जाती है, उसी अमर- उदार हिन्दू जाति के पवित्र इतिहास में अब इस देवी को नाम मिलेगा।'

श्रीकृष्णावतार (१९२९)

१२७. श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध पर आधारित श्रीकृष्ण लीला नाटकावली का यह प्रथम भाग १९२९ में सर्वप्रथम अमृतसर में दशहरे पर अभिनीत हुआ व कई महीने तक सफलता के साथ चला। वस्तुत: यह 'सूर विजय' नाटक समाज के लिए दस बारह दिन के अल्पकाल में तैयार किए गए 'बालकृष्ण' नाटक का परिवर्द्धित रूप है।

१२८. नाटक का उद्देश्य धार्मिक है। जन-जन को व्याकुल कराह ने उस प्रभु को पृथ्वी पर आने के लिए बाध्य किया। किन्तु नाटक का नाम स्कपणीय सा है, क्योंकि कृष्ण ने अवतार लेकर जितने कृत्य किए इसमें उन सब का नहीं, मात्र कंस वध का समावेश है। इसी की पूर्ति नाटककार ने अपने आगे के दोनों भागों (रुक्मिणी मंगल और द्रौपदी स्वयम्बर) में की तथा कृष्ण चरित का पूरा रूप दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया। प्रथमांक में कंस के अत्याचार और कृष्ण का अवतार द्वितीय में कृष्ण की बाल लीलाएं-- इनमें कंदुक क्रीड़ा के अतिरिक्त सभी कंस से सम्बन्धित हैं, तृतीयांक में कृष्ण का वासुदेव-देवकी को बन्धन रहित करना और कंस वध की कथा का नाटकीकरण किया गया है।

१२९. अन्य नाटकों के समान ही प्रस्तुत रचना भी वर्तमान से विलग नहीं है। यत्र-तत्र वर्तमान राजनीति के संकेत मिलते हैं। कंस के अत्याचारों से प्रजा का हाहाकार, नारद का तत्कालीन नेताओं के रूप में उन्हें अहिंसा व्रत पर स्थिर रहने और सत्याग्रही बनने का उपदेश, कंस का अक्रूर और श्रीदामा को पदवी आदि का प्रलोभन देकर भेद नीति से फोड़ना -- इस बात के प्रमाण हैं। अक्रूर का व्यवहार इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमंत्री का स्मरण कराता है। प्रजाभक्त नेताओं को जेल में ठूंस कर जेल का अंकन[१] वस्तुत: उस समय के सत्याग्रह व असहयोग

१- 'जिनके बल से देश में था सद्भाव सुकाल
काल कोठरी में पड़े वे भारत के लाल।
+ + +
लाल भूखे ही नहीं डंडों का सहते भार हैं।
मौत के रहा है मानो इस तरह के वार हैं।'
-- अंक १, दृश्य ६, पृ० ४६

आन्दोलन के शस्त्र को लेकर स्वातन्त्र्य संग्राम में कूदने वाले सेनानियों व प्रतिपक्षी सरकार का चित्रण है ।

१३०. नाटककार ने इस रचना के द्वारा अपने धार्मिक विचारों का प्रतिपादन किया है । यही कारण है महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने इसे 'चलता फिरता हुआ सनातन धर्म मण्डल' कहा है ।

रुक्मिणी मंगल (१६२७)

१३१. श्रीकृष्णलीला नाटकावली का यह द्वितीय पुष्प भी पूर्ववर्ती रचनाओं के सदृश्य 'न्यु अल्फ्रेड' के रंगमंच पर सन् १६२७ की विजयादशमी को स्वयं लेखक के निर्देशन में अभिनीत हुआ ।

१३२. कृष्ण का द्वारकागमन, प्रेममयी गोपबालाओं की विरह व्यथा, कृष्ण के हृदय की कसक तथा राजनीति में आकर राजकार्यभार संभालने पर भी उद्विग्न गोपाओं की स्मृति से हृदय में उठे आन्दोलन, उद्धव के गर्व खण्डनार्थ योग सन्देश लेकर उन्हें मथुरा भेजना व उद्धव के अहंकार का हनन तक की कथावस्तु प्रथमांक में प्रस्तुत की है, जिसका रुक्मिणी मंगल से कोई सम्बन्ध नहीं है । वस्तुत: यह श्रीकृष्ण के प्रथम भाग में वर्णित चरित्र की पूर्ति के हेतु है, क्योंकि 'कथावाचक' जी सम्पूर्ण कृष्ण चरित्र का प्रस्तुतीकरण करना चाहते थे ।

१३३. नामकरण की दृष्टि से नाटक का द्वितीयांक मुख्य है । कृष्ण का रुक्मिणी को अपनाना और बीच की बाधास्वरूप शक्तियों का संहार यही नाटक का मुख्य उद्देश्य है जिसे प्रस्तावना में नाटककार ने भगवान-अवतार के उद्देश्य[1] में प्रकट कर दिया है । स्वयं कृष्ण के मुख से भी इसी प्रकार के विचार[2] व्यक्त किए गए हैं । तृतीयांक में शम्बरासुर के वध की कथा है व प्रद्युम्न रंगमंच पर आता है ।

१- ' जब जब होती हानि धर्म की तब तब प्रभु लेते अवतार ।
पीर मिटाते साधु जनों की हरते भूमण्डल का भार '— प्रस्तावना

२- 'आज भी यही उद्देश्य है कि संसार वासियों को उनके कर्तव्य का ज्ञान कराऊं । कर्तव्य का ज्ञान कराने की अवस्था में यदि शारीरिक बल की कमी उनमें देखूंगा तो उसकी पूर्ति भी मुझे अवश्य करानी पड़ेगी ।'

अंक१, दृश्य१, पृ०६

प्रथमांक का द्वितीयांक से सामन्जस्य करने के लिए नाटककार ने जरासन्ध की पुत्रियों अस्ति-प्राप्ति(कंस की पत्नियां) का वैधव्य दिखाकर उस अवसर पर एकत्रित शिशुपाल व रुक्मी के मन में कृष्ण के प्रति वैर भाव के बीज वपन किए हैं। यहां शक्तियां जरासन्ध,कालयवन, शिशुपाल व रुक्मी, कृष्ण रुक्मिणी के बीच की आधार हैं। रुक्मी और उसकी पत्नी सुलेखा के संवादों द्वारा हास्य की सृष्टि हुई की गई है। मूल से अनुस्यूत यह हास्य कथा मन को गुदगुदाने वाला व व्यंग्यपूर्ण है। पहले अंक में महाशक्ति राधा का दर्शन कराके दोनों के सम्बन्धों को स्पष्ट करता हुआ नाटक महाशक्ति और महाप्रभु की युगल झांकी पर समाप्त होता है।

१३४. प्रेमचन्द जी ने कृष्ण नाटकावली के इस द्वितीय भाग को भाषा,भाव,चरित्र-चित्रण,नाच-गान, दृश्य व दृश्य विधान इन सभी दृष्टियों से पहले भाग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ व उत्तम माना है। कम्पनी के मैनेजिंग प्रोपराइटर श्री माणिकशाह कौलाभाई बल्सारा ने भाषा के सम्बन्ध में प्रस्तुत नाटक के योगदान को स्वीकार करते हुए कहा है कि इसने राष्ट्रभाषा हिन्दी को इस नाटक द्वारा नाटक-संसार में आगे बढ़ाया है[1]। स्वयं लेखक के भी लगभग ऐसे ही मन्तव्य हैं। 'कृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल' इन दोनों नाटकों को मैंने हिन्दी की दृष्टि से खूब सजाया है।' कृति को देखते हुए ये विचार पूर्णत: समीचीन हैं।

श्रवण कुमार (१९२८)

१३५. रामायणीय कथा पर आधारित प्रस्तुत पौराणिक नाटक 'सूर विजय' के लिए श्री दुर्लभ जी राम जी द्वारा दिए गुजराती प्लाट , जिसे उन्होंने श्रीयुत गणपतिराम पण्ड्या की सहायता से तैयार किया था,पर ११ दिन में लिखे जाने वाले नाटक का परिवर्धित रूप है। इतने अल्पकाल में लिखे जाने के कारण नाटक में अनेक त्रुटियां रह गयी थीं। अस्तु 'कथावाचक' जी ने काट-छांट व सुधार करके 'रुक्मिणी मंगल' के पश्चात् अपने ही निर्देशन में न्यु अल्फ्रेड के रंगमंच पर मई १९२८ में दिल्ली में एक टीन का मण्डवा बनवाकर अभिनीत किया। नाटक का

१- नाटक के 'निवेदन' में -- बल्सारा

उद्घाटन श्री इन्द्रजी वाचस्पति द्वारा हुआ ।

१३६. नाटककार ने रामायणीय कथा का आधार लिया है लेकिन यह केवल कुछ ही दृश्यों में है । अधिकांश कल्पना पर संगठित है । 'कथानक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे काल्पनिक, नाटक के मंच पर उसकी सृष्टि इसलिए है कि उसके द्वारा समाज को कुछ शिक्षा प्राप्त हो'[१] इस मत को मानने वाले 'कथावाचक' अपने प्रस्तुत नाटक को इसका अपवाद नहीं बनाना चाहते थे । अत: यत्र-तत्र यदि वर्तमान की झलक व आदर्शों की प्रतिष्ठापना में कल्पना का योग हो गया तो कुछ आश्चर्यकारी नहीं ।

१३७. विभिन्न आदर्शों को लेकर नाटक में निम्न कथासूत्रों का संयोजन किया गया है --

१- श्रवणकुमार की मातृ-पितृ भक्ति के आदर्श की आधिकारिक कथा ।

२- मूल को उभारने के लिए विपरीत चरित्र चम्पक की उपकथा- जो पत्नी के प्रेम में माता-पिता की अवहेलना और तिरस्कार करता है । अन्तत: उसके परिणाम में नारकीय यातनाएं भोग कर अपने विस्मृत कर्तव्यों के प्रति सजग होता है ।

३- नारी आदर्श की स्थापना-- विद्यावती की कथा द्वारा ।

४- राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों की कथा -- दशरथ की योजना द्वारा ।

५- स्त्री और पुरुष के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में मन्तव्य ।

६- स्त्री की फैशनपरस्तता के परिणाम-- चमेली की कथा द्वारा । (हास्य कथा की मन्त्र पात्र)

७- संगति का प्रभाव -- नन्दशंकर व केदारदास के लड़के रामजी दास द्वारा ।

८- वैरागी साधु सटकनारायण (यथा नाम तथा गुण) के द्वारा ढोंगी साधुओं की बालकों व स्त्रियों को बहकाने व अपहरण करने की दुरभि-सन्धियां और पोल ।

१३८. कथा इतने सूत्रों को लेकर चली है लेकिन उसका संयोजन और संगठन कहीं भी शिथिल नहीं हुआ । मातृ-हृदय की कोमल भावनाओं के अतिरिक्त श्रवण की मृत्यु वाला करुण-दृश्य बड़ा ही मार्मिक और हृदय को उद्वेलित करने वाला है । नाटक की सफलता का आधार उसका दृश्य विधान भी है । स्वयं 'कथावाचक' जी ने इसे स्वीकार किया है । उनके अनुसार--' इस नाटक की सफलता

१- नाटक के प्रथम संस्करण की भूमिका --'कथावाचक'।

इसी बात के आधार पर नहीं था कि इसमें मातृ-पितृ भक्ति का रंग था । बल्कि सीनों का सिलसिला ठीक कायम किया गया था ।' विविध तीर्थों की झांकी इस कथन की सत्यता का प्रमाण है ।

ईश्वर भक्ति (१६२६)

१३६. 'ईश्वर कुछ नहीं है... मैटर ही में यह सब कुछ हो रहा है, आत्मा से कुछ वास्ता नहीं'[१] -- इन पाश्चात्य धारणाओं से भारतीय संस्कृति और उसकी आत्मा के सौन्दर्य की रक्षा के लिए 'कथावाचक' एक ऐसी रचना के संगठन के लिए आतुर थे जो उनके इस उद्देश्य की पूर्ति कर सके । अस्तु जब मेहरबानजी कापड़िया ने अम्बरीष के विषय पर नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया तो उन्हें अपनी इच्छापूर्ति का स्वर्ण अवसर मिला । श्रीमद्भागवत(स्कन्ध६,अ०४-५) और भक्तमाल से दुर्वासा और अम्बरीष की कथा का चयन करके , तप के ऊपर भक्ति की महत्ता के प्रतिपादन के लिए 'कथावाचक' ने 'ईश्वरभक्ति' नाटक का प्रणयन किया , जो सन् १६२६ में स्वयं उनके ही निर्देशन में न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर खेला । नाटक का उद्घाटन श्री मोतीलाल नेहरू के द्वारा हुआ । भाग लेने वाले कलाकार थे -- चौबे रामकृष्ण--अम्बरीष,नर्मदाशंकर-- पद्मा,नन्दकिशोर-मणिकान्त, फिदाहुसैन-उमा, मुंशी रियाज-- नाभाग, पन्ना पुरुषोत्तम-उर्वशी, शाकिर भाई- दुर्वासा, शान्ति-- रुद्रदत्त, गंगाप्रसाद गवैया-- विष्णु,मगनलाल -- गरुण , गंगाप्रसाद शर्मा-- सुदर्शन ।

१४०. दुर्वासा का अम्बरीष को नष्ट करने के लिए कात्यायन उत्पन्न करना, सुदर्शन चक्र द्वारा भक्त की रक्षा हेतु उसका विनाश, व दुर्वासा के पीछे दौड़ना(यहां कथा की चरम सीमा है),दुर्वासा का ब्रह्मा,विष्णु ,महेश तीनों के पास से अरक्षित लौटकर अम्बरीष से क्षमा याचना में नाटक का अन्त होता है । जो तप पर भक्ति की महत्ता का प्रतिपादक है । कथा सूत्रों के अतिरिक्त स्वयं भगवान

१- नाटक की प्रस्तावना में नटी के मुख से कथन ।

विष्णु के मुख से भी इस तथ्य को पुष्टि कराया गया है " तप के मार्ग से भक्ति का मार्ग ज्यादा सरल, ज्यादा सरल और ज्यादा सीधा है[१]।"

१४१. मूल के अतिरिक्त रचना में घंटाकरण की हास्य कथा है, जिसके लिए धन ही सर्वस्व है। मृत्यु के समय यमदूतों से आक्रान्त होकर घंटाकरण का अपने पुत्र भगवान् को सहायतार्थ पुकारना, और अप्रत्यक्ष रूप से इसी नामकरण के बल पर विष्णु दूतों का उसे देव विमान पर ले जाकर स्वर्गारोहण करना-मूल कथा के उद्देश्य-- भक्ति की महत्ता का परिपूरक है।

१४२. द्रौपदी स्वयम्बर (१६२६) श्रीकृष्ण नाटकावली का यह तृतीय पुष्प 'कथावाचक' के निर्देशन में न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर सन् १६२६ में अभिनीत हुआ। इतिवृत्त का चयन भागवत् और महाभारत से किया गया है। नाटक में कृष्ण का भागवत् की अपेक्षा महाभारतीय रूप में अंकन अधिक है, जैसा कि स्वयं योगमाया के कथन से स्पष्ट है[२]। स्यमन्तक मणि की कथा भागवत् से व कौरव पाण्डवों का थोड़ा-थोड़ा चरित्र महाभारत से लेकर प्रथमांक की कथा लक्षागृह तक, द्वितीयांक में द्रौपदी स्वयम्बर व तृतीयांक में पाण्डवों को खाण्डवप्रस्थ का राज्य दिलाकर भीमासुर के वध तक की कथा का नाटकीयकरण किया गया है। शकुनी का छोटी कमान पर बड़ा तीर चलाना, भीम तथा एक राक्षस के संवाद के प्रसंग तथा नारद की अवतारणा हास्योत्पत्ति के लिए की गई है। इन फुटकर प्रसंगों के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र हास्य कथा नहीं है।

१४३. ऊपर जिन कृतियों का विवरण दिया गया है वे सभी समय-समय पर न्यू अल्फ्रेड की शोभा बनी जिसके कि 'कथावाचक' १५ नवम्बर १६२४ से २१ फरवरी १६३० तक स्थायी नाटककार थे। 'वीर अभिमन्यु' और 'भक्त प्रह्लाद' के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी रचनाएं कम्पनी और उसके नाटककार के स्थायी सम्बन्धों का परिणाम थीं। २१ फरवरी १६३० को 'कथावाचक' ने न्यू अल्फ्रेड से अपने ये सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। अस्तु इस परिपक्व सम्बन्ध को लेकर उनकी अन्य कृतियां प्रस्तुत रंगमंच पर न आ सकीं।

~~उन्मादा-अतिरिक्त-~~

१- अंक१, दृश्य१, पृ०१०

२- "जिन भक्तों को अब तक वंशीधर और सुदर्शन चक्रधारी के रूप में दर्शन कराया है, उनका अब संसार के सबसे बड़े योगधारी के रूप में दर्शन कराना चाहिए।
-- नाटक की प्रस्तावना।

ऊषा अनिरुद्ध

१४४. नाटक वस्तुत: दुर्गादत्त पन्त द्वारा लिखा गया था, जिसमें साहित्यिकता का प्राधान्य था। कृति पूर्णत: रंगमंचीय गुणों से सम्पन्न न थी, क्योंकि लेखक का यह क्षेत्र न था। पन्त जी के आग्रह पर कथावाचक जी ने इसे रंगमंच के अनुरूप ढाला व 'सूर विजय' ने सर्वप्रथम बरेली में इसका अभिनय किया। 'सूर विजय' के लिए लेखक की यह दूसरी कृति थी। इससे पूर्व धार्मिक नाटकों का अभिनय करने वाली इस कम्पनी को वे अपना 'बालकृष्ण नाटक' दे चुके थे जो कुछ कालोपरान्त 'श्री कृष्णावतार' के रूप में परिवर्द्धित होकर 'न्यू अल्फ्रेड' के रंगमंच पर अभिनीत हुआ।

१४५. श्रीमद्भागवत के आधार पर संगठित होने वाले प्रस्तुत प्रेम प्रधान नाटक का उद्देश्य साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त कर देश को एकता और संगठन के सूत्र में बांधना है[1]। इसी के प्रतिपादन हेतु नाटककार ने विपरीत मतावलंबी ऊषा और अनिरुद्ध के परस्पर प्रेम, साम्प्रदायिकता के कारण दोनों के मिलन में उद्भूत होने वाले व्यवधान व शिव और विष्णु द्वारा हरिहर की एकता का दर्शन कराते हुए उनके संयोग की कथा का चयन किया है।

१४६. सहायक कथा के रूप में वैष्णव और शैव मतावलम्बियों का खाका खींचकर नाटककार ने उनकी रीतिबद्धता, परम्परा से लिपटे रहकर सत्य तत्व को भुलाना व खोखलापन प्रकट किया है। यह उपकथा मूल के उद्देश्य की ही प्रतिपादक है, किन्तु साम्प्रदायिकता का स्वरूप, उसके मूल कारण व परिणामों के विस्तृत अंकन के कारण यह आधिकारिक कथावस्तु की सापेक्षता में अधिक विस्तृत हो गई है। प्रहसन में साधु सन्त और महन्तों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया गया है।

१४७. नाटक की रचना सन् १९२४-२५ को होने वाले हिन्दू संगठन की धूम के समय हुई थी[2] यही कारण है कि नाटक में भी संगठन और एकता का प्रभाव ही पूर्णत: लक्षित होता है।

१- नाटक की प्रस्तावना।

२- त्यागभूमि, वर्ष २, अंक ४, पृ०४५७

१४८.

'सती पार्वती'

१४८. 'वीर अभिमन्यु' के अभिनयोपरान्त सन् १९१६ में लिखा जाने वाला यह पौराणिक नाटक बीच में व्यवधान आ जाने के कारण काफी लम्बे समय के पश्चात् सन् १९४४ में माणिकलाल की 'शाहजहां थियैट्रिकल कम्पनी' द्वारा सर्वप्रथम दिल्ली में अभिनीत हुआ । डा० सनाढ्य ने इस अभिनय तिथि को ही रचना तिथि मान लिया है । उनकी यह धारणा भ्रामक है । वस्तुत: नाटक प्रकाशित होकर भी नारायणप्रसाद 'बेताब' के प्रति अपनी मित्रता के आग्रह पर और उनके 'गणेश-जन्म' को निकलने का अवसर देने के लिए काफी समय तक अनभिनीत पड़ा रहा । 'सती पार्वती' की रचना व अभिनय तिथि में इतने लम्बे व्यवधान व अन्तर का यही प्रमुख कारण है ।

१४९. 'सती' और 'पार्वती' इन दोनों नामों को अपनाने के कारण 'कथावाचक' जी को शिवप्रिया के सम्पूर्ण चरित्र को नाटक के रूप में प्रस्तुत करना पड़ा । इसी से रचना का रूप विस्तृत हो गया है। सती का शंकर के प्रति प्रेम, पिता दक्षराज का शिव के प्रति विद्वेष और वैमनस्य अस्तु प्रेम मार्ग में आने वाले व्यवधान, सती की स्नेह कातरता पर शिव का वरमाला ग्रहण व सती के पाणिग्रहण की कथा प्रथमांक में, द्वितीयांक में पति की बातों में अविश्वास राम की परीक्षा हेतु सीता का रूप ग्रहण, अस्तु शंकर द्वारा मनस्त्याग, दक्ष के यज्ञ में पति के अपमान पर यज्ञ कुण्ड में कूदना अथवा सती दाह, तृतीयांक में हिमालय के यहां पार्वती के रूप में सती का जन्म, उग्र तप व साधना द्वारा शिव को पुन: पति रूप में प्राप्त करना, आदि कथा का नाटकीय कारण किया गया है ।

१५०. सती के रूप में नाटककार ने नारी के त्याग, तपस्या और प्रेमपूर्ण जीवन की झलक दी है । यही कारण है रचनाकार ने अपनी इस कृति को पौराणिक होते हुए भी आधुनिक समय के उपयुक्त माना है[१] । नाटक के

१- नाटक के 'निवेदन' में -- कथावाचक

इतिवृत्त का चयन महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' अर्द्ध व तुलसी के 'रामचरित मानस' से किया गया है ।

महर्षि वाल्मीकि(१६३२)

१५१. १५१. रचनाक्रम की दृष्टि से 'कथावाचक' का यह अन्तिम सफल नाटक है जो मैडन के यहां २८ मई सन् १६३२ को कोरन्थियन थियेटर कलकत्ता में अभिनीत हुआ ।

१५२. नाटक में एक ही पात्र (दौत्र पर्क, रत्नाकर, वाल्मीकि - तीन रूपों में) के द्वारा सामाजिक ऐतिहासिक और धार्मिक कथाक्रम प्रस्तुत किया गया है । प्रथमांक में दौत्रपर्क के रूप में कृषक की सामाजिक दशा का अंकन है, जिसमें नाटककार ने गांवों की स्थिति, अकाल ,निर्धनता के साथ महाजन की सूदखोरी, जमींदारों की चिन्ताहीनता, कबूतर उड़ाना, राजकर्मचारियों को प्रीतिभोज देना, मतदाताओं का मुंह बन्द कर सदस्यता हथियाना, उनकी विषय लोलुपता , क्रूरता आदि का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत किया गया है । कृषक की सामाजिक स्थिति के साथ महर्षि होने के गुणों व प्रतिभा के अंकुर भी इस दौत्रपाल में प्रच्छन्न व आवृतरूप में प्राप्त है । बादलों को देखकर उल्लास,बिना बरसे उनके चले जाने पर प्रलाप,दारिद्र्य के आघात से प्रस्फुटित भावनाओं के स्रोत का ज्वार कृषक-दशा के साथ ही उसकी महाकवि सदृश्य भावुकता को स्पष्ट करता है । प्रथमांक के अन्त तक रत्नाकर डाकू के रूप में उसका परिवर्तन नाटककार ने बड़े सहज व स्वाभाविक रीति से दिखाया है । कालकूट और उसके सिपाहियों के अत्याचार, भूख की व्याकुलता , धनिकों की स्वार्थाग्नि में पुत्री शान्ता की बलि उसे हिंसा पर उतारू करा देती है और वही दौत्रपाल प्रसिद्ध डाकू रत्नाकर के रूप में सम्मुख आता है । चरित्र परिवर्तन में नाटककार ने कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने दी है ।

१५३. रत्नाकर के रूप में दौत्रपाल का चरित्र ऐतिहासिक है । लूटने के प्रयोजन से नारद को वृक्ष से बांधना, उनसे संलाप, आत्मा-परमात्मा,जगत के कर्मबन्धन व कर्मानुसार फल के दार्शनिक मतमतान्तर को हिंसक वृत्ति अपनाने वाले रत्नाकर की बुद्धि के अनुरूप सहज ग्राह्य बनाकर नारद का राख में ढंकी चिनगारी को फूंकने का प्रयास, उनके आग्रह पर पारिवारिक सुहृद व स्नेही जनों के प्रेम की

पराधात, उनकी स्वार्थप्रियता देखकर जगत के झूठे मोह-बन्धनों से ऊपर उठकर अपनी वृत्ति के अनुकूल 'राम' का उल्टा 'मरा मरा' के मंत्र के साथ रत्नाकर का सन्यास लेना-- ऐतिहासिक कथासूत्र है-- जिनका नाटककार ने अपने द्वितीय अंक में बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण ढंग से नाटकीयकरण किया है ।

१५४. नाटक का तृतीयांक धार्मिक भावनाओं से आप्लावित है,क्योंकि इसमें रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि के रूप में रामायण की रचना करते हैं, जिसका उद्देश्य सीता के चरित्र की पवित्रोज्ज्वलता दिखाना है ।

१५५. आधिकारिक कथा के अतिरिक्त शान्ता और वीरभद्र के आत्मिक विवाह, किशोरी और अजित के निर्मल प्रेम, गौमती (रत्नाकर की पत्नी) की दानपुण्यता, वीरभद्र और किशोरी के बहन भाई के रूप में आकस्मिक मिलन व जमींदार के षडयन्त्र व अत्याचार की अन्य छोटी-छोटी उपकथाएं हैं । कोई हास्यकथा नहीं है ।

१५६. भाषा,भाव , चरित्र-चित्रण , कथानक का विस्तार आदि दृष्टि से नाट्यकला के सभी गुण नाटक में सर्वाधिक मात्रा में है । सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी साहित्यिक गुणों से परिपूर्णता । प्रारम्भिक दो अंकों में लम्बे-लम्बे भाषण व कथन रखे गए हैं । वैसी पात्रों के अतिरिक्त पद्यांश का सर्वथा अभाव है । किन्तु सम्पूर्ण तृतीयांक वाल्मीकि के पद्यात्मक कथनों से भरा है ।'कथावाचक'का यह नाटक मराठी और बंगला नाटकों की ढप पर लिखा गया था । उन्हीं के अनुकूल प्रस्तुत नाटक में लम्बे-लम्बे भाषण उपलब्ध होते हैं । किन्तु शैली पूर्णत: रंगमंचीय है ।

१५७. कौरन्थियन थियेटर में ही ७ जनवरी १६३२ को 'कथावाचक'जी का एक अन्य नाटक 'शकुन्तला'[१] लिखा । यह वस्तुत: जहांगीर जी सेठ जी के निर्देशन की उनकी इसी नाम की फिल्म का नाटकीय रूपान्तर था जो ६ दिन की अल्पकालीन तैयारी में प्रस्तुत किया गया । फलत: अनेक कमियां व दोष रह गए ।

१- नाटक प्रकाशित ही नहीं हुआ ।

१५८. मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त 'हिन्दू विधवा उर्फ सुधरा जमाना' (नाटक की कथा, किसी मुसलमान लेखक की थी संवाद और गीत 'कौशिक' जी के थे) व 'गंगावतरण' नाम से आपकी दो सम्पादित रचनाएं उपलब्ध हैं। दोनों ही न्यु अल्फ्रेड के रंगमंच पर उस समय लिखी जब कि 'कथावाचक' जी उससे अपने स्थायी नाट्य-लेखक के सम्बन्ध विच्छेद कर लिए थे। 'सूर विजय' के 'सूरदास' नाटक (नाथूराम जी सुन्दर शुक्ल की रचना) की भाषा को भी अपने काफी सुधारा-संवारा ॥

१५६. 'भारत माता', 'शान्ति के दूत कृष्ण', 'सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण' व 'घंटाकरण' 'कथावाचक' के ये चार एकांकी नाटक भी उपलब्ध होते हैं।

१६०. अनेक हिन्दी नाटकों का यह प्रसिद्ध प्रणेता ब्राह्मण व धार्मिक भावनाओं से आधारित होते हुए भी अपने समय व नाट्य-समाज के प्रवाह व उर्दू से अनभिज्ञ न था। उनका 'महर्षि की हूर' (१६२६) नाटक इस बात प्रमाण है। मद्यपान के कुपरिणामों को प्रस्तुत करने वाला यह सामाजिक नाटक 'परिवर्तन' के पश्चात् अर्थात् सन् १६२६ में 'न्यु अल्फ्रेड' के रंगमंच पर लिखा। नाटक का हिन्दी संस्करण भी उपलब्ध है।

१६१. 'कथावाचक' पर यह आरोप लगाया जाता है कि रामायण के प्रणेता होकर आपने रामकथा से सम्बन्धित एक भी नाटक का प्रणयन नहीं किया। सम्भवत: इसी कमी को पूरा करने के लिए अपने नाटकीय जीवन का अध्याय समाप्त होने के काफी वर्षोपरान्त आपने अपने 'देवर्षि नारद' की रचना की। नाटक के प्रणयन के समय इस सत्य को कृतिकार ने स्वयं स्वीकार किया है --'हमारा विचार है कि हम उन्हीं श्रीराम जी की कथा को कई भागों में रंगमंच पर लावें।' कई भाग तो नहीं निकल सके और न प्रस्तुत कृति ही रंगमंच पर खेली जा सकी हां रामचरित्र का नाट्य रूप इस नाटक के रूप में अवश्य प्रस्तुत हो गया। नाटककार ने 'बड़ी चीज क्या है' इस प्रश्न को उठाकर उसके समाधान में चार पात्रों और उनसे सम्बन्धित कथाओं द्वारा चार मत प्रस्तुत किए हैं, नारद द्वारा तपस्या, लक्ष्मी द्वारा विवाह, विश्वमोहिनी की चारिणी द्वारा सौन्दर्य और कंकड़-झाड़ के द्वारा भोजन। ये चारों समाधान ही सम्पूर्ण कथावस्तु का निर्माण करते हैं जिसके स्पष्टीकरण का समाधान अन्त में विष्णु द्वारा प्रस्तुत किया

गया है । नारद भी उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं ।

हरिकृष्ण-'जौहर'

जन्म

१६२, सम्वत् १६३७ माद्रशुदी ऋषि पंचमी को ठीक पूजनकाल में 'जौहर' जी का जन्म काशी के वर्तमान 'हिन्दू स्कूल' के सामने के श्री सीताराम कृषिशाला वाले बाग में हुआ था । इनके पिता मुंशी रामकृष्ण कोहिली काशीनरेश महाराजा ईश्वरीनारायण सिंह के प्रधानमंत्री थे । उन्होंने 'काश्मीर-यात्रा' आदि कई पुस्तकें लिखीं व काशी नरेश की आज्ञा पर संस्कृत नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद भी प्रस्तुत किया[१]। यही साहित्यिक रुचि 'जौहर' जी को अपने पिता से विरासत में मिली जिसका जयनारायण हाई स्कूल तथा बाद में बंगाली टोला हाईस्कूल में अध्ययन करते समय परिस्थितियों की अनुकूलता पर और विकास हुआ । उस समय की इनकी मित्र मण्डली भी साहित्यिक रुचि से सम्पन्न थी व उनके मित्रों में चन्दूलाल, मीर रियाज, आगा हश्र व अली साहब चारों ही आगे चलकर अपने जीवन में साहित्यकार बने । संस्कारों के साथ-साथ संगीत का भी 'जौहर' जी पर अप्रत्यक्ष रूपेण बड़ा प्रभाव पड़ा ।

१६३, बचपन से मेधावी और कुशाग्र बुद्धि होने पर भी 'जौहर' को अपनी प्रतिभा के विकास के अधिक अवसर नहीं मिल सके । परिस्थितियां सदैव ही इस किशोर के लिए विपरीत रहीं और सदैव संघर्ष में ही उनका जीवन संलग्न रहा । हाईस्कूल तक पहुंचते-पहुंचते माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण परिवार का उत्तरदायित्व उनके कोमल कंधों पर आ पड़ा । अत: अध्ययन छोड़कर तेरह वर्ष की अल्पायु में ही 'भारत जीवन' प्रेस के मालिक बाबू रामकृष्ण के यहां जाकर कार्य करने लगे । यहां कार्य करते हुए भी रामकृष्ण वर्मा, अम्बिकादत्त व्यास, लछिराम जी

१- श्री उमाचरण पाण्डे 'भिक्षु' -- स्वर्गीय हरिकृष्ण 'जौहर', आज, 'साहित्य-विशेषांक, १७ जनवरी, १६६०

रत्नाकर जी, कार्तिक प्रसाद, सुधाकर द्विवेदी व किशोरीलाल गोस्वामी जैसे साहित्यकारों के सम्पर्क में आए[1]। बनारस के साहित्यिक वातावरण व इन साहित्य दिग्गजों के सम्पर्क में पिता द्वारा प्रदत्त 'जौहर' की साहित्यिक प्रतिभा को प्रस्फुटन का अच्छा अवसर मिला और इस किशोर ने भी अनेक पुस्तकें लिखीं जिनको विलासपुर नरेश ने प्रकाशित करवाकर और प्रोत्साहित किया। भारत-जीवन प्रेस में 'जौहर' जी ने सात वर्ष तक कार्य किया।

१९४. 'भारत जीवन' के उपरान्त 'जौहर' वेंकटेश्वर प्रेस, में चले गए जहाँ लज्जाराम मेहता व अमृतलाल चक्रवर्ती के सम्पर्क में इनकी सम्पादन-कला को बल मिला। वैसे इस क्षेत्र में आप 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक बसु महोदय के अधिक आभारी हैं--'उन्हीं महानुभाव गुरुवर की कृपा है कि मैं पत्रकार जीवन में सफलता प्राप्त कर सका हूं।'[2] तीन-चार वर्ष वेंकटेश्वर प्रेस में कार्य करने के उपरान्त 'जौहर' पुनः काशी के 'भारत जीवन' प्रेस में आ गए व आठ महीने कार्य करने के पश्चात् 'हिन्दी बंगवासी' में कार्य करने के लिए कलकत्ता चले गए। यहाँ सम्पादक पद पर कार्य करते हुए काशी प्रसाद बी०ए०, रामनारायण शास्त्री, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, कुमार गणेश सिंह, लक्ष्मीनारायण गर्दे, व रामानन्द द्विवेदी जैसे उच्च साहित्यकारों का सम्पर्क व संसर्ग प्राप्त हुआ,[3] जिसने उनकी सुप्त कला को उभारा दी। सम्पादन कार्य के साथ ही 'जौहर' का अध्ययन (इम्पीरियल लाइब्रेरी में) व लेखन-कार्य भी साथ-साथ चलता रहा। उन्होंने इतिहास, उपन्यास व अन्य फुटकर विषयों पर दर्जनों पुस्तकें लिखीं[4]। आपको यश की स्पृहा न थी। जैसे कि

१- स्वर्गीय हरिकृष्ण 'जौहर' --वेंकटेश्वर समाचार, चैत्र सुदी १२, सम्वत् २००१

२- लक्ष्मीनारायण 'सरोज' --'कर्ममय जीवन' भाग२, श्री वेंकटेश्वर समाचार, चैत्र सुदी १०, सम्वत् २००२।

३- श्री उमाचरण पाण्डे 'त्रिवेणी' - स्वर्गीय हरिकृष्ण 'जौहर', आज- साहित्य विशेषांक, १७ जनवरी १९६०

४- रचनाएं-- १- उपन्यास- -'कारस्तानी वृत्तान्त माला', 'भूतों का मकान', 'नर-पिशाच', 'भयानक भ्रमण', 'मयंक मोहिनी', 'शीरीं फरहाद', 'जादूगर' आदि।
२-इतिहास-- 'अफगानिस्तान का इतिहास', 'जापान वृत्तान्त', 'देशी राज्यों का इतिहास', 'रूस जापान युद्ध', 'अमर साम्राज्य', 'सिक्ख इतिहास', 'नैपोलियन बोनापार्ट'
३- फुटकर-- 'हाजी बाबा', 'सर्व सैटलमेण्ट', 'महाभारत', 'अध्यात्म रामायण', 'कल्कि पुराण', 'मार्कण्डेय पुराण', 'काशी', 'याज्ञवल्क्य संहिता', 'अत्रिसंहिता', 'हारीत संहिता' आदि।

कितनी ही पुस्तकों के प्रणेता होकर भी आपने उनपर अपना नाम प्रकाशित न कराया था[१]। 'हिन्दी बंगवासी' की आपने सत्रह वर्षों तक अथक सेवा की किन्तु प्रथम महायुद्ध में कागज व दर की अत्यधिक वृद्धि व प्रकाशन - कार्य से मन ऊब जाने के कारण सन् १९१९ में 'हिन्दी बंगवासी' से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इस सम्पादकीय जीवन की समाप्ति के पश्चात् उनके विचारों में एक नया परिवर्तन आया और वस्तुत: यहीं से उनके नाटकीय जीवन का आरम्भ हुआ।

१९५. 'हिन्दी बंगवासी' से अलग होने के उपरान्त इस कर्मण्य योद्धा ने दामोदरदास खत्री और सरदार निहालचन्द आदि मित्रों के आग्रह पर कलकत्ते में बनारस के समान ही 'कलकत्ता नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। इसका प्रमुख उद्देश्य था उस समय की पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर हिन्दी को पहुंचाना और उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाना। इसी भावना से प्रेरित होकर 'जौहर' 'कलकत्ता नागरी प्रचारिणी सभा' का एक डेपुटेशन लेकर मदन थियेटर के स्वामी रुस्तम जी फरामजी मादन के पास पहुंचे, जिन्होंने अपनी कम्पनी के स्थायी नाटककार के रूप में इन्हें २५० रुपए महीने पर अपने यहां नियुक्त कर लिया। 'जौहर' यहां सन् १९३१ तक रहे और कम्पनी को अपनी अनेक भव्य कृतियां दीं। अद्भुत प्रतिभा के बल पर ही २५० रुपए मासिक से अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ करने वाला यह कर्मण्य योद्धा रुस्तम जी के जीवनकाल में ४०० रुपए मासिक वेतन तक पहुंच गया।

रचनाएं

१९६. 'जौहर' की सर्वप्रथम कृति 'सावित्री सत्यवान' पातिव्रत्य महात्म्य को प्रस्तुत करने वाली लोकप्रिय पौराणिक कथा पर संगठित हुई जिसे जे० एफ० मेडन के 'एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब' ने सन् १८१६ में धर्मतल्ला स्ट्रीट में अभिनीत किया। पर्याप्त सीन सीनरियों के न होने पर भी नाटक बहुत लोकप्रिय

१- श्यामसुन्दरदास--'हिन्दी कोविद रत्नमाला', दूसरा भाग, १९१४, पृ०१०३

हुआ और लगातार छः माह तक कलकत्ते में अपूर्व सफलता के साथ खिला । वस्तुतः 'विशुद्ध और मधुर भाषा में समाज को तिलमिला देने वाला, हिन्दू कुलवधू की धर्ममयी इतनी ऊंची पत्नीभक्ति, कर्मनिष्ठदास की अभूतपूर्व स्वामिभक्ति इस नाटक के पूर्व और कहीं दिखाई न गई थी [१]।'

१९७. प्रस्तुत पौराणिक नाटक के पश्चात् 'जौहर' की दूसरी कृति सामाजिक परिवेश को अपनाती हुई 'पतिभक्ति' के रूप में प्रस्तुत हुई और सर्वप्रथम अक्टूबर १९२० में 'एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब' (मेडन अधिकृत) के कौरन्थियन थियेटर में खिली । नाटक के रचना-कारणों व कथा तथ्यों के विषय में लेखक ने कृति का संगीत पुस्तिका की प्रस्तावना में अपने नाटकीय विचारों धारणाओं और मन्तव्यों के स्पष्टीकरण की चेष्टा की है --'राष्ट्रभाषा हिन्दी की पवित्र प्रतिमा के फूल स्पर्श चरणों में भक्तिपूर्ण भाव से चढ़ाया हुआ मेरा यह द्वितीय पुष्प है । इसमें हिन्दू हृदय के स्वभाव-कातरता और अखिल कर्म संयोजित सनातन धर्म के प्राणसुखद सुधा का स्वाभाविक वर्णन और कलिताप ग्रस्त आधुनिक धन सम्पन्न नवयुवक सम्प्रदाय की दुःखद अथवा शिक्षापूर्ण गन्ध है।... धार्मिक नाटकों के अवलोकन की जिस तरह आवश्यकता है उसी तरह अपने द्वारा नित्य सम्पादित होने वाले कर्म के प्रतिबिम्ब सामाजिक नाटकों के भी अवलोकन की बड़ी आवश्यकता है...... 'पतिभक्ति' एक काल्पनिक दृश्य काव्य है । इस नाटक में धर्म का माधुर्य रहते पर भी इसकी रचना सम्पूर्ण सांसारिक दृष्टि से तथा समाज के गुण स्वभाव के अनुसार की गई है । इसमें धनी सम्प्रदाय के अतिरिक्त पुत्र स्नेह का कुफल है, विष बीजारोपण और उसका परिणाम है, हिन्दू सेवक की स्वामिभक्ति है, नर पिशाच की पैशाचिकता है, कुलटा की अनन्त और अपूर्व माया है, विचार विभ्राट है, विषय विशेष है ।' जहां नाटककार ने कुरीतियों का उन्मूलन कर स्वस्थ, सम्पन्न समाज के निर्माण हेतु सामाजिक कृतियों की आवश्यकता पर बल दिया वहीं अपने इस संक्षिप्त कथन के अन्तिम वाक्य में 'पति-भक्ति' नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु और कथापात्रों को बड़ी चातुर्यतापूर्वक इंगित कर दिया है ।

१- श्री कृष्णाचरण पाण्डे 'त्रिपाठी' -- स्वर्गीय हरिकृष्ण जौहर, -आज, साहित्य विशेषांक, १७ जनवरी, १९६०

१६८. प्रस्तुत सामाजिक नाटक का नामकरण धर्म-परायण लीलावती के अनन्य पति-प्रेम और पति-भक्ति के आधार पर किया गया है, जो दुष्ट मित्रों की संगति में पड़े अपने पति रूपसेन को उस कीचड़ से निकाल कर अपनी शक्ति के प्रकाश में सद्पथ का अनुसरण कराती है। इसके लिए अपना स्वत्व कुछ नहीं वरन् एकमात्र पति ही इसके जीवन की सम्पूर्णता है। तभी देवीनारायण जी ने 'जौहर' की इस प्रतिमा कृति को मात्र मनोरंजन से ऊंचा उठाकर दर्शकों की रुचि का परिष्कार और सुधार करने वाला उपादेय कृति बताया है[1]।

१६९. चन्द्रगुप्त के मगध पर विजय पाने व नन्द के विनाश की कथा को लेकर चलने वाले 'जौहर' के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'वीर भारत' का अभिनय जे०एफ० मैडन द्वारा परिचालित 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' ने किया। नाटक के कथा-स्रोत के विषय में नाटककार ने उसकी संगीत पुस्तिका के 'विनीत-विनय' में अपना आभार प्रकट करके स्थिति का स्पष्टीकरण कर दिया है--
'इस नाटक के लिखने में विण्डल के 'इन्वेन्शन आफ इण्डिया' तथा 'एन्शेन्ट इण्डिया, भारतेन्दु के 'मुद्राराक्षस' और श्री हरदत्त बाबू के 'चाणक्य' से साधारणत: व द्विजेन्द्र बाबू के 'चन्द्रगुप्त' से विशेष रूप से सहायता लिया गया है।' इस स्पष्ट उक्ति को केन्द्रबिन्दु बनाकर 'आज' के माध्यम से[2] नाटक की मौलिकता के प्रश्न पर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और श्री लक्ष्मीनारायण 'सरोज' के मध्य हुई लम्बी नोंक झोंक ने रचना के रूप को विकृत कर दिया। विकृति का आधार है मूल रचना की अप्राप्ति। रंगमंच में अभिनय देखने के काफी समय पश्चात् केवल स्मृति के बल पर

१- देवी नारायण कौशिक --'पतिभक्ति', लीडर, जून १६, १९२६ --

" It is not merely a means of enjoyment on stage, it is even more a help to life......It produces a good moral effect on the audience and has served to create a taste for good social dramas in the theatre going public."

२- (क) आज-- २१ अगस्त १९२४
(ख) आज-- ११ सितम्बर १९२४
(ग) आज-- २ अक्टूबर १९२४
(घ) आज-- ३ अक्टूबर १९२४

संवादों को अपने मानस पटल में अंकित करते हुए मौलिकता और अमौलिकता के प्रश्न पर बल देते हुए किसी कृति की सम्यक समीक्षा नहीं की जा सकती । ऐसी आलोचना सत्यता और तटस्थता से दूर समीक्षक के अपने पूर्वाग्रहों में आबद्ध होकर रह जाती है । यह सत्य है कि ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर भी नाटककार ने हास्य-कथा के सम्बन्ध में उसी भौंडी परम्परा का अनुकरण किया है जो तत्कालीन रंगमंचीय नाटकों में प्रचलित थी[1] । इससे कृति के सौन्दर्य में व्याघात ही पड़ा है । यदि वह इतिहास के गौरवपूर्ण काल की अनुरूपता में हास्य को थोड़ा सुरुचि सम्पन्न बनाते-बनाते तो नाटक के सौन्दर्य में और भी निखार आता ।

१८०. 'नागपुत्र शालिवाहन' जौहर का जे०एफ० मैडन की एलफिन्स्टन नाटक कम्पनी द्वारा अभिनीत वीररस प्रधान ऐतिहासिक नाटक है । वासुकी पुत्र शालिवाहन के उदात्त चरित्र को वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में उठाकर 'प्राचीन को नवीन में मिलाकर भारत सन्तानों में शक्ति का तेज फैलाना'[2] नाटककार प्रमुख उद्देश्य है । महाबली शुक्र के विरोध, अन्धी के प्रति अपनी न्यायप्रियता[3] व गुरु विक्रम को सवा रुपए का दान देने के लिए दुष्ट नगर सेठ के यहां शालिवाहन की नौकरी[4] इन कथाओं-उपकथाओं , द्वारा नाटककार ने अपने चरित्र नायक के पराक्रम , शौर्य, न्यायप्रियता व प्रजा प्रेम आदि गुणों को परिपूर्णता के साथ उभारा है ।

१८१. इन नाटकों के अतिरिक्त 'जौहर' की 'प्रेमयोगी' 'कन्या विक्रय' , 'चन्द्रहास' , 'सती लीला' , 'भार्या-पतन' , 'प्रेम लीला', 'ऊषा हरण', 'देश का हाल' , 'राजदीपक' आदि[5] अन्य सामाजिक और धार्मिक रचनाएं उपलब्ध होती हैं ।

१- ताण्डव नृत्य--'चन्द्रगुप्त और वीर भारत', आज , ३ अक्टूबर, १९२४

२- शालिवाहन -- मंगलाचरण, पृ०२

३- शालिवाहन -- (अन्धी से) 'दुःखिनी नारी । ले यह तीर कमान और कर संहार । इस कला ने जिस तरह तेरे स्वामी को मारा उसी तरह तू भी मुझे मार जिससे--
यही हद देख ले दुनिया में आफत क्या बला क्या है ?'
--अंक२, दृश्य२, पृ०४५

४- शालिवाहन-- सवा रुपए पाने के लिए अगर मैंने इस निर्दय सेठ की नौकरी न की होती तो ताबेदारी और मजदूरी से पैसा कमाने की मुसीबत मुझे कैसे मालूम हुई होती ।' ,अंक३, पृ०८० ।

५- 'इन नाटकों में से किसी की नकल 'जौहर' जी के पास नहीं थी । कारण वह अपने नाटक गुजराती अक्षरों में लिखते और उसे नाटक कम्पनी की सम्पत्ति समझ कर बिना नकल किए ज्यों की त्यों नाटक कम्पनी के हवाले कर देते ।'
--लक्ष्मीनारायण शर्मा-जौहर का वीर भारत आज२३अक्टूबर, १९२४

सन् १६१६ से १६३१ तक के अपने नाटकीय कार्यकाल में 'जौहर' ने चौदह नाटकों की प्रणीत किया । ये सभी कृतियां जे०एफ० मैडन के रंगमंच पर खिलीं । किन्तु १६३१ में कम्पनी संचालक रुस्तम जी फरामजी मादन की मृत्योपरान्त जब कम्पनी हिस्सेदारों में बंट गई व 'पायोनियर फिल्म्स' के नाम से प्रतिष्ठित हुई तो 'जौहर' का रंगमंचीय जीवन भी समाप्त हो गया । अब उन्होंने चल चित्र के लिए अपने नाटकों का प्रणयन किया । 'मां', 'खुदादाद' आदि चलचित्र के लिए लिखी गई रचनाएं हैं । यहां मन न लगने के कारण 'जौहर' इस कार्य को अधिक न कर सके व अपनी जन्मभूमि बनारस लौट आए । यहां 'हिन्दी प्रेस' की स्थापना करके पुन: प्रकाशन कार्य आरम्भ कर दिया जिसे प्रथम महायुद्ध के समय की विपरीत परिस्थितियों के कारण छोड़ना पड़ा ।

१७२. अपने संघर्षमय जीवन में 'जौहर' ने सन् १६१६ से १६३१ तक नाट्य जगत की सेवा की । स्वयं उन्हीं के शब्दों में उनके सच्चे कलाकार हृदय की अकुलाहट स्पष्ट है, 'नाटक के सम्बन्ध में क्या निवेदन करूं ? लिखने को इतना लिख गया हूं कि उसमें से एक के बदले तीन नाटक तैयार हो जाएं । लेकिन.... जो लिखावट मुझे स्वयं नहीं भाती उसे मैं मालिक को नहीं दे सकता --इसीलिए नित्य लिखने और काट देने की उधेड़-बुन में लगा हुआ हूं।'[1]

यह कर्मण्यसाधक के-लिए जिसके लिए--

> कागज़ ओढ़ना और बिछौना, कागज़ ही से खाना ।
> कागज़ लिखते लिखते जावो, कागज में मिल जाना ।'[2]

ही जीवन था, १४ फरवरी १६४५ को सत्यरूपेण कागज में मिलकर सदा के लिए विलीन हो गया ।

<u>श्री कृष्ण 'हसरत'</u>

१७३. 'हसरत' जौहर के छोटे भाई थे । साहित्यिक सुरुचि सम्पन्न परिवार में जन्म, तथा पिता श्री रामकृष्ण व भाई हरिकृष्ण की साहित्य-साधना ने इनमें भी बाल्यावस्था से ही साहित्यिक रुचि के बीज अंकुरित कर दिए । समय के साथ इसके विकसित और परिपुष्ट होने पर 'हसरत' ने नाट्य जगत में प्रवेश कर साहित्य की आराधना की और अनेक कृतियों विशेषत: पौराणिक

१- जयकृष्ण को दिनांक २७-१-२८ के अपने पत्र में 'जौहर' जी का कथन ।
२- श्यामसुन्दरदास -'हिन्दी कोविद रत्न माला', भाग२, पृ०१०३

नाटकों का प्रणयन किया । किन्तु खेद यही है कि अपने समय की निम्न रंगमंचीय प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर ये पौराणिक आदर्श की रक्षा नहीं कर सके । इसी से इनकी धार्मिक और पौराणिक रचनाओं का मूल्य अन्य श्रेष्ठ हिन्दी कृतिकारों की सापेक्षता में न्यून रहा ।

१७४. 'हसरत' की कृतियों के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उनमें निम्न तथ्यों की उपलब्धि होती है--

१- अधिकांशत: धार्मिक और पौराणिक इतिवृत्तों का आधार ग्रहण किया । ।
२- पौराणिक कथाओं में भी उन्हीं विषयों में अपनी रुचि दिखाई जिनपर अन्य रचनाकार अपनी कलम चला चुके थे, अथवा जो अधिक लोक प्रचलित और लोकप्रिय थे ।
३- पूर्ववर्ती नाटकों की घटनाओं के अंकन को यथातथ्य रूप में अधिकांशत: अपनाया गया है ।
४- यत्र-तत्र नाटककार ने जहां भी मौलिकता प्रदर्शित करने व अपनी कलम का रंग देने की चेष्टा की है, वहीं पौराणिक आदर्शों का हनन हुआ है ।
५- भारतीय संस्कृति की स्वस्थ रक्षा के स्थान पर मनोरंजनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता है ।
६- अपने समय के प्रेक्षक वर्ग की रुचि और थियेट्रिकल कम्पनियों की रंगमंचीय प्रवृत्तियों की कहीं भी अवहेलना नहीं कर सके ।

१७५. भगीरथ के गंगा को धरातल पर लाकर सगर के साठ हजार पुत्रों के उद्धार की कथा को लेकर चलने वाले 'गंगावतरण' नाटक की घटनाएं हश्र के 'गंगावतरण' से मिलती जुलती हैं । किन्तु हश्र के समान ये अपने सांस्कृतिक आदर्श की रक्षा नहीं कर सके । लक्ष्मी[१], सरस्वती, व पार्वती[२] जैसी

१- लक्ष्मी-- हीन लेती हूं मन को हंस हंस कर
फिर भला कौन हो प्यारी बढ़ बढ़ कर ।अंक१,दृश्य१,पृ०७

२- पार्वती--(शिव के लिए) सखी । यह न कहो । पुरुषों के चरित्र का कुछ भी विश्वास नहीं । यह मधु लोभी भ्रमर की भांति जिधर रस पाते हैं उधर ही झुक जाते हैं । -- अंक२,दृश्य७,पृ०७०

देवियां सामान्य नारी के समान त्रिया चरित्र युक्त और प्रेमाकुल प्रदर्शित की गई है तो भगीरथ भी अपने क्षात्रियत्व को भूलकर सामान्य बाजारू प्रेम में दीवाने हैं, जिसको अपने कर्तव्य का बोध नारद की धिक्कार पर होता है --' पितृों के कष्ट को पुत्र न देखे तो ऐसे नरनाह को धिक्कार है । जिसके बाप दादे नरक की यन्त्रणा से आह की बीस लगाएं और वह स्त्री धन में पड़कर आनन्द मनाएं ?'[1] सांस्कृतिक दृष्टि से नाटक पिछड़ा हुआ है ।

१७६. गंगा द्वारा पर पतितों के उद्धार का दृश्य नाटक का सबसे सौन्दर्यपूर्ण स्थल है । नाटककारोंने पार्वती के प्रश्न में ' तो क्या जो नहाएगा या जलकर आचमन करेगा वही मुक्ति पर जाएगा ।' आधुनिक बुद्धिवादियों की शंका उठाकर भगवान शंकर के द्वारा दृष्टान्तरूप और बुद्धिगम्य समाधान भी प्रस्तुत किया है--' नहीं देवी । यदि ऐसा होता तो फिर संसार किसके लिए कहाएगा--

जो ज्ञानी है उन्हीं में भक्ति, श्रद्धा पाई जाती है ।
जहां श्रद्धा है वहां मुक्ति भी कर जोड़ आती है ।'[1]

१७७. सत्तर पृष्ठीय एक त्रिअंकी नाटक में 'हसरत' ने चन्दा और व्यास जी की हास्य कथा को मूल कथा के विरोध में संगठित करके उसके उद्देश्य को उभारने व प्रभावपूर्ण बनाने की चेष्टा की है । यदि नाटक की नायिका प्रेम और विरह में सन्यासिनी बनी है तो चन्दा को अपने व पति से संघर्ष व नित्य कलह में ही आनन्दोपलब्धि होती है ।

१७८. ध्रुव के जीवन पर अनेक नाटककारों ने लेखनी चलाई है । उन्हीं घटनाओं को लेकर 'हसरत' ने अपने 'भक्त ध्रुव' नाटक के प्रस्तुतिकरण में यत्र-तत्र मौलिकता दर्शाने का प्रयास किया है । उनके इन प्रयत्नों ने प्रस्तुत धार्मिक कथा के सर्वमान्य आदर्श का हनन कर दिया ।'सुरुचि द्वारा लांछित होकर ध्रुव का स्वयं अपने पिता को फटकारना[2] व माता सुरुचि के प्रति भी ऐसा ही

१--अंक३, दृश्य८, पृ०६६

२-- ध्रुव--' इस तरह एक रमणी के रूप जाल से मोहित हो अपनी संतान का अपमान करने वाले न्याय का गला घोंटने वाले, प्रकृति के विरुद्ध नियम बनाने वाले को शास्त्रकार हृदयविहीन स्त्रैण बताते हैं ।' अंक१, दृश्य२, पृ०२३ ।

तिरस्कार व लांछित भाव[1] उसकी बाल्य-बुद्धि के अनुरूप नहीं है व उसे उसके उच्च आदर्श से गिराने वाले हैं। ध्रुव के जाते ही राजा की व्याकुलता व विशेषत: सुरुचि, जिसके मन में इससे पूर्व कहीं भी स्निग्ध व स्नेह भाव नहीं मिलता, के पश्चात्ताप[2] में इतनी शीघ्रता दिखाना कुछ अस्वाभाविक लगता है। नाटककार ने बाल्य-हृदय में भक्ति का बीजारोपण सुनीति द्वारा नहीं दिखाया वरन् राज-दरबार से तिरस्कृत होते ही ध्रुव बिना माँ से मिले वन चला जाता है।

१७६. छप्पन पृष्ठीय इस संक्षिप्त त्रिअंकी नाटक में इतनी बड़ी कथा का नाटकीयकरण किया गया है कि घटनाएं बड़ी तीव्रता से परिवर्तित होती चलती हैं। 'रामायण' नाटक की भी यही स्थिति है। इसमें सीता के विवाह से रामराज्य तक की सम्पूर्ण कथा का अंकन है। किन्तु राम का वनगमन, भरतमिलाप, सीताहरण, लक्ष्मण को शक्ति लगना, अशोकवाटिका में सीता की स्थिति आदि मार्मिक प्रसंगों को या तो नाटककार ने स्पर्श ही नहीं किया अथवा इन स्थितियों की पूर्णता की परिकल्पना प्रेक्षक वर्ग को स्वयं अपनी कल्पना से करनी पड़ती है। जन-प्रचलित कथा के कारण अवश्य उनके समक्ष दुरूहता नहीं रहती, अन्यथा कथानक बड़ा असंगठित और अस्पष्ट है। इसी अधूरेपन के कारण पात्रों के चरित्र की उदात्तता व स्वाभाविकता सामने न आ सकी। मर्यादावादी पुरुषोत्तम राम को तो 'कामुक-पुरुष' ही बना डाला गया। पुष्पवाटिका में सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनका छाती पीटना-- 'गई-गई- वह गई --

हजारों तीर से जिसमें न आहें सर्द पैदा हों।
उसी दिल में निगाह के तीर से यों दर्द पैदा हो।'[3]

भारतीय संस्कृति का गला घोंटना है। 'दशरथ' की कैकेई पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध होकर राम की वापिसी नहीं चाहती, वरन् यहां भी उनमें स्वार्थ-भाव की

१- 'आप स्वर्गीय मनु महाराज की वधू होकर जब राजघराने में तुमने इस बीज को रोपा है तब आगे के राजे अवश्य इसके कड़वे फल मुंह से लगावेंगे।' अंक१, दृश्य५, पृ०२१।

२- सुरुचि--'अब तो मेरे हृदय से यही निकलता है कि... भगवान मेरे पाप के बदले मेरा सत्यानाश करें, किन्तु ध्रुव को आनन्द सहित घर पहुंचा दे।' -- अंक २, दृश्य२, पृ०२७

३-अंक१, दृश्य४, पृ०२६

प्रधानता है[१]।

१८०. स्त्री-सुधार के लिए लिखे 'सावित्री सत्यवान' नाटक में नाटककार ने सावित्री द्वारा पातिव्रत्य के आदर्श को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मूल कथा के समानान्तर चलने वाली सती सुकन्या की कथा भी इसी आदर्श की प्रतिपादक है, जो च्यवन ऋषि के प्रति अनजान में हुई अपनी भूल के कारण पश्चाताप-वश पत्नी रूप में उनकी सेवा करके अपनी भूल का परिमार्जन करती है। सावित्री ने सत्यवान को यदि यम की फांस से बचाया तो सुकन्या ने भी अपने त्याग व तपस्या से पति को नव जीवन दिया। फक्कड़ मक्कड़ की हास्य कथा द्वारा झगड़ालू पत्नियों के दुष्परिणाम दर्शा कर नाटककार ने मूल कथा के उद्देश्य को और प्रखर बनाया है। 'हसरत' के अन्य नाटकों की तुलना में 'सावित्री सत्यवान' कलात्मकता की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है।

१८१. 'महात्मा कबीर' नाटक में 'हसरत' ने कबीर के जीवन, भक्ति व दर्शन सम्बन्धी उनके मन्तव्य का नाटकीकरण करके हिन्दू-मुस्लिम एकता व जनहित की भावना का प्रसार किया है। पद्य-प्रयोग की बहुलता है। कबीर ने साहित्य संसार में जिन दोहों, साखी व पदों की रचना की है वे ही भाव नाटककार ने अपनी भाषा में प्रस्तुत कर दिए हैं।

मुंशी किशनचन्द 'जेबा'

१८२. पारसी नाटक कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत होने के लिए पंजाब के मुंशी किशनचन्द 'जेबा' ने अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। मुंशी जी का हृदय देश के प्रति सच्चा व उसकी दुर्दशा के प्रति चिन्तित तथा आकुल था। वह उसके यथातथ्य अंकन द्वारा आत्मविस्मृत देशवासियों को कर्त्तव्य का बोध कराकर उन्हें सही पथ पर लाना चाहते थे, जिसके अनुसरण से देश का कल्याण सम्भव हो सके। पराधीनता की बेड़ियों को काट कर वे स्वतन्त्रता का आह्वान कर सकें। इन भाव-प्रेरणाओं के कारण उनकी सभी

१- कैकेई—'मेरी इच्छा है भरत को बन की आज्ञा दो और तुम घर लौट कर सब का दुःख दूर करो ... तुम्हारे अयोध्या लौटने से .. मेरे माथे का कलंक छूट कर उज्ज्वल हो जाएगा।'
— अंक २, दृश्य ३, पृ० ५५

रचनाएं राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत हैं । आपने पुराण व इतिहास से कथावृतों का चयन भले ही किया हो, किन्तु कहीं भी वह वर्तमान से कट कर अथवा अलग होकर नहीं रहा । वर्तमान समाज की आवश्यकताओं की अनुरूपता में ही नाटककार ने पुराण व इतिहास की ओर दृष्टि-क्षेप किया है, क्योंकि वहां उसे उसका समुचित समाधान उपलब्ध था ।

१८३. अपने 'देव संग्राम या धर्माधर्मयुद्ध' में नाटककार ने कौरव पाण्डवों के युद्ध की महाभारतकालीन कथा के नाटकीकरण के साथ विदुर के द्वारा उसे वर्तमान से समन्वित कर दिया है । विदुर का सत्याग्रह वर्तमान युग के स्वातन्त्र्य संग्राम को अपने में समाहित किए हुए है । भाग्य की दुहाई देकर कर्म से मुख मोड़ने वाले निष्कर्म भाग्यवादियों को इस संग्राम में खींच लाने के लिए नाटककार ने युधिष्ठिर केवल तीखे वचनों में फटकार के साथ कर्तव्य का मार्ग दिखाया है--' जो दूसरों का अधिकार दबा कर खाते हैं वह बड़े ही निर्दयी हैं, परन्तु जो व अपने स्वत्व को दूसरों के अत्याचार भय से छोड़ दें उनसे बढ़कर नामर्द नहीं ।'[1] प्रस्तुत कथन अन्यायी कौरवों के विरोध में कहा गया है , किन्तु वर्तमान के लिए भी पूर्णतः सत्य है ।

१८४. कृष्ण व विदुर की कथा द्वारा भक्ति भाव की श्रेष्ठता एवं महत्ता प्रतिपादित की गयी है । दुर्योधन के राजसी वैभव के सत्कार को ठुकरा कर कृष्ण केवल भक्ति भाववश ही प्रेम में सराबोर निर्धन विदुर का आतिथ्य ग्रहण करते हैं । इसमें यदि एक ओर भक्त का अनन्य प्रेम है तो दूसरी ओर भगवान की अपूर्व भक्त वत्सलता है । नाटक में कोई हास्यकथा नहीं । ब्राह्मण और अछूत चमार की उपकथा द्वारा नाटककार ने अस्पृश्यता की समस्या उठाकर उसके अनेक दुष्परिणाम प्रस्तुत किए हैं[2] व विदुर द्वारा उन्हें कंठ से लगाकर अप्रत्यक्षरूपेण उसका समाधान दिया है जो समस्या की गम्भीरता की दृष्टि से काफी स्थूल है ।

१- अंक२,व दृश्य २ , पृ०५७

२- विदुर-- 'जिनको ठुकराने से हमने नाश अपना कर लिया ।
इनको ठुकराया मगर गौरों ने आंखों पर लिया' ।
--अंक२,दृश्य४,पृ०७४

इसमें समस्या का समुचित समाधान नहीं मिलता । युद्धभूमि में मोहान्ध अर्जुन के प्रति कृष्ण का उपदेश 'गीता' के अध्याय द्वितीय और तृतीय का अनुवाद है जो लम्बा होने के कारण कुछ नीरस भी है ।

१८५. मुंशी किशनचन्द ने काठियावाड़ की 'सूर विजय' नाटक कम्पनी के स्थायी नाटककार के रूप में 'श देव संग्राम' के अतिरिक्त 'गंगावतरण' 'सीता वनवास', 'महात्मा विदुर', 'महात्मा कबीर' आदि अनेक पौराणिक नाटकों की रचना की ।

१८६. ऐतिहासिक नाटकों में मुंशी जी का 'पद्मिनी' नाटक अधिक लोकप्रिय हुआ । चित्तौड़ के राजा भीम सिंह की पति परायण पत्नी पद्मिनी का अद्वितीय सौन्दर्य सभासदों, द्वारा खुशामद[1] व रूप वर्णन पर दिल्ली नरेश अलाउद्दीन का मोहित होना, धर्म बहिन के फरेब से दर्पण में छवि देखना, दावत के बहाने भीम सिंह को बन्दी बनाना, अपने चातुर्य से पद्मिनी का पति को मुक्त कराना, भीम सिंह व अलाउद्दीन का युद्ध, राजपूतनियों सहित पद्मिनी का जौहर व अलाउद्दीन का पश्चाताप आदि घटनाओं को नाटककार ने टाड कृत 'राजस्थान का इतिहास' से लेकर सुन्दर रीति से उनका प्रस्तुतीकरण किया है । पद्मिनी के चरित्र द्वारा पातिव्रत्य का आदर्श उपस्थित करना व कथा द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना का प्रसार रचना का प्रमुख उद्देश्य है । किन्तु इसकी पूर्ति में नाटककार ने सूक्ष्म व्यंजना के स्थान पर स्थूल साधनों को अपनाया है यथा युद्ध से पूर्व मुसाहिब की रूह का स्वप्न में नेकी-बदी को समझाकर, दोनों में से एक को चुनने का आदेश देना या जौहर के उपरान्त पश्चातापग्रस्त अलाउद्दीन का गो, ब्राह्मण व हिन्दू धर्म के समक्ष झुकना और क्षमा प्रार्थी होना आदि । फिर

१- सभासद--'एक फूल सुनसान जंगल में खिला हुआ इतना खूबसूरत नहीं लगता जितना कि एक बाग में लगा है । बहुधा वह परी आपही के महल में रखने के काबिल है ।'

-- अंक१, दृश्य५, पृ०५७

भी ऐतिहासिक सत्य की रक्षा के लिए नाटककार प्रशंसा का पात्र है । कोई स्वतन्त्र हास्य कथा नहीं है, इससे कथावस्तु का सौन्दर्य सुरक्षित रह सका है । यत्र-तत्र शीघ्र दृश्य परिवर्तित होने तथा पद्य-गीत की बहुलता पर भी कथा संगठन अन्य रचनाओं की सापेक्षता में उत्तम है ।

१८७. वर्तमान भारत की दुर्दशा पर क्षुब्ध नाटककारों ने उसकी स्थिति सुधारने के लिए शहीदों की आदर्श जीवनियां प्रस्तुत की हैं,क्योंकि उनके मन्तव्य में--

'हमेशा वीर का इतिहास कौम को बनाता है ।
यह है इतिहास ही जो कौमों को ऊपर उठाता है[1]।'

१८८. 'बेबा' के 'शहीद सन्यासी' की रचना का कारण यही प्रेरणा है, जिसमें उसने चरित नायक स्वामी श्रद्धानन्द की निष्काम और अनन्य सेवा भक्ति के आदर्श का नाटकीकरण किया है । भारतमाता की हृदय-वेधकारी पुकार व स्वामी दयानन्द के द्वारा सतपथ का बोध कराने पर सचेत होकर वकील श्रद्धानन्द अपना सर्वस्व होमकर देश सेवा के विस्तृत प्रांगण में उतरते हैं, किन्तु किसी प्रकार की स्वार्थ भावना व आत्मप्रसिद्धि के मोह में नहीं वरन् लोक उद्धार की अनन्य कामना की प्रेरणा में । यह निष्काम कर्म ही उनकी सबसे बड़ी साधना व सबसे बड़ा सन्यास था जिसके प्रेरणादायक थे ग्वाले के रूप में परिवर्तित वेशधारी श्रीकृष्ण । 'बेशक सन्यास से बढ़कर कर्म की शक्ति है । यही सच्ची श्रद्धा और यही उत्तम भक्ति है[2]' इस कथन को कृष्ण के मुख से कहलवाकर नाटककार ने संसार से मुंह मोड़कर व वैराग्य का अनुसरण करके अपने को सन्यासी कहने वालों को सन्यास के सही रूप का स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में दर्शन कराया है । नाटक की मूल भावना यदि सीमित शब्दों में व्यक्त की जा सकती है तो वह है 'निष्काम कर्म साधना ।'

१- चिदानन्द 'बेबा' --'शहीद सन्यासी', मंगलाचरण, पृ०२५
२- अंक २,दृश्य४, पृ०७६

१८६. मुंशी जी की रचनाएं राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं । इनके 'भारत दुर्दशा दर्पण', 'देश दीपक', 'जख्मी हिन्दु', 'जख्मी पंजाब' 'गरीब हिन्दुस्तान', 'हमारा देश' आदि कृतियों को राष्ट्र का दर्पण कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी । दर्पण के समान ही इनमें स्वतन्त्रता संग्राम के पूर्व से स्वतन्त्रता संग्राम तक के भारत की अन्तर्दशा पूर्णत: प्रतिबिम्बित है ।' भारत दर्पण या कौमी तलवार' तो इस धर्मयुद्ध (स्वतन्त्रता संग्राम) के छिड़ने और अहिंसारूपी शस्त्र धारण को विवेचनार्थ ही लिखा गया है[१]। अंग्रेजों के भारत आगमन, हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्धों में वैमनस्य व द्वेषभाव का बीजारोपण, ब्रिटानिया-टर्की युद्ध में स्वराज्य की आशा से हिन्दु मुस्लिमों का अंग्रेजों को पूर्ण सहयोग , प्रतिकार में खलीफा की समस्या का समाधान न होना ,' रौलट बिल' से क्षुब्ध होकर गांधी के असहयोग रूपी 'कौमी तलवार' को लेकर भारतीयों का स्वातन्त्र्य संग्राम में कूदना आदि घटनाओं का प्रस्तुतीकरण नाटककार ने यथासाध्य कल्पना की रंगीनी से बचाकर किया है ।

१६०. इसी असहयोग की भावना के विस्तार के लिए मुंशी जी के अतृप्त मानस ने 'देश-दीपक' नाटक का संगठन किया जिसमें इससे एक कदम आगे बढ़कर नाटककार ने स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की चर्चा की है[२]। कर्मवीर के प्रति भारतमाता का उद्बोधन 'उठो और असहयोग का भण्डा लेकर आगे बढ़ो.. देश में स्वदेशी का उद्धार करो .. यही सफलता की कुंजी है[३] '-- नाटक की मूल कथावस्तु को कर्मवीर के प्रयत्नों में समाहित किए हुए हैं ।

१-'भारत दर्पण' -- नाटक की भूमिका --'बेवा'

२- (अ) 'भोजन वरु भाषा होय स्वदेशी भेष ।
फिर यह निश्चय जानिये है स्वाधीन निज देश । ।
भूमिका -- देशदीपक (बेवा)

(ब) अपने स्वदेशी विचारों को नाटक के रूप में लाना ही उचित समझ कर यथा साध्य देश सेवा में भाग लेने की चेष्टा की है ।
--'बेवा' भूमिका(देश दीपक)

३- अंक१, दृश्य१, पृ०१०

१६१. स्वतन्त्रता के प्रतिबन्ध प्रेम और त्याग की भावनाओं के साथ ही नाटककार का यह दर्शाना कि नारी वर्ग में चेतना व उनका कर्त्तव्य पथ में आना भी अत्यावश्यक है, उस समय की प्रबुद्ध सामाजिक चेतना व परिस्थितियों की मांग पर कृतिकार के सजग व्यक्तित्व का परिचायक है। साधनी और वीरबाला के द्वारा इस प्रकार की भावनाओं को नारी समाज में अंकुरित होते दिखाकर उस समय की नारी-चेतना को दर्शाना नाटककार भूला नहीं है। अपंग साधनी देश सेवा के लिए भारत ललनाओं से आभूषणों की भीख मांगकर देश के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करती है तो उपाधियों के लिए अंग्रेजों के खुशामदी राय साहब की पुत्री वीरबाला अपने पिता के विरोधों का चिन्ता न कर अपने देश की पुकार पर स्वार्थों से ऊपर उठकर एम०ए० बन्द से विवाह करना अस्वीकृत करके क्योंकि वहां सब कुछ विदेशी है, अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ पूर्ण आत्मशक्ति का परिचय देती है। 'ब्याह तब करूंगी जब मेरा प्यारा भारत स्वाधीन हो जाएगा और मेरा स्वामी गुलाम नहीं स्वतन्त्र भारत का रत्न होगा[1]।' इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से कर्म क्षेत्र में उतर कर खद्दर वस्त्रधारी यह वीर बाला देशसेवा के लिए भीख मांगती है।

१६२. नाटककार ने स्वतन्त्रता संग्राम के समय के भारत की दुर्दशा का अंकन अपनी इन कृतियों में पूर्णरूपेण किया है। एक ओर अकाल के समय भूख से बिलबिलाती वृद्धा मां का अपने कलेजे के टुकड़ों को बेचना[2] व दूसरी ओर भारतीयों की खून पसीने की कमाई पर अंग्रेजों का ऐश्वर्य मनाना[3], इन दोनों ही विरोधी स्थितियों में नाटककार के हृदय को मथा है। उसने इस निर्धनता के मूल में जाने की चेष्टा की है। धनिकों के अत्याचार व मशीनों की सर्वग्राहिता ने ही भारतीयों को इस स्थिति में पहुंचाया है। 'चैरखों की सस्ती और अमीरों के

१- 'देशदीपक,' अंक३, दृश्य १, पृ०८६

२- भारत दर्पण- अंक १, दृश्य ३, पृ०३३

३- 'गरीब हिन्दुस्तान,' अंक २, दृश्य २, पृ०-८७

ब्याज ने गरीबों की जिन्दगी लूट ली । अनाज दिन-ब-दिन मंहगा होता जाता है । कपड़े की गिरानी ने गरीबों को नंगा रखने का कसद किया है । आबजा हाथ-पांव की मेहनत करने वालों की जिन्दगियों को मशीनों का लकवा मार गया है[1]।"

१६३. 'गरीब हिन्दुस्तान' नाटक में कृति के नामानुसार भारत दुर्दशा व उसके मूल कारणों को अंकित करने के साथ ही व्यंग्य व बौछार की प्रहारों से समाज की आंख खोलने की चेष्टा की गई है । रूढ़िवादिता और कुप्रथाओं से ऊपर उठने का आग्रह किया गया है, क्योंकि यही वह कारण है, जिसने समाज की जड़ को खोखला कर दिया है । इससे यह तात्पर्य नहीं कि नाटककार विदेशी सभ्यता का अनुयायी है । सच तो यह है कि वह युग के अनुरूप चलना चाहता है, किन्तु इस तरह कि भारतीय आत्मा का सौन्दर्य न तिरोहित हो जाए । यही कारण है कि अपने इस नाटक में एक ओर यदि उसने ठाकुर और कौशल्या की कथा द्वारा भारत की रूढ़िवादिता का उपहास किया है जो अपनी पुत्री कमला के हाथ में उसके भावी पति अजीत की तस्वीर देखकर अपनी मान-मर्यादा का अपमान समझ कर उसे घर से निकाल देते हैं व पतन के मार्गों का प्रसार करते हैं तो दूसरी ओर विदेशी रंग में पूर्णत: रंगे उनके पुत्र सूर्य सिंह द्वारा विदेशी सभ्यता पर व्यंग्य बौछार की है ।

१६४. 'जख्मी हिन्दू' हिन्दू-मुस्लिम समस्या के आधार पर संगठित और विकसित हुआ है । इस समस्या को थोड़े बहुत रूप में उसने अपनी सभी कृतियों में उभारा है , किन्तु 'जख्मी हिन्दू' का कथा कलेवर सम्पूर्णत: इसी समस्या के ताने-बाने से बुना गया है । भूमिका में ही नाटककार ने व्यक्त कर दिया कि परिस्थितियों की मांग पर उसे हिन्दू संगठन पर एक नाटक लिखने की प्रेरणा हुई । इसी से प्रेरित होकर हिन्दुओं की निर्बलता और तुल्य सत्ता, उनके दकियानूसी विचार (विधवाओं के सम्बन्ध में, जिससे क्षुब्ध और खिन्न होकर वे परधर्म ग्रहण कर लेती हैं) मुसलमानों द्वारा षड्यन्त्र का प्रयोग और धर्म परिवर्तन कराना, पंडितों और मुल्लाओं का धर्म के बाह्य और आडम्बरी रूप को महत्व देना व उसके दुष्परिणाम , हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष में गोहत्या की स्थिति आदि तथ्यों पर उसने प्रस्तुत नाटक का कलेवर बनाया है ।

१. 'गरीब हिन्दुस्तान' अंक २, दृश्य २, पृ० ८८

१९४. मुंशी जी के इन राष्ट्रीय नाटकों में अधिकांश के कथानक उलझे हुए हैं। अनेक समस्याओं को उठाने के लिए नाटककार ने छोटी-छोटी विविध उपकथाओं की संयोजना की है, जिससे मूल कथा उभर नहीं सकी। सत्यता तो यह है कि नाटककार ने एक कथा को मुख्य आधार बनाकर उसपर बल देने की चेष्टा ही नहीं की। इसी से चरित्र भी पुर्णत: उभर नहीं सके। नाटककार की दृष्टि कथा व चरित्र के सौन्दर्य पर नहीं, वरन् कल्पना की रंगीनी से अलग हटकर समय और समाज के यथार्थ चित्रण की और अधिक है। फलत: इनमें वो सौन्दर्य नहीं जो उनके पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में उपलब्ध है। अतिशय पद्य-प्रयोग व लम्बे पद्यात्मक कथोपकथनों के उपरान्त भी नाटक पूर्णत: रंगमंचीय हैं।

तुलसीदत्त 'शैदा' 'स्नेही'

१९६. तुलसीदत्त 'शैदा' जाति के पंजाबी व लुधियाना वासी थे। नाट्य-जगत में इनका प्रवेश सर्वप्रथम रामलीलाओं के माध्यम से हुआ जो प्रतिवर्ष लुधियाना में हुआ करती थीं। वहां पर उनके अभिनय की सफलताओं ने ही 'शैदा' जी को पंजाबी नाट्य कम्पनियों में पहुंचा दिया। इस प्रकार उनके नाटकीय जीवन का आरम्भ एक अभिनेता के रूप में हुआ। रंगमंच के इस प्रत्यक्ष निजी अनुभवों ने अभिनेता के कलाकार मन को उत्तेजित करके नाट्य लेखक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जिसका प्रारम्भ उर्दू नाटकों के संगठन से हुआ। कुछ कालोपरान्त अपने पंजाब निवास के मध्य ही हिन्दी के प्रभाव से उत्साहित होकर वहां हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रयास किया और इसी हिन्दी प्रेम में 'शैदा' के साथ 'स्नेही' उपनाम धारण कर करके[१] अनेक हिन्दी नाटकों की रचना की। सन् १९१५ के पश्चात् 'शैदा' जी मैडनफ्थियेटर्स (कलकत्ता) के यहां स्थायी नाटककार के रूप में नियुक्त हो गए। आगा हश्र 'काश्मीरी' भी इस समय नाटककार के पद पर वहीं नियुक्त थे। उनकी कृतियों के साथ ही साथ 'शैदा' जी रचनाएं भी अभिनीत हुईं।

१- 'इस नाटक ने मेरे मन में एक नई लहर उत्पन्न कर दी जो अन्त में एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब में एक नाटककार की नियुक्ति के रूप में परिणत हुई।
तुलसीदत्त 'शैदा' -- भूमिका -बिल्व मंगल'

१६७. 'मदन थियेटर में नाटककार के रूप में नियुक्ति का श्रेय 'शैदा' के 'बिल्वमंगल' अर्थात् भक्त सूरदास' नाटक को है[1] जो 'दी पारसी एम्पायर थियेट्रिकल कम्पनी' और 'दी न्यू विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' के रंगमंच पर अपूर्व सफलता के साथ अनेक बार अभिनीत हुआ। इस पौराणिक नाटक की कथावस्तु का संगठन एक गुजराती नाटक के आधार पर किया गया था[1]। नाटक का आरम्भ कृष्ण व उनके भक्त मंगल के सत्संग सम्बन्धी विवाद से होता है, जिसकी परीक्षा की कसौटी बिल्व और चिन्तामणि को बनाकर नाटककार ने विवाद की समाप्ति सत्संग की श्रेष्ठता सिद्धि में की है। इसी के प्रभाव में सांसारिक रास-रंग में डूबी वैश्या चिन्तामणि भक्ति के पथ पर आती है और उसके इस परिवर्तित रूप को देखकर बिल्व को अपने हृदय में कृष्ण के प्रेममय व ज्योतिर्मय रूप का दर्शन होता है[2]। किन्तु इसके लिए अन्य नाटकों के समान उसे चिन्तामणि से लांछित और तिरस्कृत नहीं होना पड़ा। उसकी भक्ति के प्रभाव में बिल्व का लौकिक प्रेम (अपनी उसी तीव्रता के साथ जितना की वह चिन्तामणि को प्रेम करता है) स्वयमेव ही कृष्ण की ओर उन्मुख हो जाता है। यदि नाटककार इस परिवर्तन के लिए कुछ ठोस मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत कर देता तो स्वाभाविकता की अधिक रक्षा हो सकती थी। किन्तु प्रेम के आधार को लेकर सत्संग के अद्भुत महात्म्य के प्रदर्शन की भोंक में वह ऐसा नहीं कर सका। कृष्ण के पेट दर्द तथा उसके निवारणार्थ मानुष कलेजे के मांगने की कथा साधुओं व तपस्वियों की अहम्मन्यता और खोखलापन दर्शाने के लिए रखी गई है, जिसमें मंगल भक्त की अपने को सर्वश्रेष्ठ भक्त मानने की अहम्मन्यता व गर्व का खण्डन बिल्व के अनन्य प्रेम के दृष्टान्त द्वारा बड़ी ही चतुराई पूर्वक किया गया है। नाटक का सम्पूर्ण तीसरा अंक बिल्व के भक्ति रस में डूबा हुआ है। गीत, पद्य बहुल होने पर भी नाटक भाषा व भाव दोनों ही दृष्टि से अच्छा है। अलग से कोई हास्य कथा नहीं है।

१-(अ) गिरीशचन्द्र का 'बिल्वमंगल' नाटक १२ जून, १८८६ को स्टेज हो चुका था। एच०एन०दास गुप्ता-इण्डियन स्टेज, भाग३, १६४४, पृ०७२

(ब) नाथूराम जी ने भी 'सूरदास' नाम से एक गुजराती नाटक की रचना की जिसे सूर विजय ने अभिनीत किया। -राधेश्याम कथावाचक-मेरा नाटककाल' १६५७, पृ०८२

१९८. माहिष्मती नगरी के राजा नीलध्वज के पुत्र प्रवीर की अद्भुत मातृभक्ति के आदर्श पर 'शैदा' ने अपने 'मातृभक्ति' नाटक के पौराणिक कलेवर को सजाया संवारा है। शान्त गति से विकसित होने वाले इस नाटक में संघर्षपूर्ण स्थिति का आरम्भ उस स्थल से होता है, जहां प्रवीर मदन मंजरी (पत्नी) की इच्छा पर अर्जुन के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को पकड़ कर युद्ध का आह्वान करता है तथा अपने क्षात्रियत्व के दर्प और ओज से पराक्रमी अर्जुन के लिए एक चिन्ता का विषय बन जाता है। अर्जुन और कृष्ण की पूर्व निर्धारित योजनाओं के अनुसार 'रति' के छल छद्म में अस्त्र-शस्त्र खोकर व वासना के आवेग में कर्तव्य को भूलकर मां जना की चरण-धूलि न लेने के कारण ही इस अजेय, पराक्रमी की पराजय होती है, क्योंकि मातृभक्ति ही उसकी अजेय व अखण्ड शक्ति थी।

१९९. मातृभक्ति के साथ ही नाटककार ने भक्ति के स्वरूप और महात्म्य को भी प्रस्तुत किया है। कृष्ण, नीलध्वज, सत्यदेव, वृषकेतु, शिव, अर्जुन आदि भक्ति से सम्बन्धित पात्रों की संक्षिप्त उपकथाओं के कारण नाटक की कथा का स्वरूप कुछ विस्तृत हो गया है। संवाद लम्बे हैं, किन्तु अरंगमंचीय नहीं। नाटककार ने कहीं-कहीं मां की मनोदशा का अतिशय सुन्दर अंकन किया है। पद्यात्मक कथोपकथनों का अभाव है। हां, गीत अवश्य हैं, किन्तु भद्दे व भोंडे न होकर सुरुचिपूर्ण हैं।

२००. भवभूति के 'उत्तररामचरित' से अपनी कथावस्तु के चयन के साथ 'शैदा' जी ने अपने 'जनक-नन्दिनी' नाटक के संगठन में बंगाल के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के 'सीता वनवास' और द्विजेन्द्रलाल राय के 'सीता' नाटक से पर्याप्त सहायता ली है[१]। नाटक वस्तुत: 'लवकुश' के नाम से लिखा गया था और सन् १९१९ में जब कावसजी पालन जी खटाऊ की 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' लाहौर पहुंची तो उसके रंगमंच पर लाने के उद्देश्य से कम्पनी मालिक को सुनाया भी गया। किन्तु उद्देश्य पूर्ति में अनेक व्यवधान आ उपस्थित हुए और किन्हीं कारणोंवश यह

१- तुलसीदत्त - 'शैदा' -- भूमिका 'जनकनन्दिनी' नाटक की।

अल्फ्रेड के रंगमंच पर न खिल सका । अत: जब १६१६ में मूलराज की 'दी न्यु एम्पायर थियेट्रिकल कम्पनी' लाहौर आई तो 'शैदा' ने इसे सप्राण बनाने की पुन: चेष्टा की । किन्तु मूलराज जी के अस्वस्थ होने व कम्पनी की बागडोर 'शैदा' के हाथ में आने पर भी नाटक अभिनीत न हो सका और यूं ही पड़ा रहा । पांच वर्ष पश्चात् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो कर मदन थियेटर के आधिपत्य में आकर अल्फ्रेड ने ही १० अक्टूबर १६२१ को 'जनक नन्दिनी' के परिवर्तित नाम से इसका अभिनय किया[१]।

२०१. अपने इस नाटक में 'शैदा' ने कर्म और नियति को प्रधानता देकर, अवतारी राम को कर्माधीन, नर तन धारी पुरुष बनाकर, सहज ही उन्हें सब दोषों से मुक्त करने के साथ ही पौराणिक कृतियों के क्षेत्र में एक बड़ी क्षति को पूरा किया । उनके इस नए दृष्टिकोण के कारण नाटक में अपूर्व सौन्दर्य आ गया तथा पौराणिक पात्र और आदर्श हमारी पहुंच से परे अलौकिक जगत की वस्तु बनकर नहीं रह गए वरन् उस उच्च धरातल तक पहुंचने के लिए नाटककार ने हमारे समक्ष उन्नति के मार्ग का विस्तार प्रस्तुत किया । पूर्णत: रंगमंचीय होने पर भी भाषा में उर्दूपन व उतनी प्रभावपूर्णता न होने के कारण 'शैदा' का यह नाटक आगा हश्र के 'सीता वनवास' के समान लोकप्रिय और सफल न हो सका ।

२०२. तुलसीदत्त 'शैदा' के 'नल दमयन्ती' 'वामनाचार्य,' 'सावित्री' आदि अन्य पौराणिक नाटकों में कोरन्थियन थियेटर में खिलने वाला 'नलदमयन्ती' अधिक सफल सिद्ध हुआ । इसमें अनेक चामत्कारिक दृश्यों की संयोजना की गई थी ।

२०३. 'नारी हृदय' 'शैदा' जी का ऐतिहासिक नाटक है जिसको 'विक्रम-चरित' के नाम से अमृतसर की 'दी न्यु एम्पायर थियेट्रिकल कम्पनी' ने सर्वप्रथम मार्च १६१४ में अभिनीत किया । गुजराती कम्पनियों के प्रसिद्ध अभिनेता मास्टर

१- तुलसीदत्त 'शैदा' -- 'जनक नन्दिनी' नाटक की भूमिका ।

मोहनलाल से उसका 'प्लाट' सुनकर 'शैदा' ने अपनी इस कृति की संरचना की थी[1]। नारी चरित की महानता सिद्ध करना नाटककार का मुख्य उद्देश्य है। पुरुष चरित्र को 'तुच्छ रेणु' कहकर विक्रमादित्य के विचारों की अवहेलना करने वाली सेठ मेघराज की पुत्री रंभा उनकी पुत्रवधु बनकर भी अपने मन्तव्यों की सार्थकता सिद्ध करने के लिए दण्ड स्वरूप निर्जन स्थान में रखी जाती है। विभिन्न परिस्थितियों के आवृतों में घूमती रंभा ग्वालिन और योगिनी के छलपूर्ण परिवर्तित वेशों में चातुर्य पूर्वक अपने कथन की सत्यता सिद्धि में सफल होती है, क्योंकि नाटककार का इस ऐतिहासिक इतिवृत के चयन में उद्देश्य ही यही था। घटनाओं के साथ उसने 'इन्द्रा' द्वारा इस विषय में तार्किक मत भी प्रस्तुत किया है --'बतलाइए आप जो कर्तव्य करते हैं वह किसके सहारे करते हैं।.... शक्ति के.... ? शक्ति कौन है ? स्त्री जाति। जब प्रत्येक कार्य शक्ति से हो रहा है तो पुरुष चरित्र स्त्री चरित्र से बढ़कर कैसे हुआ ?' सन्दल, बन्दल और मालिन पुत्र आस्तीक द्वारा हास्य-कथा का संयोजन किया गया है। यह परम्परागत भौंडा हास्य नहीं वरन् चातुर्यपूर्ण और गुदगुदाने वाला है।

२०४. पौराणिक और ऐतिहासिक रचनाओं के अतिरिक्त 'शैदा' ने अनेक सामाजिक नाटकों का रूप संगठन भी किया। 'संसार चक्र', 'हरिजन', 'लज्जा', 'नन्ही दुलहन' आदि उनकी सामाजिक रचनाएं हैं, जिसमें समाज के विभिन्न पहलुओं का स्पर्श करके अनेक समस्याओं को उठाया और उनका समाधान दिया गया है।

२०५. बाल विधवा की कथा को लेकर बाल-विवाह के दुष्परिणामों को दर्शाने वाले 'लज्जा' नाटक का नामकरण उसकी चरित नायिका के आधार पर किया गया है। विवाह शब्द के अर्थ से भी अनभिज्ञ भोली भाली लज्जा आठ वर्ष की आयु में समाज की रूढ़िवादिता और पिता के दुराग्रह के कारण इन अकाट्य बन्धनों में बंधकर व एक वर्ष पश्चात ही अपने सुख सुहाग सिन्दूर के पुछ जाने के कारण इसके दुष्परिणामों को भोगने के लिए छोड़ दी जाती है। चूंकि समाज में विधवा विवाह की अनुमति नहीं अतः उसकी

१- नाटक की भूमिका--'शैदा'

आपदाओं का अन्त कहां ? पति की मृत्यु के पश्चात् छली-कपटी बहनोई के प्रेम फन्दों के कारण उसे समाज के कलंक को मौन अन्तर्वेदना के साथ ढोना पड़ता है। अपमान की लज्जा और ग्लानि से पुत्र को गंगा की लहरों पर बहा देने के अपराध में कानून की मुजरिम बनाकर नाटककार ने समस्या को चोटी पर पहुंचा दिया है। समस्या के दुष्परिणामों के प्रस्तुतीकरण द्वारा नाटककार ने उसके ऊपरी स्वरूप का ही दर्शन नहीं कराया वरन् उसकी सूक्ष्म दृष्टि ने गहरे पैठ कर उसके मूल कारणों को भी देखा-परखा है। पिता की गलती के साथ ही भोली भाली कन्याओं का अल्हड़पन कुल की लाज का मोह व अपने में आत्मविश्वास व आत्मशक्ति का अभाव ही उन्हें उन आपदाओं का शिकार बनाता है।

२०७. हरिजनी' नाटक का कथा विस्तार कृति के नामानुसार अछूत समस्या के आधार पर हुआ है। अपनी इस रचना द्वारा 'शैदा' जाति पांति के भेद-प्रभेद को लेकर बिखरी हुई हिन्दू जाति के समक्ष संगठन का आदर्श उपस्थित करके उन्हें[1] उनकी शक्ति का बोध कराना चाहते थे। अछूत चप्पु का पुत्र गुलाब मृतशैया पर पड़े अपने पिता की अन्तिम इच्छापूर्ति के लिए मंदिर में चरणामृत लेने जाता है किन्तु वहां चरणामृत के स्थान पर मिलता है अपने को समाज का निर्माता कहने वाले संकुचित और नीच मनोवृत्ति वाले उच्च जाति के अधिकारी पुरुषों का तिरस्कार अपमान, धिक्कार और असह्य शारीरिक पीड़ा। ऐसे चोट खाए हणित हृदय में मसीहदयाल अपनी सहानुभूति के बन्धन के आलेपन से हिन्दू धर्म के प्रति अविश्वास व अवहेलना का बीजारोपण करके उसे अपने ईसाई धर्म में ले आते हैं क्योंकि यही विस्तार तो उनके लिए स्वर्ग का दरवाजा था।[2] पददलित गुलाब भी 'माइकेल साहब' बनकर समाज से मिलने वाली अपनी चिर संचित अवहेलना का प्रतिकार लेता है। किन्तु

१- 'हरिजनी (नाटक) के लिखने का बस यही एकमात्र मेरा हार्दिक अभिप्राय है कि ईसाई पादरियों की तरह हमारे हिन्दू सुधारक भी हरिजनों को मन वचन और कर्म से अपनायें.... ऊंच-नीच के वाद-विवाद की होली जलाकर विश्वप्रेम माला के मनके बन जायें, इसी में हिन्दू जाति का कल्याण है।
— कुलदीपस 'शैदा' — नाटक की भूमिका

२- मसीहदयाल (गुलाब के प्रति) —'तुम्हारी छाया मेरे लिए खुले हुए स्वर्ग का दरवाजा है। तुम्हारी छाया मेरे लिए सातवें आसमान की हवा का ठंडा फोंका है। आओ और इस बूढ़े पादरी को गले लगाओ।'
-- अंक १, दृश्य ५, पृ० १७

नाटक की नायिका उसके विपरीत धर्म के ठेकेदारों के अन्याय की चक्की में पिसकर व माइकेल की प्रेम ज्वाला में जलते हुए भी धर्म के आडम्बरी रूप से परे उसके वस्तु-सत्य रूप की पूर्ण स्वाभिमान के साथ रक्षा करती है। यही नहीं अपने दृढ़ आत्म-विश्वास और आत्मशक्ति के बल पर प्रतिशोध में अपने स्वरूप को भूले माइकेल को भी स्व धर्म का बोध कराती है। इसके कारण अन्ततः वह अपने इस धर्म को पहचाने में समर्थ होता है--

'मेरा मज़हब है हिन्दी, मैं हूं हिन्दुस्तान का वासी।
ना मैं यह हूं न मैं वह हूं, अगर कुछ हूं तो इन्सान।'[1]

२०७. नाटककार का यही उद्देश्य था कि भारतवासी सब प्रकार की धार्मिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर अपने को एक अनुभव करें। महन्त नेकीराम द्वारा धर्म के ठेकेदारों पर व्यंग्य बौछार की गई है, जिनके लिए एक ओर तो शूद्र इतने अस्पृश्य हैं कि वे उनकी छाया से भी अपनी रक्षा करते हैं तो दूसरी ओर उन्हीं शूद्रों के उच्च पदों पर पहुंचने पर उनके तलवे सहलाने में भी नहीं हिचकिचाते।[2] रूपो (मसी हरदयाल की पुत्री) के द्वारा नारी की मनोगत ईर्ष्यात्मक प्रवृत्ति का अंकन किया गया है। नाटक भाषा, भाव, संगठन व चरित्र-चित्रण इन सभी दृष्टियों से उत्तम है व जहां भी अछूतों की दुर्दशा का अंकन है वहां लेखक के दग्ध भावुक मन के दर्शन होते हैं।

२०८. वस्तुतः हरिजनों वर्तमान हिन्दू समाज की मुंह बोलती मूर्ति है, जिसमें अभागे हरिजनों की हार्दिक न्यायपूर्ण स्वाभाविक भावनाओं और लालसाओं का जाति पांति के मिथ्याभिमानी लोगों के काठ कठोर हृदयों के अमानवोचित दुर्व्यवहारों के मुकाबिले में बड़ी दक्षता के साथ चित्रण किया गया है।

२०९. उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त 'शैदा' का 'मीठा जहर' अथवा 'सत्यवती' नाटक भी उपलब्ध है। यह किसी अंग्रेजी नाटक का अनुवाद प्रतीत

१- अंक ३, दृश्य ५, पृ० ६८

२- महन्त नेकीराम (डिप्टी कलेक्टर माइकेल साहब के मंदिर आने पर)
'हरे, हरे। हुजूर। जूता न निकालिए। माई-बाप। सरकार के बूट की धूल झाड़ने के लिए मैं अपना दुशाला... बिछाता हूं और इस दुशाले की इज्जत में चार चांद लगाता हूं।' -- अंक १, दृश्य३, पृ० १०

होता है , क्योंकि उनकी मौलिक रचनाओं से काफी भिन्न है । इसमें 'शैदा' की कलम का वो जादू नहीं जो अन्यों में है ।

२१०. पंजाबी होने व उर्दू नाटकों की रचना के कारण 'शैदा' की हिन्दी भाषा का रूप पूर्णत: सौष्ठवमय और साहित्यिक नहीं है । किन्तु भाषा सम्बन्धी विशेष योग्यता न होने पर भी उनके हिन्दी प्रेम से लोगों ने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया ।

अन्य नाटककार

अब्दुल समी साहब 'आरजू'

कलियुग की सती (१६२३)

२११. 'व्याकुल भरत कम्पनी' का यह एक व्यंग्यप्रधान सामाजिक नाटक है जिसमें नाटककार ने समाज के विभिन्न पहलुओं का स्पर्श करते हुए निम्न कथाएँ प्रस्तुत की हैं --

१- रणजीत और मोहिनी की आधिकारिक कथा । मोहिनी की तबाही में कलियुग रूपी पात्र को लाकर नाटककार ने आज के युग को नाश का मूल कारण बताते हुए नामकरण की सार्थकता सिद्ध की है ।

२- रणजीत और नीरुद्दीन की हिन्दू - मुस्लिम ऐक्य[1] के आदर्श को प्रस्तुत करने वाली उपकथा ।

३- रणजीत और मोहन सिंह की मैत्री आदर्श को लेकर चलने वाली कथा ।

४- सर-प्रताप और मोहिनी की कथा ।

५- अजीत और मालती की कथा ।

६- मोहन सिंह और कामिनी की आदर्श प्रेम कथा ।

७- बेखबर और चम्पा की हास्य कथा , जिसमें वृद्ध विवाह के दुष्परिणामों के

१- 'हिन्दू के साथ यों है मुसलमान का रहना ।
जैसे उचित है इस देह में प्राण का रहना ।'
-- अंक२,दृश्य४,पृ०६३

अतिरिक्त चम्पा के द्वारा आज का सुशिक्षिता, सभ्यता में रंगी तथा भारतीयता को हीन दृष्टि से देखने वाली युवतियों पर व्यंग्य-बौछार के साथ मीठी चुटकियां ली गई हैं।

२१२. इतनी अधिक कथाओं के उपरान्त भी नाटक संगठन की दृष्टि से शिथिल नहीं है। सभी कथाएं एक-दूसरे से अनुस्यूत होकर समाज के बहुमुखी चित्रण के साथ अपने उद्देश्य की ओर प्रधावित होती हैं। भाषा अच्छी है। पद्यात्मक संवाद भी न्यून हैं।

आजादी की मौत (१६२३

२१३. आरज़ू साहब का यह नाटक राष्ट्रीय भावनाओं और देश-प्रेम से ओत प्रोत है। फ्रांस पर अंग्रेजों के आक्रमण, उनके अत्याचार व क्रान्तिकारी फ्रांसीसियों की प्रतिक्रिया नाटक की मुख्य कथावस्तु है। देवनागरी में लिपिबद्ध होकर भी नाटक में उर्दू शब्दों का बाहुल्य है। नाटक का नामकरण देशप्रेम से आप्लावित नायिका जोहन्ना के स्वातन्त्र्य प्राप्ति के प्रयास तथा उसके प्रतिकार में स्वयं अपने देश की मलका द्वारा मिलने वाली मौत[1] को लेकर किया गया है। युद्ध के प्रसंगों के कारण आत्महत्या, मृत्यु आदि के प्रसंग बहुत हैं। बुलिया व लाहर की मूल से भिन्न स्वतन्त्र हास्य कथा चलती है। कथा का संगठन अच्छा है व जोहन्ना का चरित्र पूर्णरूप से उभारा गया है।

२१४. प्रस्तुत नाटक किसी अंग्रेजी नाटक के आधार पर रचित प्रतीत होता है। 'आरज़ू' साहब का सामाजिक नाटक 'अछूत कन्या' (१६३८) भी उपलब्ध है।

१- जोहन्ना (मृत्यु के समय) "... जोहन्ना अपने हमवतनों के हुक्म से जिन्दा आग में जलाई जा रही है। मैंने सिर्फ यही कुसूर किया है कि उनको आजादी दिलाई। उनके घरों की आग को बुझाया।"

— अंक ३, दृश्य १, पृ० ७४

सैयद अबरहसैन आरजु (१८८२-१९५१)

अजामिल उद्धार(१९२४)

२१५. 'न्यू स्टार थियेट्रिकल कम्पनी' का यह पौराणिक नाटक नारायण नाम की महत्ता को लेकर संगठित किया गया है। अजामिल की अनन्य पितृ-भक्ति, नारद और इन्द्र द्वारा परीक्षा, उसमें डूबकर अजामिल द्वारा मेनका के प्रेमबन्धन में पितृ भक्ति के साथ ही ब्राह्मणत्व का बलिदान, अलोक के पुत्र पुरजंय (के रूप में नारायण का अवतार) की पितृ भक्ति में अजामिल का पश्चाताप, माता पिता की मृत्यु के कारण क्षोभ के आवेग में प्राणत्याग व नारायण के नामकरण के कारण स्वर्ग की प्राप्ति नाटक की मुख्य कथावस्तु है। जिस असली पृष्ठीय यह संक्षिप्त नाटक अभिनेयता के साथ ही कलात्मक व साहित्यिक मूल्य से सम्पन्न है। गीत और पद्य बहुल हैं। भावात्मक स्थलों पर विशेषतः अलोक और अलोका के संवाद लम्बे हैं। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। नाटक में मूल पौराणिक कथा से अलग साहु और धनपति की सामाजिक तत्वों से युक्त हास्यकथा है।

२१६.

ऊषा अनिरुद्ध(१९२५)

२१६. इस पौराणिक प्रेम कथा का उद्देश्य शैव और वैष्णव मत में एकता का प्रतिपादन है। ऊषा (शैव मतावलंबी शोणितपुर के राजा बाणासुर की पुत्री) और अनिरुद्ध (कृष्ण के परिवार से सम्बन्धित) का मिलन[1] इसी एकता का प्रमाण है। नाटक के कथासूत्र लगभग वे ही हैं जो 'कथावाचक' के 'ऊषा अनिरुद्ध' के हैं। हास्य कथा विधवा समस्या और पुनर्विवाह के रूप में उसके समाधान के सामाजिक तत्व को लेकर चली है। नाटक का अधिकांश भाग स्वप्निल सा है। भाषा

१- 'यह अपने प्रेम से शत्रु को हिन्द से भिन्न कर देगी।
यही भारत के दो बिछड़े दलों को एक कर देगी।'
ऊषा के सम्बन्ध में मदन का कथन
अंक१, दृश्य२, पृ० ५

साहित्यिक गुणों से युक्त है । संवाद पूर्णतः अभिनेय है ।

२१७. 'दुख्ते वतन' 'सती सारन्धा' या 'मातृभक्ति' तथा 'झांसी की रानी' 'आरजू' साहब के ऐतिहासिक नाटक हैं । प्रथम में फिलस्तीन की भूमि पर बाबुल के बादशाह की ओर से अमीर स्क्युरस का आगमन, फिलस्तीन वासियों का देशभक्ति के आग्रह में उसकी अवहेलना तथा इससे उद्भूत संघर्ष ही नाटक की मुख्य कथावस्तु है । इजराइल कौम के प्रति बाबुल वासियों के अत्याचारों का नाटककार ने अच्छा अंकन किया है । कोई हास्य कथा नहीं है । अपने संगठन में नाटक उत्तम है ।

२१८. सारन्धा और चम्पतराय की कथा द्वारा 'सती सारन्धा' नाटक में नाटककार ने बुन्देलखण्ड की दुर्दशा और घर की फूट (कंचुकाराय, पहाड़ सिंह और उसकी पत्नी हीरा के रूप में) के परिणाम अंकित किए हैं । नामकरण के अनुसार नाटककार ने चरित नायिका सारन्धा के चरित्र को नहीं उभारा । उसकी वीरता और पातिव्रत्य के हलके से संकेत ही उपलब्ध होते हैं । प्रधानता आपसी फूट और उसके परिणामों की है । हास्य व उपकथा का अभाव है । अत्यधिक पद्य प्रयोग के साथ संवाद भी पर्याप्त लम्बे हैं ।

२१९. 'झांसी की रानी' पूर्णतः ऐतिहासिक रचना है जिसमें नाटककार ने रानी की वीरता के साथ ही विद्रोह का अच्छा अंकन किया है । नाटक में हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष की एक अवान्तर कथा भी चलती है । नाटक अपने संगठन में पूर्ववर्ती दोनों ऐतिहासिक रचनाओं के समान ही संगठित है ।

२२०. पौराणिक धार्मिक और ऐतिहासिक रचनाओं के अतिरिक्त 'आरजू' साहब ने सामाजिक विषयों पर भी लेखनी चलाई है । 'हिन्दु स्त्री' (१९२४) 'मदिरा देवी' (१९२५) और 'दुखिया भारत' आरजू की सामाजिक रचनाएं हैं ।

२२१. 'हिन्दू स्त्री' (१९२४) 'न्यू थियेटर कम्पनी' में अभिनीत होने वाला यह सामाजिक नाटक मनोरमा के रूप में एक आदर्श हिन्दू स्त्री का अंकन है जिसके लिए उसका पति ही सर्वस्व है जो पति की लांछना और तिरस्कार पर भी उसकी हितकामिनी है व सुख दुःख में उसकी अनन्य सहचरी[1] है । विपरीत चरित्र

१- पति द्वारा तिरस्कृत मनोरमा का पतिनिन्दा पर कथन -- 'मैं प्राणान्त होने पर भी अपने स्वामी का इस प्रकार निरादर नहीं सुन सकती... मैं दासी हूं और दासी को स्वामी से सुख और दुःख दोनों मिलते हैं ।' अंक३, दृश्य२, पृ०७९

जमुना वेश्या के रूप में नाटककार ने प्रतिरोध में नारी के कुत्सित रूप को प्रस्तुत किया है । किन्तु वह उसे हिन्दू स्त्री की संज्ञा देने का अभिलाषी नहीं है[१]। नाटक वस्तुत: कुसंगति, वेश्या प्रेम और उसके दुष्परिणामों की कहानी है । रंगमंचीय नाटककारों में से अधिकांश ने इस विषय को उठाया है । मनोरमा की अनन्य पति-भक्ति व पति-प्रेम के आदर्श से वेश्या के सुधार व उसके द्वारा जसवन्त सिंह को सद्मार्ग पर लाकर नाटक का सुखमय अन्त किया गया है ।

२२२. नाटक में विरोधाभास द्वारा मूल को उभारने वाली व घड़ी वाला और विमला की हास्यकथा की भी योजना है जो पति प्रेम और धर्म के स्थान पर धन पर अवलम्बित है ।

२२१.

मदिरा देवी(१६२५)

२२३. प्रस्तुत नाटक में सद्गृहस्थ रामचन्द्र का तीस वर्ष के परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति का अचानक एलायन्स बैंक के फेल हो जाने से हरण हो जाने पर शोकावेग में मदिरापान,धीरे धीरे उसका आदत के रूप में परिवर्तन, नशे में पत्नी और पुत्र के प्रति अत्याचार आदि कथाओं द्वारा मदिरा के कुप्रभावों का दिग्दर्शन कराया गया है । अन्त में नायक के पश्चाताप[२] द्वारा समाज की आँखें खोलने की चेष्टा की गई है । पद्य गीत बहुल इस नाटक में अन्य कोई सौन्दर्य नहीं ।

दु:खिया भारत(१६२५)

२२४. नामानुसार ही प्रस्तुत नाटक जमींदारों द्वारा कृषकों के प्रति अत्याचार की कहानी है, जिसमें नाटककार ने कृषकों की अभावग्रस्तता के साथ इनि वासना की पूर्ति के लिए सब प्रकार के कुकर्म करने वाले जमींदारों की अंधी विलासिता का नग्न चित्र खींचा है । अकाल के कारण लगान न चुका पाने व अपनी सुन्दर पत्नी रूपाली को भी चरणों में भेंट देना अस्वीकार करने के कारण

१- 'वह हिन्दू स्त्री कब है, कपट हो जिसकी रग रग में ।
वह कलियुग की सती है, मान उसका नहीं कुछ जग में ।'
— अंक२, दृश्य२, पृ०७६

२- अंक३, दृश्य ५, पृ०६८

रघुवीर का जमींदार जयकृष्ण के अत्याचारों का चक्की में पिसना, पत्नी के हरण पर क्षोभ व प्रतिकार में डाकू वृत्ति अपनाकर अपनी प्रतिहिंसा की आग का शमन करना-- इस आधिकारिक कथा के साथ ही नाटक में झूठा मित्रता (मोतीचन्द का कहानी द्वारा), कुसंगति और वैश्या प्रेम की उपकथाएं हैं। हास्य कथा का अभाव है। अपने संगठन व चरित्र विकास में नाटक उत्तम है।

२२५. 'दास' (शिवरामदास गुप्त) और 'आरजू' के सम्मिलित नाम से 'हिन्दू ललना' (१९२६) और 'आजकल' दो अन्य सामाजिक कृतियां और उपलब्ध हैं। इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि 'आरजू' साहब की रचनाओं को ही 'दास' ने अधिक परिमार्जित हिन्दी में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। अपने प्रथम नाटक में शिवपुत्री पद्मा के अहम् के प्रतिरोध में विपुला की कहानी द्वारा नाटककार ने सतीत्व के महत्व को दर्शाया है जो सन्यासिनी द्वारा दिए सुहागरात को पति की मृत्यु के, श्राप को व्यर्थ करके अपने सतीत्व बल से सुहाग की रक्षा करती है। दूसरा नाटक 'आजकल' धनी पुत्र द्वारा पिता के प्रतिरोधों के उपरान्त एक निर्धन कन्या को अपनाये जाने की साम्यवादी कथा है। मैत्री के परिप्रेक्ष्य में इस आधिकारिक कथा को रखकर नाटककार ने मैत्री का आदर्श प्रस्तुत किया है।

२२६. सामाजिक रचनाओं के अतिरिक्त 'आरजू' साहब के 'खुशामदी टट्टू', 'सुरीली बांसुरी', (१९२५) और 'सूने साहब' नाटक उपलब्ध होते हैं। इनमें अन्तिम 'न्यू एल्फिन्स्टन थियेट्रिकल कम्पनी, सहारनपुर द्वारा अभिनीत हुआ।

विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल'

'बुद्धदेव'

२२७. व्याकुल भारत लिमिटेड कम्पनी द्वारा बनारसी कृष्णा थियेटर दिल्ली (वर्तमान मोती टाकीज) में खेलने वाली कम्पनी स्थापक 'व्याकुल' जी का यह नाटक उस समय की व्यावसायिक कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों की सापेक्षता में नाटकीय दृष्टि से अधिक उच्चस्तरीय है। नाटक का आरम्भ दया, धर्म--पाखण्ड, स्वार्थ, हिंसा के वाद विवाद में तथा दया धर्म के आक्रोश को शान्त करने के लिए शिव द्वारा बुद्ध जन्म के समाचार पर होता है। प्रारम्भिक दृश्यों से ही

प्रकृति की रमणीयता के मध्य कुमार सिद्धार्थ में विरक्ति के अंकुर, देवदत्त द्वारा घायल हंस की घटना व गोपा के साथ प्रेम क्रीड़ा के समय दूर से सुनाई देने वाले उद्बोधन गीत से मनोभावों की उत्तेजना,पुत्र जन्म से आत्मा पर सांसारिक मोह माया के बन्धनों की आवृद्धि , रोग-शोक के दृश्यों से अपने हृदयस्थ भावों की उत्तेजना पर सिद्धार्थ द्वारा गोपा को त्याग कर सन्यास ग्रहण की कथा प्रथमांक में,द्वितीयांक में बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयाँ व छल,शारीरिक कष्टों की अवहेलना,कुवाकुल के विचारों का खण्डन, बलि प्रथा का विरोध,(बिम्बसार के यज्ञ में) , कामदेव रति,बसन्त और उनके सहयोगियों का पराजय, तृतीयांक में सिद्धार्थ का बुद्धत्व प्राप्त कर ज्ञान का प्रसार करना व नाटक के अन्त में राजभवन में जाकर सम्बन्धियों के मोहजनित अज्ञान को दूर करके सब को दीक्षित करना -- नाटक के मुख्य कथासूत्र हैं जिनका नाटककार ने सम्यक् रीति से नाटकीकरण किया है । साधुओं के पाखण्ड की हास्यकथा भी है, जिसे मूल से भली प्रकार अनुस्यूत किया गया है ।

२२८, नाटक पारसी नाटक की विशिष्टताओं से सम्पन्न है । पद्य प्रयोग के साथ ही अलौकिकता का विधान है । कथा कई स्थलों पर चलती है-- समय के स्पष्टीकरण का अभाव है (उदाहरण के लिए सिद्धार्थ के मन में दण्डपाणि द्वारा किए गोपा के स्वयम्बर में जाने की इच्छा-- उसके बाद ही गर्भवती गोपा सिद्धार्थ के पांव दबा रही है -- बीच में समय का कोई संकेत नहीं) व यत्र-तत्र अस्वाभाविकताएं (यथा-- राहुल जिसमें बालयोचित उत्सुकता कि पिता क्या लाए हैं -- बुद्ध के धर्म के अक्षय भण्डार की बात सुनकर उसे ग्रहण करने के लिए तुरन्त सन्यासी वस्त्र धारण कर लेना) है । गौतमबुद्ध के समय की परिस्थितियों और संस्कृति के चित्रण का भी ध्यान नहीं रखा गया है । अनेक बातें उस काल के विरुद्ध अंकित हैं(बुद्ध ने वैदिक यज्ञ में होने वाली बलि प्रथा काविरोध किया था शाक्तों का देवी के सामने दिए जाने वाले बलिदान का नहीं--क्योंकि यह उनके युग के बाद की बात थी) । फिर भी नाटक भाषा और भाव की दृष्टि से अपने समकालीन नाटकों की अपेक्षा उच्चस्तरीय है । सिद्धार्थ गोपा और शुद्धोधन के चरित्र को पर्याप्त रूपेण उभारा गया है । यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'अपने ढंग का पहला नाटक माना है ,जिसकी भाषा वर्तमान साहित्य की भाषा के मेल में आई है व शिष्ट और परिमार्जित है ।

२२९. 'बुद्धदेव' के अतिरिक्त 'व्याकुल' जी के 'सत्यहरिश्चन्द्र' और 'सम्राट चन्द्रगुप्त' नाटक प्राप्त होते हैं जो स्वयं उन्हीं की कम्पनी में खेले। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का उद्घाटन मदनमोहन मालवीय जी ने किया। दरभंगा नरेश कालाकांकर ने भी अपना सहयोग दिया था। सन् १९२५ में मृत्यु हो जाने के कारण 'व्याकुल' जी रंगमंच को साहित्यगुणों से सम्पन्न अपनी अधिक रचनाएं न दे सके।

गोकुल प्रसाद

सत्य विजय

२३०. 'सुर विजय' नाटक समाज में अभिनीत होने वाला यह 'सत्य अहिंसा और त्याग का ज्वलन्त चित्र' अत्याचारी राजा दीर्घ बाहु और धर्मप्रिय व सत्याग्रही सत्यव्रता व पत्नी सत्यवती के संघर्ष की कहानी है, जिसमें अपने अनुपम त्याग और पुत्र के बलिदान से सत्यव्रता व की जय होती है। उसका यही त्याग दीर्घबाहु की आंखें खोलता है। किन्तु बक्रसेन का चारित्रिक परिवर्तन आकस्मिक और अस्वाभाविक है। मूल कथा में अपने स्वरूप में संक्षिप्त है, जिसे नाटककार ने 'मर्दानी औरत' के प्रहसन से बढ़ाया है। मूल कथा से स्वतन्त्र यह प्रहसन कवियों और खद्दरधारियों पर मीठी चुटकी[1] के साथ कामिनी (हास्य कथा की नायिका) के इस कथन -- 'हम स्त्रियां कोई घर की चेरी नहीं जो पुरुषों से दबकर रहें...संसार में जो उनका हक है, वही हमारा भी है[2]' और तदनुरूप अपने व्यवहार में 'मर्दानी औरत' के नामकरण को सार्थक करती है। कामिनी के द्वारा नाटककार ने स्वतन्त्रता-प्रिय और अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली पाश्चात्य नारी का अंकन किया है।

२३१. नाटक के वर्तमान संस्करण 'दास' द्वारा संपादित है, जिसमें मूल के अनेक दोषों का परिहार कर दिया गया है। मूल नाटक में प्रहसन की अश्लीलता के साथ ही कथा संगठन की दुर्बलता भी थी, किन्तु 'दास' द्वारा

१- 'तन के गोरे मन के काले खादी पहन बने मतवाले।
साँच झूठ का सौदा करते, भेष बना दुनिया के ठगते।'
अंक३, दृश्य ४, पृ०७२

२- अंक१, दृश्य२, पृ०४०

प्रस्तुत इस नए संस्करण में नए प्रहसन के साथ उन दोषों का भी परिमार्जन कर दिया गया ।

अन्य नाटककार

२३२. उपर्युक्त रंगमंचीय नाटकों के अतिरिक्त श्रीलाल उपाध्याय का 'बिल्व मंगल अर्थात् भक्त सूरदास' पण्डित हरिनाथ व्यास का 'श्रीकृष्ण सुदामा (१९१६) हरिशंकर प्रसाद उपाध्याय का 'श्रवण कुमार' (१९२८), स्वर्गीय गंगाप्रसाद अरोड़ा का 'सावित्री सत्यवान' (सम्वत् १९८५ कृष्ण सं०), वेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली' के 'श्री रामावतार', 'रामलीला', 'गणेशजन्म', 'दोहरी भूल', 'पंजाब मेल', 'जैव घड़ी', 'चन्द्रहास', 'सावित्री सत्यवान', 'श्रीमती मंजरी', श्रवणकुमार 'महाभारत', नेता जी सुभाष', 'दानी कर्ण', 'समर्थ गुरु रामदास' आदि अनेक नाट्य कृतियां उपलब्ध हैं । ये समय - समय पर विभिन्न कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत हुईं ।

सम्पादित और अनुवादित रचनाएं

२३३. मूल रचनाओं के अतिरिक्त हिन्दी नाट्य साहित्य की कलेवर वृद्धि के लिए उसके कोष में अनेक सम्पादित रचनाएं भी समाहित कर ली गई है । इनमें से अधिकांश उर्दू से सम्पादित नाटक हैं, जिनमें कुछ तो अक्षरशः अनुवाद रूप हैं किन्तु कुछ के परिमार्जित हिन्दी के साथ रूपान्तरित और परिवर्द्धित संस्करण उपलब्ध होते हैं । इन नाटकों के निर्धारण में सबसे बड़ी कठिनाई उस समय उपस्थित होती है जब रचना पर मूल रचनाकार के साथ सम्पादककार का नाम उपलब्ध नहीं होता । वस्तुतः ऐसी सम्पादित कृतियां जो निम्न स्थितियों में प्राप्त हैं--

१- जहां कृति के हिन्दी रूप के साथ केवल रचनाकार का नाम दिया गया है ।

२- केवल अनुवादक अथवा सम्पादक का नाम प्राप्त है ।

३- वे कृतियाँ जहां सम्पादककार अथवा रचनाकार दोनों के नाम का अभाव है और जो 'एक नाटक प्रेमी' के नाम से प्राप्त है ।

४- कुछ रचनाएं ऐसी हैं जहां सम्पादक व अनुवादककारों ने अपने नाम तो दिए हैं किन्तु वे रचनाएं किसके अनुवाद हैं इसका उल्लेख नहीं किया ।

२३४. पाठकों को भ्रमजाल में उलझा देती हैं जिससे उन्हें यह सोचने कि कृतिकार की मूल रचना वस्तुतः हिन्दी में की गई थी अथवा उर्दू

में तथा नाटककार की लेखनी पर सम्पादक की कलम का रंग जाने के कारण कृति के वास्तविक स्वरूप और मूल लेखक के निश्चय करने में बड़ी कठिनाई होती है। रचनाकाल न दिए जाने के कारण निश्चित धारणाएं बनाना और भी दुष्कर हो जाता है।

२३५. 'व्याकुल भारत थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए प्रसाद 'माथुर' का 'भारत गौरव अर्थात् सम्राट चन्द्रगुप्त' १६२२ (सम्पादक का नाम नहीं दिया गया) 'तेगे सितम उर्फ लाश्न आफ दि क्रास' १६३५ (सं०-राधेश्याम ने-नम्बरी-ब-नम्बरी-अक्षरों' कथावाचक'), एक 'नाटक प्रेमी' का 'बानी' कर्ण' (जे० सिंह बुकसेलर ने नागरी अक्षरों में प्रकाशित किया), मुंशी अब्बास अली का 'शाही फकीर उर्फ कामे खुदा' १६२०, मुंशी मुराद का 'धूपछांह' १६२२ (जी०पी० बरोड़ा ने गुजराती से नागरी में सम्पादित किया), 'सुनहरी खंजर' (रचनाकार का नाम नहीं दिया गया-- जी०पी० बरोड़ा ने गुजराती से नागरी में सम्पादित किया), मुंशी मोहम्मद इसहाक साहब का 'भक्त सूरदास' १६२८ छठां संस्करण (सं०-- शिवरामदास गुप्त), मुंशी जलाल अहमद शाह का 'दुश्मने ईमान' (सं०-- जयरामदास गुप्त), शेक्सपियर के 'किंगजॉन' के प्लाट पर रचित 'सैदे हवस' (सं०जयरामदास गुप्त), एक अंग्रेजी उपन्यास का अनुवाद, 'आतशी नाग' १६१६(सं० शिवरामदास, अनुवादक-- जयरामदास गुप्त), 'अन्टोनिया क्लियोपेट्रा' के प्लाट पर संगठित एक 'नसीहत खेज ड्रामा' 'काली नागिन' (सं० जयरामदास गुप्त) 'खून का खून' १६२५ द्वितीय सं० (सं०जयरामदास), 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए मुंशी मेंहदी हसन' अहसन' लखनवी का 'दिलफरोश' १६३६ (सं०- राधेश्याम कथावाचक) 'भूला मुसाफिर' मार्च १६३५ दूसरा सं० (सं०--कथावाचक), 'शरीफ बदमाश' (सं०- कथावाचक), मुंशी नायक साहब का 'सती अनुसुया' या पत्नी प्रताप' तथा 'धर्मयोगी' (सम्पादककार का नाम नहीं प्राप्त)' दी पारसी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी आफ बाम्बे' के लिए जनाब मुंशी पिछ साहब का 'लैला मजनूं' (सम्पादककार का नाम नहीं प्राप्य), 'दी पारसी मून अलैक्जेण्ड्रा थियेट्रिकल कम्पनी का 'शीरीं फरहाद' (रचनाकार का नाम भी नहीं दिया गया। संग्रह किया कुलभास्कर वर्मा अन्नत ने)

'दि पारसी थियेट्रिकल कम्पनी आफ बाम्बे' के लेखक मुंशी 'फत्त' साहब का 'एक प्याला' १६२७, इन्हीं के 'भारतदशा', 'मूर्तिमण्डन', 'औरंगजेब', 'रुक्मिणी मंगल' आदि[१] नाटक आगा हश्र 'कश्मीरी' के शिष्य मुंशी मंजूर अहमद साहब 'नज़र' का 'अबला की आह या देहाती महिला' १६३० (सम्पादककार अथवा अनुवादककार का नाम नहीं प्राप्त), द्वारिका प्रसाद भरतिया द्वारा सम्पादित 'श्री रामलीला रामायण' (रचनाकार का नाम नहीं प्राप्त), मुंशी 'फत्त' का 'भक्त मोरध्वज' १६२८ (सं०- शिवराम दास) ऐसे ही नाटक हैं।

२३६. राधेश्याम 'कथावाचक', नारायणप्रसाद 'बेताब' आगा हश्र 'काश्मीरी', विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी आदि कुछ प्रमुख व प्रसिद्ध नाटककारों की उर्दू रचनाओं के प्राप्त हिन्दी संस्करणों का उल्लेख इन कृतिकारों की रचनाओं के विवरण देते समय यथास्थान दे दिया गया है।

२३७. इनके अतिरिक्त बाबू शिवरामदास गुप्त ने अपने 'उपन्यास बहार आफिस काशी' से अनेक हिन्दी रचनाकारों की रचनाओं के परिमार्जित संस्करणों को प्रकाशितकरने की चेष्टा की है। किसी कृति के बिगड़े व शिथिल रूप को देखकर उसे पुनः नया परिधान पहनाकर नाट्य जगत की सेवा करने की आप में अनुपम लगन थी। कवि गोकुल प्रसाद का 'सत्य विजय', सैयद अनवर हुसैन 'आरजू' का 'आजकल' और 'हिन्दू ललना' (१६२६) आगा हश्र 'कश्मीरी' के अनेक हिन्दी उर्दू व फिल्म जगत के नाटक इस बात के प्रमाण हैं।

विशेषताएं

२३८. विभिन्न कम्पनियों के रंगमंच पर समय-समय पर अभिनीत होने वाली इन सम्पादित-अनुवादित रचनाओं में वे ही सब विशेषताएं हैं जो मूल रंगमंचीय नाटकों में प्राप्त हैं।

१- भाषा उर्दू हिन्दी मिश्रित है जिसमें उर्दू का रंग कुछ अधिक गहरा है।
२- कथावस्तु अधिकांश में इन सामाजिक समस्याओं को लेकर चली हैं। कुछ नाटक अंग्रेजी नाटकों के प्लाट पर भी लिखे गए हैं।

१- इस प्रबन्ध की लेखिका को फत्त साहबी के ये रचनाएं प्राप्त नहीं हो सकीं।

प्रकरण-२

जमनाप्रसाद मेहरा

२३९. रंगमंचीय नाटकों की परम्परा में जमनाप्रसाद जी ने अनेक पुष्प रंगमंच को समर्पित किए, किन्तु वे सभी थियेट्रिकल कम्पनियों के स्थान पर अव्यवसायी रंगमंच के सुवास थे। पारसी कम्पनियों में खेले जाने वाले नाटकों की रचना उपदेशप्रद दृष्टि से नहीं होती, इसी कारण वे उतने प्रभावपूर्ण नहीं होते, जितना होना चाहिए[1] अपने इन्हीं विचारों के कारण मेहरा जी ने अपनी कृतियों में सामाजिक व वर्तमान समय के उपयुक्त विषयों का संयोजन तो किया ही साथ ही अपने समय की पारसी कम्पनियों के प्रभाव में उनकी नाटकीय विशेषताओं को भी सहर्ष अपनाया ताकि वे अपनी प्रभावपूर्णता के साथ ही थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर भी भली भांति खिल सकें।

२४०. आदर्श प्रतिष्ठापना के उद्देश्य को सामने रखते हुए लेखक ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों व पौराणिक गाथाओं से ही अधिकांशत: अपनी कथा सामग्री का संचयन किया है। निम्न रचनाएं उपलब्ध होती हैं-- 'जवानी की भूल' (१९२२), 'कन्या विक्रय(१९२९), 'अनन्त प्रभा' (सं० १९९१), 'भारत पुत्र' (सं०१९८६), 'भक्त चन्द्रहास' (सं० १९८८), 'मोरध्वज' (१९२६), 'देवयानी' (१९२२), 'हिन्द' (सं०१९७९), 'पंजाब केसरी' (सं० १९८५), 'विश्वामित्र' (१९२१), 'सती चिन्ता' (१९२३), 'विपद कसौटी' (१९२३), 'कृष्ण सुदामा' (१९२१), 'पाप परिणाम' (१९२४ वृ०सं०)व 'हिन्दू कन्या' (सं० १९८९)। इन समस्त कृतियों का रचनाकाल सन् १९२१ से १९३२ तक माना जा सकता है।

२४१. जवानी की भूल (१९२२) वेश्या प्रथा के कुपरिणामों को बताने वाला एक सामाजिक नाटक है जिसमें धनाढ्य रामनाथ के पुत्र मानिकचन्द के पतन के साथ नाटककार ने समस्या के मूल में जाने की चेष्टा की है। किन्तु

१- 'आदर्श बन्धु या पाप परिणाम' नाटक की भूमिका।

दुर्दशा दिखाकर सामाजिकों को सजग करने के अतिरिक्त नाटककार कोई स्थाई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका । सम्पतलाल की हास्यकथा अपने आदर्श, उद्देश्य और यथार्थ चित्रण में मूल कथा की अनुवर्तिनी है । 'पाप परिणाम' (१९२४) भी इसी वेश्या समस्या को लेकर चला है जिसकी कथा का सार नाटककार ने निम्न दो पंक्तियों में प्रस्तुत किया है --

'निज नार तो भाती नहीं ऐसा जमाना आ गया ।
व्यभिचार का चारों तरफ घनघोर बादल छा गया[१] ।'

नाटककार ने सोलह वर्षीया कमला और उसके तेरह वर्षीय पति मदन के जीवन की विषम कथा द्वारा अनमेल विवाह के प्रश्न को उठाया है ।

'कन्या विक्रय' (१९२३)

२४२. सामाजिक नाटक है । नाटक के नामानुसार ही पिता की अर्थलोभी वृत्ति के परिणाम दर्शाये गए हैं जो अपनी मासूम कन्याओं के भविष्य की चिन्ता न करके धन के प्रलोभन में उन्हें पतन ~~कन्याओं के भविष्य की चिन्ता न करके धन~~ के मार्ग पर अग्रसर करता है । अनमेल विवाह से सम्बन्ध रखने वाले इस नाटक में लक्ष्मी और मोहिनी की कथा द्वारा नाटककार ने समस्या के दो पहलुओं का स्पर्श किया है -- १- युवती (लक्ष्मी) का वृद्ध (लोटनमल) से विवाह, २- युवती (मोहिनी) का बालक से विवाह ।

२४३. कन्या विक्रय की मूल कथा के अतिरिक्त नाटक में चौपट, चिरौंजी, और उनके पुत्र घेलू की स्वतन्त्र कथा है, जिसे हास्यकथा न कहकर उपकथा कहना अधिक उपयुक्त होगा । इसके द्वारा नाटककार ने हास्य और व्यंग्य की फुहार के स्थान पर मातृ-पितृ सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया है । वस्तुत: यह एक उद्देश्यपूर्ण उपकथा है ।

२४४. 'हिन्दू कन्या' (१९३२) भी एक सामाजिक रचना है । नाटककार ने राधा के द्वारा भारतीय नारी के सतीत्व के आदर्श की स्थापना की है जो घोर आपदाओं व समाज के झोंकों पर भी स्थिर रहती है । विरोधाभास

१- अंक१,दृश्य६, पृ०३८

द्वारा राधा के चरित्र को और उजागर बनाने के लिए कुलटा विधवा रेखा की योजना की गई है।

२४५. 'भक्त चन्द्रहास' (१९२४), 'मोरध्वज' (१९२९), 'देवयानी' (१९२२) 'कृष्ण सुदामा' (१९२४) और 'विश्वामित्र' (१९२१) मेहरा जी के पौराणिक नाटक हैं। इनमें भी उन्होंने किसी न किसी आदर्श स्थापन की चेष्टा की है[1]। वर्तमान समाज के विषैले वातावरण को देखकर एक स्थायी आधार की खोज में ही उन्होंने इन पौराणिक गाथाओं की ओर दृष्टिपात किया था। इसी से उनकी कृतियों में यत्र-तत्र वर्तमान झलकता है।

२४६. पौराणिक कृतियों में उस समय की पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों की परम्परानुसार स्वतन्त्र हास्य कथाओं की योजना की गई है, जिनका मूल से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं। 'मोरध्वज' में लण्ठाधिराज की कथा, पातिव्रत्य धर्म की महानता और उसके आदर्श को प्रस्तुत करने वाले, 'देवयानी' नाटक में लल्लू, छुट्टू, ऐंड़ा, बेंडा पात्रों की कथा, 'सती चिन्ता' में विदूषक और मण्टागुरू के से सम्बन्धित कथा, 'कृष्ण सुदामा' में सूम सेठ की कथा इसी प्रकार के भोंड़े व शिथिल कॉमिक हैं जो मूल के आदर्श से बिलकुल विपरीत धारा में एक हलके मनोरंजन के उद्देश्य के साथ विकसित होते हैं।

२४७. 'पंजाब केसरी' (१९२९)', 'भारतपुत्र' (१९३०), और 'हिन्द' (१९२०) राष्ट्रीय नाटकों की कोटि में रखे जा सकते हैं। 'हिन्द' तो वस्तुतः तत्कालीन भारत का दर्पण है जिसमें पराधीन देश की छटपटाहट, उसकी दुर्दशा, स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास व उसकीप्राप्ति का अंकन किया गया है। प्रत्येक पात्र सार्थक व सांकेतिक नाम लिए हुए हैं। नाटक के अनुसार एकता, आत्मबल और अहिंसात्मक असहयोग के शस्त्रों से ही स्वातन्त्र्य संग्राम में जय प्राप्त की जा

१- 'प्रेम है करुण न्याय है, वीरत्व का आवेश है।
 सरस है लालित्यमय, धर्म का उपदेश है।
 -- भक्त चन्द्रहास' नाटक की भूमिका-- मेहरा

सकता है । 'अत्याचार', 'दुर्भिक्ष', 'रोगराज', 'अन्याय सिंह' मंत्री स्वार्थराज और धनहरण सिंह' के हिन्द के प्रति अत्याचार तथा 'प्राचीनता' और 'नवीनता' के संघर्ष उस समय के भारत की यथार्थ झांकी देते हैं ।

२४८. 'पंजाब केसरी' लाला लाजपतराय की वह गरज है जो उस समय राजनीति के बीहड़ वन में गूंजी थी, जिस गरज में देशभक्ति का संदेश था[१]। वस्तुत: नाटक उन्हीं का जीवन चरित्र है । नाटककार ने 'मिस्टर कलंक' के द्वारा डिग्रियों के प्रलोभी उन राज्यभक्तों का उपहास किया है जो जनता के बीच द्वेष का बीज वपन कर अपने लाभ के लिए देश की दुर्दशा करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते[२]।

२४६. अपने 'भारत पुत्र' में कबीर के जीवन चरित्र द्वारा लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के साथ सत्याग्रह का सत्य रूप दिखाने की चेष्टा की है । साथ ही बी हजूर, केशकर, पुजारी, मोहन यात्री, और उसकी पत्नी की हास्य कथा द्वारा पुजारियों के अनाचारों को भी अच्छी तरह विवस्त्र किया है । ये पुजारी धर्म का बहुरूपिया दुशाला ओढ़कर धर्मशाला में ठहरी स्त्रियों का हरण करते हैं और धनोपार्जन करते हैं ।

२५०. 'प्राचीन भारत की एक सत्य घटना का जीता जागता चित्र' मेहरा जी का 'बसन्त प्रभा' नाटक राजा मानसिंह की पुत्री प्रभा और श्रीनगर के प्रधान धनवान मंगलसेन के पुत्र बसन्त की प्रेमकथा है । लेखक के अनुसार प्राचीन भारत की सत्य घटना का चित्र होते हुए भी गुरुकुल में अध्ययन, और बसन्त का व्यवसाय के लिए सिंघल द्वीप में जाना इन दो ऐतिहासिक सत्य तत्वों के अतिरिक्त नाटक अधिकांशत: कल्पना का आधार लेकर चला है । मूल कथा के अतिरिक्त

१- अंक१, दृश्य ३, पृ०३०

२- 'नाश कर डाला इन्हीं नीचों ने सारे देश का ।
   बीज बोया हाय ! भारत में इन्हीं ने द्वेष का ।'
   अंक२,दृश्य२,पृ०७४

'दुनिया को खूब सुधारो, और हंस-हंस कर चौसर मारो' के सिद्धान्त के अनुयायी मौजीराम की हास्य कथा है। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार वह सूदखोर दुष्ट महाजन ढोलकदास को सुधारता है और उसे ईमानदारी का पाठ पढ़ाता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्त

२५१. बाबू दुर्गाप्रसाद गुप्त का सम्बन्ध थियेट्रिकल कम्पनियों और अव्यवसायी रंगमंच दोनों से ही समान रूप से रहा है। नाट्य जगत में आपका आगमन सर्वप्रथम अवैतनिक रंगमंच के अभिनेता के रूप में हुआ। इसी रंगमंच पर क्रमश: प्राप्त होने वाली अपनी सफलताओं के आधार पर बम्बई की किसी थियेट्रिकल कम्पनी में पहुंच गए व स्वरचित 'हम्मीर-हठ' में भूमिका की। किन्तु अस्वस्थता के कारण अधिक समय तक इन कम्पनियों में न रह सके और पुन: काशी लौट आए।

२५२. अभिनेता की सफलता में गुप्त जी नाटककार के रूप में अधिक ख्यात हुए। आपने वैतनिक तथा अवैतनिक दोनों ही प्रकार के रंगमंचों को अनेक कृतियां समर्पित कीं। डा० देवर्षि सनाढ्य ने इनकी नाट्यकला का विकास केवल सामाजिक नाटकों में स्वीकार किया है। उनके अनुसार गुप्ता जी ने केवल एक ही ('नल दमयन्ती') पौराणिक नाटक लिखा है। लेकिन वस्तु सत्य इसके विपरीत है। आपकी पौराणिक, धार्मिक सामाजिक, ऐतिहासिक व राष्ट्रीय इन सभी वर्गों की अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं।

२५३. 'विश्वामित्र', 'नल दमयन्ती', 'भक्त प्रह्लाद' 'सती सुलोचना', 'दानी कर्ण' आपके पौराणिक नाटक हैं। इन पौराणिक गाथाओं द्वारा नाटककार ने ईश्वर भक्ति की श्रेष्ठता[1], पातिव्रत्य धर्म की

१- 'सब लोग समझ लें कि संसार में सब शक्तियों से बड़ी शक्ति ईश्वराधना की शक्ति है। संसार को जो सच्चा सुख और सच्ची शान्ति देने वाली है वह सांसारिक माया नहीं बल्कि माया से रहित करने वाली मायापति भगवान की भक्ति है।' -- विश्वामित्र नाटक की प्रस्तावना।

महानता आदि अनेक आदर्शों के प्रस्तुतीकरण की चेष्टा की है। किन्तु ये इतिवृत्त वर्तमान से विच्छिन्न नहीं हैं। अमोघशक्ति का वर प्राप्त मेघनाद से युद्ध करते समय पिता नागराज वासुकी के बन्दी होने पर उनकी पुत्री का युद्ध भूमि में उतरने का यह आग्रह--

'देश पर हो कष्ट, मैं सुख में पड़ी सोया करूं।
देश की हो लाख दुर्दशा, बैठी रहूं रोया करूं।
+ +
थी मैं अबला उस समय तक जब कि बैठी मौन थी
अब हूं सबला, सोच देखो आदि शक्ति कौन थी।'[1]

२५४. स्वातन्त्र्य संग्राम में भारत की नारी जाति में उद्भूत होने वाली चेतना का सूचक है। वस्तुत: ये रंगमंचीय नाटककार सामाजिक चेतना के प्रति इतने सजग थे कि काल-सीमा की अवहेलना करके वे हजारों वर्ष पुरानी धार्मिक कथाओं में वर्तमान से सम्बन्धित वे प्रहसन रखने में भी नहीं हिचकिचाए जिनसे उस काल का किसी भी दृष्टिकोण से मेल नहीं बैठता। 'विश्वामित्र' में भगवानदास वकील, 'भक्त प्रह्लाद' में पनारू और उसकी पत्नी कुलक्षणी तथा कंजूस और कर्कशा, 'सती सुलोचना' में ढोंगी साधुओं व सास बहू के झगड़े, 'दानी कर्ण' में कंजूसराम, खटकराम व सुन्दरी की हास्यकथाएं मूल से पूर्णता स्वतन्त्र कथाएं हैं। 'दानी कर्ण', 'व्याकुल भारत कम्पनी' के रंगमंच पर खिला।

२५५. 'मीराबाई' और 'भक्त तुलसीदास' दुर्गाप्रसाद जी के भक्तिरसपूर्ण धार्मिक नाटक हैं, जिनमें इन्होंने अपने दोनों चरित्रनायकों के जीवन द्वारा भक्ति का अद्भुत महात्म्य प्रस्तुत किया है। 'मीराबाई' को 'इतिहासमूलक धार्मिक नाटक' कहना अधिक युक्तिसंगत होगा, क्योंकि मीरा के

१-'सती सुलोचना' — अंक १, दृश्य ६, पृ० ३६

के भक्ति-पथ में जो आपदाएं प्रस्तुत की गई हैं, वे इतिहास प्रसिद्ध हैं। मुख्य पात्रों के चरित्र को, उनकी भक्ति को और अधिक उभारने व प्रकाश में लाने के लिए नाटक में गुरु घण्टाल और उनके चेले रामदास व दल्लू तथा साधु संतों के ढोंग की अवान्तर कथाएं प्रस्तुत की गई हैं।

२५६. 'गोरक्षा', 'आंख का नशा', 'भारत रमणी' व 'दोधारी तलवार' गुप्त जी के सामाजिक नाटकों की कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं। अन्तिम तीनों में नाटककार ने दुष्ट मित्रों की संगति और वैश्या प्रथा की समस्याएं उठाई हैं। 'आंख का नशा' का नायक जुगल, 'भारत रमणी' का मोहन व 'दोधारी तलवार' का माधोदास समानरूप से बेनी, मदन और सहदेव जैसे दुष्ट मित्रों के बहकावे में कामलता कोकिला और हुस्ना वेश्या के झूठे प्रेम में पड़कर सरोजनी बासन्ती और सुशीला जैसी अपनी साध्वी पत्नियों को दुत्कारते हैं। किन्तु अन्त में ये ही रूपमद लोभी वेश्याओं के चरणों में अपने समस्त सुख व सम्पत्ति का होम कर उन्हीं की धिक्कार, अवहेलना व तिरस्कार पर तथा कुमित्रों के षड्यन्त्र में फंसकर असहायावस्था में अपनी उन्हीं त्यक्ता साध्वी पत्नियों व सच्चे सेवकों को अथक परिश्रम से जागते हैं व पश्चाताप की ग्लानि में अपनी भूल का परिमार्जन करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि 'आंख का नशा' में जुगल की रूप मद आसक्ति पर, 'भारत रमणी' में बासन्ती के सतीत्व और पतिभक्ति के आदर्श पर, तथा 'दोधारी तलवार' में सहदेव और हुस्ना द्वारा मनुष्य की दो मुंही प्रकृति पर बल दिया गया है जिससे कथानक में कुछ परिवर्तन आ गया है। अन्यथा कथावस्तु के मुख्य सूत्र लगभग समान हैं। नाटकों में मिस्टर हफालचन्द, लोलुपचन्द, और उनके पुत्र नन्दलाल की हास्य कथाएं हैं जो मूल के समान ही सामाजिक महत्व रखती हैं। लोलुपचन्द वृद्ध होने पर भी सेठ स्वार्थचन्द को रुपए देकर उनकी पुत्री लक्ष्मी को अपनाना चाहता है। इस कन्या विक्रय पर नाटककार ने दोनों पात्रों को उनके चरित्र के अनुरूप नाम देकर

तीखे व्यंग्य[1] के साथ चुटकी ली है । 'आंख का नशा' नाटक की कथावस्तु हश्र जी के नाटक 'आंख का नशा' के समानान्तर है, यहां तक कि कामलता, जुगल और बैनी आदि प्रधान पात्रों के नाम भी वही हैं जो हश्र के नाटक में हैं । गुप्त जी अपने सामाजिक नाटकों के द्वारा समाज का परिष्कार करना चाहते थे[2] और इसी धुन के कारण इन नाटकों में वह सौन्दर्य नहीं आ पाया जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में है ।

२५७. 'गोरक्षा' गऊ के महत्व को लेकर लिखा गया सामाजिक नाटक है, जिसमें हरिदास और उसकी पत्नी करुणा का जमींदार भीमसिंह की धमकियों की चिन्ता न करके अपना सर्वस्व बलि देकर भी गऊ की रक्षा करते हैं तो दूसरी ओर चौपटानन्द दान में प्राप्त की हुई गाय को न खिला सकने के कारण उसे छोड़ देता है । गाय कांजी हाउस में पहुंचकर सरकार द्वारा नीलाम होती है और कसाई के हाथ में पड़ती है । यहां मजहब का रंग देकर नाटककार ने समस्या को गम्भीर बना दिया है । नाटक में बम्भोल और रसीली की विधवा पुत्र-वधू राधा की हास्य कथा है, जिसमें नाटककार ने धूर्त, साधुओं और कन्या विक्रय के प्रश्न उठाए हैं ।

२५८. 'देशोद्धार' व राणा प्रताप' तथा 'हम्मीर हठ' गुप्त जी के ऐतिहासिक नाटक हैं । इनमें महाराणा प्रताप व महाराणा जयसिंह

१- 'धर्म पहले होता था कन्यादान से ।
बेचते हैं लोग कन्या आजकल अभिमान से ।
बेचकर कन्या को धन जामाता का खाते हैं जो ।
धन से मिलता मान जग में, सेठ कहलाते हैं जो ।
—'भारत रमणी', अंक२, दृश्य३, पृ०८७

२- ' जब तक समाज का सुधार न होगा तब तक भारत का उद्धार भी नहीं हो सकता ... सामाजिक दृश्य दिखाकर इनके हृदय-समुद्र में करुणा रस का स्रोत बहाना चाहिए, जिससे लोग सामाजिक कुरीतियों को देखकर लज्जित हों और इन्हें सुधारने की भरपूर चेष्टा करें ।'
'भारत रमणी' नाटक का मंगलाचरण, पृ०३

के पुत्र हम्मीर के देश-प्रेम, राजपूती आन-बान तथा वीरता की इतिहास-प्रसिद्ध कथाएं प्रदर्शित की गई हैं। चरित्र नायक प्रताप के जीवन में मानसिंह के निरादर के कारण आपदाएं आती हैं, जिसके कारण उसे अकबर की विशाल मुस्लिम सेना से टक्कर लेनी पड़ती है तो इन्हीं के समान हम्मीर को भी मंगोल और मरहठों को शरण देने के कारण अलाउद्दीन से लड़ना पड़ता है।

२५६. गुप्त जी के ये दोनों ऐतिहासिक नाटक सामाजिक नाटकों की समकक्षता में भाषा, भाव, संगठन, व चरित्र सौन्दर्य आदि सभी दृष्टियों से उत्तम है। 'देशोद्धार', बम्बई की 'इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी' के रंगमंच पर खेला। नाटक में मालती और गुलाब की एक अवान्तर कथा है, जो अपने व्यक्तिगत प्रेम को देश-प्रेम का रूप दे देते हैं। इसके कारण नाटक में सौन्दर्य वृद्धि हुई है, जब कि 'हम्मीर हठ' में मूल ऐतिहासिक कथा में 'गोबर गणेश' का प्रहसन 'पैबन्द' सा लगता है।

२६०. 'भारतवर्ष', 'गरीब किसान', 'श्रीमती मंजरी', व 'गांधी दर्शन' राष्ट्रीय नाटक कहे जा सकते हैं। गुप्त जी ने अपने देश की अनेक समस्याएं इनमें उठाई हैं। 'श्रीमती मंजरी' उनका सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक है, जिसमें जुगलकिशोर और कमरुद्दीन पात्रों द्वारा नाटककार ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को प्रस्तुत किया है। जुगलकिशोर अलाउद्दीन नामक मुस्लिम यतीम बच्चे को पुत्रवत् पालता है तथा कमरुद्दीन मंजरी को अपनी हिन्दू बेटी समझता है। मंजरी की कथा द्वारा नाटककार ने धनिकों की असहाय व अबलाओं के प्रति कामलोलुपता, अत्याचार व निरंकुश पशुवृत्ति का अंकन किया है। 'गांधी दर्शन' में देश-सेवा के लिए महात्मा गांधी के जीवन चरित्र के साथ नाटककार ने स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और सत्याग्रह के आदर्श को प्रस्तुत किया है। कस्तूरबा गांधी और रायबहादुर की पत्नी सुशीला द्वारा नाटककार नारी चेतना को दर्शाना नहीं भूला।

२६१. अपनी उपर्युक्त इन्हीं भावनाओं को गुप्त जी ने अधिक विकसित रूप में 'भारतवर्ष' में प्रस्तुत किया है। जाति-भेद, एक दूसरे

१- (अगले पृष्ठ पर देखें)

के प्रति तुच्छ भाव - परस्पर संघर्ष, धनी व निर्धन के बीच अत्यधिक आर्थिक असमानता, देशोद्धार हेतु विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, खद्दर का प्रयोग, हिन्दू मुस्लिम मतभेदों का कारण उनका निदान व ऐक्य प्रस्तुत नाटक के मुख्य कथा-तथ्य हैं, जिनको लेकर कथावस्तु गुम्फित की गई है। मदन और चंचला की हास्य कथा में नाटककार ने फैशन व एटीकेट की चकाचौंध में भारतीय संस्कृति को भूले युवकों को शिक्षा दी है ताकि वे मदन के समान ही समझ सकें कि "यह इंग्लिश ऐटीकेट हम हिन्दुस्तानियों की इन्सानियत को काफूर की तरह उड़ा देने वाला है। बर्बादी के गड्ढे में गिराकर ख़ाक में मिला देने वाला है[1]।"

२६२. गुप्त जी का प्रस्तुत नाटक 'नेशनल थियेट्रिकल कम्पनी' द्वारा अभिनीत हुआ। 'गरीब किसान' प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' उपन्यास का नाटकीय रूपान्तर है, जिसमें मूल रचना के समान ही कई कथाएं हैं। मुख्य कथा है रघुबर और उसके पुत्र महावीर की जो अपनी निर्धनता के कारण जमींदार का रुपया नहीं दे पाता और इधर महावीर की नई चेतना के कारण सब अधिकारी उसके विरुद्ध हो जाते हैं। लाज लुटते देखकर बाद में रघुबर और उसकी पत्नी आत्महत्या कर लेते हैं। मारवाड़ी सेठ और मुनीम चौथमल की हास्य कथा द्वारा नाटककार ने उनके महाजनी हथकण्डों को प्रस्तुत किया है। इस उपकथा में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य के अधिक दर्शन होते हैं। नाटक कलात्मक दृष्टि से अच्छा है। पद्यात्मक कथोपकथनों के स्थान पर यत्र-तत्र गीतों की योजना की गई है।

---

१ (पूर्व के पृष्ठ की टिप्पणी संख्या १)

१- 'मुसल्मां है जो हिन्दू है, जो हिन्दू है मुसल्मां है।
समझ पर पड़ गए पत्थर, कि दोनों क्यों परेशां हैं।'
पुकारा राम ने उसको, ख़ुदा ने दी सदा जिसको।
वही है राम हिन्दू का, कहे मुस्लिम ख़ुदा जिसको।

अंक १, दृश्य २, पृ० ११

२० १-भारतवर्ष अंक २, दृश्य २, पृ०६६

आनन्दप्रसाद कपूर

२६३. काशी की 'नागरी नाटक मण्डली' के अभिनेता थे । रंगमंच से निकट सम्बन्ध होने व उसके प्रत्यक्ष अनुभवों के साथ ही अपने नाट्य-जगत् की अभूतपूर्व सेवा की तथा रंगमंचीय नाट्य परम्परा को अपने योगदान से समृद्ध बनाया । निम्न कृतियां उपलब्ध हैं--

गौतमबुद्ध

२६४. प्रस्तुत नाटक को दिवाकर बी०ए० तथा जगमोहन वर्मा कृत 'सिद्धार्थ कुमार' और 'बुद्धदेव' की सहायता पर बम्बई की एक गुजराती नाट्य मण्डली के 'गौतमबुद्ध' खेल की अभिप्रेरणा पर प्रणीत हुआ[१] जिसमें कुमार सिद्धार्थ की विरक्ति तथा बुद्धत्व तक उनके विकास की कथा का नाटकीकरण किया गया है । नाटककार ने परम्परा विहित लोक प्रचलित कथा में नवीनता का रंग देने के लिए सिद्धार्थ के यशोधरा के प्रति आकर्षण को पूर्व जन्म से जोड़ा है तथा देवदत्त की नियोजना द्वारा संघर्ष का आरम्भ तथा उससे सिद्धार्थ की विरक्ति का विकास दिखाकर कथा का विकास बड़े सौन्दर्यपूर्ण ढंग से किया है ।

२६५. नाटक में सरला और माधव , रामचन्द्र ब्राह्मण वाममार्गी हरिदास की दो अन्य उपकथाएं भी हैं, जिन्हें नाटककार ने क्रमशः देवदत्त व गौतम से जोड़कर मूलकथा से संयोजित कर दिया है । विरक्ति उदासीनता तथा दार्शनिकता के कारण गौतम के संवाद अवश्य कुछ लम्बे हो गए हैं किन्तु उनकी अभिनेयता व प्रभविष्णुता में कोई कमी नहीं आती ।

कृष्णलीला (१६२६)

२६६. 'बलवन्त संगीत नाटक मण्डली' के लिए बीस दिन में लिखा जाने वाला यह पौराणिक नाटक सर्वप्रथम नागपुर में अभिनीत हुआ । यद्यपि नाटक में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है तथा मार्मिक स्थलों के प्रति नाटककार

१- 'गौतम बुद्ध' नाटक की भूमिका -- मेहरा

उदासीन रहा है , किन्तु कहीं भी पौराणिक मर्यादा की अवहेलना नहीं की गई । भागभट्ट और चंचला की हास्य कथा द्वारा व भागभट्ट को उत्तानपाद के पुरोहित के रूप में मूलकथा से जोड़कर नाटक की कलेवर वृद्धि की गई है ।

२६७.

कृष्णलीला

२६७. पूना की श्री किर्लोस्कर संगीत नाटक मण्डली का यह नाटक सर्वप्रथम मार्च १६२० में इलाहाबाद में अभिनीत हुआ । नाटक में माखनचोरी , विशाखा मन-हरण , इन्द्र का दर्प चूर करना, व रासलीला आदि कृष्ण की विविध लीलाओं का अंकन है । भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध,संक्षिप्त विष्णु पुराण तथा 'गीता प्रेस' के पंचम अंश से ये कथाएं ली गई हैं[१]। मूल कथा के अतिरिक्त 'शनिश्चर','बृहस्पति','सामुद्रिक','तुला' और 'मीन' आदि पात्रों द्वारा हास्य सृष्टि की गई है ।

परीक्षित

२६८. अश्वत्थामा का अपने पिता की मृत्यु की प्रतिहिंसा में पाण्डव कुल के विनाशार्थ अग्निबाण छोड़कर उत्तरा का गर्भनाश करना,कृष्ण द्वारा रक्षा, परीक्षित का राज्य तिलक, कलियुग का आगमन, व धर्म तथा पृथ्वी पर आक्रमण, छल द्वारा कलि की परीक्षित पर विजय, काल के प्रभाव का दर्शन आदि कथासूत्रों का नाटककार ने अपनी कल्पना का रंग देते हुए सम्यक् संयोजन किया है । भोला व उसकी पत्नी चन्द्रकला की मूल से विच्छिन्न हास्य कथा मात्र कलेवर वृद्धि के लिए है । कथा संगठन व चरित्र विकास की दृष्टि से नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता । संवाद लम्बे हैं ।

१- डा० वेदपाल खन्नाख्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक', प्र०सं०,संवत्२०१७, पृ० २३६ ।

अज्ञात वास

२६६. पौराणिक नाटक है । पाण्डवों के बारह वर्ष वनवास के पश्चात् एक वर्ष के अज्ञातवास और उसमें होने वाली घटनाओं का नाटकीकरण कियागया है । कोई स्वतन्त्र हास्य कथा नहीं है । राजा विराट की सभा के जंगल मिश्र द्वारा हास्य सृष्टि की गई है । यह हास्य भी शिथिल, भौंडा और मात्र गुदगुदाने वाला नहीं, वरन् तत्वयुक्त और गूढ़ है । डा० सनाढ्य का इसे लेखक का श्रेष्ठतम नाटक कहना उचित ही है ।

बिल्व मंगल

२७०. भक्ति रस प्रधान नाटक है , जिसका प्रारम्भ कृष्ण और मंगल के संगति सम्बन्धी विवाद से होता है । परीक्षण की कसौटी बनाया जाता है कामुक, विषयी तथा चिन्ता वेश्या का प्रेमी, बिल्व। ये नाटक के कथासूत्र लगभग वे ही हैं जो आगा साहब के 'बिल्व मंगल' के हैं । किन्तु यह नाटक उसकी कलात्मक उच्चता तक नहीं पहुंचती । नाटककार ने बिल्व में होने वाले मानसिक परिवर्तनों के स्थायी आधार न देकर उन्हें काफी कलता कर दिया है, जिससे वे अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं । इनके अतिरिक्त डा० सनाढ्य ने बेबूर साहब के एक अन्य 'भक्त सुदामा' नाटक का परिचय दिया है ।

अत्याचार

२७१. यह काशी की 'नागरी नाटक मण्डली' का सामाजिक नाटक है , जो लेखक के अनुसार 'बेताब' के 'रामायण' तथा 'कृष्ण सुदामा,' आगाहश्र के 'शहीदे नाज़' व मुंशी अब्बास के 'संजीवनी' से ली गई सामग्री व 'ग़ालिब' के कई शेरों के मिश्रण से तैयार किया गया है[1]। स्वयं बाबू आनन्दप्रसाद ने इसमें श्रीकृष्ण की भूमिका की । नाटक अपने नामानुसार ही लक्ष्मीचन्द के रूप में धनिकों

१- 'अत्याचार' नाटक की भूमिका--बेबूर

के अत्याचार की कहानी है । रामदास के द्वारा नाटककार ने पितृ हृदय तथा निर्धन मनुष्य की परिवर्तित मन: स्थितियों का अच्छा चित्रण किया है ।

२७२. मूल कथा के अतिरिक्त नाटक में साधु और जूही की हास्य कथा है । प्रलोभन में पड़े साधु को अन्यायी और अत्याचारी लक्ष्मीचन्द का सहयोगी बनाकर नाटककार ने इसे मूल से सम्बद्ध किया है । साहित्यिकता और अभिनेयता दोनों ही दृष्टियों से नाटक उत्तम है ।

रुपहला विष

२७३. नाटक अपने मुख्य पात्र सूर्य विक्रम के अत्याचार और उसके कुपरिणामों की कहानी है । श्याम मल्लाह की पुत्री उषा पर आसक्ति, श्याम की हत्या, मार्ग के कंटक इन्द्रदेव और उसके सहायक नृसिंह देव पर घोर अत्याचार आदि कथासूत्रों को नाटकीय ढंग से आबद्ध किया गया है । लियर, बेला और सोफिया से सम्बन्धित एक अन्य कथा भी है । नाटक किसी भी दृष्टि से पूर्ण नाटकों की समकक्षता में नहीं आता । इसमें न कथानक का वैशिष्ट्य है और न चरित्रों का सौन्दर्य । वस्तुत: यह अनुवाद अधिक प्रतीत होता है ।

पण्डित रामशरण आत्मानन्द 'अमरोही'

२७४. स्टेज आर्टिस्ट और फिल्म आर्टिस्ट के रूप में समान ख्यातिप्राप्त आत्मानन्द जी अव्यवसायी तथा व्यावसायिक दोनों रंगमंचों के निकट सम्पर्क में रहे तथा कृतिकार के व्यक्तित्व के साथ अनेक सफल भूमिकाएं कीं । नाटककार के रूप में भी आपकम ख्यातिप्राप्त नहीं थे । आपकी कृतियां थियेट्रिकल कम्पनियों और अवैतनिक तथा औच्छुक नाटक मण्डलियों के रंगमंच पर समान रूप से अभिनीत हुईं । निम्न रचनाएं उपलब्ध हैं --

सती लीला व शिव पार्वती' (१६२५)

२७५. शिव-पार्वती के पवित्र दम्पति प्रेम का चित्र खींचकर स्त्री जाति के इस आदर्श--

'पति ही की सेवा में रहना स्त्री का धर्म सनातन है ।
उसके सब कर्म वृथा समझो जिसका इस और नहीं मन है[1]।'

के साथ समाज-उत्थान के लिए लिखा गया यह एक उपदेशप्रद पौराणिक नाटक है । नाटककार ने सती के त्याग और तपस्या द्वारा पत्नी-प्रेम की उच्चता ही नहीं, वरन् विरह-विह्वल शिव की दशा द्वारा पति-प्रेम की श्रेष्ठता भी दिखायी है[2]।

२७६. सती की घोर तपस्या, शिव की प्राप्ति, दक्ष का शिव के प्रति वैर भाव, उसके कारण दक्ष के यज्ञ-कुण्ड में सती की आहुती तथा शिव की विरह व्यथा आदि नाटक के पौराणिक कथासूत्र हैं । राजा विलंग की हास्यकथा भी प्रस्तुत की गई है, किन्तु उसका मूल से सम्बन्ध बहुत ही शिथिल और कमजोर है ।

गणेशजन्म (१६३०)

२७७. किसी थियेट्रिकल कम्पनी के रंगमंच पर खेलने वाले एक पौराणिक नाटक के प्रथमांक की कथा लगभग वही है जो 'सती लीला' की है । द्वितीयांक में तारकासुर के वध के निमित्त देवताओं की शिव से विवाह की याचना, सप्तऋषियों द्वारा पार्वती की परीक्षा, शिव विवाह, व कामदेव का भस्मीभूत होना, तृतीयांक में कार्तिकेय का जन्म, तारकासुर का वध, शरीर के मैल से गणेश की उत्पत्ति, उनकी पितृभक्ति व देवताओं में प्रथम पूज्य होना आदि पौराणिक गाथाओं का नाटकीकरण है ।

१- नाटक का मंगलाचरण, पृ०३

२- विष्णु--'देखो नारी व पुरुष ऐसे होते हैं । उनकी इस शोकमयी अवस्था ने अखिल ब्रह्माण्ड को आदर्श सिखाया है । वास्तव में स्त्री प्रेम को पराकाष्ठा तक पहुंचाया है तो शिव ही ने ।'

-- अंक३, दृश्य३, पृ०१३३

सन्त तुलसीदास

२७८. 'न्यु विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' में प्रथम बार अभिनीत होने वाले इस भक्तिरस प्रधान धार्मिक नाटक में तुलसी के जीवन चरित्र द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। अनेक कृतिकारों द्वारा ग्राह्य इस विषय के प्रतिपादन में तुलसी के जन्म की भूमिका में हनुमान द्वारा वाल्मीकि को शाप[1] आदि अनेक छोटे-मोटे प्रसंगों में लेखक ने अपनी कलम का रंग दिया है। तुलसी की उदारता दिखाने के लिए गणेश आचार्य और उनके शिष्य सुदर्शन की कथा रखी गई है। पद्य-प्रयोग के स्थान पर नाटक में भक्तिपूर्ण गीत है। ये अधिकांशत: तुलसी के मुख से निसृत है।

२७९.

~~सुलताना-डाकू~~

सुलताना डाकू

२७९. इस संक्षिप्त ऐतिहासिक नाटक में सुलताना डाकू के खूंखार कृत्य, उसके अद्भुत शौर्य, पराक्रम व चातुर्य, पुलिसआफिसर यंग की चिन्तातुरता, पुष्पमणि वेश्या के प्रेम में पड़कर धोखे से सुलताना का बन्दी होना आदि कथाओं का संगठन किया गया है। नाटककार ने डकैती में जनहित की प्रेरणा व डकैत बनाने में उसकी मां को उत्तरदायी दिखाकर सुलताना के चरित्र के यथातथ्य चित्रण के साथ ही ऐतिहासिक सत्य की रक्षा की है। नाटक में गीतों के साथ ही पद्य-प्रयोग भी पर्याप्त है।

बाल रत्न मोज

२८०. राजा न्यायपाल का मृत्यु से पूर्व अपने अबोध पुत्र भोज को भाई मुंज को सौंपना, मुंज का प्रजा-प्रेम व न्यायप्रियता, किन्तु भोज

१- "अपने ग्रन्थ के आदर के लिए मेरे ग्रन्थ को संसार से मिटाना चाहा है, इसलिए जाव तुम भारत में आत्माराम ब्राह्मण की स्त्री हुलसी के गर्भ से जन्म लेकर तुलसीदास के नाम से विख्यात हो और जिस हनुमान की पुस्तक को सरयू में डुबाये हो उसी हनुमान की सहायता से तुम्हें भगवान का दर्शन हो।"
अंक १, दृश्य २, पृ०७

की चातुर्यता देखकर राज्यतृष्णा के मोह में मंत्री वत्सराज, माता प्रभा, पत्नी मनोरमा के प्रबोध पर भी भोज को मारने का आदेश व भोज के अन्त समय की इन पंक्तियों पर --

'युधिष्ठिर आदि राजा भी न भूमि ले गए मर कर ।
कहो हे मुंज ! जायेगी फिर तुम्हारे साथ क्यों कर ।'[1]

२८१. मुंज का मोहान्धता से जागना तथा पश्चाताप में राज्यभार भोज को सौंप कर सन्यासी होना आदि कथा सूत्रों पर संगठित होने वाला यह एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें कृषकों पर अत्याचार की एक उपकथा व विदूषक, मिसरी तथा उनके पुत्र अबोध की हास्य कथाएं हैं । कथा संगठन की दृष्टि से नाटक अच्छा है ।

न्याय नाटक

२८२. जहांगीर की न्यायप्रियता को प्रस्तुत करने वाले इस ऐतिहासिक नाटक के समस्त कथासूत्र न्याय के चारों ओर घूमते रहते हैं । रानी नूरजहां और धोबिन की कथा उसी न्यायप्रियता की कसौटी बनकर आती है । संग्राम सिंह (जहांगीर का सभासद) भी एक ऐसा ही न्याय प्रेमी है जो पितृ-हृदय के तूफान को थाम कर न्याय की बलिवेदी पर अपनी एकमात्र संतान मंगल सिंह की भेंट चढ़ाता है । न्याय के ऊपर प्रेम की पराकाष्ठा ही इस ऐतिहासिक रचना का सत्य है । कोई हास्य या उपकथा नहीं है । अपने ऐतिहासिक आदर्श के अनुरूप चरित्र भी अच्छा है ।

कवि विद्यापति

२८३. विद्यापति के संगीत पर मिथिला की रानी की मोहान्धता व प्रणय कामना, विद्यापति की धर्म शिक्षा, राजा के मन की

१- अंक २, दृश्य ४, पृ० [illegible]

शंकर और नगरनारियों का लांछना व कलंक पर आत्महत्या आदि नाटक के कथासूत्र कल्पना और इतिहास के आधार पर विकसित हुए हैं । अतः नाटककार द्वारा इसे 'इतिहास के आधार पर एक काल्पनिक और दिलचस्प ड्रामा' की संज्ञा देना उचित ही है । नाटक का अन्त रानी की मृत्यु पर अश्रुधारा से भागा हुआ है । प्रेम प्रधान रचना होने के कारण लेखक की भावात्मक शैली के दर्शन होते हैं । रानी और राजा के चरित्र में थोड़ी यथार्थता है, किन्तु विद्यापति का चरित्र आदर्श के एकरंगी रंग में रंगा हुआ है ।

हिन्दू की गाय

२८४. गाय के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम एकता को दर्शाने वाला यह एक सामाजिक नाटक है । नाटककार ने एक ब्राह्मण द्वारा पोषित नवाब सलीम की पत्नी बानो का हिन्दू धर्म व गौशाला के प्रति अनुराग व सेवा, इस कृत्य पर पति की लांछना, नियाज फकीर का अपनी अनन्य भक्ति के प्रभाव से नवाब को कृष्ण के दर्शन कराना, इस दृश्य से नवाब का जागना[1] व धार्मिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सबको एक समझना आदि कथा सूत्रों द्वारा नाटक में एकता के आदर्श को प्रस्तुत किया है । भिखारी और हजारी की हास्य कथा भी है ।

२८५. अपने सामाजिक नाटक 'भयानक भूत' में आत्मानन्द जी ने रूपनगर के राजा शान्तिसेन की पुत्री रूपवती और काश्मीर -नरेश उग्रसेन के पुत्र रूपसेन के प्रणय व उनके मध्य पड़ने वाले व्यवधानों की कहानी द्वारा दहेज की धनराशि व शक्तिमद, जिसे कि नाटककार ने भयानक भूत की संज्ञा दी है, के दुष्परिणाम प्रस्तुत किए हैं । कविराज की पत्नी केतकी और मास्टर गुप्ता की हास्यकथा द्वारा नाटककार ने नारी को फैशनेबिल बनाने के दुष्परिणाम दर्शाये हैं जिसके प्रवाह में वह अपनी पत्नीत्व तक का परित्याग कर देती है ।

१- नवाब— '... एक मुसलमान ने कृष्ण को बुलाया और उन्होंने फौरन आकर उसको अपना दीदार दिखाया,... यह किसने मेरे दिल की अन्धेरी कोठरी में रोशनी चमका दी ।'

अंक२, दृश्य६, पृ०५६

२८६. पण्डित रामशरण जी ने 'दी न्यू विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी आफ करांची' को कैस और लैला की प्रेम कहानी पर लिखा अपना 'लैला मजनूं' नाटक दिया । इस प्रेम कथा में भी नाटककार दिलबरी उल्फत और अहमक की हास्य कथा देना नहीं भूला ।

शिवराम दास गुप्त

२८७. काशी निवासी बाबू शिवरामदास की सभी रचनाएं अव्यवसायी रंगमंच की शोभा बनीं । यद्यपि आपने पारसी रंगमंच के लब्ध प्रतिष्ठ लेखक आगा हश्र 'काश्मीरी' की रचनाओं के आधार पर अपनी अनेक कृतियाँ प्रणीत कीं, किन्तु वे थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर न खेले सकीं । आपका काशी का 'नागरी व नाटकमण्डली' से निकट सम्बन्ध था । इन मण्डलियों में गुप्त जी का आगमन सर्वप्रथम स्वरकार के रूप में हुआ था । यहीं विकास करते हुए आप अन्तत: अभिनेता, संचालक और लेखक के रूप में भी प्रतिष्ठ हुए ।[1]

२८८. गुप्त जी की नाट्यकला का विकास प्रधानत: व सामाजिक रचनाओं में हुआ । एक सच्चा कलाकार की भांति समाज की विभिन्न समस्याओं के ताने-बाने से आपने अपनी अधिकांश कृतियों का संगठन किया । 'समाज का शिकार', 'स्वार्थी संसार' (१९३४), 'पहली भूल' (१९३२), 'शराब की घूंट' या आदर्श नारी' (विक्रम सं० २००६), 'हिन्द महिला', 'मेरी आशा', 'दूज का चांद' (१९३०), 'जवानी की भूल' (१९३३), 'धर्मात्मा', 'भारतीय छात्र' 'धरतीमाता' (१९४२), 'दौलत की दुनिया' (१९३३), 'कैदी की कराहें', 'पद्मलि' आदि आपके प्रसिद्ध सामाजिक नाटक हैं, जिनमें समाज के विभिन्न वर्गों का बहुमुखी चित्रण है ।

१- सोमनाथ गुप्त -- 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास,' चतुर्थ संस्करण, १९५७, पृ०१३६ ।

२८९. 'श्री जायसवाल नाटक मण्डली' काशी द्वारा अभिनीत अपने 'समाज का शिकार' नाटक को लेखक ने 'जालिमों के जुल्म की नंगी कटार' कहा है । ऐसा कहना या संज्ञा देना उचित ही है । दयाराम और उसकी पुत्री सरला तथा हरिदास और उसके पुत्र मदन की कथा द्वारा नाटककार ने दहेज प्रथा को लेकर समाज की क्रूरता और कन्याओं की दुर्दशा का करुणारसपूर्ण मार्मिक अंकन किया है । दुर्दशा के लिए बहुत कुछ अंश में गोपीनाथ जैसे प्रलोभी और धूर्त पुजारी उत्तरदायी ठहराए गए हैं । नाटक में चौधरी गोपीनाथ, और उसके स्वजाति के मटरू व रूपचन्द से सम्बन्धित व्यंग्यपूर्ण किन्तु मूल के उद्देश्य की पूरक हास्य कथा है ।

२९०. सेठ रामदास के पुत्र धर्मपाल को केन्द्र बनाकर गुप्त जी ने अपने 'स्वार्थी संसार'(१९३४) में जगत की स्वार्थपरता के अनेक चित्र खींचे हैं । तथा धनप्रिय पिता के साथ ही सभी सम्बन्धी सुख के साथी हैं, इस बात की पुष्टि की है ।

२९१. पहली भूल (१९३२) -- 'श्री आर्य नैतिक नाटक समाज' के एक गुजराती नाटक 'सती अंजना' और सुदर्शन जी के 'अंजना' नाटक के आधार पर लिखा गया । नाटककार ने राजा समर सिंह के पुत्र गोपाल और हीरा के बाल्यावस्था के स्नेह की यौवन के प्रेम में परिणति , किन्तु वैवाहिक बन्धनों की असंभाव्यता की पहली भूल पर ही समस्त कथा का भवन व खड़ा किया है । भक्को झक्की व साध्वी की हास्यकथा भी रखी गई है ।

२९२. 'हिन्द महिला' निर्दोष कन्याओं पर निर्दयी समाज के अत्याचार की कहानी है । यह समाज कभी तो प्रपंचियों व डाकुओं के रूप में गृहस्थ नारियों का अपहरण करता है, पुन: झूठे मान व धर्म,कर्म, तथा मर्यादा का ढोंग रचकर उन्हें घर से निष्कासित कराकर अपनी नीच वासना की तुष्टि करना चाहता है । जमींदार राय साहब के पुत्र प्रियलाल की पत्नी संध्या एक ऐसी ही सताई नारी है जो तिरस्कृत और अपमानित होकर समाज के आगे भीख के लिए गिड़गिड़ाती नहीं, वरन् आत्मसम्मान की रक्षा में अपने जीवन को प्रसन्न वदन नीच समाज की सन्तुष्टि के लिए बलि दे देती है[१] ।

१- सन्ध्या -"हिन्दू समाज आंख खोलकर देखे कि हिन्द की महिलाएं मौत से खेल सकती हैं पर लांछित होकर जीना नहीं पसन्द करतीं ।"
अंक३,दृश्य४,पृ०९१

२६३. तत्कालीन समाज में उद्भूत होने वाली जागरूकता व चेतना की लहर नाटक में सर्वत्र व्याप्त है। आत्मसम्मानी सन्ध्या तो इसकी साकार मूर्ति है ही जो अन्यायी समाज की कुरीति को स्वीकार करती है, प्रियलाल भी एक ऐसा ही पात्र है जो समाज में प्रतिष्ठा के लोभ में अपने पिता के पुनर्विवाह के आदेश को मानकर अन्धे समाज के हाथों अपनी आत्मा का हनन करना नहीं चाहता। नाटककार ने कृषकों में भी इसी चेतना का विकास दिखाया। वे अब अन्याय और अत्याचार को चुपचाप न सह कर उसका विरोध करते हैं। कोई उपकथा नहीं है। नाटक संक्षिप्त तथा सुन्दर है।

२६४. 'मेरी आशा' में नाटककार ने नारी की दुर्दशा को करुणा में डूबकर भावुकतापूर्ण शैली से अंकित किया है। नारी के पत्नी, पुत्री, मां, वेश्या सभी रूपों में दर्शन होते हैं। गौरीनाथ और हीरा, भगवानदास और सरस्वती, भगवानदास और मां लक्ष्मी, भोलानाथ और पुत्री सरस्वती, गौरीनाथ और मधुनी वेश्या तथा भगवानदास और मुन्नी की कथाओं द्वारा नाटककार ने नारी की आशा का दुराशा में परिवर्तन दिखाया है। भोला और सोना की उद्देश्यपूरक हास्य कथा भी है। इन सभी कथाओं का नाटककार ने सम्यक् रीति से संगठन किया है। संवाद चरित्रों को उभारने वाले व साहित्यिक तथा भावपूर्ण हैं। यत्र-तत्र अच्छे विचारों के साथ ही नाटककार ने जनता की आंखें खोलने की चेष्टा की है।

२६५. 'श्री बालकलाल राष्ट्रीय नाटक मण्डली' काशी द्वारा अभिनीत 'शराब की घूंट' तथा 'दूज का चांद' (१६३०) मदिरा व वेश्या प्रथा के अवगुणों का चित्र खींचने वाले सामाजिक नाटक हैं जिनकी कथावस्तु में परस्पर काफी साम्य है। नाटककार ने शान्ता और आशा दोनों के जीवन को लगभग लगभग एक ही प्रकार से इस विष की आग में झुलसते हुए अंकित किया है। आगा हश्र के 'आंख का नशा' का छायानुवाद 'जवानी की भूल' (१६३३) भी इसी वेश्या समस्या को लेकर चला है, जिसमें नाटककार ने कामिनी वेश्या के जीवनांकन द्वारा समस्या के मूल में जाने की चेष्टा की है।

२६६. 'दौलत की दुनिया' (१६३३) ने एक चित्रपट की कथा से जन्म लिया जिसके मूल लेखक श्री आगा हश्र 'काश्मीरी' थे । दास का यह सामाजिक नाटक विधवाओं की दुर्दशा और धनिकों के अत्याचार की कहानी है[1]। लक्ष्मीकान्त ही यह धनिक वर्ग का प्रतिनिधि है जो उपकार और सहृदयता के हाथों गरीब गजाधर का विश्वास जीतकर उसकी बहन फूलकुंवरि के सतीत्व को अपनी पशुवृत्ति पर होम करता है तथा मित्र गौरी के प्रपंच में उसे वेश्या बनने पर मजबूर करता है तो दूसरी ओर इसी धन बल पर अपने मित्र की विधवा पत्नी सावित्री पर जाल फेंकता है व असफलता पर उसे आपदाओं के बवण्डर में फंसाता है । समस्या के अंकन व चरित्र के उभार दोनों ही दृष्टियों से नाटक उत्तम है ।

२६७. प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' पर गुप्त जी ने अपने 'धर्मात्मा' 'भारतीय छात्र' तथा 'धरतीमाता' नाटक प्रस्तुत किए । इनमें घटनाओं, चरित्रों, यहां तक कि पात्रों के कम नामों की भी इतनी समानता है कि यदि इन्हें इन उपन्यासों का नाटकीय रूपान्तर कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी । 'धर्मात्मा' के लिए नाटककार ने स्वयं कहा है --' कल्पना में इस नाटक को जन्म देकर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी की 'कर्मभूमि' की छाया में पोषित किया है[2]।' अमरनाथ और आचार्य के द्वारा नाटककार ने धर्म के सत्य और कपटमय रूप का संघर्ष दिखाकर सत्य धर्म की जय दिखाई है । धर्मदास जैसे पुंजीपति धर्म के व्यंग्य रूप में प्रस्तुत किये गए हैं ।

२६८. 'भारतीय छात्र' विद्यार्थी जीवन और उसकी समस्याओं को लेकर लिखा गया । इस विषय का एकमात्र रंगमंचीय नाटक है । इसका प्रेमनाथ यदि प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' के अमरकान्त का प्रतिरूप है तो प्रो० राव डाक्टर शान्तिकुमार के समाजवादी विचारों को लेकर चले हैं और नरेश-सलीम तथा सावित्री सुखदा का

१- नाटक के निवेदन में -- लेखक दास

रूपान्तर है । कहीं-कहीं तो खण्ड के खण्ड अपने कविचारों और भावों के लिए 'कर्मभूमि' के अनुकरणवर्ती हैं । प्रेमनाथ का यह कथन-- 'भाइयों यदि आत्मा बड़ी है तो छोटा काम करने से आदमी छोटा कभी नहीं हो सकता । मोक्ष के विचार से कोई काम करना या बदले की आशा से कोई उपकार करना तो एक व्यापार है' प्रेमचन्द के कालेखां के इस कथन --' भैया । कोई काम सवाब समझ कर नहीं करना चाहिए । दिल को ऐसा बना लो कि उसे सवाब में वही मजा आए जो गाने या खेलने में आता है । कोई काम इसलिए करना कि उससे नजात मिलेगी रोजगार है ' का ही रूपान्तर है ।

२९९. 'रंगभूमि' के आधार पर संगठित 'धरतीमाता' में दास की अपनी विशेषताओं के साथ ही प्रेमचन्द जी की शैली की चुस्ती ,ओज, मार्मिकता और उनकी उदार तथा सामाजिक कल्पना के दर्शन होते हैं । नाटककार ने सोफिया और विनोद की प्रेम कथा को छोड़कर केवल सूरदास से सम्बन्धित कहानी का नाटकीकरण किया है, जिसमें पुरुष पात्रों का नाम तो आधार ग्रन्थ के समान ही है, किन्तु इन्दु की जगह कला और गजाधर की स्त्री का नाम मंजरी रखकर नाटककार ने स्त्री पात्रों के नामों में परिवर्तन कर दिया है ।

३००. सामाजिक नाटकों के अतिरिक्त 'देश का दुर्दिन', 'पद्मावलि' म'वीर भारत' गुप्त जी के ऐतिहासिक नाटक हैं । 'वीरभारत' चन्द्रगुप्त की राज्य प्राप्ति के संघर्ष की कहानी है तो 'देश का दुर्दिन' अमरसिंह (मेवाड़ का राणा) गज सिंह (जोधपुर नरेश) और महाबत खां के द्वारा राजपूतों के परस्पर वैमनस्य के दुष्परिणामों का अंकन है, जिसने उनकी मातृभूमि को मुगलों की बेड़ियों में जकड़ दिया । देश की दुर्दशा के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी

१- वरुण--'दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग से ।
इस घर को आग लग गयी घर के चिराग से ।
\+ \+
मेवाड़ बीरान उजड़ गया आपस की फूट से ।'
अंक१,दृश्य२,पृ०१४

स्वयं हिन्दू धर्म की संकीर्णता भी[१] है , जिसे नाटककार ने कल्याणी और महावत खां की कथा द्वारा प्रस्तुत किया है । नाटक का मूल सौन्दर्य महावत खां का चारित्रिक परिवर्तन और उसके मूल कारणों का निरूपण है । 'पशुबलि' बौद्धों और सनातन धर्मी लोगों की मत विभिन्नता की संघर्षपूर्ण कहानी है, जिसमें माधव और मोहिनी की प्रेम-कथा और उसकी सफलता द्वारा नाटककार ने सनातन धर्म पर बौद्ध धर्म का जय दिखलाई है तथा 'अहिंसा परमोधर्मः' का शंखनाद किया है ।

३०१. शिवरामदास की ये सभी रचनाएं स्वयं उनके ही उपन्यास बहार आफिस काशी से प्रकाशित हुईं । श्रीष और फख के नाम के साथ गुप्त जी की 'प्रेम की प्यास' (१६३८) 'भक्त मोरध्वज' (१६२८) ये दो अन्य रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं । चूंकि इन कृतियों में गुप्त जी का कलम का रंग है, अतः इन्हें उनकी सम्पादित रचनाएं कहना अधिक उपयुक्त होगा, जिसपर लेखक ने अपनी विनयशीलता के कारण निःसंकोच रूप से मूल रचनाकार का नाम दिया है ।

बलदेव प्रसाद खरे

परोपकार (१६२२)

३०२. यह एक पौराणिक कथा है, जिसे अपने मित्र कपिलदेव से सुनकर नाटककार ने सामयिक रूप देने की चेष्टा की है[२] और इसी के फलस्वरूप उसने अपनी कृति में स्वदेश-सेवक कैदियों के कष्ट, परोपकार के परिणाम, छुआछूत की निस्सारता, हिन्दू-मुसलमानों का मेल और अहिंसात्मक असहयोग की उपयोगिता आदि अनेक सामाजिक विषयों का प्रतिपादन किया है । नाटक के नामकरण की सार्थकता सिद्ध करने वाली मुख्य कथा कलिंग देश के राजा वीरसेन और लक्ष्मी के

१- महावत खां--'ओह ! इतना राग द्वेष !... तुम्हारी जाति, धर्म इसी योग्य है कि विधर्मी विधर्मी तुमसे घोर प्रतिद्वन्द्व मचाएं । तुम्हारे अहंकार को चूर्ण कर तुम्हारा नामोनिशान मिटा दें । अंक२, दृश्य३, पृ०५३

२- परोपकार नाटक की भूमिका-- बलदेवप्रसाद खरे

सहायक उपकारी, सेनापति शूरसेन तथा मौर्यदेश के अत्याचारी राजा नन्दसेन और उनके दुष्ट प्रधान, विदेशी को लेकर लक्ष्मी और शूरसेन के प्रणय के चारों ओर घूमता है, जिसका अन्त उनके विवाह का सुखमय परिणति में होता है ।

राजा शिवि (१९२३)

३०३. 'धर्मोपदेश' के साथ ही 'देशोन्नति' की भावना इस पौराणिक नाटक के प्रणयन का मूल कारण है , जिसकी पूर्ति राजा शिवि के उदात्त चरित्र द्वारा की गई है । प्रथमांक में राजा शिवि का पुत्र कामना हेतु उग्र तप, इन्द्रासन के लिए चिन्तित देवराज का बाज(इन्द्र) व कबूतर (अग्नि) के रूप में शिवि की शरणागत वत्सलता, क्षत्रिय धर्म व दानवीरता की परीक्षा, द्वितीयांक में पुत्र जन्मोत्सव व शिवि का प्रजा: प्रेम तथा तृतीयांक में आतिथ्य-सत्कार में पुत्र बलिदान की कथा को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है । दानवीर शिवि के चरित्र को विषमता द्वारा उभारने के लिए नाटककार ने हाँडूचन्द नामक सूम सेठ की हास्यकथा[1] की योजना की है । संगठनात्मक दृष्टि से नाटक उत्तम है ।

सम्राट परीक्षित (१९२२)

३०४. देश: प्रेम और देश की मान-मर्यादा की रक्षा के उद्देश्य को लेकर लिखे गए इस पौराणिक नाटक को कलकत्ते की किसी व्यवसायी नाट्य समिति ने अभिनीत किया था। इसके कर्मचारियों के आग्रह पर ही नाटककार को पौराणिक कथा से अलग फक्कड़शाह और धींगमल आदि मारवाड़ी पात्रों की फाटकेबाजी का आधुनिक प्रहसन भी रखना पड़ा । अश्वत्थामा का अपनी पराजय पर क्षुब्ध होकर ब्रह्मास्त्र से उत्तरा के गर्भ की हत्या, मृत पुत्र का जन्म, कृष्ण का परीक्षित को जीवित करना और राज्य तिलक(प्रथमांक तक), कलि का पृथ्वी को सताना और परीक्षित पर छलपूर्वक जय, परीक्षित का शमीक ऋषि के गले में

१- यह प्रहसन नाटक के प्रकाशक रिखबदास बाहिती के दिए हुए प्लाट पर मनोरंजन के उद्देश्य से लिखा गया था ।

मृत सर्प डालना व शृंगी ऋषि का श्राप (द्वितीयांक तक) तथा तृतीयांक में जनमेजय का प्रतिशोध में सर्पयज्ञ करना नाटक की मुख्य कथावस्तु है ।

सत्यनारायण (१६२२)

३०५. स्कन्द पुराण व पण्डित सत्यनारायण मिश्र की सत्यनारायण कथा पर विकसित होने वाले अपने उपपौराणिक नाटक में नाटककार ने भक्ति की श्रेष्ठता द्वारा देशोद्धार का चेष्टा[1] की है । लम्पट पण्डित सौभाग्यचन्द की हास्य कथा द्वारा उन ढोंगी साधुओं पर व्यंग्य-प्रहार किया गया है जो भक्ति के आवरण में कपटाचरण करते हैं । नाटक में धार्मिकता के साथ ही अलौकिकता का भी रंग भी गहरा है । गीत मुख्यतः आरती या भक्ति गीत है । भक्ति की महत्ता के प्रतिपादन के अतिरिक्त नाटक में कोई चारित्रिक सौन्दर्य नहीं है ।

सत्याग्रही प्रह्लाद ३०६(१६२८ ई०सं०)

३०६. यद्यपि अनेक नाटककारों ने इस विषय पर अपनी लेखनी चलायी है किन्तु खरे जी के इस नाटक में कुछ अपना रंग है । उन्होंने जहां तपस्यारत हिरण्यकशिपु की रानी को देवताओं के बन्धन तथा मुक्ति पर उसका क्रोध व देवर्षि नारद द्वारा अभिशप्त श्रापित[2] विलापसम्पूर्ण कथावस्तु की सूचना के साथ ही विषय का प्रतिपादन नए ढंग से किया है, वहां वर्तमान भारत की मांगानुसार प्रह्लाद के सत्याग्रह पर बल देकर पुरातन को वर्तमान से जोड़कर नाटककारों के लिए एक नवीन पौराणिक आदर्श प्रस्तुत किया है ।

३०७. नैरंग और मेंढकी की हास्य कथा के साथ यह नाटक कलकत्ते की 'संगीतालय नाट्य समिति' द्वारा दो बार अल्फ्रेड थियेटर के रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हुआ । नाटक पूर्णतः थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों के स्तर

१- इस कार्य से ही देश का, धर्म उत्थान हो हरा ।
होगी विजय भी युद्ध में, होगी सुखी भारत धरा ।
नाटक का मंगलाचरण, पृ०४

२- नारद—'तुझे अलौकिक का अवश्य शाप देता किन्तु जा तुझे पतित समझकर उद्धार के लिए आशीर्वाद देता हूं कि तेरे गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा वह भारत का अमूल्य रत्न होगा । सारा जगत उसकी धर्म दृढ़ता और भक्ति पर प्रसन्न होगा ।
अंक १, दृश्य २, पृ०१४

का है, जिसके दृश्य-विधान में चमत्कारिकता व अलौकिकता भी भरपूर है। इन नाटकों के अतिरिक्त खरे जी के 'बभ्रु वाहन' और 'चन्द्रहास' आदि पौराणिक नाट्य-कृतियां भी उपलब्ध होती हैं।

मुरादाबादी बनिवासी पण्डित बलदेव प्रसाद मिश्र

प्रभास मिलन (१६०३)

३०८. पौराणिक नाटक है, जिसमें गोप-गोपियों, यशोदा नन्द आदि से मिलन कृष्ण का द्वारिका में राज्य, ब्रज में वियोग की ज्वाला, नारद के चातुर्य से प्रभास में सूर्यग्रहण के अवसर पर यज्ञ और नहान के बहाने सब का मिलना आदि कथाओं का नाटकीकरण किया गया है। नाटकीय सौन्दर्य से रहित यह कृति मात्र गीतों का बाहुल्य और पात्रों की लम्बी वार्ता है।

मीराबाई (१६११)

३०६. अपने इस धर्ममूलक ऐतिहासिक नाटक में नाटककार ने मीरा की भक्ति को उभारने की चेष्टा की है, किन्तु परम्परागत चरित्रों की गम्भीरता और सौम्यता को बनाए रखने में असमर्थ रहा है। महाराणा कुम्भ बिल्कुल ही निम्नस्तरीय और ढुलमुल है, जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। यही नहीं चरित्र और उस समय के वातावरण से अनभिज्ञ नाटककार ने मीरा के मुख से 'दुहाई है श्री गोविन्द जी की अब तो दुहाई है' या' छूटा चित्तौर हम से हा। विपत यह कैसी आई?' आदि गर्जों तथा बालक मूर्ति धारी हरि से हैं हैं न सो तु प्रान, हैं हैं न सो तु प्रान' आदि ओछी कथन पर धूर्तें गवाई है। भोजनदास द्वारा हास्य की सृष्टि की गई है। नाटक में कोई सौन्दर्य नहीं है।

३१०. 'नन्द विदा' और 'रामलीला'-विजय' मिश्र जी के ये दो पौराणिक नाटक और भी उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इन्होंने अधिकांशतः पौराणिक नाटकों की ही रचना की है, किन्तु 'समाज सेवक' के नाम से एक सामाजिक कृति भी प्राप्य है, जिसमें स्वामी चिदानन्द द्वारा नाटककार ने सनातन धर्म की ढकोसले-बाजी और व्याख्यानबाजों पर व्यंग्य प्रहार किया है। अछूत समस्या का भी

स्पर्श किया गया है । परिशिष्ट के रूप में लाल बुझक्कड़ वैधराज और धानी सेठ का की हास्य कथा को लेकर चलने वाले इस नाटक में भी पूर्व नाटकों के समान कोई सौन्दर्य नहीं है ।

बलदेव प्रसाद

शंकराचार्य दिग्विजय(१६२३)

३११. नाटककार की यह प्रथम रचना बौद्ध धर्म के अनाचारों को दिखाकर शंकराचार्य के द्वारा आर्य धर्म के प्रसार की ऐतिहासिक कथा है । नाटक का प्रारम्भ बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपनी बहन भारती के अपमान पर कुमारिल भट्ट की वैदिक धर्म के प्रसार की प्रतिज्ञा[1] से होता है । चन्द्रशेखर (जो वियोग की असह्य ज्वाला में दग्ध होने पर शंकर की शरण में जाकर आर्य धर्म का प्रचारक पद्मपाद बन जाता है) व लीलावती, तथा शंकर और भारती की कथा द्वारा भी नाटककार ने आर्य धर्म के स्थापन के उद्देश्य की पूर्ति की है । ऐतिहासिक सूत्रों के संयोग में कला की सू दृष्टि से कल्पना का योग भी पर्याप्त है । कुमारिल भट्ट का चिन्ता में जलना, शंकर को चिता में लेटा कर आग लगाना व ठीक अवसर पर वर्षा द्वारा आग का बुझना, पद्मपाद का प्रतिशोध में कापालिक का पेट फाड़कर उसकी आंतों की माला अपने गले में पहनना आदि नाटक में अनेक अलौकिक दृश्य है । कोई उपकथा या हास्य कथा नहीं । कलात्मक दृष्टि से नाटक सुन्दर है । अपने आदर्श के अनुरूप ही नाटककार ने चरित्रों को भी उभारा है ।

विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

३१२. 'कौशिक'जी का थियेट्रिकल कम्पनियों और व्यवसायी नाट्यमण्डलियों दोनों से ही पर्याप्त सम्बन्ध रहा है । अत: आपकी कृतियां दोनों ही प्रकार के रंगमंच की शोभा बनीं।

१-"जब समस्त भारत में बौद्ध आडम्बर की चिन्ता पर वैदिक धर्म के महल बने हुए दिखायी देंगे तभी मेरे व्रत का उद्यापन होगा ।" अंक १,दृश्य ५,पृ०१७

भीष्म (१६१८)

३१३. इस पौराणिक विषय पर आगा हश्र ने भी इसी उपमा नाम से एक नाटक प्रस्तुत किया था। प्रस्तुत नाटक थोड़े से अन्तर पर लगभग उसी का रूपान्तर है। वसुओं में द्यौ वसु का स्त्री प्रेम के वशीभूत होकर नन्दिनी को चुराना और वशिष्ठ के शाप से भीष्म के रूप में जन्म लेना नाट्य-जगत में नाटककार का यह अपना रंग है। "स्त्री प्रेम कितना प्रबल है ? इसमें फंसकर सारा ज्ञान दूर हो जाता है सब अभिमान चूर हो जाता है।"[१] नाटक की सम्पूर्ण कथा का सार है जिसे नाटककार ने महाराजा शान्तनु, धीवर पुत्री मत्स्यगंधा सत्यवती, भीष्म, अम्बा और शिखण्डी आदि पात्रों के द्वारा प्रस्तुत किया है। नाटक के कथासूत्र सामान्यतः वही है जो आगा साहब के ~~उनसे-प्रस्तुत-किया-है-।~~ नाटक के कथासूत्र हैं।

३१४. नाटक में मूल कथा से बिलग सीताराम ब्राह्मण और उसकी पत्नी चंचला की व्यंग्यात्मक हास्यकथा है, जिसमें ब्राह्मणों की भोजनप्रियता का उपहास किया गया है।

अत्याचार का परिणाम (१६२१)

३१५. बंगला भाषा के एक नाटक की नींव पर खड़ा होने वाला प्रस्तुत सामाजिक नाटक जमींदार जसवन्त सिंह और उसके भाई कर्ण सिंह द्वारा धर्मसिंह के परिवार पर अनवरत होते अत्याचार की करुण कहानी है; जिसका शिकार बनती है परिवार की एकमात्र कन्या कृष्णा। किन्तु नाटक के अन्त में स्वामी शिवानन्द द्वारा यह रहस्य निरावरण करके कि कृष्णा इसी अत्याचारी जसवन्त सिंह की बहन है जो शिवानन्द के द्वारा धर्म सिंह के परिवार में शिक्षण पा रही थी, उसकी लुटती लाज को बचा लिया गया है। नाटक का संगठन काफी शिथिल है। कोई हास्य या उपकथा नहीं।

~~३१६.~~

हिन्दू विधवा उर्फ दूसरा जमाना

३१६. 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए सन् १६३० में 'कौशिक' जी ने कम्पनी के द्वारा दिए गए प्लाट को ~~कुछ~~ थोड़े से रूपान्तरों के साथ

१-अंक१, दृश्य२, पृष्ठ६

'हिन्दू विधवा' के नाम से प्रस्तुत किया जिसे कम्पनी मालिकों के आग्रह पर श्री राधेश्याम 'कथावाचक' ने 'सुधरा जमाना' के नाम से सम्पादित किया। यही कारण है कि नाटक में दोनों की ही रुचियों का रंग मिलता है। नाटक सर्वप्रथम 'संगम थियेटर' दिल्ली में अभिनीत हुआ।

३१७. इसमें प्रस्तुत नाटक सोद्देश्य और समाज की आंखें खोलने वाला है। इसमें बाल विवाह के दुष्परिणाम, विधवाओं की मुसीबत व सुधरे हुए रिवाजों की हकीकत दर्शायी गयी है। बाल विधवा कमला और उसकी पुत्री सरस्वती की दुर्दशा के सार को नाटककार ने विधवा क्लावती की एक अन्य कथा द्वारा विस्तार में दिखाने की चेष्टा की है। इसी विधवा समस्या का एक अन्य पहलू कल्याणी भी है। मणिधर राय का क्लावती से विवाह दिखाकर नाटककार ने विधवा समस्या का समाधान 'पुनर्विवाह' प्रस्तुत किया है। दौलतराम और कोकिला की हास्य तथा 'सुधरा-जमाना' हास्य से अधिक व्यंग्यपूर्ण है। जिसमें नाटककार ने पश्चिम की चकाचौंध को ही सर्वस्व समझने वाली नारियों पर मीठी चुटकी ली है।

कन्हैयालाल 'तरुण्वर'

वीर छत्रसाल

३१८. प्रस्तुत ऐतिहासिक नाटक छत्रसाल की वीरता और देश-प्रेम की इतिहास प्रसिद्ध कहानी है। नाटककार ने पहाड़सिंह, शुभकर्ण और अंबुकी राय के प्रतिकार में चम्पतराय को मुगलों का बन्दी बनाकर भाई-भाई की प्रतिहिंसा के दुष्परिणाम दर्शाये हैं। विजया और छत्रसाल के प्रेम को देश प्रेम में परिणति कर पात्रों के चरित्र को ऊपर उठाने के साथ ही अपने देश-प्रेम के उद्देश्य को प्रस्तुत करने वाली है। प्रेम की एकान्त पुजारिन विमला भी इसी उद्देश्य की परिपूरक है। हास्यकथा अंबुकीराय, गलतफहमी और मौ टूक आदि पात्रों को लेकर चली है। प्रवृत्तियों का यह मानवीकरण ही इस प्रहसन की व्यंग्यात्मकता का पोषक है।

पौरस सिकन्दर

३१९. 'तरुण्वर' का यह ऐतिहासिक नाटक भारत विजय की इच्छा लेकर निकले सम्राट सिकन्दर से पंजाब नरेश पौरस और उसके पुत्र दिवाकर के संघर्ष का नाटकीकरण है, जिसमें कोई भी हास्य या उपकथा नहीं है। पौरस, दिवाकर का दृढ़ देश-प्रेम, तक्षशील और उसकी बहन अम्बालिका का देश-द्रोह, तथा इन्दिरा के व्यक्तिगत प्रेम पर देश-प्रेम के आवरण की छटा अनुपम है।

सम्राट अशोक

३२०. नाटक अपने नामानुसार ही अशोक की वीरता, कलिंग देश पर उसकी जय और प्रमिला के दुष्ट चरित्र की इतिहास प्रसिद्ध कहानी है। जितेन्द्र और अशोक की बहन इन्दिरा, प्रणयिनी और अशोक की प्रणय गाथा के मध्य भी मुख्यता प्रमिला के चरित्र की ही है जो महत्वाकांक्षा की डोर में बंधकर इधर-उधर खिंचती है और अन्त में अपूर्ति पर आत्महत्या कर लेती है। नाटक संगठन की दृष्टि से उत्तम है। मोहन और कमला के द्वारा हास्यकथा की सृष्टि की गई है।

३२१. ऐतिहासिक कृतियों के अतिरिक्त भारत का साकार चित्र प्रस्तुत करने वाला राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत सामाजिक नाटक 'देशदशा' भी उपलब्ध होता है। नाटककार ने जान महम्मद और उसकी पत्नी शरीफा को एक हिन्दु असहाय लड़के सोहन की रक्षा में संलग्न दिखाकर हिन्दु मुस्लिम ऐक्य का आदर्श[1] प्रस्तुत किया है। हास्यकथा आधुनिकता के रंग में डूबे महम्मदीन को लेकर चली है जिसमें हास्य की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता है।

श्री नन्दकिशोर लाल

महात्मा विदुर

३२२. पौराणिक नाटक है, जिसमें विदुर के चरित्र, उसके

१- 'फर्क कुछ हिन्दू औ मुसलमान में तो जिनहार नहीं।
दोनों मिल जायें, आपस में अगर प्यार नहीं।', पृ०४६

अन्याय न सह सकने की प्रवृत्ति तथा भक्ति भाव को उभारने के लिए नाटककार ने कौरवों का पाण्डवों के प्रति अत्याचार का महाभारतीय कथा को चुना है । सम्पूर्ण द्वितीयांक विदुर और उनकी पत्नी पद्मा के भक्ति भावों व भगवान का अपने भक्तों के प्रति अनन्यानुराग से भागा हुआ है ।[1] 'कलियुगी साधु' का प्रहसन बाबू शिवनारायण द्वारा रचित है, जिसे उनके आग्रह से ही नाटककार ने अपनी इस पौराणिक कृति में संयुक्त किया है । वृद्धावस्था में विवाह, उन सोलहवर्षीय नारियों की व्यथा जो इस कुरीति का शिकार होती हैं, साधुओं का उन्हें अपने कपटमय रूप में फंसाकर गायब होना -- प्रहसन के ये सामाजिक कथा सूत्र लेखक के व्यंग्य प्रहार के अच्छी तरह आखेट हुए हैं ।

हरिशंकर उपाध्याय

श्रवणकुमार

१२३. प्रस्तुत नाटक इसी नाम की एक अन्य रचना का मौलिकता रहित रूपान्तर है । केवल नाटकान्त में भूल से श्रवण को तीर लगने पर दशरथ को शोकाकुल, शान्तनु और पिता के शाप को वरदान समझ कर ग्रहण करने के स्थान पर क्षोभ और पश्चाताप के आवेग व न्याय की मांग पर आत्महत्या पर उतारू[2] दिखाकर अन्त में विष्णु के उपदेश व आदेश पर इस कार्य से निरत दिखाया है । दामोदर, चन्द्रकला और ठगी साधु प्रेमानन्द की हास्य कथा विरोधाभास द्वारा मूल कथा को चमकाने वाली है । उपाध्याय जी का यह नाटक 'सूर विजय' नाटक समाज द्वारा अभिनीत हुआ ।

१- पद्मा--'कृष्ण । कृष्ण । तुम्हारे सिर पर यह बोझा ? तुम्हारे चन्द्रमुख पर यह पसीना ? आओ, नीलमणि, आओ, मेरी गोद में बैठ जाओ....
कृष्ण-- नहीं नहीं, तुम उनको कुछ मत कहो । मैंने उनको कष्ट होते देखकर खुद ही पिता की झोली उठा ली थी ।अंक२,दृश्य१,पृ०१०७

२- दशरथ--'न्याय यही कहता है कि मैं हत्यारा हूं । खूनी हूं । मुझे सजा होनी चाहिए । अपनी सजा मैं स्वयं करूं, अपने तईं अपने को मार डालूं ।'
-- अंक ३ दृश्य४,पृ०१०७

गोपाल दामोदर 'तामस्कर'

राजा दिलीप (१६२७)

३२४. चार अंकों व कवि कालिदास की काव्य रचना 'रघुवंश' पर आधारित यह पौराणिक नाटक राजा दिलीप के प्रजा-प्रेम और संतान प्रेम की उनकी चेष्टाओं को प्रस्तुत करने वाला है, जिसकी समता और विषमता द्वारा और अधिक उभारने के लिए नाटककार ने सुताशन(पुत्रहीन) और हुताशन (अधिक सन्तानों के कारण उनके पालन-पोषण में असमर्थ) की दो अन्य उपकथाओं की योजना की है नाटक में गत्यात्मक मोड़ कम है और उसमें नाटकीयता की अपेक्षा वर्णनात्मकता अधिक है। पारसी नाटककारों की सी चमत्कारिकता और संगीत तथा पद्य बहुलता का नाटक में अभाव है।

मनसुखलाल सोबातिया

रण बांकुरा चौहान (१६२५)

३२५. ऐतिहासिक नाटक है जिसमें पृथ्वीराज के जीवन चरित्र का नाटकीकरण किया गया है। गुजरात के राजा भीमदेव और कन्नौज के सम्राट जयचन्द द्वारा देश दुर्दशा का उत्तरदायिनी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या की भावना दर्शायी गई है। वीर रस प्रधान नाटक होते हुए भी नाटककार ने पृथ्वीराज के हृदय की सरलता और मार्मिकता सफलतापूर्वक अंकित की है।

३२६. यह तीन अंकों नाटक अपने स्वरूप में विस्तृत होकर भी संगठन की दृष्टि से अच्छा है। पृथ्वीराज का चरित्र पूर्णतः उभर कर सामने आया है। युद्धात्मक प्रसंगों के कारण अनेक आश्चर्यकारी दृश्यों व ख्वाजा साहब के कारण नाटक में अलौकिकता का विधान है। बरुण व सरला, रमेश और विलासिनी तथा वेश्या मदन सुन्दरी की इस ऐतिहासिक इतिवृत्त से असम्बद्ध प्रहसनात्मक सामाजिक कथा भी रखी गई है।

रामसिंह वर्मा

३२७. 'रेशमी रूमाल' (१९२३) और स्वामिभक्ति' (१९२५) ये दो नाटक प्राप्त हैं। प्रथम प्रहसन है किन्तु दूसरी सामाजिक कृति है, जिसमें कृतिकार ने वेश्याप्रथा के दुष्परिणाम, कुछ मित्रों की संगति और सच्चे सेवक की स्वामिभक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। साहित्यिक दृष्टि से नाटक में कोई सौन्दर्य नहीं किन्तु अभिनेयता के लिए हत्या आदि के भड़काने वाले दृश्य, छोटे-छोटे संवाद, बीच-बीच में पद्य-प्रयोग और गीत पर्याप्त हैं। मङ्कचन्द बहादुर की हास्य कथा है जो वेश्या के प्रलोभन में अपनी पुत्री से भी हाथ धोता है। नाटक के अन्त में न्यायालय की योजना करके समस्त कथासूत्रों को एक जगह लाकर नाटककार ने आदर्श की अनुप्रेरणा से बुरे का बुरा परिणाम दिखाकर समाज को राह दिखाने की चेष्टा की है।

गोकुलदास वैश्य

भारत विजय अर्थात् देशभक्ति लाल सिंह (१९२२)

३२८. सूर विजय नाटक समाज में रहकर नौकर धर्म का पालन करते हुए वैश्य जी ने गुरु श्री किशनचन्द 'जेबा' से नाट्य शिक्षा लेकर अपने खाली समय में इस नाटक का संगठन किया था।[१] प्रस्तुत नाटक लाल सिंह की देशभक्ति और जयमाल सिंह की निरंकुशता और अत्याचारों की कहानी है। किन्तु नाटक के इस मुख्य पात्र का चरित्र जयमाल के अत्याचारों की स्पष्टता की सापेक्षता में गौण रहा है। लाल सिंह के धोखे से कामों से अनेक दुष्ट पात्रों का परिवर्तन चारित्रिक सौन्दर्य के हनन के साथ ही रचना में अस्वाभाविकता भी उत्पन्न करता है। नाटककार के 'राम बाल चरित्र' और 'भरथरी' आदि अन्य नाटक भी उपलब्ध हैं।

१- नाटक की भूमिका

रेवती नन्दन 'भूषण'

कर्मवीर (१६२५)

३२६. अपने गुरु तुलसीदत्त 'शैदा' जी से प्रेरणा लेकर 'भूषण' ने अनेक कृतियों का संगठन किया । प्रस्तुत नाटक उनकी लेखनी का प्रथम प्रयास है । यह फूट, कलि, काम, क्रोध आदि से जूझने वाले कर्मवीर की देश-प्रेम प्रधान कहानी[1] है जिसके द्वारा नाटककार ने असहयोग और अहिंसा के आदर्शों को प्रस्तुत किया है । कर्मवीर की पत्नी विद्या नारी दल को ससैन्य संगठित करके भारतीय नारी को उसके कर्तव्यों[2] की स्मृति दिलाती है । इस कथा के परिप्रेक्ष्य में ही परीक्षित, जनमेजय और कलि के संघर्ष की कथा भी चलती है । नाटक साहित्यिकता की दृष्टि से अच्छा है । यत्र-तत्र दार्शनिकता का पुट भी मिलता है । नाटककार ने धर्म, पाप, द्वापर, कलि, फूट, काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियों का मानवीकरण किया है । हास्य कथा का अभाव है ।

सुवर्ण सिंह वर्मा 'आनन्द'

वीर बन्दा वैरागी

३३०. ऐतिहासिक नाटक है जिसमें लक्ष्मण सिंह का अपनी हिंसक वृत्ति पर ग्लानि वश वैराग्यधारण करना और गुरु गोविन्दसिंह की प्रेरणा पर देश सेवा के क्षेत्र में पदार्पण, सिक्ख समुदाय की आपसी फूट आदि कथासूत्रों का नाटकीकरण किया गया है । कथा संगठन की दृष्टि से नाटक अच्छा नहीं है । वीर बन्दा के चरित्र के स्थान पर आपसी फूट, द्वेष और वैमनस्य का वातावरण का अधिक मुख्य हो गया है । कोई हास्य कथा नहीं ।

१- बांधा है कफन सर से लिए हाथ में जां को ।
स्वाधीन करायेंगे मगर हिन्दुस्तां को ।'
अंक१, दृश्य ३, पृ०२६

२- अंक२, दृश्य२, पृ०८०

वीर दुर्गादास

३३१. यह ऐतिहासिक कृति दुर्गादास के देश-प्रेम की कहानी है, जिसका अन्त जोधपुर के उत्तराधिकारी कुंवर अजीत सिंह जिन्हें औरंगजेब के प्रपंच और अत्याचारों से बचाने में दुर्गादास ने अपना जीवन होम कर दिया -- की ताजपोशी पर होता है। दुर्गादास की वीरता और देश-प्रेम के साथ ही उनके व्यक्तित्व की निष्पक्षता निर्भीकता तथा नारी के प्रति उनके पूज्य भावों को भी नाटककार ने उन्हें विविध घटनाओं के घात-प्रतिघात में डालकर उभारा है। नाटक में मूलकथा के अतिरिक्त कोई हास्य या उपकथा नहीं है।

३३२. 'छत्रपति शिवा जी' (१९२९) आदि अन्य अनेक ऐतिहासिक नाटक भी उपलब्ध हैं।

३३३. इन नाटककारों के अतिरिक्त बृजनन्दन सहाय की प्रेम प्रधान कृति 'उषांगिनी', लक्ष्मीनारायण पाठक का ऐतिहासिक नाटक 'शाही फरमान' (१९२७), रंगमंच पर अनेक बार उतर कर अभिनीता के रूप में ख्याति प्राप्त हरिदास माणिक की पौराणिक रचनाएं 'पाण्डव प्रताप या युधिष्ठिर' (१९१७), 'संयोगिता हरण या पृथ्वीराज' (१९१५), 'श्रवणकुमार' (१९२०), भारतेन्दु नाटक मण्डली से सम्बन्धित काशीवासी श्री गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर के 'सुभद्राहरण', (१९१०)' हर-हर महादेव', पण्डित माधव शुक्ल के 'सीय स्वयम्बर' तथा 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (१९१६) बरेली के बाबू चन्द्रनारायण सक्सेना की ऐतिहासिक रचना 'कर्मवीर चण्ड' (१९२७), शालिग्राम वैश्य के 'अभिमन्यु वध अथवा वीर कलंक' (संवत् १९५९), 'माधवानल कामकन्दला' (संवत् १९७०), जमुर्द्ध जी का वीर रस प्रधान ऐतिहासिक नाटक 'मीर कासिम', श्री बंदीदीन दीक्षित की पौराणिक रचनाएं श्री सीताहरण' (१९६५), व 'सीय स्वयम्बर या धनुष यज्ञ' (१९६९) श्रीकृष्ण चन्द्र बरेली का पौराणिक नाटक 'पत्नीव्रत या कुलवधू मदालसा' (१९२१), श्री हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल' की ऐतिहासिक रचना 'पृथ्वीराज किंवा चौहान चरित्र' (१९३०), श्री खड्गबहादुर मल्ल का शृंगार व वीर रस तथा नीति उपदेशादि से पूर्ण रूपक 'कल्प वृक्ष नाटक' (१८८५), भक्ति और प्रेमरस सम्बन्धी 'हरितालिका नाटिका' (१८८७), शृंगार रस प्रधान 'महारास' नाटक

(१८८५), श्री श्यामकृष्ण जौहरी की पौराणिक कृति 'सती सुकन्या या पतिभक्ति' (१९२३), रामस्वरूप जी रूप चतुर्वेदी के 'वरुण सिंह', 'गौ भक्त दिलीप', 'देवी देवयानी', 'भक्त प्रह्लाद', 'भक्त विदुर', 'योगी राज भर्तृहरि' आदि पौराणिक कृतियां, राजबहादुर 'सुर' का ऐतिहासिक नाटक 'देशभक्त', आशिक बी०ए० का रोमांटिक नाटक 'संसार चन्द्र चक्र', सरयूप्रसाद 'बिन्दु' का सामाजिक कृति 'भयंकर भूत' (१९२९), राजेश्वरनाथ 'जेबा' का 'वीर बाला', पण्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा का राजनैतिक भावपूर्ण सामाजिक नाटक 'रंगीली दुनिया' (१९२४), तथा 'रानी सुन्दरी' (१९२५), 'दुर्योधन मान मर्दन' आदि नाटक, श्री लाली का 'गोपीचन्द' (१८९६), चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद' के ऐतिहासिक नाटक 'सम्राट अशोक' (१९२३) व 'सिद्धार्थ कुमार (१९२२), वशिष्ठ का पौराणिक नाटक 'अत्याचार का अन्त' (१९२२), पण्डित जगतनारायण का गौरक्षण से सम्बन्धित ऐतिहासिक नाटक 'अकबर गौरक्षा' (१८९५), श्री प्रभुलाल का करुणारस पूरित पौराणिक नाटक 'द्रौपदी वस्त्र हरण' (१८९६), मुखोपाध्याय का 'प्रह्लाद', बदरीनाथ भट्ट का धार्मिक नाटक 'गोस्वामी तुलसीदास', आनन्दप्रसाद श्रीवास्तव की अस्पृश्यता की समस्या को लेकर चलने वाली सामाजिक कृति 'अछूत', (१९२८), चन्द्रमणि का 'कराल चक्र', रामेश्वरप्रसाद रामा की सामाजिक रचना 'प्रेम योगिनी (१९२२), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'भीष्म' नाटक के आधार पर रचित 'विश्व' का पौराणिक नाटक 'भीष्म प्रतिज्ञा' (१९२२), रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल का 'सती अनुसूया', पण्डित वासुदेव पाण्डे का 'श्री काशी विश्वनाथ', 'उदय' बौलवी की सामाजिक कृति 'संतान विक्रय', मेलाराम जी का ऐतिहासिक नाटक 'भगवान शंकराचार्य', श्री कुंजीलाल जैन का 'धर्मञ्जय या वीर विजय' (१९२१), कृष्ण बल्देव वर्मा की पौराणिक कृति 'भर्तृहरि राज्य त्याग', तथा ज्वाला रामनागर की रचनाएं ऐसे ही नाटक हैं।

--0--

अध्याय -- ५

-०-

रंगमंचीय नाटकों की कथावस्तु

रंगमंचीय नाटकों की कथावस्तु

१. सूत बिना कपड़े की कल्पना की असम्भावना के समान ही कहानी के बिना नाटक अकल्पनीय है। इस सत्य को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही नाट्याचार्यों ने स्वीकार किया है। 'नाट्यशास्त्र' में वस्तु को प्राथमिकता दी गई है। पाश्चात्य नाट्य-समीक्षक अरस्तू ने भी अपनी 'पोयटिक्स' में नाटक के पर्यायवाची ड्रामा के विवेचन में कथा को प्रथम व प्रमुख तत्व माना है। वस्तु से आशय उस सम्पूर्ण कथा से है, जो कि रंगमंच पर प्रदर्शित, सूचित तथा संकेतित की जाती है। कथावस्तु नाटक का वह मूलाधार है, जहां से नाटक का सारा विकास, उसकी सारी परिणति और सम्भावनाएं अपने लिए ठोस भूमि पाती हैं। कथावस्तु ही नाटक में घटित समस्त घटनाओं और कार्यों की समुचित व्याख्या और अर्थ-बोध कराती है। नाटक में उठे अनेकानेक प्रश्नों के उत्तर इसी कथावस्तु में मिलते हैं।

२. नाटक को जीवन का अनुकरण मानने वाले अरस्तू के अनुसार 'नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दु:ख उसकी कृति पर निर्भर है। अत: नाटक चरित्र का अनुकरण करने के लिए कृति का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस प्रकार नाटक का अन्तिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अन्तिम ध्येय यही महत्व की बात है।'[1]

३. चूंकि ड्रामा कथोपकथन के माध्यम से कहानी प्रस्तुत करने की एक कला है, अतएव कथानक नाटक का मूलाधार तत्व है। नाटक की कथा ऐसी होनी

१- सेठ गोविन्ददास--'नाट्यकला मीमांसा', १९२२

चाहिए, जिससे दर्शकों की रसात्मक तन्मयता बनी रहे। लेकिन यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि कथा या इतिवृत्त और कथावस्तु में अन्तर है। इतिवृत्त या कथा उस घटना-क्रम को कहते हैं, जिसमें किसी नायक के जीवन का एक चरित पूर्णरूप से आ जाए। नायक नायिका, अन्य पात्र, स्थान, व्यापार या घटनापूर्ण जिस वर्णन को कथा कहते हैं, उसी की घटनाओं को जब अंक तथा दृश्यों के अनुसार संयोजित कर लिया जाता है तब उसे कथावस्तु या संविधानक कहा जाता है।[1] नाटक में कथा की नहीं, कथावस्तु की योजना रहती है।

४. भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु संविधानक के सम्बन्ध में सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। आधिकारिक पताका व प्रकरी नाम के तीन प्रकार के इतिवृत्तों का पृथक-पृथक स्वतन्त्र रूप से प्रख्यात उत्पाद्य व मिश्र होना, बीज, बिन्दु, मल पताका, प्रकरी कार्य में पंच प्रकृतियां, आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति व फलागम -- पंच अवस्थाएं, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श व निर्वहण -- पंच संधियां इनके अनन्तर संध्यंग और संध्यान्तरों व अंक, दृश्य का इतना जटिल विधान किया गया है कि हिन्दी में कोई भी नाट्य-कृति उस आधार पर पूर्णत: सही नहीं उतरती। कथावस्तु के प्रति अरस्तू की अवधारणा भी काफी संश्लिष्ट है। उसने इसके कथावस्तु के विकास में उद्घाटन, अन्वेषण, आक्रमण बिन्दु, संकट, चरम सीमा, संघर्ष, निर्वहण आदि ग्यारह पक्ष सम्मिलित किए हैं।[2] सामान्य रूप से कथानक को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-- कथा का आरम्भ अर्थात् निरूपण जिसमें मुख्य पात्रों का परिचय व नाटकीय पृष्ठभूमि का निर्माण होता है तथा पात्रों का तुलनात्मक महत्व प्रदर्शित किया जाता है। कथा का विकास व अवरुन्धन (Conflict) भाग में दो विरोधी वर्ग सामने आते हैं। तृतीय भाग उत्कर्ष है जहां कि संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। अन्तिम स्थिति अपकर्ष (Denouement) की है, जब कि अपनी चरम सीमा के स्पर्श करने के बाद कथावस्तु धीरे-धीरे गिरने लगती है व समस्त कथासूत्र सिमटने लगते हैं।

१- पण्डित सीताराम चतुर्वेदी--"भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच", प्र०सं०, १९५४, पृ०२६

२- लक्ष्मीनारायणलाल --"रंगमंच और नाटक की भूमिका", प्र०सं०, १९६५, पृ०१०८

५. यदि भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त नाट्य-नियमों के आधार पर आलोच्य नाटकों का अध्ययन किया जाए तो वहां इस प्रकार के विशुद्ध,सूक्ष्म और ठोस नियमों का नितान्त अभाव मिलेगा। व्यावसायिक होने के कारण कम्पनी के सर्वसत्ताधारी मालिक जनता के मन और मस्तिष्क के स्थान पर उसकी जेबों पर अधिक दृष्टि रखते थे। जनता से अधिकाधिक वसूल करने के लिए उन्हें पूर्णत: लोक-रुचि पर अवलम्बन करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में मालिकों के लिए किसी निश्चित नाट्य-नियमों का एकान्त अनुकरण असम्भव था। लोक-रुचि के मुखापेक्षी होने के कारण अपने नाटकीय कलेवर को उन्हें बराबर उस रंग-रूप में ढालना पड़ा, जिससे वे जनता के प्रिय हो सकें। इस परिवर्तनशील स्थिति में न केवल भारतीय अथवा पाश्चात्य व दोनों के मिश्रित नाट्य-नियमों को अपना सके और न अपना ही कोई निश्चित् नाट्य-विधान निर्मित कर सके, जिसकी कसौटी पर उनकी कृतियों को कसा जा सके अथवा जो उसकी नाट्य-समीक्षा के आधार बन सकें। जनता में लोकप्रिय होना और उसकी वाह-वाही लेना यही उनका मुख्य प्रतिपाद्य और उनके नाटकों की सफलता की कसौटी था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह मत कि -- "जिस समय जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्त:करण की वृत्ति सामाजिक और रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है[१]।" आलोच्य नाटककारों के सम्बन्ध में पूर्णत: सत्य सिद्ध होता है।

६. आलोच्य नाटकों की समीक्षा को अध्ययन की सुविधानुसार दो खण्डों में विभक्त करना अधिक समीचीन होगा--(१) सामग्री का चयन एवं उपयोग, (२) कथावस्तु का संगठन।

७. भिन्न रुचि के दर्शकों की मनस्तृप्ति के लिए कम्पनी-मालिकों को सजग कलाकार की भांति न केवल समाज के विभिन्न रूपों,उसके स्वरूप एवं राष्ट्र की समस्याओं पर दृष्टिपात करना पड़ा, वरन् धर्म और ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास रखने वाले व्यक्तियों की रुचियों का भी सम्मान करना पड़ा। यही कारण है कि

१- भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग, सं० १९९३, पृ० ४३१

उन्होंने बदलते समय व विभिन्न रुचियों के प्रेक्षकों की मांग पर अपने नाटककारों से धर्म, पुराण, इतिहास, समाज, राष्ट्र आदि सभी विषयों पर नाटक लिखवाए। डा० लाल का आलोच्य नाटकों के सम्बन्ध में प्रकट किया गया मन्तव्य[1] इस दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक है। ग्रामीण व शहर के शिक्षित, अर्द्ध शिक्षित नागरिकों के मानसिक स्तर व रुचियों पर इस कला के नाटकों को विषयवस्तु की दृष्टि से उन्होंने निम्न वर्गों में विभाजित किया है --

(१) प्रेम लीला पूर्ण रोमांचकारी नाटक

(२) पौराणिक नाटक

(३) ऐतिहासिक नाटक

(४) सामाजिक एवं सामयिक नाटक।

राष्ट्रीय भावनाओं की बहुलता व तत्सम्बन्धी नाटकों के कारण राष्ट्रीय नाटकों का एक वर्ग इसमें और जोड़ा जा सकता है।

८. व्यावसायिक रंगमंच के इतिहास में हिन्दी नाटकों का समुचित आरम्भ बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से उपलब्ध होता है। इससे पूर्व रंगमंच पर पारसी, गुजराती और उर्दू नाटकों का प्राधान्य था। प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा हिन्दी नाटकों से सम्बद्ध होने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नाटकों की विस्तृत समीक्षा यहां अपेक्षित न होगी, किन्तु नाटक के विकास के अध्ययन और पूर्व-पीठिका के रूप में इनका संक्षिप्त विवरण देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है कि व्यावसायिक कम्पनियों के रंगमंच पर १६०० तक गुजराती और उर्दू नाटकों का प्राधान्य रहा, जिनकी विषय-वस्तु शेक्सपियर व अन्य अंग्रेजी नाटकों के अतिरिक्त शाहनामा अवेस्ता, अरेबियन नाइट्स तथा ईरान व फारसी की प्रेम कथाओं से चुनी गई। उनमें अतिरंजना, अप्राकृतिक और अलौकिक तत्वों का बाहुल्य था। प्रेम का बड़ा थोथा और अश्लील चित्रण किया जाता है। कैसी घटनाओं और संयोगों का प्रमुख स्थान है। नाटककारों ने विदेशी सामग्री को भारतीय वातावरण के अनुरूप ढालने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु सफल

१- डा० श्रीकृष्णलाल -- "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास", तृ०सं०, १६५२, पृ० २३८।

न हो सके। सच तो यह है कि किसी प्रकार के समुचित नाटकीय आदर्श के अभाव के साथ लेखकों को न तो नाट्यशास्त्र का ज्ञान था, न नाट्योचित विषयों का। भड़कीली वेशभूषा और चमत्कारिक दृश्य बंध ही नाटकों की लोकप्रियता के मुख्य आधार रहे।

पौराणिक और धार्मिक नाटक

१०. सन् १६१३ में नारायण प्रसाद 'बेताब' के 'महाभारत(१६१३) से इस क्षेत्र में एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ। लगभग अर्द्ध शताब्दी तक रोमांचकारी घटनाओं और अश्लील प्रेम-प्रसंगों को देखते- देखते जनता ऊब चुकी थी। ये प्रसंग अब उसके लिए अधिक आकर्षक नहीं रह गए। वह कुछ विषयान्तर चाहने लगी। इतना ही नहीं, उपर्युक्त नाटकों की अभद्रता और अशिष्टता की प्रतिक्रिया में समाज में एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया था, जो स्वयं ऐसे नाट्याभिनयों के लिए कटिबद्ध था, जिसमें पूर्णत: भारतीयता हो, मुस्लिम वातावरण और उर्दू भावनाओं के प्रसार के स्थान पर हिन्दुओं के धार्मिक महापुरुषों का अवतार हो। और राष्ट्र और समाज की समस्याओं के संस्पर्श के साथ धार्मिक भावनाओं और हिन्दी भाषा का प्रचार हो अर्थात् जिसमें हर दृष्टि से हिन्दुत्व हो। 'इश्क का गुलगप्पा या मुहब्बत का मसाला' हो जिसे 'आशिक मिजाज चाव से खाते और विलासिता की गोद में सो रहते हैं।'[1] इस वर्ग के लिए नाटक निर्मित करने वाले नाटककार अपने कर्तव्य और नाटक के महत्व को- से अपरिचित नहीं थे। उनके अनुसार नाटक का दर्शकों के कोमल हृदय में मनोरंजन रूपी अभिनय के मिस विषय-वासनाओं की वृत्तियों को बढ़ाना तथा शृंगार रस के समुद्र में उन्हें सर से पैर तक डुबो देना नहीं[2] वरन् 'देशवासियों में विद्युत शक्ति पैदा करने वाला यन्त्र, मोहनिद्रा से जगाने वाला बैंड', भूले भटके भाइयों को सन्मार्ग पर लाने वाला 'पथ प्रदर्शक', नास्तिकों को आस्तिक बनाने वाला 'धर्मोपदेशक', सामाजिक कुरीतियों को दूर करने वाला 'सुधारक', जनता में धार्मिक तथा राष्ट्रीय भाव जगाने वाला 'आचार्य' परतन्त्र को स्वतन्त्र बनाने वाला 'उद्धारक' और असम्भव को सम्भव कर दिखाने वाला[3]....

१- राधेश्याम जी 'कथा वाचक'-- 'पूरण भक्त' नाटक की प्रस्तावना।
२- सुदर्शन सिंह वर्मा 'आनन्द' के 'छत्रपति शिवा जी' नाटक की भूमिका।
३- बैजनाथ प्रसाद जी-- 'सम्राट परीक्षित', पृ०६

नाटक था। अपने इन्हीं विचारों और पूर्ववर्ती नाटकों की गिरी हुई दशा देखकर पश्चात्तापवश उन्होंने अपने नाटकों में उसके प्रक्षालन की चेष्टा की, जिसकी थोड़ी सी झलक नीचे देना उस समय की विचारधारा समझने के लिए युक्तियुक्त होगा। 'धर्मोन्नति' के साथ देशोन्नति का नाटक दिखाना चाहिए'....

'अगर आदर्श नाटक हो जनता की कुछ भलाई हो।
सफल सारा परिश्रम हो, हमारी भी बड़ाई हो।[1]

+ + +

नट-- 'तुम्हीं विचारो जब रोगी होने से तुम्हें गाना बजाना नहीं सुहाता तो तो तुम्हारा देश जो अधोगति को प्राप्त हो चुका है, उसके मनोरंजन से क्या लाभ होगा ....

'तो ऐसी हालत में कर्म करके जगाएं भारत को धर्म है यह।
या अश्लीलता का प्रचार करके गिरायें भारत को कर्म है यह[2]।

+ + +

' अगर सेवा सुधारों पर हमारा मन अटल होगा
तो मुमकिन है जमाने में भी कुछ रद्दो बदल होगा।
नाट्य भाषा में उठाकर पूर्वजों के मान को
आज दिखाने चले हैं भारती संतान को।[3]'

+ + +

'नाटक वह हो जिससे हो धर्म की परीक्षा
भरपूर सत्यता हो मिलती हो जिससे शिक्षा।
जिससे कि शुद्ध हिन्दी भारत में फैल जावे
शत्रु हो मित्र जिससे दोनों का मेल जावे।'

१- बलदेवप्रसाद खरे--'राजा शिवि' नाटक की भूमिका
२- ~~भगवानदास~~ चन्द्रनारायण-- 'कबीर खण्ड', पृ०१
३- रामस्वरूप की 'श्यं' चतुर्वेदी--'पूरण भक्त भक्त', पृ०४
४- आरजू-- 'ऊषा अनिरुद्ध' अंक १, दृश्य १, पृ०२

११. इन विचारों का मुख्य कारण उस समय की बदलती राजनैतिक परिस्थितियों के साथ धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन थे, जिसने आत्म विस्मृत जनता को जागृत किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे समाज के कर्णधारों ने उन्हें अपने कर्तव्यों का बोध कराया। समाज के ये कर्णधार धार्मिक वृत्तियों के थे। रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी एवं आर्य समाज के प्रयासों से देश में धार्मिक पुनरुद्धार की लहर जगी। फलत: रास रंग में डूबी लोक-रुचि अपने मनोरंजक स्थलों पर देश और समाज के प्रतिबिम्ब के साथ अपने धार्मिक महापुरुषों को देखने के लिए लालायित हो उठी। कम्पनी-मालिकों के लिए ऐसी स्थिति में स्वयं को रोमांचकारी विषय-वस्तु की संकुचित सीमाओं में बद्ध रखना असम्भव हो गया। उन्हें तो अपने नाटकों के लिए प्रेक्षक और पैसा चाहिए था। अत: समस्त उत्तर भारत में अपने लिए स्थान बनाने के लिए उन्हें दर्शकों की रुचि के सम्मान हेतु अपने नाटककारों से हिन्दी रचनाएं निर्मित कराने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रख्यात रंगमंचीय नाटककार 'कथावाचक' जी का यह मन्तव्य कि "अब मीठा खिलाने की आवश्यकता नहीं है। रुचि बदल रही है। धार्मिक खेलों की प्रथा चल रही है। ऐसे समय हमको किसी श्रेष्ठ नाटक खेलने का विचार करना चाहिए। मनोरंजन के साथ ही अपने देश और समाज का भी कुछ उपकार करना चाहिए" उस समय की बदलती मनोवृत्ति का परिचायक है।[1]

१२. आलोच्य रंगमंच पर हिन्दी के पौराणिक नाटकों का समुचितरूप से आरम्भ 'बेताब' जी के 'महाभारत' (१९१३) से होता है। किन्तु प्रथा का सूत्रपात विक्टोरिया नाटकमण्डली के नाटककार स्वर्गीय विनायक प्रसाद 'तालिब' की कृतियों से हो चुका था। आपके 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८८४), 'रामायण', 'कनकतारा', 'भर्तृहरि', 'महाराजा गोपीचन्द', 'नल दमयन्ती', 'रामलीला' एवं 'शकुन्तला' नाटक इस दिशा में सराहनीय प्रयास हैं। इससे कि पूर्व नशाखान जी खान साहेब 'आराम' अपने 'गोपीचन्द', 'शकुन्तला' और 'पद्मावत' से पौराणिक गीतिनाट्य (Opera) रंगमंच पर ला चुके थे, किन्तु इनमें हिन्दी की अपेक्षा उर्दूत्व की, उर्दू भावों की

१- राधेश्याम कथावाचक-- 'वीर अभिमन्यु'-मंगलाचरण, पृ० २-३

प्रधानता है । 'तालिब' के नाटकों की भाषा भी यद्यपि 'हिन्दी उर्दू मिश्रित'[1] है किन्तु धार्मिक भावनाओं के प्रश्रय व रंगमंच की विपरीत और विकट परिस्थितियों में हिन्दी को सर्वप्रथम उचित स्थान देने के कारण प्रारम्भिक रचनाओं के रूप में इनका महत्व खान साहब के नाटकों की अपेक्षा अधिक है, इस सत्य कोअस्वीकार नहीं किया जा सकता । स्पष्ट है कि संसार की समस्त भाषाओं के समान व्यावसायिक रंगमंच पर भी हिन्दी नाटकों का आरम्भ उसकी पौराणिक नाट्य-कृतियों से ही हुआ ।

१३. प्रथा का आरम्भ होने के साथ ही साथ उसका विकास भी बड़ी तीव्रता से हुआ । लगभग सभी नाट्यकारों ने इस क्षेत्र में प्रयास किए । विनायक प्रसाद के अतिरिक्त नारायणप्रसाद 'बेताब' के 'महाभारत' (२६ जनवरी १९१३) 'पत्नी प्रताप' अर्थात् सती अनुसूया 'कृष्ण सुदामा', 'गणेश जन्म', 'सीता वनवास', कथावाचक जी के 'वीर अभिमन्यु' (१९१८), 'भक्त प्रह्लाद' (१९२५) , 'ऊषा अनिरुद्ध' (१९२५) , 'श्री कृष्णावतार' (१९२९), 'रुक्मिणी मंगल' (१९२८), 'श्रवणकुमार' (१९३२), 'ईश्वरभक्ति (१९३५), 'द्रौपदी स्वयम्बर' १९३५, 'बाल कृष्ण', 'सती पार्वती' (१९३९), 'महर्षि वाल्मीकि(१९५१ वि०सं०) , 'शकुन्तला', आगा हश्र 'काश्मीरी' के भक्त सूरदास उर्फ बिल्व मंगल ' भारत रमणी' 'सती सीता वनवास', 'भगीरथ गंगा' हरिकृष्ण जौहर के 'सावित्री सत्यवान' चन्द्रहास, सती लीला, ऊषा हरण श्रीकृष्ण हसरत के 'गंगावतरण' (१९२१), भक्त ध्रुव, 'रामायण', सावित्री सत्यवान(१९२३ वि० सं०)महात्मा कबीर', किशनचन्द्र जेबा के देव संग्राम(१९२२ या धर्मार्थ युद्ध, गंगावतरण 'सीता वनवास, महात्मा विदुर', महात्मा कबीर तथा तुलसीदत्त 'शैदा', 'स्नेही' के 'बिल्वमंगल' अर्थात् भक्त सूरदास 'मातृभक्ति', 'जनक नन्दिनी (लव कुश)' नल दमयन्ती' 'वामनावतार व सावित्री' नाटकों ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की[2] ।पौराणिक नाटकों की एक बाढ़-सी आ गई । डा० गोपीनाथ तिवारी ने अपने आलोच्य शोध प्रबन्ध में पौराणिक नाटकों को अधोलिखित वर्गों में विभाजित किया है --

१- कृष्ण धारा के नाटक

२- रामधारा के नाटक

३- महाभारत धारा के नाटक

१- राधेश्याम कथावाचक-- मेरा नाटक काल, प्र०सं० १९५७,पृ०२१

२-इन सभी नाटकों की कथावस्तु का परिचय द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है ।

४- पतिव्रता स्त्री सम्बन्धी नाटक

५- भक्ति धारा के नाटक

६- संत धारा के नाटक

७- अन्य नाटक

१४. रंगमंचीय पौराणिक नाटक इन सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। राधेश्याम कथावाचक के 'श्रीकृष्णावतार', 'द्रौपदी स्वयम्बर', 'रुक्मिणी मंगल', 'ऊषा अनिरुद्ध', आनन्द प्रसाद कपूर का 'कृष्ण लीला', वशिष्ठ का 'अत्याचार का अन्त', प्रभुलाल का 'द्रौपदी वस्त्र हरण', जमनाप्रसाद मेहरा का 'कृष्ण सुदामा', नारायण प्रसाद 'बेताब' का 'कृष्ण सुदामा', पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र का 'प्रभास मिलन', 'आगा साहब का 'ऊषा अनिरुद्ध' कृष्ण धारा के, श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'रामायण', 'गंगावतरण', द्वारिका प्रसाद भाटिया का 'श्री रामलीला रामायण', बन्दीदीन दीक्षित का 'सीता स्वयम्बर' और 'सीताहरन' आगा साहब का 'सीता बनवास', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'तुलसीदास 'शैदा' का 'जनकनंदिनी' राधेश्याम जी का 'महर्षि वाल्मीकि' विश्व का 'भीष्म प्रतिज्ञा' विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक का 'भीष्म' रामशरण आत्मानन्द का 'गणेश जन्म' रामधारा के-- नारायण-प्रसाद का 'महाभारत', माधव शुक्ल का महाभारत(पूर्वार्द्ध), 'कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' शालिग्राम वैश्य का 'अभिमन्यु वध या वीर कलंक,' आनन्दप्रसाद कपूर का 'परीक्षित' 'अज्ञातवास' बलदेव प्रसाद खरे का 'सम्राट परीक्षित' किशनचन्द्र 'जेबा' का 'धर्माधर्म युद्ध' अथवा देवसंग्राम', हरिदास माणिक का 'पाण्डव प्रताप अथवा सम्राट युधिष्ठिर', श्री नन्दकिशोर लाल का 'महात्मा विदुर' महाभारत धारा के, आगा साहब का 'भारत रमणी या ऋषि कन्या, मेहरा का 'देवयानी', 'सती चिन्ता' दास और आरजू का 'हिन्दू ललना', श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'सावित्री सत्यवान', 'बेताब' जी का 'पत्नी प्रताप', मुंशी नायक साहब का 'सती अनुसूया' या पत्नी प्रताप', रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल का 'सती अनुसूया', दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'सती सुलोचना' 'नल दमयन्ती' श्यामचरण चौहरी का 'सती सुकन्या', रामशरण आत्मानन्द का 'सती लीला' गंगाप्रसाद अरोड़ा का 'सावित्री सत्यवान' श्रीकृष्ण चन्द्र का 'पत्नी-व्रत' व मधु ध्वज मदालसा' पातिव्रत्य धर्म के महात्म्य को लेकर लिखे गए नारी आदर्श सम्बन्धी नाटक, 'वालिद' का 'सत्य हरिश्चन्द्र', बलदेव प्रसाद खरे का 'राजा शिवि', 'सत्याग्रही

प्रह्लाद', जमनाप्रसाद मेहरा का 'मोरध्वज', 'विपद कसौटी', 'विश्वामित्र', 'भक्त चन्द्रहास', दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'विश्वामित्र', 'भक्त प्रह्लाद', कृष्णकुमार मुखोपाध्याय का 'प्रह्लाद', आनन्द प्रसाद कपूर का 'ध्रुव लीला', श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'भक्त ध्रुव', 'कथावाचक' जी का 'ईश्वर भक्ति' बलदेव प्रसाद खरे का 'सत्यनारायण' दास और फग्गु का 'भक्त मोरध्वज', हरिशंकर प्रसाद उपाध्याय का 'श्रवण कुमार', तुलसीदत्त 'शैदा' का 'मातृ भक्ति', आरजू साहब का 'अजामिल उद्धार', कुंजीलाल जैन का 'धर्मविजय', पण्डित वासुदेव पाण्डेय का 'श्री काशी विश्वनाथ', 'ईश्वर भक्ति' तथा मातृ-पितृ भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले भक्तिधारा के नाटक हैं। संस्कृत काव्य-रचनाओं के आधार पर गोपाल दामोदर तामस्कर का 'राजा दिलीप' तथा हाफिज मोहम्मद अब्दुल्ला का 'शकुन्तला' तथा स्वांग व लीलाओं के प्रभाव से श्री लाली का 'गोपीचन्द', कृष्ण बलदेव वर्मा का 'भर्तृहरि राज्य त्याग' व रामस्वरूप जी का 'पूरण भक्त' नाटक लिखे गए।

१५. ये सभी पौराणिक नाटक हैं जिनके इतिवृत्त प्रख्यात हैं अर्थात् रामायण, महाभारत तथा अन्य पुस्तकों से लिए गए हैं। किन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे नाटकों को भी पौराणिक नाटकों की संज्ञा दी गई है, जिनका सम्बन्ध पुराणों से बिल्कुल नहीं है। जिनके चरित नायक इतिहास के मानव पात्र हैं और पौराणिक काल की सीमाओं तथा मर्यादाओं से दूर हैं। आनन्द प्रसाद कपूर, तुलसीदत्त 'शैदा' मुंशी इश्ताक साहब और पण्डित श्री लाल उपाध्याय का 'बिल्वमंगल' अर्थात् भक्त सूरदास', रामशरण आत्मानन्द, दुर्गाप्रसाद गुप्त व बदरीनाथ भट्ट का 'भक्त तुलसीदास', बलदेवप्रसाद मिश्र, दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'मीराबाई' मिश्र जी का 'शंकर दिग्विजय', 'हसरत' का महात्मा कबीर', कपूर तथा विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' के 'बुद्धदेव' धार्मिक नाटक हैं, जिनके चरितनायकों के सम्बन्ध में पुराणों से कोई संकेत नहीं मिलते। ये अपने युग के महापुरुष थे। पौराणिकता से तात्पर्य है जहां अलौकिकता दिखाई दे। लेकिन इतिहास में मानवी प्रकृति की सीमाएं हैं। वहां सब कुछ सम्भाव्य नहीं है। चूंकि उपर्युक्त चरित नायकों के जीवन व कृत्यों में अलौकिकता व विस्मय का प्राधान्य था, वे धार्मिक महापुरुष थे तथा संत कथाओं के रूप में अति मानुषिक (Superhuman) चित्रित किए गए हैं, जिनके लिए

असम्भव नाम की कोई चीज न थी- इसीलिए ये पौराणिक महापुरुष मान लिए गए। इनसे सम्बन्धित नाटक पौराणिक नाटक कहलाए।

१६. प्रश्न उठता है कथा के ग्रहण का। रंगमंचीय पौराणिक नाटककारों ने अपने इतिवृत्त का चयन पुराणों से किया यह सत्य है। किन्तु वह ग्रहण सीधा नहीं था। संस्कृत के नाटकों, काव्यों तथा दंत कथाओं व सुनी-सुनाई बातों पर ही अधिकांशत: ये नाटककार अपने नाटकों का भवन-निर्माण करते थे। पुराणों का अध्ययन करके उनसे प्रत्यक्ष रूप में अपने कथा-सूत्रों को समेटने की शक्ति सामर्थ्य और धैर्य की उनमें अपेक्षा न थी। 'कथावाचक' जो चूंकि धार्मिक मनोवृत्ति के व रामायण के प्रणेता ही थे, धर्मग्रन्थों में उनका अध्ययन था। अत: उन्होंने अवश्य इस दृष्टि से प्रयास किया। आगा हश्र व 'बेताब' ने भी अपनी अध्ययनात्मक अभिरुचि के कारण किंचित् प्रयत्न किए। अन्यथा प्रेक्षकों की मांग पर कम्पनी-मालिकों के दबाव से अपने नाटकों को किसी प्रकार पौराणिक रूप देना ही नाटककारों का लक्ष्य था, भले ही उससे पौराणिक सत्य व मर्यादा का गला घुटता हो व देशकाल सम्बन्धी दोषों को बहुलता मिलती हो।

१७. नाटककार अपनी पौराणिक कथावस्तु में यत्र-तत्र कल्पना का रंग भी दिखलाते रहे हैं। डा० सनाढ्य ने इस परिवर्तन के मूल में निम्न कारण बताए हैं--

१- कथा को सरस, नाटकीय तथा अपने इच्छित आदर्श का प्रतिपादन करने योग्य बनाना।
२- किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रश्न को परोक्ष रूप में जनता के सम्मुख रखना।
३- पात्र-विशेष को निर्दोष या सकारण विवशत: दोषी होना सिद्ध करना।
४- कथानक को मनोवैज्ञानिक, बुद्धि संगत और तर्क सम्मत रूप देना[1]।

१८. जहां तक रंगमंचीय नाटकों की स्थिति है, अन्तिम दोनों कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि नाटककार इस कला के प्रति इतने गम्भीर और दक्ष नहीं थे। प्रथमत: किसी सामाजिक या राजनैतिक प्रश्न के लिए ही परिवर्तन किए गए हैं। पौराणिक इतिवृत्तों का चयन ही उन्होंने सामाजिक चेतना के फलस्वरूप किया है। जैसा कि इस विषय के प्रारम्भिक विवेचन में कहा जा चुका है

१- डा० देवर्षि सनाढ्य- हिन्दी के पौराणिक नाटक, प्र०सं०, सम्वत् २०१७, पृ० २८६

कि इन नाटकों का उद्देश्य जनता को शिक्षा देना होता था । राधेश्याम 'कथावाचक' जी के 'ऊषा अनिरुद्ध' नाटक की भूमिका में यह कथन कि 'पाठकों को इस नाटक में प्रेम मिलेगा, धर्म मिलेगा और कहीं-कहीं शिक्षा मिलेगी' उस समय के नाटककारों की इसी अभिरुचि का द्योतक है । अत: डा० सोमनाथ की आलोच्य नाटकों के सम्बन्ध में यह समीक्षा कि 'पौराणिक विषयों को अधिक अपनाया है । देश-प्रेम वाली भावनाओं और विचारधारा का संकुचित उपयोग इन नाटकों में मिलता है'[1] उचित प्रतीत होती है । डा० सनाढ्य ने भी उसे स्वीकार किया है[2] । वस्तुत: समय-असमय की चिन्ता किए बिना ही ये नाटककार अनेक सामयिक विषयों पर उपदेश दे डालते थे जिससे तद्युगीन वातावरण के यथार्थ अंकन में देश काल सम्बन्धी अनेक दोष आ गए हैं । कथा तथा चरित्रों का स्वरूप विद्रूप हो गया है । 'कथावाचक' जी के 'प्रह्लाद' नाटक में ईश्वर भक्ति की शिक्षा के साथ ही प्रह्लाद, प्रमोद व बालकगणों के चरित्रों द्वारा महात्मा गांधी के सत्याग्रह और अहिंसा, ब्राह्मण-पत्नियों के रूप में नारी की जागरणशीलता और स्त्री शिक्षा तथा श्यामलता के चरित्र द्वारा आधुनिक साम्यवाद के अनेक शिक्षाप्रद दृश्य उपस्थित किए गए हैं । रानी होकर भी श्यामलता पति द्वारा बन्दिनी देवनारियों तथा अपनी दासी सखियों के प्रति समानता का व्यवहार करती है[3] । श्रीकृष्ण 'हसरत' अपने 'महात्मा कबीर' में हिन्दू मुस्लिम एकता की शिक्षा देते हैं ।

१६. कथा के सरल बनाने में पौराणिक आदर्शों की काफी छीछालेदर हुई है । सरलता से तात्पर्य भारतीय नाट्यशास्त्र द्वारा वर्णित नाटक की रसस्निग्धता से नहीं था, वरन् वही नाटक सरल बनके गए जिनमें शृंगार का थोथा है और अश्लील प्रदर्शन था । ऐसे नाटकों से मिलने वाली वाह वाही के प्रलोभन से भीष्म, प्रह्लाद, विश्वामित्र तथा भगीरथ जैसे तपस्वियों को सामान्य प्रेमियों के धरातल पर पहुंचा दिया । लक्ष्मी और सरस्वती जैसी देवियां इश्क को लेकर वादाविवाद करने लगीं-

'हंस के दिल लेना तुम्हें आता नहीं ।
एक बोसा भी देना तुम्हें आता नहीं ।'

१-डा० सोमनाथ गुप्त --'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', तृ० सं०१९५१, पृ०१७०
२-डा० देवर्षि सनाढ्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक', प्र०सं०सं०२०१७, पृ०२४८ ।
३- राधेश्याम कथावाचक --'भक्त प्रह्लाद' अंक १, दृश्य ३, पृ० ४३

२०. वस्तुत: आलोच्य पौराणिक नाटकों में आदर्श के ही दर्शन अधिक हुए हैं। यथार्थता दीखी है तो बहुत ही निम्न रूप में, इसके लिए जनता का वह वर्ग उत्तरदायी है, जिसपर रोमांचक नाटकों के अश्लील 'अत्यच्छ, वासना-जनित और बाजारू' प्रेम की खुमारी अब तक चढ़ी हुई थी। वे रंगमंच पर अपने पौराणिक पात्रों को देखकर ही प्रसन्न हो जाते थे। इससे नाटककारों को मनमाना करने का अच्छा अवसर मिला। वे कथावस्तु की योजना इस प्रकार करने लगे जिससे दोनों ही वर्ग सन्तुष्ट हो सकें और इसी बेमेल संगठन ने उनकी पौराणिक वस्तु को कलंकित कर दिया।

२१. इस असामंजस्य तथा अभद्रता पर रामचन्द्र शुक्ल ने जो समीक्षा दी है, वह इस प्रकार है -- उर्दू से कोरी अधिकांश जनता केवल सीन-सीनरी का तमाशा देखने तथा घटना-चक्र के उतार-चढ़ाव से कुछ कुतूहल तथा मनोरंजन प्राप्त करने के लिए ही पारसी थियेटरों में जाया करती थी। न तो उसे कथोपकथन की विचित्रता और पटुता का आनन्द आता था न वह किसी गम्भीर भाव में निमग्न होती थी। प्राचीन हिन्दू कथाओं को लेकर जो दो-चार नाटक खेले जाते थे, उनसे तो और भी विरक्ति होती है। जिस समय चूड़ीदार पायजामा, कोट और ताज पहने हुए राजा हरिश्चन्द्र और पम्प शू पहने उनकी रानी अपनी गयासलक्ष्यात खतम करके 'हर इन्सां पर खास-ओ-आम गाते हुए निकलते थे, उस समय भारतीयता भाड़ में फुंकती दिखाई देती थी[1]।

२२. शुक्ल जी की इस समीक्षा से निम्न तथ्यों की ओर संकेत मिलता है --

१- जनता की अज्ञानता।

२- भारतीय सभ्यता और संस्कृति से कम्पनी-मालिकों का अपरिचय।

३- पौराणिक मर्यादा की अवहेलना।

शुक्ल जी द्वारा दी गई यह समीक्षा पूर्णत: असत्य नहीं है, किन्तु ये निष्कर्ष प्रारम्भिक पौराणिक रचनाओं पर आधारित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हिन्दी से पूर्व उक्त रंगमंच पर उर्दू के पौराणिक नाटकों का अभिनय होता था। कम्पनी के सर्वं सत्ताधारी पारसी लोग थे जो अपने नियुक्त मुसलमान-लेखकों से आदेश पूर्वक उक्त नाटकों का निर्माण कराते थे। दोनों ही

१- विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' के 'बुद्धदेव' नाटक की भूमिका।

दोनों ही जातियां भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए विदेशी थीं । उन्हें इस संस्कृति का समुचित ज्ञान न था तथा प्रस्तुतिकरण के लिए न ही उसके अध्ययन की आवश्यकता समझी गई । इधर-उधर से ख्यात इतिवृत्त को मुस्लिम दरबारी संस्कृति में ढाल कर तड़क-भड़कदार सीन-सीनरियों के साथ प्रस्तुत कर देना , इतना ही उनका लक्ष्य था । जहां तक तीसरे तथ्य का सम्बन्ध है, हिन्दी नाटकों में भी यह स्थिति मिलती है और उसी उपर्युक्त प्रभाव के कारण । खान साहब 'आराम' तथा 'तालिब' की रचनाओं में इसकी प्रतिच्छाया सुगमता से ढूंढ़ी जा सकती है, किन्तु इन रचनाओं तथा श्रीकृष्ण 'हसरत' के समस्त पौराणिक नाटकों को छोड़कर यह स्थिति अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं है । नारायण प्रसाद 'बेताब', राधेश्याम कथावाचक व आगा हश्र के पौराणिक नाटकों में वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में उपदेशात्मक प्रसंगों की अवश्य उपलब्धि होती है जो उनकी सामाजिक चेतना और जागरूकता की परिचायक है अन्यथा वातावरण व पौराणिक आदर्शों की दृष्टि से वे उत्तम रचनाएं हैं । जिन विपरीत स्थितियों में इन कृतियों का निर्माण हुआ, उसको देखते हुए इनका महत्व और उजागर हो उठता है , जिसको न स्वीकारना रंगमंच की दृष्टि से अपनी व विरासत को अस्वीकृत करना है ।

२३. कथा के चयन और ग्रहण के पश्चात् तीसरा प्रश्न आता है, उसके उपयोग और प्रस्तुतिकरण की शैली एवं विशेषताओं का । इस दृष्टि से विचार करने पर निम्न तथ्य मिलते हैं जिनकी ओर अधिकांश हिन्दी-आलोचकों ने संकेत किया है ।

२४ . आलोच्य-नाटकों में उपदेश अथवा शिक्षात्मक दृश्यों की प्रधानता थी, जिसको और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रंगमंच के सभी नाटककारों ने मूल कथा के साथ उपकथाओं की योजना की है । नियोजना का प्रधान कारण समता और विषमता के द्वारा मूल कथा के भावों को और अधिक उद्दीप्त करना था । नारायण प्रसाद 'बेताब' के 'सती अनुसूया व पत्नी प्रताप' में अनुसूया के पातिव्रत्य धर्म की समता में रेखा की तथा विषमता में एक व्यभिचारिणी स्त्री की उपकथा है । यदि रेखा अपने पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से सूर्य का उदय रोक देती है तो दूसरी उसी के

अभाव में अनेक कष्ट उठाती है । इस समता और विषमता से अनुसूया का चरित्र और भी उज्ज्वल तथा प्रभावशाली हो जाता है । गोपाल दामोदर 'तामस्कर' के राजा दिलीप' नाटक में मूल कथा के समानान्तर पर सुताशन और रक्षा और विषमता के लिए हुताशन और कुदशा की उपकथाएं हैं । डा० सनाढ्य के अनुसार इस शैली से उद्दे२५ जहां उत्तेजना मिली है, वहां घटना में प्रसंगों और दृश्यों की बहुलता से मुख्य कथा पर ध्यान के एकीकरण में व्यवधान भी पड़ता है[१] । शायद डाक्टर साहब भूल गए कि उन नाटकों की रचना कथा-सौन्दर्य की अपेक्षा उद्देश्य विशेष के प्रतिपादन में हुई है । प्रत्येक नाटककार किसी उद्देश्य को लेकर अग्रसर हुआ है अत: उसकी ओर ध्यान को आकर्षित करना उसका मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। यह तो सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है कि उपकथाओं की योजना ने मूल के उद्देश्य को प्रभावपूर्ण ही बनाया है । डा० वेदपाल खन्ना ने इसके अतिरिक्त दो अन्य तर्क दिए हैं-- (१) मूल कथा में मौलिकता और प्रतिभा का परिचय देने के विशेष अवकाश तथा इस सम्बन्ध में नाटककारों की योग्यता का अभाव तथा (२) जनता के उस वर्ग की मांग, जिसका मनोरंजन लौकिक कथानकों से अधिक होता था । यह भी सत्य हो सकता है , लेकिन मुख्यता उद्देश्य की प्रधानता और उसकी विशिष्टता ही है ।

२५. दूसरी विशेषता अप्राकृतिक (Supernatural) तत्त्व की प्रधानता है । नाटककारों ने अनेक विस्मयकारी और अलौकिक दृश्यों की योजना की है । वस्तुत: पारसी नाटक कम्पनियों की लोकप्रियता का मूल कारण ही यह है । नाटक के संगठन की अपेक्षा कम्पनी-मालिकों ने तड़क-भड़कदार चटकीले दृश्यों के निर्माण में अधिक ध्यान दिया । प्रत्येक कम्पनी का अपना सीन पेंटर होता था । एक-एक दृश्य के निर्माण में लाखों रुपए व्यय किए जाते थे । जिस नाटक में जितने अधिक इस प्रकार के सैट होते उतना ही अधिक वह लोकप्रिय होता[२] । फलत: नाटककार चमत्कारिक दृश्यों की खोज में अधिक रहने लगे । पुराण से तात्पर्य अलौकिकता से है अत: नाटककारों को इन स्यातवृत्तों में ऐसे दृश्यों की योजना के अनेक अवसर मिले और उन्होंने उसका पूर्ण लाभ उठाया । पौराणिक नाटकों के अधिक निर्माण के पीछे यह तथ्य भी उत्तरदायी है ।

१- डा० देवर्षि सनाढ्य--'हिन्दी के पौराणिक नाटक',पृ०२६६, प्र०सं०,सं०२०१७
२- काले पृष्ठों पर दें ।

२६. डा० देवर्षि सनाढ्य ने सामूहिक रूप से पौराणिक नाटकों की समीक्षा इस प्रकार दी है --" चमत्कारपूर्ण दृश्य, उत्तेजक कथोपकथन, आरम्भ में कोरस गान, नट-नटी, सूत्रधार आदि का खेले जाने वाले नाटक के विषय में स्पष्टीकरण विरोध और समता प्रकट करने के लिए उपकथा की योजना , स्वतन्त्र अथवा किसी प्रकार से सम्बद्ध हास्य कथा की कल्पना इन रंगमंचीय पौराणिक नाटकों की विशेषताएं हैं ।..... रंगमंच के तथ्यों को समझने के कारण इनमें से अनेक नाटक जन मन की अपनी वस्तु बने । ऐसे नाटकों में निश्चय ही आगा हश्र, "बेताब" और राधेश्याम "कथावाचक" के नाटकों को गिना जायगा । इनका "सभी कुछ" उतना निम्न नहीं है जितना समझा जाता है[१]। यह सत्य है । इसके लिए पूर्वाग्रह रहित निष्पक्ष तथा तत्युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए तटस्थ समीक्षा की आवश्यकता है ।

सामाजिक नाटक

२७. प्रबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठों में कहा जा चुका है कि धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से यह संक्रान्ति युग था । अंग्रेजों के सम्पर्क उनके वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता ने नए विचार और नई चेतना को जन्म दिया । स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता के महत्व को समझने के साथ ही हम हिन्दू समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, झूठी परम्पराओं और मान्यताओं से मुक्त होने की चेष्टा करने लगे । ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा प्रेरित पुनरुत्थान कार्यों ने

(विगत पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ का विवरण)

२-(A) 'Crowd dresses and colourful curtains were given more importance in the Parsi Theater than the plot, dialogue and acting........ The highest success in the presentation of plays was considered in the arrangement of wonder striking scenes.' डा० सी० बी० गुप्ता - इण्डियन थियेटर - पृ० १६९

Dr. ~~C. B. Gupta~~-- ~~Indian~~ ~~Theater~~, Page ~~169~~.

(B) 'Sceneries of Parsi Theater were very gorgeous.

~~डा० सी०बी० गुप्ता-- इण्डियन थियेटर, पृ० १६९~~

एच०एन०दास गुप्ता-- इण्डियन स्टेज, भाग१, पृ०२३२

१-डा० देवर्षि सनाढ्य-हिन्दी के पौराणिक नाटक, प्र०सं० सं०२०१७, पृ०२४६-४७ ।

इस प्रवृत्ति को उत्तेजना दी । फलतः बाल विवाह, जाति भेद, सती प्रथा का खण्डन तथा जातीय ऐक्य, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, गौरक्षा, अछूतोद्धार, दरिद्र-सेवा, मानव एकता आदि के प्रसार की अथक चेष्टाएं की गयीं। इस संस्कृतिक नवजागरण तथा समाज-सुधार की भावना का नाटककारों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा । वे अपने नाटकों में समाज की रूढ़ियों और परम्पराओं का अंकन, विवेचन, गुण-दोषों का निदर्शन तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने लगे ।

२८. आलोच्य कम्पनियों के रंगमंच पर सदैव पौराणिक नाटकों की ही प्रधानता रही । किन्तु इन सांस्कृतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप समाज में एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था, जिसकी मनस्तुष्टि उपर्युक्त नाटकों से नहीं हुई । वह रंगमंच पर अपने समाज का साकार चित्र देखना चाहता था । उसे वे नाटक पसन्द थे, जिनमें समाज की बुराइयों का चित्रण और उसके प्रक्षालन का प्रयास हो । जो जनता में समाज-हित की भावना भर सके । उसके अनुसार अपने उच्चतम रूप में नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है...... उत्तम नाटक का प्रादुर्भाव केवल उसी समय होता है जब नाटक मनोरंजन के साथ-साथ किसी विचार-विशेष अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय सिद्धान्त का प्रदर्शन करता है ।" इस वर्ग के मत निकोल की नाटक सम्बन्धी उक्त धारणाओं के समानुरूप थे ।

२९. यह शिक्षित संस्कृत वर्ग संख्या में अल्प संख्यक था । अतः कम्पनी-के मालिकों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया । लेकिन अर्थ लाभ की दृष्टि से वे पूर्ण अवहेलना भी नहीं कर सके । इसके अतिरिक्त वे नाटककार जो कम्पनी के बन्धनों से मुक्त होकर भी उसी के प्रभाव में अपनी स्वतन्त्र रचनाओं का निर्माण कर रहे थे । उपर्युक्त सांस्कृतिक आन्दोलनों के प्रभाव में अपनी सामाजिक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने ऐसे ही नाटकों की रचना की जो युग की मांग थे । क्योंकि प्रत्येक युगचेता कलाकार अपनी वस्तु के चयन में अवश्यमेव युग से प्रभावित होता है । नाट्य क्षेत्र में बदलती इस मनोवैभिरुचि की कुछ फलक देना यहां असंगत न होगा ।

" अब मीठा खिलाने की आवश्यकता नहीं है.... मनोरंजन के साथ ही साथ अपने देश और अपने समाज का भी कुछ उपकार करना चाहिए ।"[1]

१- कथावाचक-- "वीर अभिमन्यु": मंगलाचरण, पृ०२-३

'गन्दे नाटक दिखाकर हमने समाज का कितना अपकार किया है .... इसलिए हमको प्रायश्चित् करना चाहिए और गन्दे नाटकों के स्थान में सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटक अभिनीत करने चाहिए[1]।'

'हमारा कर्तव्य है कि इस समय जो जो भ्रष्ट और दु:खदायक कर्म व्यभिचार और कुशिक्षा के कारण प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं, वह सामाजिक नाटकों द्वारा दूर किए जायेंगे[2]।'

३०. इस रुचि-परिवर्तन के उपरान्त भी सामाजिक नाटकों के निर्माण में बहुत कम प्रयास हुए। जनता का एक बड़ा वर्ग इसके प्रति उदासीन था, क्योंकि तड़क-भड़कदार चटकीले दृश्यों का इनमें अभाव था, मनोरंजन की अपेक्षा उनमें समाज का यथार्थ अंकन था, जिसमें उसकी कोई रुचि न थी। धार्मिक मनोभावों की परितुष्टि करने वाले दृश्यों की योजना भी नहीं की गई थी। गोपाल दामोदर 'तामस्कर' ने इस सम्बन्ध में "राजा दिलीप" नाटक की भूमिका में ठीक ही लिखा है-- 'लोक रुचि के परिशीलन से जान पड़ता है कि लोग पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथाओं को मानवी मन का सच्चा चित्र समझते हैं। काल्पनिक कथा को वे मन का भी काल्पनिक चित्र समझते हैं[3]।' सम्भवत: इसीलिए सामाजिक विषयों से सम्बन्धित नाटक लोकप्रिय न हो सके।

३१. डा० श्रीकृष्णलाल ने अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ में रंगमंचीय सामाजिक नाटकों का आरम्भ उन प्रहसनों से माना है जो पौराणिक कृतियों में स्वतन्त्र रूप से रखे जाते थे व जिसकी परम्परा का आरम्भ आगा हश्र काश्मीरी ने किया। लगता है, डाक्टर साहब ने आलोच्य रंगमंचीय नाटकों की पूरी परम्परा के अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं समझी अन्यथा उनका निष्कर्ष इतना एकांगी न होता। सामाजिक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात केखुशरू नसरौंजी कावराजी

१- चन्द्रनारायण सक्सेना--'कबीर खण्ड', मंगलाचरण, पृ०५

२- वैसरा --' पाप परिणाम' अंक १, दृश्य ३, पृ०२८

३- नाटक की प्रस्तावना, पृ०१

४- डा० अब्दुल अलीम नामी--' उर्दू थियेटर', भाग१, प्र०सं०, १९६२-, पृ० २९६-३००

के गुजराती नाटक `दु:खियारी बच्चु' से हो चुका था जो जो राष्ट्रियन थियेट्रिकल कम्पनी के रंगमंच पर खेला। ऐदु कोलेजर ने फरामजी अप्पुसे कहा है कि वे गुजराती और उर्दू में सामाजिक नाटकों का अभिनय करें किन्तु परम्परा न थी अत: अप्पु जी तैयार न हुए किन्तु प्रस्तुत नाटक की सफलता ने उन्हें प्रेरित किया और उन्होंने काबराजी का ही `मोलीजान' अभिनीत किया। नाटक में सूदखोरी के दुष्परिणाम दर्शाये गए हैं। गलतफहमी के दुष्परिणामों पर रत्नशाह सेठ तथा विनायक प्रसाद `तालिब' के `परकजाद परबीन' तथा `निगाहे गफलत' प्रस्तुत किए गए। हुसैन मियां `जरीफ' ने ईश्वरभय तथा त्याग के महात्म्य को दर्शाने के लिए `खुदादोस्त' तथा `नतीजा - ए अस्मत' नाटकों की रचना की। दो भाइयों की प्रतिद्वन्द्विता तथा ईर्ष्या के दुष्परिणामों पर खलीफ देहलवी का `नौरंगे फलक', अधिकार हरण पर `तालिब' का `लैलो निहार', तथा जरीफ के `जमीरे आज़म', हसनवी का `चलता पुर्जा', आरजू लखनवी का `मतवाली जोगन', असगर निज़ामी का `फूलों की छड़ी', `बेताब' का `जहरी सांप', नायक लखनवी का `कुदरत के इंसाफ' आदि नाटकों में धोखादेही के दुष्परिणाम प्रस्तुत किए गए[१]। ये सब उर्दू की नाट्य रचनाएं हैं। स्त्रियों के गुण और बुराइयों पर भी अनेक नाटक लिखे गए। मदिरा आदि अन्य विषय भी नाटक के रूप में स्वीकृत हुए। डाक्टर लाल ने ऊपर जिन प्रहसनों का संकेत किया है, यह सत्य है कि वे सामाजिक विषयों को लेकर अग्रसर हुए हैं। उनमें सामाजिक कुरीतियों का व्यंग्यात्मक चित्रण होता था, किन्तु ये नाटक केवल प्रहसन मात्र थे, जो कई दृश्यों में ही समाप्त हो जाते थे। वे पूरे नाटक नहीं थे। यह डाक्टर साहब ने भी स्वीकार किया है कि गम्भीर कथानकों के हृदय विदारक दृश्यों के पश्चात् `रिलीफ'- भाव विश्राम के लिए ही इनकी योजना होती थी। जब कि उपर्युक्त नाटक उद्देश्य युक्त पूरे नाटक थे।

३२. कथा के ग्रहण की दृष्टि से सामाजिक नाटककार के पास अपरिमित क्षेत्र है। समाज की प्रत्येक समस्या उसके विषय-वस्तु की सामग्री हो

१- श्रीकृष्णलाल -- `हिन्दी साहित्य का विकास', तृ० सं०, १९५२, पृ०२६२।

सकती है । लेकिन आलोच्य-काल में जो भी सामाजिक नाटक लिखे गए, विषय-सामग्री के संचयन की दृष्टि से वे परिमित सीमाओं में हैं । नाटककारों की दृष्टि समस्या के विशिष्ट पहलुओं की ओर ही गई । बाल विवाह, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, विधवाओं की स्थिति, पुरुष की वासनात्मक प्रवृत्ति, स्त्रियों के प्रति समाज की संकुचित मनोवृत्ति तथा वेश्या समस्या-- अपने इन मुख्य प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त नाटककारों ने अस्पृश्यता, गौरक्षा, मद्यपान, शिक्षा, धनिक वर्ग की स्वार्थ-परता और अत्याचार आदि प्रश्न भी यत्र-तत्र उठाए हैं किन्तु दृष्टि मुख्यत: स्त्री समस्या की ओर ही रही ।

३३. जमना प्रसाद मेहरा का `जवानी की भूल` (सं० १९८९), मुंशी नायक साहब का `धर्मयोगी`, दुर्गाप्रसाद गुप्त का ` दो धारी तलवार` `भारत रमणी` (सं० १९८३ वि० सं०) `आंख का नशा `(१९२७), मुंशी मंजूर अहमद साहब का `अबला की आह `(१९३०), रामसिंह वर्मा का `स्वामी भक्ति `(वि० सं० सम्वत् १९८२) राधेश्याम `कथावाचक` का `परिवर्तन` (१९२४), शिवरामदास गुप्त का जवानी की भूल` (१९३३) `दूज का चांद `(१९३०), `शराब की घूंटें` , (२००६ संवत्) `दौलत की दुनिया`(१९३२) , आगा हश्र का `दिल की प्यास` (१९३६) `खूबसूरत बला` (१९३५), `आंख का नशा ` दास और गुप्त का `दुरंगी दुनिया`(१९३१) वेश्या समस्या पर, तथा पण्डित देवदत्त शर्मा `बाल विवाह` (चं०सं० सम्वत् १८९७) तुलसी दत्त शैदा का `लज्जा नाटक` बाल विवाह के दुष्परिणामों पर , मेहरा का `विधवाश्रम`, दास का `दौलत की दुनिया`(१९३३) विश्वम्भरनाथ शर्मा `कौशिक` का `हिन्दू विधवा`(वि०सं० १९५३) श्रीहरिकृष्ण `जौहर` का `दु:खी भारत` विधवाओं की दुर्दशा पर पण्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा का `रंगीली दुनिया` (सं० १९८१) मेहरा का `पाप परिणाम` (१९२४) व `कन्या विक्रय` (१९२६) , `बेताब` का `समाज` नाटक अनमेल विवाह पर गंगाप्रसाद अरोड़ा का `सुनहरी संसार` मेंहदी हसन `अहसन` लखनवी का `शरीफ बदमाश` (१९९२ वि०सं०) `बेताब` का `हमारी भूल ` नारी के स्वतन्त्र बनाने के दुष्परिणामों पर, मुंशी अब्दुल लफी साहब आरजू का `कलियुग की सती`(१९२३) मुंशी जलाल अहमद `शाद` का `दुश्मने ईमान` , मेहरा का `हिन्दू कन्या `(सं० १९८९) नारी के सतीत्व पर,

दास का `हिन्द महिला` ,`मेरी आशा `(१६५०) ,`आजकल` तथा एक अन्य अनाम लेखक का `भारत रमणी` (१६२६), आनन्दप्रसाद कपूर का`अत्याचार`(१६२६), समाज द्वारा नारियों पर किए गए अत्याचार पर,मुंशी फखु का `एक प्याला` (१ १६३७) , आरजू साहब का `मदिरा देवी` (१६२५) , दास का `शराब की घूंटें` (२००६ वि०संवत्) `कथावाचक` जी का `मशरिकी हूर `(१६५५ चतुर्थ सं०) मदिरा के कुप्रभावों पर, `शैदा` का `हरिजनी (सं० १६६४) आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव का `अछूत` (सं० १६८५) अस्पृश्यता पर रामेश्वरी प्रसाद `राम` का `प्रेमयोगिनी` (सं० १६७६) चन्द्रमणि का `कराल चक्र `(सं० १६६०) आरजू का`हिन्दी स्त्री`; दुर्गाप्रसाद का `औरत का दिल`, रूम का `अछूता दामन`नारी के पातिव्रत्य धर्म पर लिखे गए इस युग के कुछ प्रसिद्ध सामाजिक नाटक हैं ।

३४. कथा के ग्रहण के पश्चात् प्रश्न आता है , सामग्री के उपयोग का । आलोच्य नाटककारों की इस क्षेत्र में `कहां तक पैठ थी ? समस्याओं के मूल में जाने,उसके यथार्थ अंकन तथा समाधान में कहां तक मौलिकता दर्शायी, बिना इसके अध्ययन के इस क्षेत्र में नाटककारों के योगदान का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता । यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि उक्त नाटककार अपनी रचना को केवल एक समस्या को लेकर नहीं चले । एक साथ समाज के कई पहलुओं को छुआ गया है । उदाहरण के लिए बल्देव प्रसाद मिश्र का `परोपकार` नाटक स्वदेश सेवक कैदियों के कष्ट, परोपकार का परिणाम, छुआछूत की निस्सारता, हिन्दू मुसलमानों का मेल और अहिंसात्मक असहयोग की उपयोगिता आदि अनेक सम-सामयिक विषयों को लेकर चला है ।

३५.वेश्या समस्या ने इस युग के नाटककारों का ध्यान मुख्य रूप से आकर्षित किया । देवदासियों या मंदिर कन्याओं का मूल चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु इसके कारण जिस वेश्यावृत्ति को प्रश्रय मिला वह अत्यन्त दूषित है । आलोच्य नाटककारों के तत्सम्बन्धी समस्या से सम्बन्धित नाटकों का मूल कथानक लगभग एक-सा है । वेश्या के प्रति प्रेम तथा उसके झूठे प्रेम में अपनी समस्त सम्पत्ति का होम करके दुःख उठाना, अन्त में दुत्कारे जाने तथा उसके द्वारा

अवहेलना किए जाने पर धर्मप्राणा पत्नी के पातिव्रत्य धर्म के बल पर संभल कर अतीत के लिए पाश्चाताप करना-- केवल इतना ही नाटककारों का प्रतिपाद्य नहीं रहा जैसा कि डा० श्रीकृष्ण लाल का मत है। कि ये कथा के मूल सूत्र अवश्य रहे हैं, किन्तु इसके साथ ही नाटककारों की सूक्ष्म दृष्टि ने समस्या के मूल कारणों की भी खोज की है, जिससे कि इस बुराई का उन्मूलन किया जा सके। उनके अनुसार बाल विवाह, अनमेल विवाह, विधवाओं की स्थिति, पुरुष की वासनात्मक प्रवृत्ति तथा स्त्रियों के प्रति समाज के संकुचित आदर्श समस्या के मुख्य उत्तरदायी तथ्य हैं। 'कौशिक' जी की कमला (हिन्दू विधवा) दास और गुप्त की कंचनी (दुरंगी दुनिया) बाल विधवाएं हैं जो पुरुष के हथकंडों से अपने सतीत्व की रक्षा न कर पाने के कारण वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य होती हैं। पण्डित केवदत्त शर्मा का 'बाल विवाह' नाटक इसी समस्या पर आधारित है। 'शैदा' जी की लज्जा भी नौ वर्ष की अवस्था में विधवा हो जाती है तथा अल्हड़पन और अज्ञानता के कारण बहनोई के प्रेम-जाल में फंसकर समाज के कलंक को ढोती है। इतना ही नहीं, अपमान की लज्जा और ग्लानि उसे कानून की मुजरिम बनाती है।

३६. अनमेल विवाह के दो रूप प्रस्तुत किए गए हैं--(१) युवती पत्नी का वृद्ध पति से विवाह (२) युवा पत्नी तथा बालक पति। इन दोनों ही स्थितियों के लिए उत्तरदायी हैं समाज की दहेज प्रथा तथा कन्याओं के पिता की आर्थिक दुरवस्था। लड़के के पिता जितने धनी होते हैं, दहेज की मांग भी उतनी ही बढ़ जाती है[१]। यह प्रश्न आज इतना विषम हो गया है कि विवाह के योग्य लड़के लड़कियों का विवाह नहीं नहीं हो पाता। ऐसी कन्याएं या तो पिता की चिंताग्नि पर अपने जीवन की बलि चढ़ाती हैं या समाज के क्रूर नियमों पर अपने जीवन की

१- 'संसार एक बाजार है और पुत्रों के पिता दुकानदार है। विवाह जो शुभ संस्कार था अब वह खासा व्यापार है। कन्या के विवाह का रुपया ही उनके पिता का आधार है।'

-- रूप चौधरी--'संतान विक्रय', अंक १, दृश्य २, पृ० १६

न्यौछावर करती है । 'कथावाचक' जी की शान्ता (महर्षि बाल्मीकि) आगा साहब की सावित्री (धर्मी बालक) तथा मेहरा जी की लक्ष्मी ऐसी ही हतभागिनी कन्याएं हैं । पण्डित और पुरोहित भी कम उत्तरदायी नहीं जो धन के प्रलोभन में झूठी पत्रियां मिलाकर इन अनमेल विवाहों को प्रोत्साहन देते हैं[1]। इसी से सम्बद्ध उस तथ्य की ओर भी नाटककारों ने व्यंग्य-प्रहार किया है, जहां कन्या के पिता वर पक्ष से प्रभूत धनराशि लेकर अपनी पुत्रियों को बेचकर आर्थिक विपन्नता से मुक्त होना चाहते हैं । 'रंगीली दुनिया' का साठ वर्षीय भुवन चौधरी तथा दीवान साहब कला के पिता तथा पण्डित को रुपए देकर यदि छबीली जैसी युवतियों से विवाह करते हैं तो 'कन्या-विक्रय' का रामदास लक्ष्मी का विवाह वृद्ध धनाढ्य छोटनमल से कर देता है और कुछ समयोपरान्त विधवा होने पर अर्थ लोभ में पड़कर पुनः विवाह करना चाहता है जिससे दुःख्य व अस्वीकृति पर घर से निष्कासित लक्ष्मी इस पापी संसार और अन्धे समाज को शिक्षा देने के लिए अपना बलिदान चढ़ाती है और जहर को जहर से मारने के विचार से वेश्या बनकर समाज की आंखें खोलती है ।

३७. समस्या के दूसरे पक्ष में 'पाप-परिणाम' की सोलह वर्षीय कमला का तेरह वर्षीय मदन से तथा 'कन्या विक्रय' की मोहिनी का धनाढ्य परिवार के बालक पुत्र से विवाह होता है । नाटककार ने समस्या के पिछले पक्ष के करुण चित्र खींचे हैं जिसके फलस्वरूप छबीली इच्छा के आवेग में रामजीवन से प्रेम करती है और उसी अन्वेषण में वृद्ध-पति की हत्या करके केवल सम्पत्ति से ही हाथ नहीं धोती, वरन् सतीत्व की मर्यादा से नीचे गिर जाती है। युवती मोहिनी व कमला कभी बाल-पति से अपनी मनोकामना पूर्ण न होने के कारण पितृ तथा पति-कुल को कलंक लगाती है । उपर्युक्त चित्रणों से स्पष्ट है कि अनमेल विवाह के दोनों ही रूपों का प्रधान कारण धन है, जिसके कारण न केवल विभिन्न आयु वाले वरन् विपरीत असम्य सामाजिक स्तरों में सदैव से ऐसे

१- बिक रही हैं नाबयों के हाथ से अब पुत्रियां
खप रही हैं दुष्ट ब्राह्मणों के हाथ से अब पुत्रियां ।
-- चन्द्र नारायण सक्सेना--'कर्मवीर' चन्द्र', अंक १, दृश्य ३, पृ० ३१

सम्बन्ध होते आये हैं।[1] समस्या के अंकन में नाटककारों की दृष्टि अत्यधिक यथार्थवादी रही है। कन्याओं के पिता की दुर्दशा हृदय बोधक है।[2]

३८. ऋग्वेद के समय से ही हमें विधवाओं के पुनर्विवाहों का उल्लेख मिलता है।[3] महाकाव्यों में भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, किन्तु स्मृतिग्रन्थों से विरोध बढ़ता मिलता है। मनु तथा पाराशर आदि तत्ववेत्ताओं ने विधवाओं के लिए त्याग तपस्यामय आदर्श जीवन बताया है। पराशर का तो यहाँ तक मत है कि 'जो स्त्री पति के मरने के बाद सतीत्व के व्रत का पालन करती है, वह मृत्यु के बाद ब्रह्मचारी की भांति सीधी स्वर्ग लोक को जाती है।[4]' परवर्ती टीकाकार हेमाद्रि, रघुनन्दन और कमलाकर विधवा विवाह का निषेध करते हैं। अद्यतन काल तक भारतीय समाज के में विधवाओं की यही स्थिति चली आ रही है। उन्हें न केवल मंगल अवसरों से वरन् सुख और आराम के सभी उपकरणों से दूर रखा जाता है।

३९. विधवाओं की इस दुर्दशा पर आलोच्य नाट्यकारों ने दृष्टिपात किया किन्तु सम्यक् पर्यवेक्षण के स्थान पर समस्या को दो ही रूप में अंगीकृत कर सके --(१) दुर्दशा तथा समाज के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर उनका विधर्मी होना (२) सतीत्व की मर्यादा खण्डित होने पर वेश्यावृत्ति अपनाना। इस दूसरे पक्ष पर ही नाटककारों की दृष्टि अधिक रही। विलासी पुरुषों की पशु प्रवृत्ति इस स्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराई गई है। ऐसे पुरुष असहाय विधवाओं की निरीहता का लाभ उठाकर अपनी काम वासनाओं पर उनके पवित्र जीवन की बलि चढ़ाते हैं। मुंशी

१- डा० पी०एन० चोपरा--'सम आसपैक्ट्स आफ सोसायटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग द मुगल पीरियड' १९५५, पृ०१२२।

२- दास-- 'समाज का शिकार', अंक १, दृश्य३, पृ०१६।

३-(अ) 'उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसं बभूथ।' (ऋग्वेद १८-८)

(आ) 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते पतिम्
पंचौदनं च तौ अजं ददातो न वियोषतः
समानलोको भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः
यो ऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।' (अथर्ववेद ९-५-२७-२८)

४- मनुस्मृति ५-१६०

मंजुर साहब की अंजना, दास साहब की कामिनी, फुलकुमारी, आगा हश्र की कामलता 'कथावाचक' जी के परिवर्तन की चन्दा समाज द्वारा छली गई विधवाएं हैं जो दुष्ट दामोदर, गौरी, लक्ष्मीकान्त, कुशल तथा बिहारी की वासनाओं की भेंट चढ़ाती हैं। ऐसे पुरुष अपने प्रेम के माया-जाल में फंसाकर प्रथम उनका वैधव्य छीनते हैं बाद में अपनी परितुष्टि पर उन्हें लांछित करके वेश्या बनने पर बाध्य कर देते हैं। सरोजिनी के प्रति कामलता के निम्न शब्दों में आगा साहब ने ऐसी नारियों की विवशता की उनकी अभिव्यक्ति दी है जो स्वयं पतित होकर उसके उत्तरदायी समाज से बदला लेने के लिए सद् पुरुषों की गृहस्थी में आग लगाकर अपनी प्रतिहिंसा की तृप्ति करती हैं-- 'सुनो एक समय था जब मैं भी धर्म परायण थी। उच्च थी, पवित्र थी। कलंकित पुरुषों से बचना और पुण्य की शरण में आना चाहती थी किन्तु .... तुम्हारे ही समाज के भद्र पुरुषों ने मेरे और स्वर्ग के बीच में पाप की दीवार खड़ी करदी और मैं प्रयत्न करके भी देवी न बन सकी। जानती हो क्या बनी ? वेश्या ?'

४०. एक बार अज्ञानता में ही सही, अपने सतीत्व को खोकर समाज का हर द्वार उनके लिए बन्द हो गया। पश्चाताप के उपरान्त पुण्य कार्य के लिए कोई कदम उठाने पर कलंकिनी और धर्मच्युत कहकर समाज ने उसे तिरस्कृत कर दिया[1]। वेश्या कामलता की पुत्री कामना सद् विचारों की है, किन्तु समाज द्वारा न अपनाई जाने के कारण जीवन-निर्वाह के लिए वेश्या वृत्ति अपनाने को बाध्य है --' अगर आज मेरे पास दो मुट्ठी अन्न का सहारा होता तो मैं उस पाप के अंधेरे कमरे में रूप का दीपक लेकर सुख की रोटी ढूंढने के लिए न निकलती।' संसार की हर वेश्या इस घृणित कार्य को अपने अन्त:करण से धिक्कारती है, परन्तु जिस तरह से उनके चारों ओर तनी हुई मकड़ी के जाले के समान जगत की शोभा, जीवन-सुख की लालसा, लौकिक व्यवहार की कामना उन्हें छल, कपट और कुकर्म के जाल में फंसाये रहती है उसी तरह समाज से ठुकराये जाने के बाद जीवन-निर्वाह की परवशता भी उन्हें वेश्या बनाती है।

४१. इन मूल कारणों के अतिरिक्त संगीत तथा ललित कलाओं की शिक्षा का अभाव भी बहुत कुछ अंश में उत्तरदायी है। प्रेम, संगीत तथा सुन्दरता के भूखे आज के युवक जब घर की स्त्री में वह वशीकरण नहीं पाते तभी अपना सर्वनाश करने के लिए बाहर निकलते हैं। अन्य वेश्या प्रेम में पतियों की अवहेलना ने भी घर की सद्गृहस्थ

१- मुंशी मंजुर लखनवी- 'अबला की आह', अंक २, दृश्य २, पृ०६२

पत्नियों को उसकी प्रतिक्रिया में वेश्या बनने के लिए प्रेरित किया है --

हो रही जब वृद्धि वेश्यागामियों की इस तरह

रुक भला सकती है फिर वेश्याओं की वृद्धि किस तरह ।

छोड़ घर की नारि जो निज धर्म का मारण करें

फिर क्यों न उनकी नारियां वेश्यावृत्ति धारण करें ।

वेश्यागामी अपने पति हीरालाल के प्रति पत्नी सरस्वती के अन्तःकरण का यह क्षोभ उस मनो-व्यथा की अभिव्यक्ति है जो उन्हें इस घृणित क्षेत्र में आने को उत्तेजित कर रही है । शिवराम दास ने उचित ही कहा है कि 'वर्तमान हिन्दू समाज वेश्या बनाने की मशीन बन रहा है[1] ।'

४२. समस्या के अंकन में नाटककारों की दृष्टि पूर्णतः यथार्थवादी रहा है । उन्होंने उसके हर पहलू को खुली आंखों से देखा है । किन्तु समाज के इन भीषण रूपों का खाका खींचने में ही उनके कर्तव्य की इतिश्री हो गई । समाधान की कोई चेष्टा नहीं की गई । जो समाधान दिए गए हैं, वे आदर्श से प्रेरित हैं । समाज तथा तत्कालीन परिस्थितियों के विचार से उनकी उपलब्धि बड़ी अस्वाभाविक सी है । 'कथावाचक' जी ने अपनी चन्दा को समाज कल्याण में प्रवृत्त दिखाया है जो इस प्रकार प्रथा को जड़ से खोद देने के लिए स्त्री शिक्षा और कन्याओं के सुधार हेतु सन्यासिनी बनकर अपने जीवन की स्वतः आहुति देती है । समाज भी एक वेश्या की उन सेवाओं को निःसंकोच भाव से अपना लेता है, क्योंकि हिन्दू जाति में शबरी और गणिका की कथा आदर के साथ गाई जाती है । यही नहीं, नवीन द्वारा कमला के ग्रहण को दिखाकर नाटककार ने वेश्याओं को अपनाने का आदर्श भी प्रस्तुत किया है । यदि समाज के समस्त पुरुष नेक चरित्र हों तथा इस साहसपूर्ण कदम को उठा सकें तो उन निःसहाय अबलाओं के सारे कष्ट स्वमेव दूर हो जाएं । किन्तु इन दोनों की अपेक्षा वह समाधान अधिक उचित प्रतीत होता है जहां नाटककार ने समाज की संकीर्णताओं को ध्यान ध्यान में रखकर वेश्याओं को नृत्य-गान के उस पेशे के प्रति सदाचारिणी होने का आदेश देकर स्वयं ऊपर आने की शिक्षा दी है[2] । सच तो यह है कि अपने यथार्थ

१- दास--'दुरंगी दुनिया' ,अंक २, दृश्य३,पृ०६२

२- ,, --'मेरी आशा', अंक २, दृश्य२, पृ०५७

चित्रों से अप्रत्यक्षत: समाज को जागरूक और चेतन सम्पन्न करना ही इन नाटककारों की सामाजिक चेतना का उद्देश्य था ।

४३. स्त्री समस्या के अतिरिक्त जो भी प्रश्न उठाए गए हैं सब में आलोच्य नाटककारों का दृष्टिकोण आदर्शवादी रहा है । इन सामाजिक नाटकों के प्रणयन का मूल कारण ही समाज-सुधार और जनोत्कर्ष की कल्याणकारी भावना का प्रसार है ।

अस्पृश्यता विषयक नाटक

४४. अस्पृश्यता विषयक प्रश्नों को आलोच्य नाटककारों ने अपनी अनेक कृतियों और में यत्र-तत्र उठाया है, किन्तु श्री तुलसीदत्त शैदा 'स्नेही' तथा श्री आनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव ने इसी प्रश्न को अपना मुख्य प्रतिपाद्य बनाकर 'हरिजन' (सं०१९९४) तथा 'अछूत' (सं०१९८५) नाटक प्रस्तुत किए । दोनों ही नाटकों में भारतीय समाज में धर्म की आड़ में अछूतों पर होने वाले अत्याचार तथा उनकी दुर्दशा का बड़ा कारुणिक दृश्यांकन प्रस्तुत किया गया है । बेचारे समाज के नीच से नीच काम चुपचाप करते हैं तिसपर भी लात घूंसे खाते हैं । कोई उन्हें छूता तक नहीं । उनके उद्धार के लिए अछूतों की विद्वत्ता व योग्यता का उदाहरण समाज के सम्मुख रखकर नाटककार उनकी आंखें खोलना चाहता है । डिप्टी कमिश्नर मास्टर, सेठ गोकरण उपाध्याय के पालित पुत्र हरिकरण तथा उनकी पोषित पुत्री सुशीला, प्रतिभाशाली न्यायाधीश दयासागर तथा महंत सदानन्द सभी अछूत व उपर्युक्त नाटकों के प्रमुख पात्र हैं । प्रतिमा द्वारा नाटककार ने अस्पृश्य कही जाने वाली इस तिरस्कृत जाति को सर्व प्रकारेण उन्नति की सुविधाएं देने की व्यन्यात्मक सूचना दी है ।

४५. अछूतों की दुर्दशा के चित्रांकन के साथ नाटककारों की सूक्ष्म दृष्टि समस्या के मूल को पकड़ने में भी सचेष्ट रही है । मांस-मदिरा का भक्षण, गन्दे आचरण, नैतिकता का अभाव, मृत पशुओं का नि:संकोच भोजन-- इस वर्ग की अपनी ही इन बुराइयों ने सवर्णों की दृष्टि में उन्हें हेय बना रखा है[1] । ब्राह्मण और पुरोहित भी कम उत्तरदायी नहीं, जिन्होंने झूठे ज्ञान का पौधा लगाकर देश को अज्ञानरूपी अंधेरे में डाल रखा है । इसे अपने भ्रम के जाल में फंसा रखा है[2] ।महन्त

१- अछूत-- 'यह हमारी अपनी कमजोरी है जो हमें उनकी नजरों से गिरा रही है । यह हमारे अपवित्र व्यौहार तथा हमारे कर्मों की गति है जो हमें नीचा दिखा रही है ।'
[illegible]-- शहीद संन्यासी, अंक१, दृश्य५, पृ०८२
२- बलदेवप्रसाद खरे-- परोपकार, अंक१, दृश्य६, पृ०३३

के द्वारा 'स्नेही' जी ने अपने को उच्च कहने वाली तथा हिन्दू धर्म की ठेकेदार इस ब्राह्मण जाति पर तीव्र व्यंग्य की बौछार की है। इनके हृदय में अछूतों के प्रति तिरस्कार, अवहेलना व अपमान की भावना कूट-कूट कर भरी है, इनके मंदिरों के द्वारा अस्पृश्य कहे जाने वाले इस वर्ग के लिए सदैव बन्द हैं किन्तु यही महन्त डिप्टी कमिश्नर (अछूत) के मंदिर आने पर अपने बाप-दादाओं की मर्यादा को उसके पैरों में डालने में अपना गौरव अनुभव करता है[१]। उसकी सारी मान-मर्यादा केवल एक ढोंग है, प्रपंच है तथा हिन्दू धर्म को अवनति का मार्ग दिखाने वाली है।

४६. हिन्दू समाज के क्रूर अत्याचारों ने अस्पृश्य कही जाने वाली इस जाति को विदेशी धर्म अंगीकृत करने की प्रेरणा दी क्योंकि धर्म-परिवर्तन से न केवल उन्हें स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता की उपलब्धि हुई वरन् पैरों से ठुकराने वाले उसी हिन्दू समाज ने उसे गले से लगाया। मसीहदयाल की सहृदयता पर अछूत बम्बू के पुत्र गुलाबू का माल्कम साहब बनकर आना इसी तथ्य का प्रतिपादक है। इससे न केवल हिन्दू संगठन और धर्म की एकता को हानि पहुंची वरन् यह धर्म परिवर्तन दो जातियों में परस्पर वैमनस्य और ईर्ष्या का कारण बन गया[२]। 'हरिजन' नाटक का तो उद्देश्य ही इस एकता का प्रतिपादन है-- 'हरिजन के लिखने का बस यही एकमात्र मेरा हार्दिक अभिप्राय है कि ईसाई पादरियों की तरह हमारे हिन्दू सुधारक भी हरिजनों को मन, वचन और कर्म से अपनाएं .... ऊंच नीच के वाद-विवाद की होली जलाकर विश्व प्रेम माला के मनके बन जाएं इसी में हिन्दू जाति का कल्याण है[३]। इसमें नहीं कि अस्पृश्य कही जाने वाली जाति अपने अपमान से क्षुब्ध होकर हिन्दू धर्म से विमुख हो जाए। 'जिस तरह सख्त सर्दी में टांगों को छाती पर लगाने से आराम मिलता है, उसी तरह जाति की इस घोर आपदा में अछूतों को गले लगाकर ही आर्य

१- 'हरिजन' अंक१, दृश्य ३, पृ०१०

२- 'इस अछूत का मजहब दिन ब दिन आपसी मुनाफा में कमी पैदा कर रहा है। इत्तिफाक के गले पर छुरी फिरा रहा है। मुहब्बत के खून में जहर मिला रहा है। एक जात के इन कौम दो दिलों में दुश्मनी और नफरत फैला रहा है।'
शैदा-- 'गरीब हिन्दुस्तान' अंक१, दृश्य२, पृ०२३

३- नाटक की भूमिका -- 'शैदा'

जाति का कल्याण सम्भव है । हरिजनी (नाटक की नायिका) इसी आदर्श का प्रमाण है । अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए वह अपने बाप-दादा का धर्म नहीं छोड़ सकती, वरन् अपने प्रेम के बल पर गुलाब उर्फ माइकेल को पुन: अपने धर्म में ले आती है । धर्म की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर हममें हिन्दुस्तानी होने का गर्व हो यही नाटककार का मुख्य प्रतिपाद्य उद्देश्य है --

'मेरा मज़हब है 'हिन्दी' मैं हूं हिन्दुस्तान का वासी
न मैं यह हूं न मैं वह हूं अगर कुछ हूं तो सन्यासी ।[1]

ऐतिहासिक नाटक

४७. ऐतिहासिक नाटकों की रचना किसी लोक विश्रुत घटना, गाथा काल विशेष में आविर्भूत किसी महान व्यक्तित्व के जीवन वृत्त आदि के आधार पर की जाती है । 'इतिहास' शब्द का अर्थ ही इस बात का व्यंजक है । इतिहास से तात्पर्य है - इति + ह + आस अर्थात् ऐसा ही था । इतिहास का सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति जाति अथवा राष्ट्र के चतुर्दिक उत्कर्षापकर्ष से है । वे ही घटनाएं इसकी परिमिति में आ सकती है जो कहीं न कहीं अवश्य सत्य होती है[2] ।

४८. किन्तु ये ही सत्य घटनाएं जब किसी नाटक की विषय-वस्तु बनती हैं तो इतिहास और नाटक में एक विभेद आ जाता है । इतिहास तिथिपरक घटनाओं का संकलन है, जिसमें सामंजस्य अथवा कार्य-कारण की खोज नहीं होती । इसके विपरीत नाटक साहित्य का अंग है जहां रस अर्थात् हृदय की मुक्तावस्था अनिवार्य है । हम चरित नायक के जीवन का परिचय उसके जीवन में होने वाली घटित घटनाओं की जानकारी मात्र नहीं चाहते, वरन् अपने सुदूरस्थ पूर्वजों की आकांक्षाओं एवं आदर्शों के रूप में उनके स्वप्नों, सम-विषम जीवन परिस्थितियों, उनके भाव द्वन्द्वों आदि में

१- 'सेठ' -- 'हरिजनी', अंक३, दृश्य१, पृ०६८
२- रामकिशोरी श्रीवास्तव -- हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन शोधप्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६१, पृ०६ ।

अपने को शोक हृदय की मुक्तावस्था का सुख प्राप्त करना चाहते हैं।[1] आनंदवर्धनाचार्य ने इस सम्बन्ध में अपने 'ध्वन्यालोक' में यही मत प्रकट किया है--

'न हि कवेरिति वृत्तान निर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः'[2]

४६. नाटक और इतिहास में यही अन्तर है और इसीलिए नाटककार को मूल कथासूत्रों को नाटक की कथावस्तु के रूप में संगठित करते समय भावुकता, कल्पना और प्रतिभा की आवश्यकता पड़ती है। घटनाओं के कार्यकारण सम्बन्ध, तत्कालीन वातावरण का अंकन, परिस्थिति चित्रण की विशदता, पात्रों के चरित्र-निर्माण, ऐतिहासिक व्यवधानों की पूर्ति, प्रमुख कथा के विकास में सहायतार्थ कल्पित पात्रों और प्रासंगिक घटनाओं की सृष्टि में अपनी कल्पना का प्रयोग करके ही वह अपनी नाट्य कृति को प्रभावपूर्ण और रस सिद्ध बना सकता है।

५०. किन्तु ऐतिहासिक नाटककार अपनी कल्पना के प्रयोग में स्वतन्त्र नहीं है। विशेष प्रतिभा के साथ ही उसके लिए गहन-गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। उसने जिस काल के इतिहास का चयन किया हो, उसके यथार्थ अंकन के लिए उस काल की वेशभूषा, आचार-विचार, संस्कृति, प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र व तत्युगीन राजनैतिक परिस्थितियों के सम्यक् ज्ञान के साथ ही उसे वर्तमान से संयोजित करने की योग्यता उसके लिए अपेक्षित है। अन्यथा काल दोष के साथ वह अपने उद्देश्य में असफल सिद्ध होगा और उसकी रचना वह वांछित प्रभाव नहीं डाल सकेगी जिसकी प्रेरणा से उसने अपने नाटक की रचना की थी।

५१. इतने प्रतिबन्धों के पश्चात् भी वे कौन से तथ्य हैं, जिन्होंने नाटककारों को ऐतिहासिक नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया। डा० रामकिशोरी श्रीवास्तव ने इस सम्बन्ध में निम्न परिस्थितियों का संकेत किया है --(१) जब देशवासियों में अतीत के प्रति अनुराग, आत्माभिमान, जातीय गौरव आदि भावनाएं सजग हों। (२) जब देश में परतन्त्रता, रूढ़िवादिता, अविद्या, सामाजिक कुरीतियों आदि के कारण जीवन की प्रगति बाधित हो रही हो और देशवासी नवचेतना से युक्त हो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नव निर्माण और सुधारों में संलग्न हों। वस्तुत:

१-रामकिशोरी श्रीवास्तव--'हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' शोधप्रबन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६१, पृ०१६

२- ध्वन्यालोक ३।१ संपादक-दुर्गादास, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, सं०सं०, पृ०१४८

ये दोनों ही तथ्य देश की स्थिति और समय की मांग के अनुसार ऐतिहासिक नाटकों के निर्माण में उत्तरदायी रहे हैं।

५२. अब प्रश्न उठता है, कथा के ग्रहण का, उसके आधार-स्रोतों का। नाटककारों ने ऐतिहासिक-ग्रन्थों का आश्रय तो लिया ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त समय-समय पर अन्य उपकरणों से भी अपनी सामग्री ग्रहण की है। साहित्य एवं धर्म-ग्रन्थों में आये हुए ऐतिहासिक इतिवृत्त लोकप्रसिद्ध महान व्यक्तियों की जीवनियाँ, ऐतिहासिक लोक प्रचलित कथाएं, किसी ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित कविता अथवा लोक गीत विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत किए गए भारत-विवरण, ताम्रपत्र शिलालेख आदि में उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्य सामग्री के ग्रहण में उपयोगी आधार सिद्ध हुए हैं।

५३. आलोच्यकालीन ऐतिहासिक नाटकों पर दृष्टिपात करें तो तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनकी न्यूनता बहुत खटकती है। इस काल में बहुत ही कम ऐतिहासिक नाटक लिखे गए और जो भी नाटक लिखे गए वे प्राय: कल्पना के बन्धनों से उन्मुक्त लेखकों की स्वतन्त्र रचनाएं हैं। आगा हश्र, नारायण प्रसाद 'बेताब' व राधेश्याम 'कथावाचक' जैसे इस धारा के प्रसिद्ध नाट्य-लेखकों ने इस ओर कोई रुचि नहीं दिखाई। उन्होंने एक भी ऐतिहासिक नाटक नहीं लिखा। 'प्राचीन और नवीन भारत(१९२१) नाम से आगा साहब का एक नाटक अवश्य उपलब्ध है। मातृ-पितृ-भक्ति तथा अच्छी शिक्षा के सम्बन्ध में युवा जगत के लिए आदर्श प्रस्तुत करने वाले इस नाटक में तीन एक्ट है--'श्रवण कुमार', 'अकबर' और 'आज'। जो तीन कालों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें भी केवल द्वितीय ऐक्ट ही इतिहास-सम्मत है, जिसकी सामग्री मध्यकालीन इतिहास से ली गई प्रतीत होती है।

५४. तत्कालीन परिस्थितियों के विवेचन में कहा जा चुका है कि भारत के इतिहास में यह वह समय था, जब युगों से दासता की बेड़ियों में जकड़ी जनता पाश्चात्य शिक्षा की वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद से परिचित होकर अपनी स्वतन्त्रता का मूल्य समझने लगी थी। अपने देश के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से

१- रामकिशोरी श्रीवास्तव--'हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' शोधप्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६१, पृ० २५

उसकी यह चेतना और अधिक प्रबल हो गई ।अंग्रेजों की कूटनीति ,पृथक्करण(Divide and rule) की उनकी प्रवृत्ति मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा की स्थापना से दोनों जातियों में बढ़ता वैमनस्य तथा हिन्दुओं की आपसी फूट के दर्दनाक दृश्यों ने इसकी इच्छा को और प्रोत्साहन दिया । वह धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों के अग्रणी नेताओं के प्रयास से सुदूर अतीत में फांक कर उन्हीं आदर्शों की पुनः स्थापना में सचेष्ट हो गई ।

५५. आलोच्य रंगमंचीय नाटककार अपने दर्शकों की मांग पर प्रतिबंधित थे । प्रेक्षकों की जब जैसी रुचि रही, उन्हें उसी प्रकार के नाटक लिखने पड़े । देश की इस संक्रान्तिपूर्ण स्थिति में एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था जो शिक्षित था,किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति वाला नहीं । ये लोग राष्ट्रीय भावनाओं के पोषक और देशभक्त थे । उन्हें अपने अतीत गौरव और प्राचीन संस्कृति से प्रेम था और उसी की पुनर्स्थापना के स्वप्न देखा करते थे । आलोच्य काल में जितने भी ऐतिहासिक -नाटकों का प्रणयन हुआ, वह वस्तुतः इन्हीं की मांग पर । कम्पनी के बन्धनों से उन्मुक्त लेखकों के रचना-निर्माण में उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना उत्तरदायी है, जो युग का प्रभाव थी ।

५६. हरिदास माणिक का 'संयोगिता हरण' अथवा 'पृथ्वीराज नाटक' (१६१५) किशन चन्द 'जेबा' का शहीद सन्यासी अर्थात आर्यवर स्वामी श्रद्धानन्द जी' (१६२७), हरिकृष्ण 'जौहर' का नाग पुत्र शालिवाहन, राजेश्वरनाथ 'बेदार' का 'वीर बाला' , जिनेश्वर प्रसाद मायल का 'भारत गौरव' अर्थात सम्राट चन्द्रगुप्त' (१६२२), चतुर्भुज का 'मीर कासिम' राय बहादुर श्रीराम का 'देशभक्त' , कन्हैयालाल तसव्वर का 'वीर दाऊलाल' ,'सम्राट अशोक','पौरस सिकन्दर' (१६२८), चन्द्रनारायण सक्सेना का 'कर्मवीर चन्द्र (१६२७) सुवर्ण सिंह वर्मा 'आनन्द' का छत्रपति शिवा जी' (१६२६) ,'वीर बन्दा वैरागी' (१६२६)'वीर दुर्गादास' (१६२६ ई०सं०) श्री हरिशरण अग्रवाल का 'पृथ्वीराज किंवा चौहान चरित्र' (१६३०) चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद' का 'सिद्धार्थ कुमार' (सं०१६७६)'सम्राट अशोक' (जनवरी १६२३)मक्खन लाल सोवतिया का 'रण बांकुरा चौहान (१६२४) तुलसीदत्त 'व शैदा' 'सैदी' का 'नारी हृदय' (१६२७) , शिवराम दास का' देश का दर्पण अर्थात मेवाड़ पतन' (१६५० ई०सं०) 'पद्मावति' (१६४७)दुर्गादास गुप्त का

'देशोद्धार व राणा प्रताप', 'हम्मीर हठ' (१६३१) चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त' (१६२५).
'श्री गांधी दर्शन' (द्वि०सं०१६२२), बल्देव प्रसाद मिश्र का 'शंकराचार्य दिग्विजय' (१६२३),
मैलाराम जी मिवानी का 'भगवान शंकराचार्य', आरजू का 'सती सारन्धा' (सं०१६८५)
रा भी भारत पुत्र' (१६२६) 'बसंत प्रभा उर्फ एक पैसा' (१६३६), पण्डित रामशरण आत्मानन्द
'अमरोहा' का 'न्याय नाटक', 'विधापति', 'सुलताना डाकू', बाल रत्नभोज (१६२७),
श्रीकृष्ण हसरत का 'महात्मा कबीर इस युग के उपलब्ध ऐतिहासिक नाटक हैं।

५७. ऐतिहासिक नाटककार यथार्थ के धरातल पर जीवन का संभाव्य चित्र अंकित करता है। जीवन क्या है केवल यही उसका प्रतिपाद्य नहीं, वरन् क्या हो सकता है, यह भी उसका आदर्श है। उपर्युक्त रंगमंचीय ऐतिहासिक नाटककारों ने भी इसी लक्ष्य को सामने रखा है। समयानुसार युग की मांग और राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप देश-प्रेम, त्याग, वीरता, स्वाभिमान, कर्तव्य परायणता आदि के आदर्श को लेकर इन ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई है। इनकी इस आदर्शवादिता को सभी आलोचकों ने स्वीकारा है। डा० रामकिशोरी श्रीवास्तव का मत तो यहां तक है कि इनकी रचना में उद्देश्य गौरव और सामयिक युग-चेतना साहित्य ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम नहीं, भले ही उनकी कला प्रशंसनीय न हो[1]।

५८. आलोच्यकालीन ऐतिहासिक नाटकों को अध्ययन की सुविधा के लिए दो आधारों पर विभाजित कर सकते हैं --

(१) कथावस्तु

(२) उद्देश्य

कथावस्तु के आधार पर तीन उपवर्ग सम्भव हैं। वे नाटक जिनकी कथा वस्तु प्राचीन इतिहास से ली गई है यथा मैलाराम भिवानी का 'भगवान शंकराचार्य', बल्देवप्रसाद का 'शंकराचार्य दिग्विजय', शिवराम दास का 'पशुबलि', चन्द्रराज भण्डारी का 'सिद्धार्थ कुमार' आदि। प्रथम दो में वैदिक तथा बौद्ध धर्म के संघर्ष तथा बौद्ध धर्म के अनाचारों पर वैदिक धर्म की जय दिखलाई गई है। शंकराचार्य के आत्मज्ञान और

१- रामकिशोरी श्रीवास्तव--'हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' शोधप्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, १६६१, भूमिका भाग।

भक्ति के माहात्म्य द्वारा वेदों का पुनरुद्धार किया गया है। तत्कालीन रंगमंच के प्रभाव में यत्र-तत्र अलौकिकता का भी विधान है। कुमारिल भट्ट का चिता में जलना, शंकर को चिता में लेटाकर आग लगाना और ठीक समय वर्षा द्वारा आग का बुझाना, पद्मपाद का प्रतिशोध में क्रोध से कांपकर कापालिक का पेट फाड़ डालना और उसकी आंतों की माला अपने गले में पहनना, एक हाथ से मुंह दबाकर दूसरे से जीभ खींचना-वीभत्स दृश्य है, जिनका भारतीय नाट्य शास्त्र में निषेध किया गया है। 'पशुबलि' बौद्धकालीन अहिंसात्मक प्रसार और सनातन बलि विधान के द्वन्द्व का सामाजिक तथा राजनैतिक चित्रण है, जिसमें हमें एक ओर ऐतिहासिक विस्मृतियों का सरस आनन्द प्राप्त होता है तो दूसरी ओर वर्तमान संघर्ष का सैद्धान्तिक स्थल नजर आता है। 'सिद्धार्थ कुमार' में सिद्धार्थ का वैराग्य और समाज-कल्याण के लिए उनका सर्वस्व त्याग दर्शाया गया है।

५६. दूसरे उपवर्ग में वे नाटक हैं जिनकी कथा मध्यकालीन इतिहास से चुनी गई है। वस्तुत: इस युग का इतिहास ही ऐसा था जो देश की संघर्षपूर्ण वर्तमान स्थितियों के अधिक अनुकूल था। यही कारण है कि नाटककारों ने अपनी कृतियों का कलेवर इस युग के इतिहास से अधिक सजाया है। इनमें एक ओर राजपूती आन, गौरव-मर्यादा, देश-प्रेम पर सर्वस्व बलिदान की उत्कट अभिलाषा के उदाहरण मिलते हैं तो दूसरी ओर आपसी फूट, वैमनस्य, एकता व संगठन का अभाव तथा इसका लाभ उठाकर देश की स्वतन्त्रता का अपहरण, उसके कुपरिणाम आदि के अनेक चित्र मिलते हैं। शिवराम दास का 'मेवाड़ पतन', मनसुखलाल का 'रण बांकुरा चौहान' श्री हरिशरण श्रीवास्तव का 'पृथ्वीराज', दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'देशोद्धार व राणा प्रताप', सुवर्ण सिंह जी का 'वीरबन्दा वैरागी' कन्हैयालाल का 'पौरस सिकन्दर' 'वीर छत्रसाल', 'सम्राट अशोक' चन्द्रराज भण्डारी का 'सम्राट अशोक', जिन्नेश्वरप्रसाद मायल का सम्राट चन्द्रगुप्त मध्ययुग पर आधारित वीर रस प्रधान ऐतिहासिक नाटक हैं, जिनमें उपर्युक्त यथार्थ अंकन और आदर्श की उपलब्धि होती है। पृथ्वीराज किंवा चौहान चरित्र में सूत्रधार का यह कथन-- 'हां, आज दिखाना है इन्हें विनाशकारी फूट के कारण इस देश के सौभाग्य सूर्य का अवसान, अदम्य साहस और शौर्य का दुरुपयोग, छिन्न-भिन्न हुई शक्तियों का प्रशंसनीय परन्तु निष्फल प्रयत्न, पारस्परिक कलह का विषमय परिणाम, विद्वेषाग्नि की सर्वस्व भस्मकारी ज्वाला, प्रतिहिंसा

राक्षसी का भीषण नृत्य -- आलोच्य ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु के सम्पूर्ण उद्देश्य तत्व को समेटे है । इन सभी नाटकों में देश की दुरवस्था का मूल कारण आपसी फूट है --

'दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से
इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से ।'[1]

६०. इसके दुष्परिणाम देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत चरित नायक के वीरता पूर्ण प्रयास नाटकों की वस्तु के मुख्य कथा आधार हैं । 'वीर बन्दा वैरागी' सिक्ख सम्प्रदाय के आपसी वैमनस्य तथा उसके दुष्परिणामों की कहानी है, जिसमें नाटककार ने आर्य जाति के संगठन का प्रयास दिखाने के लिए अत्याचारों के अंकन में कई छोटी-छोटी कहानियों की योजना की है । 'पौरस सिकन्दर' भारत-विजय की इच्छा लेकर निकले सम्राट सिकन्दर से पंजाब नरेश पौरस व उनके पुत्र दिवाकर के संघर्ष की कथा का नाटकीकरण है । इसमें देश का गौरवपूर्ण अंकन है[2] । 'सम्राट चन्द्रगुप्त' में भी ऐसी ही अभिव्यक्ति है[3] । 'वीर छत्रसाल' चम्पतराम के पुत्र छत्रसाल की वीरता और देश-प्रेम की घटनाओं का नाटकीकरण है । बीच में उनकी प्रेमकथा का भी स्पर्श है व भाई-भाई की प्रतिहिंसा के दुष्परिणाम भी ।

६१. तीसरे वर्ग में वे नाटक हैं, जिनकी कथावस्तु सुदूर इतिहास से न ली जाकर अर्वाचीनकाल के इतिहास से ली गई है । जमनाप्रसाद मेहरा का 'पंजाब केसरी' 'भारत पुत्र', आरज़ू साहब का 'सती सारन्धा', 'फांसी की रानी', किशनचन्द 'जेबा' का 'शहीद सन्यासी', श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'महात्मा कबीर', दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'गांधी दर्शन' ऐसे ही नाटक हैं ।

६२. वर्तमान भारत की दुर्दशा पर पश्चाताप व देश जागरण के लिए शहीदों के जीवन दिग्दर्शन से देश को सुधारना ही इन नाटकों का उद्देश्य है --

---

१- दास--'देश का दुर्दिन', अंक १, दृश्य २, पृ०१४

२- सिकन्दर--'हिन्दुस्तान । हिन्दुस्तान । वाकई तु एक पाक मुल्क है । तेरी पाकीज़गी बहादुरों की शान है । तु सच्चाई और ईमानदारी में दुनिया का अकेला मुल्क है ।' -- अंक ३, दृश्य ४, पृ०७०

३- सिकन्दर--'यहां जो कौम हुक्मरानी कर रही है वह कितनी खूबसूरत और शादाब है। उसकी हर फर्द के चेहरे पर मासूम बच्चों का सा भोलापन छाया हुआ है, मगर जिस्म में फौलाद की शक्ति, आंखों में दोपहर के सूरज का जलाल और सीने में समन्दर का जोश समाया हुआ है ।' --अंक १, दृश्य १, पृ०५

'हमेशा वीर का इतिहास क़ौमों को बनाता है
यह है इतिहास ही जो क़ौमों को ऊपर उठाता है ।'[1]

६३. पंजाब केसरी लाल लाजपत राय, भारत पुत्र महात्मा कबीर, शहीद सन्यासी श्रद्धानन्द तथा महात्मा गांधी देश की स्वतन्त्रता संग्राम के युग नेता वीर थे, जिन्होंने हिन्दू जाति के उस शीराज़ा पर दृष्टि डाली जो एक मुद्दत से बिखर रहा था, जिसके कारण हिन्दू अपने बच्चों और स्त्रियों की रक्षा में असमर्थ थे । इन्होंने भारत में उस सभ्यता का संचार किया, जिसका अन्त हो जाने से हिन्दू जाति कायरी [illegible] का बलिदान हो रही है, जिसके न रहने से आज करोड़ों अछूत हिन्दू जाति के शरीर से दूर फेंके जा रहे हैं, जिसके न रहने से वैदिक धर्म से पृथक हुए लाखों हिन्दू और अक़वाम की गोदी में सो रहे हैं । इन शहीदों का उद्देश्य था --

सुखकर हो यह हिन्दू जाति
नीच ऊंच हों सब संघाती ।
हों संगठित कौम कहलावें ।
आन मान से जन्म बितावें ।'[2]

६४. देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की वेदी पर अपने जीवन का समर्पण ही लाला लाजपतराय का अभीष्ट था[3] । इन प देश-प्रेमी शहीदों ने अछूतोद्धार, नारी दशा का सुधार व हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के अथक प्रयास किए । भारत पुत्र कबीर का सम्पूर्ण जीवन इसी जनहित तथा ऐक्य की भावना से आपूरित था ----------

१- 'बेबा'-'शहीद सन्यासी' -- मंगलाचरण, पृ०२५
२- ,, -'शहीद सन्यासी' नाटक के प्रारम्भ में दी गई वन्दना ।
३- 'सदैव देशभक्ति का सुहृद होकर सुनाऊंगा
मिटाकर द्वेष की जड़ प्रेम का पौधा लगाऊंगा ।
सदा स्वाधीनता की राह निष्कंटक बनाऊंगा
जिधर अन्याय देखूंगा यथाशक्ति मिटाऊंगा ।'
मेहरा- 'पंजाब केसरी', अंक १, दृश्य ३, पृ०३०

था[1] जिसने शाह सिकन्दर लोदी द्वारा किए महान कष्टों की परवाह न कर अन्त में सत्याग्रह का सत्य रूप दिखाकर सत्य और न्याय का राज्य स्थापित कराया। 'सती सारन्धा' और 'झांसी की रानी' में भारतीय क्षत्राणी की अनुपम वीरता से देशवासियों को प्रबुद्ध[2] करने के साथ ही पारस्परिक फूट के दुष्परिणाम दर्शाये गए हैं।

६५. उद्देश्य के आधार पर कथावस्तु को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है --(१) राष्ट्रीयता मूलक संस्कृति चेतना सम्पन्न, (२) राष्ट्रीयता मूलक नैतिक आदर्शों से युक्त। जिन नाटकों का उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति के उजागर रूप से राष्ट्रीय भावों की उद्दीप्ति करना है तथा जिनमें विश्वबन्धुत्व, मानवता के प्रति आस्था, धार्मिक सहिष्णुता, सेवा, त्याग तथा कर्तव्य परायणता के रूप में भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप को अन्तिम ध्येय के रूप में व्यंजित किया गया है, वे प्रथम कोटि के नाटक हैं। जिनेश्वर प्रसाद का 'भारत गौरव', दुर्गाप्रसाद का 'सम्राट चन्द्रगुप्त', कन्हैयालाल तसव्वर का 'पौरस सिकन्दर', 'व्याकुल' का 'बुद्धदेव' नाटक सांस्कृतिक नैतिक आदर्श को ले लेकर चले हैं। इनमें भारत की प्राचीन संस्कृति के दिग्दर्शन की चेष्टा मिलती है। किन्तु इसके विपरीत जिन नाटकों में पूर्वजों के शौर्य, देश-प्रेम, त्याग आदि गुण तथा वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता व पारस्परिक फूट के परिणाम दिखाकर देश जाति सम्बन्धी उदात्त भावनाएं स्थूलता से व्यक्त की जाती है वे राष्ट्रीयतामूलक नैतिक आदर्श के उपवर्ग में आते हैं[3]। किशनचन्द 'जेबा' का 'पद्मिनी' तथा मध्यकालीन इतिहास को लेकर लिखे गए अधिकांश नाटक इसी कोटि के हैं। प्रथम संस्कृति प्रधान तथा दूसरे चरित्र प्रधान नाटक कहे जा सकते हैं।

६६. विचारणीय यह है कि उक्त रंगमंचीय नाटककारों ने किन आधार स्रोतों को अपनाया तथा ऐतिहासिक सत्य की कहां तक रक्षा की ? ऊपर दिए गए विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो गया कि कथाएं अधिकांशतः मुगलकालीन इतिहास से ली गई हैं। इन नाटकों में तत्कालीन राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है। राजपूतों के चरित्र उनके गौरव के अनुकूल अंकित हैं। शौर्य, स्वाभिमान, त्याग, वीरता, उदारता आदि उनके गुण यथातथ्य रूप में प्रकाश में लाए गए हैं। क्षत्राणी की अनुपम वीरता, साहस, चातुरी तथा मर्यादा की रक्षा में सहर्ष

१- 'देशभक्ति का प्याला है वह देश भक्ति पिलाएगा।
सत्य न्याय को रख भारत में पूरण पद को पाएगा।'

--मेहरा 'भारतपुत्र', अंक १, दृश्य१, पृ०८

(अगले पृष्ठ पर देखें)

प्राणों का न्यौछावर तथा जौहर व्रत पालन करने की उनकी प्रथा का परिचय भी नाटकों में प्राप्त है । किन्तु देशकाल सम्बन्धी उक्त संकेतों के अतिरिक्त आलोच्य नाटककार अपने ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन वातावरण के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में विशेष सफल नहीं हुए ।

६७. रंगमंचीय ऐतिहासिक नाटककारों में इतिहास-अध्ययन की कोई गहराई नहीं मिलती । किन्तु जहां तक ऐतिहासिक सत्य का प्रश्न है, नाटककारों ने जहां से जो आधार लिया है, अधिकांशत: उसके निर्वाह की चेष्टा की है । दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'देशोद्वार' में टाड कृत राजस्थान के इतिहास के अतिरिक्त राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' नाटक से कथा का विन्यास बहुत कुछ ग्रहण किया गया है, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है । हरिदास माणिक ने अपने 'संयोगिता हरण' में श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखे प्लाट के अतिरिक्त पृथ्वीराज रासो की सहायता ली है । कुछ नाटक प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन चरित पर आधारित है यथा 'महाराणा प्रताप', 'सम्राट चन्द्रगुप्त', 'वीर दुर्गादास', 'रण बांकुरा चौहान' आदि । किसी आदर्श विशेष की स्थापना अथवा तथ्य की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक कविता, लोकगीत, किंवदन्ती आदि पर लिखे गए कुछ आंशिक ऐतिहासिक नाटक भी उपलब्ध हैं । इनमें ऐतिहासिकता निमित्त मात्र है -- उदाहरण के लिए ज्वालानारायण का 'अकबर गौ रक्षा नाटक' । प्रस्तुत नाटक की रचना ज्वालानारायण ने अकबर बादशाह के गौवध बन्द करवाने के आदेश पर की है । नाटक में अकबर, बीरबल, राणा प्रताप, भामाशाह आदि पात्र ऐतिहासिक हैं और बादशाह की उक्त आज्ञा के आधार पर शेष कथा कल्पित है । यत्रतत्र अलौकिकता के विधायक दृश्य भी हैं । सच तो यह है कि आलोच्य काल में रंगमंचीय ऐतिहासिक नाटकों के उन रूपों की प्रधानता है जहां कथा इतिहास सिद्ध है, किन्तु उनका निरूपण वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में आदर्श से अनुप्रेरित है ।

(विगत पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या २,३ का विवरण)

२- 'देखकर उत्साह तुम्हारी मन में लज्जा पाओगे ।
   या तो कर दिखलाओगे या डूब कर मर जाओगे ।'
   आरजू- 'झांसी की रानी', अंक १, दृश्य१, पृ०६

३- रामकिशोरी श्रीवास्तव-- 'हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' -- शोधप्रबन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६१, पृ०१६१-१६२ ।

यह आदर्श साहित्यिक नाटकों के समान व्यंजित नहीं वरन् इसकी पूर्ति स्थूल उपकरणों से की गई है उदाहरणार्थ किशनचन्द 'जेबा' का टाड कृत राजस्थान के इतिहास पर आधारित 'पद्मिनी नाटक' -'देशभक्ति', 'मित्र-भक्ति', 'राज-भक्ति', 'ईश्वर-भक्ति' तथा पति भक्ति आदि के प्रचार[1] के लिए है। नाटककार ने पद्मिनी के चरित्र द्वारा पातिव्रत धर्म का आदर्श व कथा द्वारा हिन्दू मुसलमानों के बीच अभेद की भावना जगाई है। किन्तु उद्देश्य की पूर्ति में स्थूल उपकरण प्रयुक्त हुए हैं। अलाउद्दीन के राजपूत स्त्रियों की भस्म देखकर पश्चाताप स्वरूप उसकी मन: स्थिति के परिवर्तन का संकेत करने के लिए गौ, ब्राह्मण, धर्म के समक्ष उसका क्षमा प्रार्थी होना इसी प्रकार पद्मिनी के कपटाचरण से क्षुब्ध हो चितौड़ पर आक्रमण के समय मृत मुसाहिब की रूह को स्वप्न में बुलाकर अलाउद्दीन को समझाने और नेकी-बदी में से एक को चुनने की आज्ञा देना ऐसे ही स्थूल प्रसंग हैं।

६८. डा० श्रीकृष्ण लाल ने रंगमंचीय ऐतिहासिक नाटकों के कलात्मक रूप की निन्दा की है। उनके अनुसार इनका कथानक मिश्र और उलझा हुआ है। प्रसंगों की भीड़ सी लग जाती है। नाटककार प्राय: बहुत ही ऊंची कल्पना का सहारा लेकर बहुत ही सुन्दर और पूर्ण रचना बनाने की इच्छा से कई कथाओं का मिश्रण करते हैं परन्तु जब कथानक उलझ जाता है तब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। वे अपने ही बनाए हुए कथाओं और उपकथाओं के जाल में इतना उलझ जाते हैं कि इनको सुलझाने का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता और किसी प्रकार असंगत व अस्वाभाविक प्रसंगों का सहारा लेकर वे कथानक का अपूर्ण अन्त कर देते हैं। न उनमें चरित्र-चित्रण है न काव्य सौन्दर्य[2]। डा० रामकिशोरी श्रीवास्तव ने इनमें साहित्यिक ऐतिहासिक नाटकों की सी संस्कृति और कला के उत्कृष्ट रूप का अभाव माना है[3]।

१- मंगलाचरण, अंक१, दृश्य१, पृ०१२ (भारत माता का कथन)

२- डा० श्रीकृष्णलाल - हिन्दी साहित्य का विकास, द्वि० सं०, १९५२, पृ०२५१-२

३- रामकिशोरी श्रीवास्तव-'हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' --शोधप्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६१, पृ०१९५

उपर्युक्त ये आलोचनाएं कथा-संगठन की दृष्टि से दी गई है जो कि पूर्णत: निराधार नहीं है । मूल कथा के साथ सम्बद्ध-असम्बद्ध अवान्तर कथाएं,आदर्श के आग्रह पर छोटी-छोटी घटनाओं के लिए कथाओं की योजना, ऐतिहासिक वातावरण के बेमेल में वर्तमान से सम्बन्धित हास्य कथा ने इन नाटकों की कथावस्तु को काफी शिथिल कर दिया है । आदर्श स्थापना की उमंग में नाटककार परोक्षत: उपदेशक बन गए हैं । लेकिन यह भुला देना अनुचित होगा कि जन-जागृति के स्वर को ऊंचा उठाने के लिए इन नाटकों की रचना हुई थी । समयानुकूल आदर्श की स्थापना हेतु राजस्थान के लोक-प्रसिद्ध वीरों और वीरांगनाओं के चरित्र लिए गए हैं । नाटककार ने कलापक्ष की अपेक्षा उद्देश्य के गौरव को प्रधानता दी है, जिसे सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है । वस्तुत: यह ऐतिहासिक नाटकों की रचना का प्रथम युग था इसमें कला के उस उत्कृष्ट रूप को खोजना जो उत्तरवर्ती नाटकों में है, व्यर्थ प्रयास होगा ।

राजनैतिक नाटक

६९. प्रबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठों में देश की राजनैतिक अवस्था का विवरण दिया जा चुका है । सन् १८५७ की राज्य क्रान्ति इस काल की प्रमुख राजनैतिक घटना थी, जिसके पश्चात् देश में नव जागरण व नवोत्थान की एक नई लहर आई । स्वतन्त्रता व स्वायत्तता की भावना का प्रसार हुआ । सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से इस प्रवृत्ति को और बल मिला । इसी के फलस्वरूप हमें तत्कालीन नाट्य साहित्य में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना के दर्शन होते हैं ।

७०. सामाजिक नाटकों के विवेचन में कहा जा चुका है कि समाज में एक ऐसा वर्ग भी था जो अपने नाटकों को केवल पुराण और इतिहास प्रेरित नहीं देखना चाहता था, वरन् कथावस्तु के रूप में सम-सामयिक सामग्री , देश की दुर्दशा, समाज की बुराइयां, उनके यथातथ्य अंकन और सुधार के प्रयास उसे अधिक अभीष्ट थे । सामाजिक नाटकों के साथ राष्ट्रीय नाटकों की मांग भी इसी वर्ग की थी । आलोच्य-कालीन नाटककारों का देश-प्रेम भी समाज-सुधार का ही एक अंग था । इसी का प्रभाव है कि न केवल राजनैतिक नाटकों में , वरन् सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक

नाटकों में भी उनके देश सम्बन्धी उद्गार मिलते हैं।

७१. देश-प्रेम की भावनाओं से आपूरित ये नाटककार अंग्रेजों की शक्ति और देश की दुर्बलता से परिचित थे। तत्कालीन दुर्दशाग्रस्त, अवनत और पीड़ित भारत की दुर्दशा के साथ ही उन्होंने देश के गौरवमय प्राचीन इतिहास का अध्ययन किया। दोनों स्थितियों के महा वैषम्य से क्षुब्ध होकर देश को इस अवनत अवस्था से उठाने के लिए उसकी बुराइयों के उन्मूलन की चेष्टा की। इसके लिए अपने नाटकों में उन्होंने निम्नलिखित विषयों को अपनाया।

देशप्रेम सम्बन्धी राष्ट्रीय नाटक

७२. यूं तो आलोच्य-काल के उक्त सभी नाटक देश-प्रेम सम्बन्धी भावों से सम्पुष्ट हैं, किन्तु इसी को अपना मुख्य प्रतिपाद्य बनाकर लिखे गए नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है--

(१) देश-दशा सम्बन्धी नाटक

(२) देश प्रेमी चरित नायकों के जीवन-चरित सम्बन्धी नाटक।

७३. अम्बाप्रसाद मेहरा का `हिन्द` (१८७६), दुर्गाप्रसाद गुप्त का `भारतवर्ष`, किशनचन्द `जेबा` का `चिराग-ए वतन अर्थात् देश दीपक` (सं० १८७६ ई०सी०) प्रथम कोटि के नाटक हैं, जिसमें नाटककार ने पराधीन देश की छटपटाहट, उसकी दुर्दशा शासकाधिकारियों के अत्याचार, तथा स्वातन्त्र्य संग्राम के पूर्व से स्वातन्त्र्य संग्राम तक के भारत की झलक प्रस्तुत की है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अवदान देश की अपनी कमजोरियों तथा सत्याग्रहियों द्वारा गृहीत एकता, आत्मबल, अहिंसात्मक असहयोग स्वदेशी का प्रचार नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है।

७४. वर्तमान भारत के राजनैतिक क्षेत्र में आधुनिक शासन सत्ता तथा देशभक्ति में अद्वितीय संग्राम हो रहा है। एक ओर प्रबल प्रभुसत्ता तथा कानून का शस्त्र है तो दूसरी ओर भारत का निहत्था दल है जिसके पास केवल आत्मिक शक्ति का शस्त्र है। `कौमी तलवार` इस धर्मयुद्ध के छिड़ने और शस्त्र धारण की विवेचना हेतु ही लिखा गया है। भारत भक्तों ने किन कारणों के वशीभूत होकर यह कठिन कृपाण हाथ में लिया था, धर्मयुद्ध किस दशा में पहुंच गया, और क्या परिणाम दृष्टिगत हुए, इन बातों को कल्पित रंगीनियों से बहुत ही बचाकर दर्शाया गया है। अंग्रेजों का भारत आगमन, हिन्दू-मुस्लिम में द्वेष उत्पन्न करना, जलियांवाला बाग, टर्की युद्ध में हिन्दू-मुस्लिमों

की स्वराज्य प्राप्ति की आशा में अंग्रेजों की सहायता, किन्तु बदले में अंग्रेजों का खलीफा की समस्या का समाधान न करना तथा रौलट बिल पास करके भारतीयों को कुचलना व देश में विद्रोहाग्नि का फैलाना नाटक की मुख्य कथावस्तु का निर्माण करते हैं ।

७५. स्वातन्त्र्य संग्राम के यथार्थ चित्रों तथा उनकी प्राप्ति के प्रयासों के अतिरिक्त नाटककारों की दृष्टि देश की उन आन्तरिक समस्याओं की ओर गई जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के व्यवधान रूप में हमारी प्रगति के मार्ग को बाधित कर रही थीं । गौहत्या, राष्ट्रीय एकता व हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, राष्ट्रीय शिक्षा, शराब आदि दुर्व्यसनों को रोकना, नारी जागरण या नारी-दशा का सुधार, अछूतोद्धार, हिन्दू धर्म का आडम्बरी रूप परस्पर का विद्रोह व हिन्दू संगठन का अभाव, निर्धनों तथा धनिकों के मध्य अर्थ सम्बन्धी गहरी असाम्यता आदि प्रश्नों की ओर नाटककारों का ध्यान गया । उपर्युक्त सभी नाटक इन समस्याओं के ही कुछ या अधिक रूपों को लेकर अनुशासित हुए हैं । व इन्हीं सूत्रों से उनकी कथावस्तु का ताना बाना बुना है । ये ही उक्त नाटकों के मुख्य कथासूत्र हैं । जब तक इन प्रश्नों का समाधान न होगा स्वतन्त्रता या स्वराज्य की प्राप्ति असम्भव है ।

७६. आन्तरिक कारणों के अतिरिक्त देश की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी अंग्रेज़ शासनाधिकारी भी नाटककारों की दृष्टि से बच नहीं सके । इस शासक वर्ग ने अपने ऐशो-आराम के लिए इस देश की सारी सम्पत्ति लूट ली । एक अंग्रेज़ पादरी ने १९०२ में लिखा है कि भारतवासी जी नहीं रहे हैं केवल जीवधारियों में उनकी गिनती भर होती है । हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सभ्यता को बनाए रखने के लिए नियुक्त अंग्रेज सैनिक पर ७७५ रुपये वार्षिक व्यय होता है जब कि इंगलैण्ड में उन पर होने वाला व्यय २८५ रुपए मात्र है । लाला लाजपतराय के अनुसार "वर्तमान परिस्थिति यह है कि ब्रिटेन साम्राज्य के विनोद के लिए बाजा बजवाता है और बाजा बजाने वालों का वेतन देता है भारतवर्ष । यह बाजा बजाने वाला प्रायः स्वयं ब्रिटेन ही होता है[1] ।"

१- "दुःखी भारत", पृ० ३६७

७७. अपने देश से काँच, मिट्टी, सीप तथा लोहे की चमकदार चीजें भेजकर "खूबसूरत वाइन सप्लाई" करके तथा चन्द मिट्टी के खिलौनों द्वारा ये अंग्रेज देश की सारी सम्पत्ति इंगलैण्ड ले गए।[1] इतना ही नहीं, उनके द्वारा कल-कारखानों तथा मशीनों की स्थापना से लघु उद्योगों को नष्ट करके देश की कला को ही ठेस नहीं पहुँचाई वरन् कच्ची सामग्री के निर्यात और उसके स्थान पर विदेशी वस्तुओं के आयात द्वारा देश को निर्धन बनाने के साथ ही प्रगति के मूल उपादानों को ही उखाड़ फेंका।[2]

७८. आलोच्य नाटककार समस्या तथा उसके मूल कारणों के अंकन द्वारा अपनी राष्ट्रीय चेतना का प्रमाण देकर ही शान्त नहीं हो गए वरन् इससे आगे बढ़कर उन्होंने मुक्ति तथा स्वतन्त्रताप्राप्ति की चेष्टाएं कीं। एकता का आदर्श प्रस्तुत किया -- केवल हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का ही नहीं - जिनके बीच वैमनस्य का भाव उत्पन्न करके ब्रिटिश अधिकारी अपनी सत्ता को सुरक्षित करने की चेष्टा कर रहे थे[3]; वरन् हिन्दुओं की आपसी फूट के दुष्परिणाम-दर्शा कर उन्हें भी एक होने का आदेश दिया।[4] पौराणिक नाटकों में ईश्वरीय या दैवी पात्रों के मुख से भी ऐसे कथन कराए गए हैं[5]।

७९. आत्मबल तथा आत्मविश्वास के भावों को जागृत करने के साथ नाटककारों ने स्वदेशी का प्रचार किया[6]। किशनचन्द "जेबा" का "देश दीपक" इस

१-मिस्टर डैम--"यही कि काँच, मिट्टी, सीप और लोहे की चमकदार चीजें भेजकर हरसाल इण्डिया का तमाम अनाज अपने आधीन कर लेना चाहिए। कहिए आप इसमें क्या करेंगे?

मि० केब-- मैं खूबसूरत वाइन सप्लाई करूंगा जो परी बनकर उन्हें शीशे में उतारेगी। बिना तीर और तुफंग के खुफिया जहर बनकर उन्हें मारेगी। और टुम?

मि०मुनरो--मैं मिट्टी के खिलौनों से उन्हें टमाशा दिखाऊंगा।

मि०जौन -- और मैं काँच के बरतनों से उनकी दौलत यहाँ लाऊंगा।

--जेबा -- "देशदीपक" अंक१,दृश्य २,पृ०२५।

२- दुर्गाप्रसाद गुप्त-- "भारतवर्ष", अंक १,दृश्य ५,पृ०७१

३- न अपराध हिन्दू का न कुछ मुस्लिम की गलती है
परस्पर एकता को देखकर विदेशी आँखें जलती हैं।
सुवर्णसिंह --वीर दुर्गादास,अंक१,दृश्य१,पृ०५

४- करो यह काम मिलके हर आपस की लड़ाई हो।
भिखारी द्रोह यदि दिल से तो भारत की भलाई हो।
--बेहरा-विपद् कसौटी अंक२,दृश्य १,पृ०६४

५- भगवान विष्णु--"जिस मानव समाज में अपनी जाति का अपने देश का, गौरव नहीं, आपस में एकता नहीं, तो फिर उनपर अत्याचारियों द्वारा अत्याचार होते हैं, वह केवल उन्हें जागृत करने के लिए उनकी दशा सुधारने के लिए।"
बलदेवप्रसाद खरे--सत्यनारायण, अंक१,दृश्य१,पृ०८

६- [illegible] तो मन में आज़ो है कि सब रस रीत देशी हो।
[illegible] भाषा [illegible] की और साथ ही इतिहास देशी हो।
[illegible] -- भारत दर्पण --मंगलाचरण

प्रसार के माध्यम से देश-सेवा के हितार्थ लिखा गया है ।" अपने स्वदेशी विचारों को नाटक के रूप में लाना ही उचित समझ कर यथासाध्य देश-सेवा में भाग लेने की चेष्टा की है[1]। स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों के समान नाटककारों ने विदेशी वस्त्रों की होली ही नहीं जलाई, वरन् विदेशी भोजन और विदेशी भाषा का भी तिरस्कार किया, क्योंकि जैसा भोजन होगा वैसे ही विचार, बल-बुद्धि और आचार होंगे । जो जाति अपनी भाषा की प्रतिष्ठा करना नहीं जानती वह अपने पूर्व पुरुषों के इतिहास से अनभिज्ञ रहकर विदेशी आदर्शों पर चलने के लिए बाध्य होती है और पतन से मिलकर कभी भी उन्नति के सोपान पर नहीं चढ़ सकती । जो शिक्षा हमको संस्कृत, हिन्दी या फारसी की भाषाओं से मिल सकती है, वह अंग्रेजी या फ्रांसीसी भाषा से नहीं । एक विदेशी वस्तु हमारी बीस आवश्यकताएं उत्पन्न करती है और हम घर का पैसा देकर गरीबी मोल ले लेते हैं[2] । राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इसी कारण देश को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रेरणा दी थी । अहिंसात्मक असहयोग तथा सत्याग्रह के उदाहरणों से तो नाटक भरे पड़े हैं ।

८०. आलोच्य नाटककारों के हृदय देश-प्रेम की भावनाओं से पूर्ण थे । ब्रिटिश शासन में भारत की दुर्दशा के करुणापूर्ण चित्रों-जहां की अकाल पीड़ित माताएं भूख की ज्वाला से अपने कलेजे के टुकड़ों को बेचती हैं[3], अपनी आवश्यकताओं की मांग करने वाले भारतीय अंग्रेजों के दमनचक्र में पीसे जाते हैं[4], देशवासी रोग, महामारी अकस्मात अकाल तथा बाढ़ के शिकार होते हैं, कृषकों की रात-दिन के परिश्रम से

१- नाटक की भूमिका ।

२- 'इन्हीं कपड़ों ने भारतवर्ष को नवकाल कर डाला ।
विदेशी वस्तुओं की चाह ने कंगाल कर डाला ।
इन्हीं फैशन के फंदों ने हमें पामाल कर डाला
बनावट की छुरी ने हमें हलाल कर डाला ।'
--दुर्गाप्रसाद गुप्त--'गांधी दर्शन' अंक १, दृश्य २, पृ० १७

३- 'बैबा' --'भारत दर्पण', अंक१, दृश्य २, पृ०१३

४- ,, ,, का पंजाब काण्ड

अर्जित कमाई सत्ताधारियों की भेंट चढ़ जाती है तथा उनके रुदन पर अंग्रेजों के ऐशो-आराम की सामग्री जुटाई जाती है, इसके अतिरिक्त उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झांकी देखी थी । वे पुन: उन स्वर्णिम युग के स्वप्न देखने लगे । आलोच्य नाटकों में उनके व्यथित-हृदय की यह पुकार बराबर सुनाई देती है ।

८१. जमनाप्रसाद मेहरा का 'भारत पुत्र' (सं० १९८६) 'पंजाब केसरी' (सं० १९८५), श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'महात्मा कबीर', किशन चन्द 'जेबा' का 'शहीद सन्यासी' (१९२७), दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'श्री गांधी दर्शन' (१९२२ वि०सं०) पण्डित रेवती नन्दन भूषण का 'कर्मवीर' (सं० १९८२) कवि गोकुल प्रसाद वैश्य का 'सत्य विजय' तथा 'भारत विजय अर्थात् देशभक्त लाल सिंह' (१९२०) राष्ट्रप्रेमी चरित नायकों के जीवन चरित सम्बन्धी नाटक हैं जिनमें नाटककारों ने लाला लाजपतराय स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गांधी, कबीर, लाला लालसिंह तथा सत्यवक्ता के अनन्य देश प्रेम तथा उसके फलस्वरूप जीवन में आने वाले संघर्षों का नाटकीकरण किया है । ये सभी प्रमुख पात्र सत्य, अहिंसा, त्याग तथा ऐक्य के आदर्श व सच्चे सत्याग्रही थे । इन आदर्श देशप्रेमियों के विरोध में मि० कलंक जैसे पात्रों की योजना करके नाटककारों ने उन राजभक्तों का उपहास किया है जो डिग्रियों और उपाधियों के प्रलोभन में देश-प्रेम को कुचल कर अधिकारियों के खुशामदी बने रहते हैं । ऐसे पात्रों के द्वारा आदर्श पात्र और भी उजागर हुए हैं।

८२. आदर्श पुरुष-पात्रों की समता में आलोच्य नाटककारों के स्त्री पात्र भी किसी तरह पीछे नहीं हैं । वस्तुत: यह तत्युग का ही प्रभाव है, जब महात्मागांधी की प्रेरणा से भारत की नारियाँ पर्दे से निकलकर पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर स्वयं स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन कर रही थीं । 'कर्मवीर' नाटक की विद्या तथा 'श्री गांधी दर्शन' की सुशीला व कस्तूरबा इसी नारी-चेतना की प्रतीक है । अपने पतियों के बन्दी हो जाने पर वे असहाय अबलाओं के समान विलाप नहीं करतीं वरन् अपने पतियों के कर्तव्य च्युत हो जाने पर उनकी आँखें खोलने के लिए स्वयं

१- सुशीला (विद्या) -- "नारी का धर्म .... निज धर्म पर बलिहार होने वाले वीर पति को कष्ट सहते देखकर उसे अपने हठ से पीछे हटाना नहीं, उस वीरोचित बलिदान पर हर्ष मनाना है ।" --रेवतीनन्दन भूषण--'कर्मवीर' अंक२, दृश्य३, पृ०८० ।

कार्य क्षेत्र में उतरती है । "हां मुझे देश के लिए जेल जाना ही स्वीकार है ... जब आप जैसे पुरुष भी कुहर की चूड़ियां पहनकर घर में बैठ जाएंगे तब अवश्य ही हम अबला लोग देश-सेवा का काम उठाएंगी और कायर पुरुषों को अबलाओं की शक्ति दिखाएंगी --"[1] अपने पति रायबहादुर के प्रति सुशीला की यह उक्ति उस समय की प्रबुद्ध नारी-चेतना का प्रमाण है ।

हिन्दू -मुस्लिम संघर्ष

८३. अंग्रेजों की भेद और पृथक्करण की नीति (Divide and rule) के कारण हिन्दू-मुसलमानों की समस्या देश की प्रधान समस्या बनी हुई थी । इस अल्पसंख्यक वर्ग को राजनैतिक अधिकार देकर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने देश में साम्प्रदायिकता का विष बीज बो दिया, जिसका प्रभाव सामाजिक क्षेत्र में भी पर्याप्त पड़ा । मुसलमान अपने को हिन्दुओं से भिन्न समझने लगे । दोनों जातियों के मध्य संघर्ष और वैमनस्य की खाई गहरी हो गई । छोटी-छोटी बातों पर संघर्ष होने लगे । स्लीमन ने अपनी डायरी भाग१ के पृष्ठ २६२ पर लिखा है कि 'दशहरा तथा मुहर्रम पर ब्रिटिश अमलदारी में हर जिले में एक न एक साम्प्रदायिक उपद्रव होता था । कोई त्योहार खाली नहीं जाता था । पर अवध में ऐसा कभी नहीं हुआ । मुरादाबाद में १८५५ में मुहर्रम के अवसर पर बलवा हो गया । एक डिप्टी तथा कई सिपाही जख्मी हुए ।'[2] यह साम्प्रदायिकता , देश की एकता और संगठन को विच्छि विश्रृंखलित करके अंग्रेजी शासन को प्रश्रय देकर परतन्त्रता को सुदृढ़ बना रही थी । नाटककारों का इस ओर ध्यान गया । इसके दुष्परिणामों का संकेत करते हुए उन्होंने एकता का आदर्श प्रस्तुत किया । समस्या के मूल में जाकर उसके समाधान की चेष्टा की ।

८४. किशनचन्द 'जेबा' का 'जख्मी हिन्दू' (१६२५), दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'श्रीमती मंजरी' (१६२६-कृ०सं०) , बाबू कन्हैयालाल तसव्वर का 'देशदशा', बलदेवप्रसाद खरे का 'परोपकार '(सं० १६७६) ,हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के आदर्श को लेकर लिखे गए नाटक हैं । इनके अतिरिक्त अन्य नाटकों में प्रासंगिक व उपकथाओं के रूप में तथा छोटी-छोटी घटनाओं के रूप में नाटककारों ने इस प्रश्न को उठाया है यथा

१-दुर्गाप्रसाद गुप्त-- 'श्रीगांधी दर्शन' ,अंक२, दृश्य ३,पृ०६३
२- परिपूर्णानन्द वर्मा- 'वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन', पृ०१८६-१६०।

अब्दुल समी साहब का "कलियुग की सती "(१९२३) हरिकृष्ण "जौहर" का "दु:खी भारत " आदि । 'श्रीमती मंजरी' में जुगलकिशोर और जलालुद्दीन ,कमरुद्दीन और उसकी पत्नी अजीज़ तथा मंजरी इसी एकता के आदर्श हैं । पण्डित जुगलकिशोर धार्मिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर असहाय, यतीम बालक जलालुद्दीन का पालन पोषण करता है तो कमरुद्दीन भी नि:सहाय मंजरी को अपनी "हिन्दू बेटी" बनाकर उसके हितार्थ मित्र जानकी नाथ का कोपभाजन बनता है[1] । नाटककार ने इस कथा के द्वारा एकता के उच्च आदर्श को प्रस्तुत किया है तथा दोनों ही जातियों को समाजभय व झूठी[2] मर्यादा से ऊपर उठने का आदेश दिया है ।

८५. "देशदशा" का जान महम्मद व पत्नी शरीफा द्वारा सोहन की सहायता इसी एकता की प्रतिपादक है । एक क्षण के लिए भी पति का वियोग न सह सकने वाली यह नारी सहायता से भागे कर्तव्यच्युत पति को धिक्कारती ही नहीं वरन् इसके लिए स्वयं कटिबद्ध होती है । "एक भाई मुसीबत के पंजे में गिरफ्तार होकर कष्ट भोगता फिरे और दूसरा अपने फर्ज से गाफिल होकर ऐशो इशरत का भोग करे ?.... मैं जाऊंगी और सोहन की हर तरह से इमदाद कर हिन्दू-मुस्लिम की एकता का सबक दूंगी ।"[3]

८६. "हिन्दू की गाय" का सम्पूर्ण कथा कलेवर हिन्दू-मुस्लिम एकता के ताने-बाने से बुना है । एक ब्राह्मण द्वारा पालित यतीम बाला बानो नवाब सलीम की पत्नी है । हिन्दू परिवार में पोषण के कारण वह हिन्दू धर्म की पूजक है । हिन्दुओं के प्रति ईर्ष्यालु नवाब के क्रोध के उपरान्त भी वह अपने भाई गोपाल की गौशाला के लिए धन देती है । नियाज़ फकीर की अनन्य कृष्ण-भक्ति तथा कृष्ण का उसे दर्शन देना इन घटनाओं के द्वारा नाटककार ने नवाब की संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर उठाकर दोनों जातियों को एकता के सूत्र में बांध दिया है ।

१- "मुसलमां है जो हिन्दू है , जो हिन्दू है मुसलमां है ।
    हंगामा पर यह गुर बतला कि दोनों अर्थ एक सा है ।
                 अंक१, दृश्य२, पृ० ६
२-'श्रीमती मंजरी', अंक२, दृश्य४, पृ०७४
३- कन्हैयालाल "सब्बर" --"देशदशा", पृ० ६५

८७. आदर्श निरूपण के अतिरिक्त नाटककार ने समस्या की मूल कारणों को खोजने की चेष्टा की है। आधार रूप में जिस तत्व पर सर्वाधिक बल दिया गया है, वह है हिन्दुओं की अपनी निर्बलता व उनमें संगठन का अभाव। इसी विशृंखलता ने उन्हें सदैव विदेशी शक्तियों का गुलाम बनाया। "अन्य जातियां उनको एक समझ कर कुचलना चाहती हैं लेकिन पिटने और कुचले जाने के भय से एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। न वह मारने में एक है न मार खाने में एक।[१]" सम्भवत: मार का प्रतिरोध न करना ही हिन्दुओं का आदर्श है -- "जिस प्रकार मुसलमान हिन्दुओं को मारना पीटना और लूट लेना ही अपना मज़हब फर्ज समझते हैं उसी प्रकार मुसलमानों से पिट जाने और लूटे जाने को हिन्दू अपनी शान समझते हैं। किन्तु परस्पर मिल जाना और संगठित हो जाना बुरा ख्याल करते हैं।[२]"

८८. हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों को अछूत समझना,[३] मुसलमानों का उन्हें काफिर समझना[४] बलपूर्वक अपने धर्म में लाकर जन्नत के स्वप्न देखना, धर्म परिवर्तन[५] तथा पशुबल का प्रयोग आदि घटनाओं ने दोनों जातियों के मध्य ईर्ष्या और वैमनस्य के भाव उत्पन्न कर दिए। वे एक दूसरे को तुच्छ और हिकारत भरी निगाहों से देखने लगे। पीर पैगम्बरों ने धार्मिक ग्रन्थों की आड़ लेकर इस साम्प्रदायिकता को और उत्तेजना दी।[६] वर्तमान शिक्षा भी इसी उद्देश्य पूरक सिद्ध हुई।

१- बेबा -- "अछूती हिन्दू" अंक १, दृश्य ३, पृ० १४

२- ,, ,, ,, ,, ५ पृ० ३१

३- क्या आपने हिन्दू धर्म को इतना कमज़ोर समझा है कि एक मुसलमान भाई को छूने से ही वह नष्ट हो जाता है। अथवा एक मुस्लिम के साथ केवल एक जगह पर रहने से भ्रष्ट हो जाता है। -- तसव्वर -- "देशदशा" १।१।१५

४- "काफर है बेईमान हैं इसलाम के अदू
इसी से हिन्दुओं का सर क़लम करते हैं हम।
सताते हैं, रुलाते हैं, पाते हैं गर कहीं
गुस्से से इनके बच्चों को बेदम करते हैं हम।"
जगन्नारायण - "अकबर गौरक्षा" अंक १, पृ० २७

५- औरंगज़ेब-- "मगर हिन्दुओं ने भी अब तो काफी सरकशी अख्तियार कर ली है। मुल्लाओं की दाढ़ियां मुड़वाना पाक कुरान शरीफ को कुएं में डलवाना।......
फिरोज़खां-- यह भी आप ही का सबक है...... आप अगर जबरदस्ती हिन्दुओं को मुसलमान न बनाते, उनके वेदों को आग में न जलाते तो आज ये दिन कभी नज़र न आते।" -- वीर दुर्गादास ३।१।५६।

६- नवाब का पीर के प्रति कथन-- "दर हकीकत आप ही लोग इन दंगे व फसादों की जड़ हैं वरना नवाब हिन्दुओं को पागल कुत्ते ने नहीं काटा है जो वह आपसे खामख्वाह लड़ने आएंगे।" सुदर्शन सिंह -- वीर बन्दा वैरागी ३।१।५६

साम्प्रदायिक संघर्षों का इतिहास दुहराकर इसने सारे हृदयों में सोई हुई प्रतिहिंसा को जगा दिया और हम उन पूर्व घटित घटनाओं के लिए एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराकर उसका प्रतिकार लेने के लिए कटिबद्ध हो गए[1]। मुसलमान तथा कालान्तर में अंग्रेज शासनाधिकारियों ने अपने स्वार्थ के लिए दोनों जातियों में विष-बीज बोकर इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।[2]

८६. एक दूसरे के प्रति तुच्छ भाव[3] रखने के कारण ही यह वैमनस्य दोनों जातियों के स्वभाव का अनिवार्य अंग[4] हो गया। वे बिना स्थायी आधारों के संघर्ष के अवसर खोजने लगे। ये ही कारण है कि नाटक में ऐसी अनेक स्थितियाँ उपलब्ध हैं जहाँ कि नाटककारों ने बाजा बजाने,[5] रामलीला की शोभा यात्रा निकालने

१- `यह इस मौजूदह तालीम का कसूर है जिसने रहमदिल शाहों की तवारीखें न पढ़ाकर सिर्फ जालिमों के जुल्म का सबक पढ़ाया है। हरेक के दिल में जुल्म और नाइत्तफाकी के बीज को जमा दिया है।`

--दुर्गाप्रसाद गुप्त--`गरीब किसान` १।२।४

२- (अ) कबीर का सिकन्दर के प्रति कथन --

कभी हिन्दू को ऊँचा उठाकर मुसलमाँ को दबाते हो।
कभी इस्लाम को खुश कर उसे सर पर चढ़ाते हो।
कभी मिलने नहीं देते, दिलों में रंज लाते हो।
कि जिससे फूट पैदा हो, उसी रस्ते में जाते हो।`

-- मोहन--`भारत पुत्र` २।३।७३

(ब) न तो अपराध हिंदू का न कुछ मुस्लिम की गलती है।
परस्पर एकता को देखकर, विदेशी आँख जलती है।।

सुवर्णसिंह -- वीर दुर्गादास-- १।१।५

३- मेरा ख्याल है कि अगर सिर्फ हिन्दुओं के मन में मुसलमानों के खिलाफ या सिर्फ मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के खिलाफ बुराई न रहे तो झगड़े कम हो जायंगे। मगर दोनों ही दिल में एक दूसरे के खिलाफ या बुराई रखने से झगड़े जरूर होंगे।`

--महात्मागांधी--हिन्दुस्तान की समस्याएं,पृ० ६४

४- जैसा`--`अल्मी हिन्दू` अंक १,दृश्य ५, पृ० ६

५- रघुनाथ--` कहरें बजेगा... हाँ हाँ, हम देखेंगे कि कौन माई का लाल हमें बाजा बजाने से रोकता है। चलो भाइयो। बाजा जरूर बजाओ।--आरजू -- झाँसी की रानी, अंक२,दृश्य४,पृ० ६०

या मुहर्रम और रामलीला के एक साथ पड़ने के छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर भीषण साम्प्रदायिक दंगों का चित्रण किया है । समाधान रूप में परस्पर भाव सम्मान तथा ऐक्य की भावना पर बल दिया गया है । जब तक दोनों जातियों में हिन्दवासी होने का गर्व न हो यह एकता असम्भव है ।

गौरक्षा सम्बन्धी नाटक

६०. हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का दूसरा कारण था गऊ । हिन्दू जिस गऊ की रक्षा को अपना धर्म समझते हैं । मुसलमान उसी की कुर्बानी को अपना मज़हब । फलत: गौरक्षा को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में अनेक बार संघर्ष हुआ[१]। आलोच्य नाटककारों ने इस समस्या को अपने नाटकों में बराबर उठाया है और संघर्ष के दुर्दान्त चित्र प्रस्तुत किए हैं ।

६१. `दुर्गाप्रसाद गुप्त का `गौरक्षा`(१९२६) , पण्डित रामशरण आत्मानन्द का `हिन्दू की गाय`, पण्डित जगतनारायण का `अकबर गौरक्षा` (सं० १८६१) इसी समस्या से सम्बन्धित नाटक हैं जिसमें नाटककार ने गोवध की कुरीतियां , उसके जिम्मेदार पुरुष तथा मूल कारणों का अंकन किया है । `अकबर गौरक्षा` गोवध कुरीति के निवारणार्थ अकबर के ऐतिहासिक महाप्रयासों का अंकन है जिसके निर्माण में नाटककार ने ऐतिहासिक पुस्तकों के अतिरिक्त बहुत से प्राचीन कवियों की कविता आदि का सहारा लिया है । `गौरक्षा` नाटक हरिदास तथा उसकी पत्नी करुणा की अनन्य गोभक्ति का नाटकीय अंकन है जो गऊ के कारण जमींदार भीम सिंह के कोपभाजन बनते हैं, अपना सर्वस्व लुटा देते हैं किन्तु हिन्दू के घर में जन्म लेने तथा हिन्दू होने के कारण व माता तुल्य गौ को बेचने को तैयार नहीं[२]। समस्या के मूल को उठाने वाली कथा है चौपटानन्द की जो दान में मिली गाय को खिला सकने में अपनी असमर्थता के कारण उसे छोड़ देता है ।

१- दुर्गाप्रसाद गुप्त- `विश्वामित्र` १।३।२७(आ) `भारतवर्ष` २।५।८१

२- `गौरक्षा` अंक२,दृश्य१,पृ०४८ व अंक २,दृश्य१, पृ०५४ ।

कांजीहाउस के अधिकारी उसे कसाई के हाथ नीलाम कर देते हैं। ठीक अवसर पर परमानन्द पहुंचता है, किन्तु मज़हब का रंग समस्या को गम्भीर बना देता है। कसाई--"मज़हबके नाम पर एक लाख"-- परमानन्द सब सम्पत्ति को देकर गाय की रक्षा करता है।

६२. दान में मिली गायों को ब्राह्मणों द्वारा कसाई को बेच देना, मंहगाई के कारण उनका निर्वाह करने में ब्राह्मणों की असमर्थता, तथा दुर्बल क्षीण व असमर्थ गायों की व्यर्थता इस बुराई के मूल उत्पाद बताए गए हैं। नाटककार ने इन तथ्यों को बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण शैली में व्यंजित किया है[1]। इसके द्वारा नाटककारों ने विघटित होते हुए हिन्दू धर्म का खाका खींचा है।

ग्राम्य जीवन सम्बन्धी नाटक

६३. भारत एक कृषि प्रधान देश है। किसानों की समस्याएं गावों की समस्याएं हैं। आलोच्य नाटककारों का ध्यान इस समस्या की ओर भ गया किन्तु इसके अंकनके बहुत कम प्रयास किए गए। आग़ा साहब का "दुखिया भारत" (सं० १९८२), दुर्गाप्रसाद गुप्त का "गरीब किसान," राधेश्याम "कथावाचक" का 'महर्षि वाल्मीकि' (१९५१ वि०सं०) इस क्षेत्र के यत्किंचित् प्रयास हैं। इनके अतिरिक्त अन्य नाटककारों ने भी यत्र-तत्र इस तरह की झलकियां दी हैं। सामाजिक, सैर्न ऐतिहासिक तथा पौराणिक तीन कालों का इतिवृत्त लेकर चलने वाला "महर्षि वाल्मीकि" नाटक का केवल प्रथमांक प्रस्तुत समस्या से सम्बन्धित है, जिसमें पात्र रत्नाकर के द्वारा नाटककार ने कृषकों की दुर्दशा, रोगों के प्रकोप, निर्धनता के कोड़े, लगान न चुकाने पर घर की कुर्की, जमींदार की वासना पर अपनी पुत्रियों को होम न करने से उनके असह्य अत्याचार तथा पाशविकता के दमन-चक्र में भारत के ग़रीब किसान के जीवन का यथातथ्य अंकन प्रस्तुत किया है[2]।

१(अ) आनन्द -- "हिन्दू की गाय" अंक१, दृश्य ३, पृ० ११
(आ) दुर्गाप्रसाद गुप्त -- "गौरक्षा" अंक १, दृश्य ५, पृ० ७ ३३
(इ) जमनानारायण -- 'अबर गौरक्षा", पृ० १४६

२- कथावाचक -- "महर्षि वाल्मीकि, अंक१, पृ० २०

६४. "गरीब किसान" तथा "दुखिया भारत" में कृषकों की दुर्दशा[1] तथा ज़मींदारों के अत्याचारों का अंकन है। प्रथम प्रेमचन्द की "कर्मभूमि" का नाटकीय रूपान्तर है जिसमें रघु के पुत्र महावीर के चरित्र द्वारा नाटककार ने कृषकों में जागती नई चेतना को अभिव्यक्ति दी है। ज़मींदारों के अत्याचार सहने में ही कृषकों की दुर्दशा का अन्त नहीं होता वरन् वर्ष भर के परिश्रम से अर्जित उसकी सारी सम्पत्ति ताल्लुकेदारों, ज़मींदारों, अंग्रेज पदाधिकारियों के पट्टेदारों, अमलों तथा सेवकों की भेंट हो जाती है[2]। इसके उपरान्त भी उसकी स्थिति[3] में कोई अन्तर नहीं आता। वह सदैव उनकी घुड़कियों का शिकार रहता है।

प्रहसन
-----

६५. नाटक में हास्य की योजना आदिकाल से ही होती आई है। उस समय दृश्यकाव्यों में हास्य विधान प्रधानतः दो रूपों में था-- प्रथम विदूषक की योजना द्वारा, उसकी हास्य जनक आंगिक चेष्टाओं, पेटूपन की प्रवृत्ति व असंगत उक्तियों के द्वारा[4] तथा दूसरा प्रहसन की परिस्थितियों में जिसकी आत्मा भाव है। मात्र मनोरंजन ही नहीं, वरन् सामाजिक चेतना जिसका मूल प्रतिपाद्य है। मूल कथा की गम्भीरता से सामाजिकों को बीच-बीच में उन्मुक्त करके उनका मनोरंजन तथा अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि वह मूल तत्व है, जिसकी प्रेरणा पर नाटकों में हास्य की योजना अथवा हास्यास्पद दृश्यों का विधान किया जाता है। इस सम्बन्ध में आंग्ल नाटककार ड्राइडन का मत है --" निरन्तर गम्भीरता हमारे मस्तिष्क पर अत्यधिक दबाव डाले रहती है। हमें उसे बीच-बीच में स्वस्थ बना लेना चाहिए। जिस प्रकार यात्रा में हम बीच बीच में रुक जाते हैं। करुणाभिश्रित हास्य हमारे

४-५- धनञ्जय का मत --
(अ) विकृताकृति वाग्विशेषैरात्मनोऽथ परस्य वा
हासः स्यात परिपोषोऽस्य हास्यास्त्रिः प्रकृतिस्मृतः ।" (दशरूपक ४प्रकाश,पृ०७५)
(आ) विकृताकार वाग्वेष चेष्टादेः कुहकाद् भवेत्
हास्यो हास स्थायिभावः श्वेतः प्रमथ दैवतः । (साहित्य दर्पण,परि०३,पृ०२१४)
१-मन से बिछुड़े मारवाड़ी का कथन-- "हाय जो हल चलाकर, रक्त को पानी बनाकर, कड़ी धूप और कठिन बरसात की पुकार में अन्न उत्पन्न करते हैं उनके पसीने की कमाई से विदेशी हलवाई खा रहे हैं।"-दुखिया भारत-दशरूपक,अंक१,दृश्य२,पृ०३०। २-गरीब किसान अंक १,दृश्य१,पृ०५१। ३-अमनीप्रसाद मेहरा पंजाब केसरी ,,९ ,,५ ,,४६

और ऊपर उसी प्रकार प्रभाव डालता है, जिस प्रकार अंकों के बीच संगीत का विधान जिसमें सी लम्बी कथावस्तु तथा कथोपकथन में चाहे वह अत्यन्त ही विशिष्ट हो तथा उसकी भाषा अत्यन्त सजीव हो विश्रान्ति सी मिलती है।[1]

६६. इस दृष्टि से आलोच्यकालीन नाटकों की हास्य योजना पर विचार करने से निराशा ही अधिक मिलेगी। वहां मस्तिष्क को मूल कथा की गम्भीरता से विश्रान्ति देने के साधन रूप में नहीं वरन् साध्य के रूप में हास्य कथाओं का विधान किया गया है जिनका आधिकारिक कथा के समान अपना उद्देश्य और प्रयोजन है। वे मूल कथा के उद्देश्य को प्रभावपूर्ण और प्रेरित करने वाली नहीं, वरन् उससे पूर्णत: वियुक्त स्वतन्त्र कथाएं हैं। इसी विशृंखलता के कारण ये कथाएं हिन्दी के विद्वत् समीक्षकों की कटु आलोचना का शिकार बनीं। डा० श्रीकृष्ण लाल तथा डा० वेदपाल खन्ना ने लगभग समान विचारों को व्यक्त किया है। उनके अनुसार १६ वीं शताब्दी का हास्य अशिष्ट, भद्दा और अश्लील था ही २०वीं शताब्दी के दो कथानकों की परम्परा में रखे हुए गए गौण व हास्योत्पादक कथानक भी बड़े भद्दे और कुरुचिपूर्ण होते थे[2]। डा० सोमनाथ गुप्त और श्रीकृष्णदास ने लगभग समान शब्दों में इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उनके अनुसार कुरुचि उत्पन्न करने में ये कॉमिक ही सबसे अधिक उत्तरदायी हैं। उनमें प्राय: निम्न श्रेणी की बातें होती हैं।[3] डा० उपाध्याय के अनुसार मूल कथा से पूर्णत: भिन्न ये कॉमिक हास, उपहास द्वारा सामाजिक जीवन की समस्याएं प्रस्तुत करते थे, किन्तु यह प्रस्तुतिकरण बड़ा अश्लील, स्थूल एवं कुरुचिपूर्ण रहता था।[4] रामनाथ लाल सुमन तथा श्री जी०पी० श्रीवास्तव ने पारसी रंगमंचीय नाटकों के हास्य को भद्दा अशिष्ट तथा कुरुचि और

१- भानुदेव शुक्ल-- भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य, १९६२, पृ० १४५

२-(अ) डा० श्रीकृष्णलाल-- हिन्दी साहित्य का विकास, तृ०सं०, १९५२, पृ० २१३

(आ) डा० वेदपाल खन्ना-हिन्दी नाटकों का समालोचनात्मक अध्ययन, १९५६, पृ० ७७

३-(अ) श्रीकृष्णदास--"हमारी नाट्य परम्परा", प्र०सं०, पृ० ६१४

(आ) डा० सोमनाथ गुप्त--"हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, तृ०सं०, १९५१, पृ० १५२-३।

४- डा० रणधीर उपाध्याय--"हिन्दी और गुजराती नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन" प्रथम संस्करण, १९६६, पृ० ३१८।

परिष्कार विहीन कहा है[1]। मक्खूलाल जी के अनुसार पारसी नाटकों के सस्तेपन का एक ही आधार हो सकता है और वह है इन नाटकों के कॉमिकों में प्रयुक्त सस्ता एवं भौंडा हास्य जिसका उद्देश्य सामाजिकों को रस स्थिति में ले जाना इतना नहीं जितना उसको कुछ देर के लिए हंसाना या मनोरंजन करना रहा है"।[2]

83. इन समीक्षाओं में सत्य का अंश है किन्तु वह एकांगी है। 1900 के पूर्व के नाटकों पर ये धारणाएं अधिक अवलम्बित प्रतीत होती हैं। क्योंकि 20वीं शताब्दी में हास्य की योजना काफी व्यवस्थित हो गई थी। आगा साहब काश्मीरी ने शेक्सपियर के नाटकों के प्रभाव में अपने नाटकों में सर्वप्रथम दो स्वतन्त्र कथानकों का विधान किया किन्तु जिस परम्परा का उन्होंने सूत्रपात किया वह आगे नारायण प्रसाद 'बेताब' के प्रयासों से समाप्त हो गई। दो विभिन्न काव्यों के कथानकों को रखकर नाटक की क्रमविश्रृंखलता, रस सिद्धता और उद्देश्य सिद्धि में आघात पहुंचाने के स्थान पर "बेताब" जी ने मुख्य गम्भीर कथानक में ही हास्य को उचित स्थान दिया। अपने 'रामायण', 'महाभारत' आदि नाटकों में हास्य के केवल उन्हीं प्रसंगों को उन्होंने चुना जो मूल ग्रन्थ में आए हैं। "तालिब" ने "सत्य हरिश्चन्द्र" में विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र द्वारा तथा आगा हश्र ने "भीष्म प्रतिज्ञा" में राजा शाल्व के सभासदों द्वारा हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है। उनका "सीता वनवास" भी ऐसा ही नाटक है, जिसमें स्वतन्त्र रूप से कोई हास्य कथा नहीं है। लवकुश का वाग्वैदग्ध्य और मीठी चुटकियां दर्शकों के हृदय में फुलझड़ियां छोड़ती हैं। वस्तुतः अब हास्य और व्यंग्य का पुट मूल कथानक के पात्रों के संवादों, क्रियाओं और प्रसंगों आदि में दिया जाने लगा था। 20 वीं शताब्दी में हास्य का विधान दो रूपों में किया गया है —
(1) प्रारम्भिक स्थिति में गौण कथानकों की योजना द्वारा (2) तथा उत्तरवर्ती काल में मूल कथा को ही किसी पात्र द्वारा।

1-(अ) रामनाथ लाल "सुमन" - "हमारे नाटक और उनका अभिनय" सुधा, वर्ष 5, खण्ड 1 1933।
(आ) बरसानेलाल चतुर्वेदी - हिन्दी नाटकों में हास्य रस - हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, पू0सं0, 1957-पृ 053

2- श्री मक्खूलाल बुल्लाकिया -- "बेताब" युग की क्यों ?" -- श्री नाट्यम पत्रिका" वर्ष 5, अंक 5, 1966, पृ0 20

९८. ऊपर जिन विद्वानों ने रंगमंचीय हास्य कथा की आलोचना की है उनमें से अधिकांश समीक्षकों ने उनकी सामाजिक चेतना को स्वीकार किया है। बहु विवाह,वेश्यावृत्ति ,जुआ,मद्यपान, बाल विवाह, स्त्रियों की हीन दशा, अविद्या, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावान्तर्गत खान-पान और आचार विहीनता,अंग्रेजी शिक्षा और फैशन के कुत्सित प्रभाव,धार्मिक कर्मकाण्डों ,पुरोहित-पण्डितों तथा ज्योतिषियों का आधिपत्य,स्वार्थपूर्ण दान आदि समाज के कुत्सित और कुरूप रूपों को लेकर ये हास्य कथाएं रची गई है। बुराइयों पर व्यंग्य प्रहार करके सामाजिकों के मन में उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न करना नाटककारों का प्रधान लक्ष्य रहा है। वस्तुत: समाज से बुराइयों का उन्मूलन करने में हास्य सदैव ही सचेत,जागरूक सैनिक प्रहरी रहा है। उपदेश शुष्क होने के कारण जो कार्य नहीं कर सकता वह हास्य के लिए सहज सम्भव है , क्योंकि उपदेशों से उद्भूत उपेक्षा और तिरस्कार की भावना के स्थान पर हास्य में लज्जित करने की शक्ति है। मल्यूवे, होरैस,ड्राइडेन ने इसे सुधार का शस्त्र माना है[1]। श्री जी०पी० श्रीवास्तव के अनुसार बुराई रूपी पापों के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा गंगाजल नहीं है। केवल मनुष्य ही नहीं,वरन् यह धर्म और समाज को सुधारने वाला है। यही कारण है कि फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने हास्य के उस विभाग की पुष्टि की है, जिसके पीछे सामयिकता की झलक हो।

९९. रंगमंचीय नाटकों में सामाजिकता का आग्रह अंग्रेजी नाटकों के प्रभाव के फलस्वरूप था। कहा जा चुका है कि रंगमंचीय नाटकों के उद्भव और विकास में अंग्रेजी नाटकों का महत्वपूर्णयोग रहा है। पाश्चात्य कॉमेडी के अनुकरण में नाटककारों ने समाज के निन्दनीय पक्षों की ओर दृष्टिपात किया। अन्यथा संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रहसन का मुख्य उद्देश्य हास्य विनोद की सृष्टि है। सामाजिक यथार्थवाद के लिए उसमें कोई भी स्थान नहीं।

१००. यह प्रभाव सीधा नहीं आया। नाटककारों ने मराठी नाटक कम्पनियों के हास्य अभिनयों से इस प्रभाव को ग्रहण किया। १९ वीं या

१- श्याम मुरारी अग्रवाल-- जी०पी० श्रीवास्तव की कृतियों में हास्य विनोद १९६३,पृ० २७ ।

२० वीं शताब्दी की हास्य कथाएं ही सामाजिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है । यदि रंगमंचीय नाटक कम्पनियों के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होगा कि कॉमिकों का सूत्रपात ही सामाजिकता के क्रोड़ से हुआ है । उस परम्परा का पहला कॉमिक "श्रीमन्त" था जो २६ नवम्बर १८५३ को "राजा गोपीचंद व जलंधर" के बाद "बाम्बे प्ले हाउस" में दिखाया गया । शनिवार ६ मई १८५४ को 'शियावक्ष' के उपरान्त 'तीसे खां शमशेर बहादुर' प्रस्तुत किया गया । पारसी ड्रामेटिक कोर ने "३ जून १८५४ को "काजी मियां नाटक" के दूसरे प्रयोग के उपरान्त 'कलालखाना' का कॉमिक दिखलाया । १६ दिसम्बर १८५४ को 'अलाउद्दीन और बाबू जुले खां' के उपरान्त 'पठाण सफरैज और गुल्लू' का पन्द्रह मिनट का कॉमिक प्रस्तुत किया गया । सन् १८५८ में जब गदर से शान्ति मिली तो 'फिरंगी और हिन्दुस्तानी सर्की हुकूमत' के उपरान्त " बूढ़े खुशहाल की दावत " कॉमिक हुआ । इस अन्तराल में बाम्बे थियेटर बन्द रहा । सन् १८५८ के बाद "घनजीगरक" , "तिरीखम सखाराम ", गीली रात्रि", माटिया की नकल', कपूरचन्द मालाचन्द', घाटी बेराकेस', ७ ६५ साला दूल्हा और १२ साला दुल्हन" आदि अनेक कॉमिक उपलब्ध होते है । रंगमंचीय कम्पनियों के इतिहास सम्बन्धी अध्याय में अभिनयों के सब साथ प्राप्य हास्य कथाओं कम्पनियों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है । पारसी नाटक मण्डलियां अपने इन कॉमिकों की योजना किसी विशिष्ट उद्देश्य को दृष्टि में रखकर करती थीं । बहुधा समाज के किसी व्यक्ति को उठाकर ये कॉमिक दिखाए जाते थे जिसमें उसका यथार्थ चित्र रहता था । जिस व्यक्ति का कॉमिक दिखाया जाता वह कम्पनी को बड़ा लालच देता था , किन्तु आदर्श के प्रति निष्ठावान कम्पनी मालिक कभी प्रलोभन में नहीं आए ।

१०१. रंगमंचीय नाटकों की प्रारम्भिक स्थिति में ये कामिक प्रायः अभिनय के अन्त में दिखाए जाते थे । सन् १८८५ तक यही परम्परा रही । किन्तु १८९५ से नाटककार नाटक के साथ कॉमिक लिखने लगे । इन हास्य कथाओं के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे किसी विशिष्ट नाटक के साथ सम्बद्ध नहीं थे । जो भी कॉमिक सफल सिद्ध हुए वे अनेक नाटकों के साथ जुड़ गए । उर्दू थियेटर के लेखक डा० नामी ने एक कम्पनी के पास ऐसे तैंतीस कॉमिकों का उल्लेख

१-डा० अब्दुल अलीम नामी - उर्दू थियेटर, भाग१, प्र०सं०, १९६२, पृ० ३२८

किया है जो आवश्यकतानुसार समय-समय पर स्टेज होते थे । जनता गम्भीर कथानकों से हास्यमय कथानकों को अधिक पसंद करती थी । यही कारण है कि हिन्दी नाटकों के रंगमंच पर प्रवेश के समय न केवल एक ही प्रहसन कई नाटकों के साथ संयुक्त मिलता है वरन् इन हास्य कथाओं की लोकप्रियता के प्रभावान्तर्गत वे नाटककार जो स्वयं हास्य-पूर्ण कथानकों की सृष्टि नहीं कर सकते थे वे किसी दूसरे से प्रहसन लिखाकर नाटक के साथ जोड़ने लगे । उदाहरण के लिए श्री नन्दकिशोर लाल वर्मा ने `अपने महात्मा विदुर` नाटक में शिवनारायण सिंह रचित `कलियुगी साधु` प्रहसन रखा है । यही तथ्य है कि मूल कथा और हास्य कथा में न केवल उद्देश्य की विभिन्नता आ गई,वरन् काल सीमा का वैविध्य भी कम नहीं हुआ । नाटक किसी दूसरे जमाने का है और हास्य कथा वर्तमान युग की है । सामाजिक नाटकों में यह वैषम्य उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अपने मूल रूप में दोनों ही कथाएं सामाजिक चेतना में सम्पन्न हैं । पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के कलात्मक रूप और प्रभावान्विति को उससे अवश्य बहुत क्षति पहुंची है ।

१०२, ऐतिहासिक नाटकों में जमनाप्रसाद मेहरा के `बसन्त` प्रभा उर्फ एक पैसा` में सूदखोर महाजन को मेहनत मजदूरी और ईमानदारी की शिक्षा देने के लिए मोची राम की कथा, दुर्गाप्रसाद गुप्त के `हम्मीर हठ` में कलियुगी साधुओं की पोल व ठगी प्रवृत्ति से सम्बन्धित गोबर गणेश का प्रहसन, रामशरण आत्मानन्द के `बालक भोज` में बैफिक्री व कृपणों की दुर्दशा से सम्बन्धित मिसरी, विदूषक व पुत्र भोज की अल्हड़ता के `नारी हृदय` में अंडल-बंडल विदूषकों की कथा, `तसव्वर` के `सम्राट अशोक` में मोहन व चंचल,तथा मनसुखलाल मोजलिया के `रणबांकुरा चौहान` में रमेश,वरुण व वेश्या मदन सुन्दरी की मूल से पृथक हास्य कथाएं हैं,जिनमें आधिकारिक कथा के ऐतिहासिक वातावरण की अपेक्षा वर्तमान समाज से सम्बन्धित समस्याओं का हास्य व व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रतिपादन किया गया है । लेकिन यही अच्छा है कि ऐतिहासिक रचनाओं में इस प्रकार के प्रयास अधिक नहीं किए गए । अधिकांशतः उपकथाओं की योजना की गई है जो मूल के उद्देश्य की प्रेरक है । केवल कुछ ही नाटकों में कॉमिक रखे गये हैं । `तसव्वर`,शिवरामदास गुप्त,व हरिशरण श्रीवास्तव `मराल` ने अपने `वीर राजबाला`,`देश का दुर्दिन` व `पृथ्वीराज किंवा चौहान चरित्र` में हास्य को मूल के उद्देश्यानुसार संगुम्फित करने की सुन्दर चेष्टा की है ।

१०३. पौराणिक नाटक इस दृष्टि से अधिक आलोचना के विषय है । अधिकांश पौराणिक रंगमंचीय नाटककारों ने अपनी हास्य कथा को मूल से पृथक् रखा है । 'कथावाचक' जी के 'वीर अभिमन्यु' में सुन्दरी और उसके पति राजबहादुर की, 'भक्त प्रह्लाद' में नाम और दौलत की श्रेष्ठता के वादाविवाद को लेकर अप्रसरित लोभीराम और चंचला की, 'ईश्वर भक्ति' में घंटाकरण की जिसके लिए धन ईश्वर कुछ है, बलदेव प्रसाद खरे के 'सत्यनारायण' में लम्पट पण्डित सौभाग्यचन्द और उसके शिष्य धुरन्धर और कुन्नू की, 'सम्राट परीक्षित' में नाटकबाजी के दोष दिखाने के लिए फक्कड़शाह, धींगड़मल आदि मारवाड़ी पात्रों की कथा, कपूर के 'परीक्षित' में भोला व पत्नी चन्द्रकला की कहानी जिसमें भोला मिश्र द्वारा पुस्तक की चन्द्रकला नायिका की करतूतों की कहानी सुनकर अपनी पत्नी पर सन्देह करता है, आत्मानन्द के 'गणेश जन्म' में आज के ढोंगी साधुओं का पर्दाफाश करके अंधविश्वासों को ठोकर लगाने के लिए धूर्त मण्डली के गुरु फक्कड़ व संतान की अभिलाषा से उनके फंदे में पड़े मोहन और उसकी पत्नी कला की, गुप्त के 'विश्वामित्र' में मानवीय सम्बन्धों को विच्छिन्न करने वाले भगवानदास वकील की, आरजू के 'ऊषा अनिरुद्ध' में पुनर्विवाह और विधवा समस्या पर आधारित राधे और गोमती की हास्य कथाएं हैं । नाटककार ने कहीं भी मूल से सम्पृक्त करने की चेष्टा न नहीं की । कपूर के 'अज्ञातवास' व 'स्वरत' के सम्पृक्त- ~~करने की चेष्टा नहीं की । कपूर के~~ 'सावित्री सत्यवान' में हास्य कथा के द्वारा मूल के उद्देश्य को प्रेरित करने के प्रयास मिलते हैं, किन्तु पौराणिक नाट्य कृतियों की संख्या की दृष्टि से वे बड़े ही नगण्य हैं ।

१०४. सामाजिक नाटकों में तो तत्युगीन समाज से संबंधित प्रहसन हैं ही। यह अवश्य है कि समस्या के उसी पहलू को नहीं उठाया गया, जिसका आधिकारिक कथा में प्रतिपादन है । इन प्रहसनों का विवरण रंगमंचीय नाटकों की कथावस्तु के विवेचन में किया जा चुका है ।

१०५. यह जानते हुए भी कि इन हास्य कथाओं की योजना से उनकी कृतियों के कलात्मक सौन्दर्य को क्षति पहुंचेगी नाटककार ने उन्हें महत्व क्यों दिया ? मुख्य कारण है जनता की मांग व कम्पनियों के व्यापारिक होने के कारण अर्थ लाभ की प्रधानता । कथावस्तु के चयन के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि जनता

का बड़ा भाग इन हास्य कथाओं के प्रति अनुरक्त था । कम्पनी मालिकों को भी इससे लाभ था । हास्य कथाओं को बढ़ाकर वे सवीलि सेट के निर्माण से बच जाते थे । एक दृश्य के समाप्त होने पर दूसरे को रंगमंच पर जमाने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता था । सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन हास्य कथाओं में जनता इतनी निमज्जित हो जाती थी कि मुख्य कथानक की समीक्षा की ओर उसकी दृष्टि जाती ही न थी । फलत: कम्पनी मालिक अपने नाटकों की कलागत कमियों की आलोचना से बच गए । उन्होंने जो कुछ दिया जाता उसी से सन्तुष्ट हो गई । जहां तक नाटककारों के दोष का प्रश्न है वह इसी से स्पष्ट है कि आगा हश्र हास्य के क्षेत्र में दुहरे कथानकों की परम्परा का सूत्रपात करके भी उससे असन्तुष्ट थे । मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपनी अभिलाषा व्यक्त की थी कि उनके बाद उनके नाटकों से ये हास्य कथाएं अलग कर दी जाएं । इस अभिव्यक्ति के पीछे नाटककार के हृदय की वह सौन्दर्य चेतना है जो इन हास्य कथाओं के कारण नष्ट हो रही थी । कम्पनी मालिकों के प्रतिबन्ध ही नाटककारों की सौंदर्य चेतना को प्रतिबन्धित कर रहे थे ।

रंगमंचीय नाटकों का वस्तु शिल्प

१०६. नाटक साहित्य का अनिवार्य अंग है जहां सौन्दर्य और रस तत्व की प्रधानता है । अत: विषय सामग्री के ग्रहण से अधिक महत्वपूर्ण पक्ष उसके विन्यास और प्रतिपादन शैली का है । नाटक के वस्तु-चयन में नाटककार से जिस सूक्ष्म यथार्थ और संवेदनीय दृष्टि की वांछा है, उसके साथ ही उससे इस बात की भी आशा की जाती है कि वह वस्तु का शिल्प विन्यास इस कुशलता से करेगा जिसमें वस्तु का अभीष्ट और पात्रों का चरित्र अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो । वस्तु सत्य तो यह है कि नाटक में घटनाओं का होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि उन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर उसकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण कर लेना है[१]। नाटक की कथावस्तु के दो रूप हैं --१-घटनाओं का चयन व २- घटनाओं का संकलन । प्रथम पक्ष से संबंधित रंगमंचीय नाटकों की विवेचना ऊपर की जा चुकी है, यहां केवल उसके शिल्प विन्यास पर विचार वांछित है ।

१- रामकुमार वर्मा -- "रेशमी टाई" -- नाटक की भूमिका, पृ० ६-७

१०७. भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य आचार्यों ने शिल्प विधान के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की है, परन्तु ऊपर कहा जा चुका है कि रंगमंचीय नाटककारों ने इसमें से किसी का भी सर्वांगपूर्ण अनुकरण नहीं किया। उनकी अपनी नाट्य विधाएं व नाट्य रूढ़ियाँ थीं जो व्यापारिक मनोवृत्तियों के फलस्वरूप जनता की परिवर्तित अभिरुचियों के अनुसार निर्धारित एवं निरूपित होती थीं। फिर भी उनमें भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य शिल्प की अपूर्ण प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।

१०८. सभी नाटकों का आरम्भ ईश स्तुति, वन्दना अथवा कोरस से होता है। यह वस्तुत: संस्कृत के नान्दी का प्रतिरूप है। नान्दी एक धार्मिक व्यवस्था थी जिसमें किसी देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए सूत्रधार स्तुति पाठ करता है। इसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं। आलोच्य नाटककारों ने अधिकांशत: गीतों में मंगलाचरण किया है।

१०९. नान्दी के पश्चात् पूर्व रंग की दूसरी प्रमुख क्रिया प्रस्तावना है। इसके द्वारा नाटककार अपनी विषयवस्तु एवं पात्रों के सम्बन्ध में सूचना देता है। डा० श्रीकृष्णलाल ने प्रस्तावना की दो उपयोगिताएं मानी हैं -- नाटककार का परिचय एवं नाटक के मुख्य विषय का ज्ञान। इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए डा० गोपीनाथ तिवारी ने अपने आलोच्य ग्रन्थ में प्रस्तावना के पांच अंगों का विवेचन किया है -- मंगलाचरण, प्रस्ताव, सुझाव, परिचय और अन्त। अधिकांश रंगमंचीय नाटकों में प्रस्तावना की ये पांचों दशाएं उपलब्ध हैं। मंगलाचरण के बाद सूत्रधार रंगमंच पर आता है व दर्शक सभा को देखकर किसी ऐसे नाटक का प्रस्ताव करता है। जो मनोरंजक हो। साथ ही नाट्यकला के ह्रास व उनकी उद्देश्यहीनता पर पश्चाताप करते हुए वह उनके प्रतिरोध में सुरुचि सम्पन्न और शिष्ट नाटक का विचार रखता है। तदुपरान्त नर्तकी नटी जो कि सूत्रधार के साथ वार्तालाप करते हुए ही रंगमंच पर आती है उस समय के अभिनेय नाटक का सुझाव रखती है। सुझाव के अनन्तर नाटक और नाटककार का परिचय दिया जाता है। पूर्व नाटकों के सापेक्ष में प्रस्तुत नाटक की विशेषताओं के उद्घाटन के साथ कभी-कभी नाटकीय कथा का व संक्षेप भी बता दिया जाता है। अन्त में अभिनय का आदेश देकर प्रस्तावना का अन्त कर दिया गया है लेकिन कुछ नाटकों में इस प्रकार की प्रस्तावना का विधान नहीं है। "बेताब" के

`हमारी भूल` में मंगलाचरण के उपरान्त स्त्रियों की सभा का दृश्य है। आगा हश्र के `सीता वनवास` में भी ईशस्तुति के बाद अयोध्या के सौन्दर्य वर्णन से नाटक का प्रारम्भ हो जाता है। यह भी एक प्रकार की प्रस्तावना ही है, क्योंकि उससे नाटक का विषय स्पष्ट होता है।

११०. आलोच्य नाटकों की विषय वस्तु अंकों और दृश्यों में विभाजित है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इस दृष्टि से सात अंकों का विधान है जो पर्याप्त लम्बे होते थे। रस तत्व को महत्त्व देने के कारण वहां दृश्यों की योजना नहीं है। रसोद्रेक के लिए आवश्यक है कि दृश्य शीघ्र परिवर्तित न हों क्योंकि उससे किसी स्थायी भाव के आस्वादन में आघात पड़ता है। रंगमंचीय नाटकों में कथानक के सौन्दर्य और वैचित्र्य की प्रधानता कम की गई है। अत: वहां शीघ्र दृश्य परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। अद्भुत व अलौकिक दृश्य प्रस्तुत नाटकों की प्रधान विशेषता है। यही कारण है कि अंकों के बीच दृश्यों का इच्छानुसार विधान तो किया ही गया है, एक ही दृश्य के मध्य नाटककार ने कई चमत्कारी दृश्यों की योजना की है। आगे रंगमंच सम्बन्धी अध्याय में उसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

१११. अंक-निर्धारण के सम्बन्ध में नाटककार भारतीय नाट्यशास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य नाट्य विचारों के अधिक निकट हैं। अधिकांश नाटकों में तीन अंकों की योजना है। कथावस्तु के मुख्य तीन अंग होते हैं अत: तीन अंकों का विधान पूर्णत: समीचीन है। नाटक का वातावरण, कथा का आरम्भ प्रथमांक में, व कथा का क्रमिक विकास, संक्रान्ति और संक्रमण बिन्दु द्वितीयांक में, व कथा का अन्त तृतीयांक में रखा जाता है। आलोच्य नाटककारों ने इस प्रथा का अनुसरण नहीं किया। उनका यह अंक विभाजन दृश्य विभाजन के समान उनकी अपनी इच्छा से अभिप्रेरित है। किसी निश्चित नियम-पालन के स्थानपर नाटककारों की जब जैसी इच्छा हुई अपनी कथा को तदानुसार अंकों में विभाजित कर दिया। दृश्यों की संख्या भी उनकी अपनी इच्छानुसार है। `बेताब` के नाटकों के विवेचन से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

११२. `बेताब` जी का `महाभारत` तीन अंकी नाटक है। प्रथमांक में ४, द्वितीयांक में १७, व तृतीयांक में ६ दृश्य हैं। इनमें से तीन दृश्य बेता चमार की

कथा से ४ ६ सतीगौर्या की कथा से संबंधित है। `रामायण` के प्रथमांक में प्रस्तावना के अतिरिक्त ६,द्वितीयांक में १२, तृतीयांक में ७ प्रवेश हैं। अंक २ प्रवेश ६ का पंचवटी का दृश्य, अंक २ प्रवेश ६ का अशोक वाटिका का, व अंक ३ प्रवेश ४ का सुलोचना के महल का व कटी भुजा के प्रसंग दृश्य प्रसंग है। `पत्नी प्रताप` के प्रथमांक में प्रस्तावना के अतिरिक्त ८ द्वितीयांक में ८ व तृतीयांक में ६ प्रवेश हैं। नाटक का प्रथमांक अत्यधिक लम्बा है व अभिनय का अधिकांश समय उसी में व्यय हो जाता है। द्वितीयांक के सभी दृश्य छोटे हैं। तृतीयांक में कथावस्तु सिमटती हुई दत्तात्रेय के जन्म पर समाप्त हो जाती है। `कृष्ण सुदामा` के प्रथमांक में ८,द्वितीयांक में ६,व तृतीयांक में ५ दृश्य हैं। नाटक में प्रस्तावना नहीं दी गई। `गणेश जन्म` ४ अंकी नाटक है। प्रथमांक में ६ दृश्य हैं जिसमें ४,६,७ हास्य कथा से सम्बन्धित हैं। द्वितीयांक में दो, पहले में पार्वती तपस्या व परीक्षा, दूसरे में शिव समाधि भंग, तृतीयांक में ७ व चतुर्थ अंक में १० दृश्य हैं। १०वां नाटक का मूल दृश्य है जो भरतवाक्य के रूप में है। नाटक के प्रथम व द्वितीयांक में आधिकारिक कथा को सुसंगठित रूप से प्रस्तुत किया गया है। तीसरे में शिव विवाह, कार्तिक जन्म व तारकासुर वध की कथाएं हैं। चतुर्थ में नारद अहम् भंग, गणेश जन्म, गणेश पुनर्जन्म तथा विवाह का समावेश है। तीन अंकी समाज के प्रथमांक में ६, द्वितीयांक में ८ व तृतीयांक में ६ दृश्य हैं। पौराणिक नाटक `सीतावनवास` भी `गणेश जन्म` के समान चार अंकी नाटक है। प्रथमांक में ८ दृश्य हैं जिनमें आगे आने वाली सभी घटनाओं का बीजारोपण हो जाता है। द्वितीयांक में २, वाल्मीकि आश्रम तथा लवकुश की कथा के, व तृतीयांक में ६ ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु, शम्बूक वध, दण्डकारण्य में अदृश्य सीता व राम का मिलन, अश्व के कारण युद्ध, लक्ष्मण की अश्व सौंपना, चतुर्थ में कनक मूर्ति, यज्ञशाला के पास सीता का आगमन, उनका भूमि में समा जाना आदि से सम्बन्धित चार दृश्य हैं। त्रिलोक में रावण की साक्षी सीता के चरित्र की उदात्तता पर नाटक की समाप्ति होती है। `हमारी भूल` तीन अंकी संक्षिप्त सामाजिक नाटक है। प्रथमांक में ६ व द्वितीयांक में ६ दृश्य हैं जिनमें सातवां व नवां दृश्य `कसौटी` नाटक के तृतीयांक के तृतीय व पंचम दृश्य का लगभग अनुवाद है। तीसरे अंक में ६ दृश्य हैं जिनमें न्यायालय का चौथा दृश्य `कसौटी` के पांचवें दृश्य के अन्तर्गत समा जाता है।

११३. मूर्धन्य रंगमंचीय नाटककार "बेताब" जी की कृतियों के इस अध्ययन से स्पष्ट है कि अंकों और दृश्यों के निर्धारण में नाटककारों ने पूर्णतः स्वेच्छा से कार्य लिया है। कथा के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रत्येक अंक में क्रमानुसार दृश्य कम होते जाएं किन्तु उनके नाटकों में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। डा० श्रीकृष्णलाल ने तो यहां तक कहा है कि ये नाटककार यह भी निश्चय नहीं कर पाते थे कि कौन सा दृश्य प्रधान है और कौन सा गौण। वे कितने ही गौण दृश्यों को अधिक प्रधानता देकर विस्तारपूर्वक चित्रित करते और कितने ही प्रधान दृश्यों का केवल संकेत मात्र कर देते थे। यह स्थिति केवल पूर्ववर्ती रचनाओं में ही उपलब्ध है। "बेताब" कथावाचक व राधेश्याम जी की रचनाओं में केवल कुछ मुख्य प्रसंग छूटे हुए अथवा चलते हुए अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति अधिक नहीं है।

११४. रंगमंचीय नाटकों की कथावस्तु के विवेचन में अधिकांश समीक्षकों द्वारा सनसनीखेज और कौतूहल जनक कथानकों के उपयोग, अस्वाभाविक कार्य व्यापार, घटनाओं की बहुलता, समता व विषमता के प्रतिपादनार्थ उप कथाओं की योजना, व किसी प्रकार से सम्बद्ध व असम्बद्ध हास्य कथाओं के उपयोग की चर्चा की गई है।[1] इसमें कोई अतिरंजना नहीं कि कौतूहल और चमत्कारिक घटना प्रसंग पारसी रंगमंच का प्राण रहा है जो कि मंचस्थ होने पर उनके दृश्यों की सम्पूर्णता के कारण और भी उभर कर सामने आता है। कौतूहल और चमत्कारिता के साथ अस्वाभाविकता स्वयं सम्पृक्त है। यह सहज सिद्ध है कि अलौकिक और कौतूहल जनक कार्य व्यापार कभी स्वाभाविक नहीं होंगे। नाटकों की दृष्टि से यह आरम्भिक काल था व शेक्सपियर तथा कुछ अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाट्यानुकृतियों के अतिरिक्त नाटककारों के समक्ष कोई नाटकीय आदर्श न था। नाटककार स्वयं भी प्रस्तुत कथा घटना की सम्पूर्णता, प्रमाणिकता और समर्थता से अनभिज्ञ थे। पुराण प्रसिद्ध व

१-(अ) डा० देवर्षि सनाढ्य-हिन्दी के पौराणिक नाटक' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी प्र०सं० सं०२०१७, पृ०२४६।
(आ) डा०श्रीकृष्णलाल-आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, तृ०सं०, १९५२, पृ०२०६।
(इ) डा० दशरथ ओझा-हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, राजपाल एंड संस दिल्ली, द्वि०सं०, १९५४, पृ०५००-१।
(ई) डा०सोमनाथ गुप्त- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' हिन्दी भवन, इलाहाबाद तृ०सं०, १९५१, पृ०७१।

वर्तमान से सम्बन्धित किसी कथा को भड़कीली अलौकिक व अद्भुत दृश्य सज्जा व अतिनाटकीयता (Overacting) के साथ प्रस्तुत कर देना इतना ही नाट्यकला का आदर्श था जिसका २० वीं शताब्दी तक आते-आते परिष्कार व परिमार्जन अवश्य हुआ किन्तु मूल प्रवृत्ति की प्रतिच्छाया अन्त तक बनी रही । पौराणिक कथावस्तु के ग्रहण ने अलौकिकता के विधान को और प्रेरणा दी क्योंकि उसमें नाटककारों को ऐसी योजना के अधिक अवसर उपलब्ध थे ।

११५. घटनाओं की प्रधानता भी इसीलिउपर्युक्त प्रश्न से संबंधित है । कार्यव्यापार की हानि करके सामाजिकों के औत्सुक्य को जाग्रत नहीं किया जा सकता । नाटककारों ने आधिकारिक कथा के अतिरिक्त प्रासंगिक व अन्य छोटी-छोटी कई कथाओं को नाटक में स्थान दिया है । "बैताब" के "कुमारी-मूल" में नारियों के अधिकार प्राप्ति की मूल कथा के साथ धनी के पुत्र का निर्धन की कन्या से विवाह की साम्यवादी कथा, डा० कलावती की कथा, बहत्तर वर्षीय तोताराम के चतुर्थ विवाह की कथा, देशभक्ति, चरखा, खादी की महत्ता, व तिरंगे की व्याख्या आदि विषयों से संबंधित कथासूत्र, पौराणिनाटक "गणेश जन्म" में सती व शिव की कथा — पार्वती की तपस्या, सप्तर्षियों द्वारा पार्वती की परीक्षा, छद्मवेश में शंकर द्वारा परीक्षा, शंकर समाधि का भंग होना, कामदेव का भस्मीभूत होना, शिव पार्वती का विवाह व गणेश जन्म इन मूल व अधिकारिक कथासूत्रों के अतिरिक्त कार्तिक जन्म, तारकासुर वध व नारद अहम् भंग की अन्य कथाएं इस बात का प्रमाण हैं । किशनचन्द "जेबा" के नाटकों में यह स्थिति अधिक दर्शनीय है उनके सभी नाटकों में समाज के यथा-तथ्य वर्णन में इतने अधिक प्रसंगों की भीड़ एकत्रित कर दी गई है कि मूल कथा उसमें लुप्त हो गई । केवल विविध प्रसंग मात्र उपलब्ध होते हैं । मूल कथा के समुचित प्रतिपादन के अभाव में दर्शकों की रसानुभूति में व्यवधान पड़ता है ।

११६. प्रसंगों की इस विवेचना की अपेक्षा मूल कथा से उसके गुंथन का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है । नाटककारों ने उसे किस सीमा तक मूल में जोड़ा है वस्तु शिल्प की दृष्टि से यही मुख्य है । रंगमंचीय नाटककार इस ओर अधिक सचेत नहीं प्रतीत होते । "बैताब", "कथावाचक" व उन की रचनाओं में इस योग के कुछ सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया । मुख्य कारण है उद्देश्य की प्रधानता । किसी उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर

ही इन कथाओं का संगठन कियागया है जिससे उसकी समस्त घटनाएं उसी लक्ष्य विशेष के चारों ओर घूमती हैं। सोद्देश्यता से कला के चरमोत्कर्ष का ह्रास व जीवन में शाश्वत रस ग्रहणीय क्षमता का अभाव हो गया। साहित्य में कुछ न कुछ उद्देश्य निबन्धन होता है पर सोद्देश्य रचना में कला का पक्ष गौण होकर प्रतिपाद्य विषय उद्देश्य विशेष में बंध जाता है। उसमें समस्याओं का अंकन, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और भविष्य के सुखी जीवन का संकेत अवश्य होता है किन्तु विशेष प्रतिभा के अभाव में ऐसा नि साहित्य बीमार की औषधि के समान कलापेक्ष होता है। आर्चर ने अपनी पुस्तक 'प्ले मेकिंग' में नाटक के उद्देश्य निबन्धन व कला के सामन्जस्य के सम्बन्ध में बड़े समुचित विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार उद्देश्य शब्द का प्रयोग विषय संकलन तथा कथा संकलन दोनों अर्थों में होता है। किन्तु दोनों में से किसी में भी चित्रहीन उद्देश्य का होना अनुचित है। हमें तो सत्य चाहिए उन घटनाओं द्वारा जो हृदय की रसानुभूति को प्राप्त कर सके अथवा जो हमारी रागात्मक प्रवृत्ति में कुछ चेतना ला सके। आचार्य निकोल के अनुसार भी नाटककार प्रकारान्तर से ही अपने विचार व्यक्त कर सकता है। इस सत्य के विपरीत आलोच्य रंगमंचीय नाटककारों द्वारा उद्देश्य निबन्धन पर अत्यधिक आग्रह से कथा के संगठन व वस्तु शिल्प के सौन्दर्य की क्षति हुई है।

१६७. कथावस्तु की विवेचना में उपकथाओं का संकेत किया जा चुका है। समता और विषमता द्वारा मूल कथा के उद्देश्य को प्रेरित करने के लिए ही ये कथाएं जोड़ी गईं। ऊपर वर्णित उद्देश्य का आग्रह ही इन कथाओं की संयोजना का आधार है। हास्य कथा, उसका विषय विवेचन तथा मूल कथा से उसका सम्बन्ध आदि प्रश्नों का तत्सम्बन्धी शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है। अतः उसकी पुनरावृत्ति यहां उचित नहीं है।

--०--

अध्याय -- ६

-o-

पात्र एवं चरित्र-चित्रण

पात्र एवं चरित्र-चित्रण

१. भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्याचार्य नाटक सम्बन्धी अपनी धारणाओं के निर्माण में सदैव ही अपने देश-काल की संस्कृति, परम्परा एवं आदर्शों से अनुप्रेरित हुए हैं। जीवन के प्रति रसवादी एवं अपने आनन्दमय दृष्टिकोण के कारण भारतीय नाटकों में रस की प्रमुखता दी गई है, जिसके कारण चरित्र गौण बन गए। उनमें स्वतन्त्र चरित्र-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं रहा। जो भी चरित्र एवं पात्र रखे गए, व्यक्ति-वैशिष्ट्य के स्थान पर वे सदा उपर्युक्त उद्देश्य की प्रेरणा के फलस्वरूप थे। उनके द्वारा नाटककारों का ध्येय व्यक्तियों में चरित्र-निर्माण करना तथा जीवन को उदात्त भूमि पर ले जाकर आदर्श की स्थापना करना था। इसके विपरीत संघर्ष एवं दुःखान्तकी को नाटक की आत्मा स्वीकार करने के कारण यूनानी नाटककार अरस्तू ने चरित्र की सापेक्षता में घटनाओं एवं कार्यों को महत्व देकर कथावस्तु को नाटक का मुख्य अंग स्वीकार किया है। उनके अनुसार कार्य एवं घटनाओं का महत्व चरित्र के लिए नहीं, वरन् चरित्र का महत्व घटनाओं के लिए है।

२. अंग्रेजी नाटकों में सर्वप्रथम चरित्र को महत्ता दी गई[1] और उसे नाटक के सर्वप्रमुख अंग के रूप में[2] स्वीकार किया गया। वहां घटनाओं एवं कार्यों

१- " No play can be claim to greatness or even effectiveness which does not reveal in some measure a meaningful development of human character. This is the primary requirement".

द ड्रामैटिक एक्सपीरियन्स--जे०बी०रमार, पृ०६८

२(अ) पी०पी० बाकर- ड्रामैटिक टैक्नीक, पृ०२३४

"The permanent value of the play however rests on characterisation."

(ब) डब्लू०एच०हडसन--एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिटरेचर, पृ०२४६

"Characterisation is really fundamental and lasting element in the greatness of any dramatic work."

का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं - यदि वह चरित्र का निवारण नहीं करती उसका विकास नहीं करती ।[१] वहां चरित्र के लिए कथानक नहीं कथानक चरित्र के लिए है । निकल के अनुसार -- "नाटक में अधिक महत्व की वस्तु है चरित्र का व्यक्तिकरण तथा परिस्थितिजन्य भावों की व्यंजना ।" आंग्ल नाटककार जोन्स ने भी स्वीकार किया है कि कहानी घटना एवं परिस्थिति बिना चरित्र विकास के प्रभावहीन होगी । चरित्र-चित्रण का नाटक में प्रमुख स्थान है ।

३. अंग्रेजी नाटकों के चरित्र भारतीय नाट्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार किसी बंधी-बंधाई परम्परा व निश्चित आदर्शों के परिपूरक नहीं हैं । उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, जिसे वे बाह्य एवं आन्तरिक संघर्षात्मक स्थितियों में स्वयमेव उद्घाटित एवं विकसित करते चलते हैं । शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी, इब्सन और शा की यथार्थवादी कला ने जीवन की वास्तविकता को सामने रखकर आदर्शों के नीचे दम तोड़ती मानवता के चित्रण द्वारा चरित्र के यथार्थ रूप को महत्व दिया । शेक्सपियर की लोकप्रियता उनके पात्रों के कारण ही है ।

४- हिन्दी नाटकों का सम्यक् आरम्भ १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से होता है । इससे पूर्व ब्रजभाषा की कुछ रचनाएं अवश्य उपलब्ध होती हैं किन्तु वे नाममात्र के ही नाटक हैं । उनमें नाटकीय नियमों का कोई परिपालन नहीं । अंग्रेजी नाटक, उनके अभिनयात्मक प्रयोग व रंगमंच के प्रभाव प्रेरणा व प्रतिक्रिया में ही हिन्दी नाटकों की रचना हुई थी अत: उनपर यदि अंग्रेजी नाटकों का कुछ

१- एक्विस, पृ० २४६

" Story and incidents and situations in theatrical work are, unless related to character, comparatively childish and unintellectual . They should indeed be only another phase of the development of character..... A mere story, mere succession of incidents, if these do not embody and display characters and human nature, only gives you something in raw melodrama pretty much equivalent to the adventures of our old friend. Mr. Richard Turpin." .

प्रभाव आया तो आश्चर्य नहीं । संस्कृत नाटक राजा,महाराजाओं,सामन्त,उच्चवंशीय लोगों तथा उनके कार्य-कलापों से सम्बन्धित थे । उनका जीवनांकन व उनके आदर्श तथा मान्यताओं का चित्रण ही इन नाटकों की मुख्य कथावस्तु थी । पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों में जीवन्त यथार्थ चरित्रों का समावेश हुआ जिसको प्रेरित एवं विकसित करने में तत्युगीन परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योग है ।

५. १९ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में देश ~~का~~ एक संक्रान्तिपूर्ण स्थिति में था। ब्रह्म समाज,आर्य समाज,रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी व गांधी, गोखले,तिलक आदि नेताओं की प्रेरणा ने धार्मिक,सांस्कृतिक,सामाजिक तथा अनेकानेक राजनैतिक आन्दोलनों को प्रश्रय देकर देश में नवजागरण व नई चेतना का प्रसार किया। इस चेतना का सर्वाधिक प्रभाव मध्यम वर्ग पर पड़ा । सामन्तीय भावनाओं के स्थान पर व्यक्ति स्वतन्त्रता का विकास हुआ । सामाजिक व राजनैतिक सुधारों की मांग होने लगी , जिसने धीरे धीरे ऊपर उठकर विद्रोहात्मक स्वर को प्रखरता दी व स्वराज्य से आगे बढ़कर स्वतन्त्रता का उद्घोष किया । गांधी जी के स्वातन्त्र्य-संग्राम में आगमन व उनके सक्रिय सहयोग से पूर्व तक यह राष्ट्रीय चेतना कोई संगठित स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाई थी । सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों के निवारण तथा प्राचीन गौरव की संस्मृति में ही उसका स्वरूप निहित था । फलत: नाटकों में भी देश के यथार्थ अंकन व सुधारवादी प्रवृत्तियों के प्रस्तुतिकरण की चेष्टा की गई,जिससे कथावस्तु को महत्व मिला । किन्तु सन् १९०२ में गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों से प्रेरित होकर नाटकों में उन्हें स्थान देने के कारण सुधारवादी भावना कथानक की अपेक्षा चरित्रों पर आधारित होने लगी । अब चरित्र प्रमुख बनने लगे जो सुधार का संदेश लेकर आते और अपने कृत्यों द्वारा मानवता पर लगे कलंक को समाप्त करने का प्रयास करते[१]। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में नाटकों में वैयक्तिक चेतना उतनी नहीं मिल सकती थी, जितनी अर्वाचीन नाटकों में है । खोजना भी व्यर्थ होगा ,क्योंकि ये नाटक सामाजिक चेतना से (उद्भूत थे। उनके पात्र) बहुत अधिक समाज-सुधारक थे जिनमें अपने वर्ग की विशेषताएं अधिक परिलक्षित हैं । वस्तुत: ये अपने वर्ग के वर्गगत अथवा टाइप चरित्र हैं । अत: इसी दृष्टि से उनकी समीक्षा उचित होगी ।

१- डा० रविशंकर अग्रवाल--हिन्दी नाटकों में चरित्र सुधार वर्गीकरण और विकास - शोधप्रबन्ध,प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६४,पृ०६

६. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के विषय से सम्बन्धित आलोच्य नाटकों की चरित्र-निरूपण शैली पर हिन्दी के समीक्षात्मक ग्रन्थों में बहुत कम प्रकाश डाला गया है। डा० श्रीकृष्णलाल ने इस ओर अवश्य यत्किंचित् प्रयास किया है व इनके रोमांचकारी, पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार रंगमंचीय नाटकों का यह चरित्र-चित्रण तुच्छ, भद्दा व अश्लील है तथा प्रकार विशेष के अन्तर्गत है। डा० वेदपाल खन्ना ने समानुरूप ढंग से इन्हीं विचारों का पिष्ट-पेषण किया है। अन्य ग्रन्थों में देव पात्रों अथवा पौराणिक चरित्रों के सम्बन्ध में ही छुट-पुट प्रयास मिलते हैं जो डा० लाल व डा० खनाद्रा के विचारों से उत्प्रेरित प्रतीत होते हैं। डा० ओझा ने आलोच्य नाटकों के कला-विधान पर सामूहिक रूप से विचार करते हुए उन्हें साहित्यिक सुरुचि से अछूते, चरित्र वैशिष्ट्य से हीन व कथाओं का जमघट[1] कहकर उनके समस्त कला-विधान को कालिमा मण्डित कर दिया। इन समीक्षाओं में कहां तक सत्य है, इस पर आगे विचार किया जायगा। ऊपर जो विवेचना की गई है, वह सामाजिक तथा राजनैतिक नाटकों के परिप्रेक्ष्य में है, किन्तु यही वे मूल अन्तर्वर्ती विचार हैं, जिन्होंने धार्मिक, प्रागैतिहासिक व ऐतिहासिक नाटकों को प्रभावित किया है, जिसके फलस्वरूप उनके चरित्र-चित्रण में सामंजस्य कला के अभाव में अनेक विसंगतियाँ व दोष आ गए हैं। निष्कर्ष के निर्धारण से पूर्व चरित्र-निरूपण शैली की दृष्टि से नाटकों का अध्ययन यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

चरित्र निरूपण की शैलियां

७. मानव में गुण व दोष इन दोनों का समन्वय है। समन्वय के समानुपात में ही उसका चरित्र बनता एवं बिगड़ता है। इसी घटाने व बढ़ाने की क्रिया को चरित्र का विकास करना कहा जाता है। अंतस्थल पर पड़े हुए अनेक स्तरों को उधेड़कर मानव-हृदय को नग्न करना उसके चरित्र को प्रस्तुत करना है। चरित्र बुद्धि एवं स्नायु सम्बन्धी स्वभाव का मिश्रण है जिसमें कुछ अंश तो जन्मजात होता है और कुछ अर्जित। नाटक में पात्रों की क्रिया तथा घटनाओं के कार्य कारण

१- डा० दशरथ ओझा- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, द्वि०सं०, १९५४, पृ०२९२।

सम्बन्धों में मूल हेतु अथवा भाव को व्यक्त करना ही चरित्र-चित्रण का मुलाधार है। किन्तु नाटककार उपन्यासकार की भांति अपने पात्रों के चरित्र-निरूपण में विश्लेषक एवं व्याख्याता नहीं हो सकता, जो पाठकों से अपने पात्रों का स्वयं परिचय कराए, उनके चरित्र की रूपरेखा प्रस्तुत करे। इसके विपरीत उसके पास तो सीमित समय व सीमित उपकरण होते हैं और उन्हीं बन्धनों में उसे अपनी कला को सजाना संवारना होता है। उसके पात्र रंगमंच पर अपने नाटकीय क्रिया-कलापों, संवादों तथा स्वगत कथनों में अपने मानसिक एवं अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति करके ही अपने चरित्र की रूपरेखा दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं।

८. नाटक में चरित्र-निरूपण की प्रमुखत: दो शैलियां हैं --

(१) प्रत्यक्ष शैली

(२) नाटकीय शैली

प्रत्यक्ष शैली

९. इसके अन्तर्गत नाटककार अपने पात्रों को उनके चारित्रिक गुणों के आधार पर सार्थक नाम देकर तथा उनकी आकृति एवं वेशभूषा को अपने उद्देश्य-विशेष के समानुरूप रखकर उनके चरित्र को प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से ये स्थूल उपकरण हैं, क्योंकि चरित्र-विकास के स्थान पर पात्र इसमें कुछ निश्चित् सीमाओं में बंध जाता है। उसके चरित्र का एक विशिष्ट गुण ही प्रकट हो पाता है। पात्र के चरित्र का इससे अनुमान ही लगाया जा सकता है, किन्तु इससे उसका चरित्र साकार नहीं हो पाता।

१०. रंगमंचीय नाट्य-कृतियों में चरित्र-निरूपण की नामकरणात्मक शैली अनेक स्थानों पर प्रयुक्त है। नाटककार ने अज्ञानचन्द, लोलुपचन्द, स्वार्थचन्द, खोटनमल, फक्कड़शाह, कंजूसराम, सटकराम जैसे सार्थक नाम रखकर उपर्युक्त पात्रों की विशिष्टताओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। स्वार्थचन्द धन प्राप्त करके आनन्द विलास मनाने के प्रलोभन में अपनी पुत्री लक्ष्मी को वृद्ध लोलुपचन्द को समर्पित कर देता है जो अंग-प्रत्यंग के शिथिल होने पर भी रूप भोग कर लेता है। फक्कड़शाह फाटकेबाजी में अपनी सारी सम्पत्ति हारकर फक्कड़ हो जाता है। सटकराम की दृष्टि अपने नामानुसार ही सदैव दूसरे के धन एवं स्त्रियों के अपहरण पर लगी रहती है। किन्तु यह प्रयोग प्रधानत: हास्य कथा के पात्रों के साथ ही

है जहां नाटककार ने किसी सामाजिक विषमता के प्रतिनिधि-पात्र को तदनुरूप नाम देकर पात्र की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट किया है ।

११. रंगमंचीय नाटकों के चरित्र-निरूपण में नामकरण की संकेतात्मक शैली भी प्रयुक्त हुई है । यहां नाटककार किसी व्यक्ति को नहीं, वरन् भावों, मनोभावों तथा मनोवृत्तियों को पात्र रूप में प्रस्तुत करता है । मेहदीहसन 'अहसन' के 'चलता पुर्जा' के फरिश्तए अक्ल व फरिश्तए अमल, 'कथावाचक' के 'महर्षि वाल्मीकि' की कविता, कल्पना, रागिनी, छन्द, भाव, अलंकार--सभी पात्र रूप में प्रस्तुत हुए हैं । ऐसे नाटकों का नाट्य-विधान कुछ भिन्न रूप में है । प्रमुख पात्रों से यहां कथा का आरम्भ नहीं किया जाता, वरन् नेकी-बदी आदि पात्र अपनी श्रेष्ठता व शक्ति-सम्पन्नता को लेकर वाद-विवाद करते हैं, जिसका परीक्षा की कसौटी प्रमुख पात्र बनता है । उसके जीवन में दोनों ही प्रवृत्तियों को लेकर संघर्ष का सूत्रपात होता है और अन्त में आदर्श की प्रेरणा से सद्प्रवृत्ति की जय होती है । मेहरा का 'सती चिन्ता' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

१२. राजनैतिक नाटकों में जहां देश के यथार्थ अंकन को प्रमुखता दी गई है, वहां नेकी-बदी जैसे मनोभावों के स्थान पर धर्म, एकता, असहयोग, स्वतन्त्रता, नवीनता, फैशन तथा देश-दुर्दशा के उत्तरदायी उपकरण फूट, अकाल, अत्याचार, अन्याय, दुर्भिक्ष, रोग, स्वातन्त्र्य संग्राम के साधन व विरोधी शक्तियां पात्र रूप में प्रस्तुत की गई हैं । किशनचन्द 'जेबा' के 'देशदीपक', भारत दर्पण अथवा कौमी तलवार' व जमनाप्रसाद मेहरा के 'हिन्द' नाटक में यह संकेतात्मक शैली अधिक परिलक्षित है । मेहरा का 'हिन्द' नाटक पूर्णत: प्रतीकात्मक पद्धति में है । भारत की दुर्दशा दिखाने के लिए दु:खी हिन्द के एक ओर विदेशी शक्ति के सहायकों में धनहरण सिंह, दमन सिंह, राजमत सिंह, फैशन, अन्याय, अत्याचार, परतन्त्रता, नवीनता तथा स्वार्थनाथ ही आदि पात्र हैं तो दूसरी ओर भारत के हित में स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील उद्योगानन्द, खिलाफतखां, प्रेमसिंह व भक्त सुधारचन्द आदि पात्र हैं । इन पात्रों को व्यक्ति-विशिष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नाटककार ने उनके व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा उन्हें कथा निर्माण के अंग रूप में ग्रहण किया है ।

चरित्र-निरूपण की नाटकीय शैलियां

१३. चरित्रांकन की इस शैली में पात्रों का व्यक्तित्व अधिक उभरता है । पात्र अपनी क्रिया तथा संवादों द्वारा अपने चरित्र का स्वयं उद्घाटन करता है । वह नाटककार की मान्यताओं,उसके आदर्श एवं विचारों को लादे हुए उसके परिपूरक रूप में नहीं वरन् पूर्ण जीवन्तता व सजीवता के साथ अपने व्यक्तित्व को लेकर सामने आता है ।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण

१४.पात्रों के मन में क्या है, यह जानने के लिए कथोपकथन विशेषरूप से सहायक सिद्ध होते हैं । इसके द्वारा ही हमें पात्रों के भावों,मनोभावों,विचारों तथा उसके जीवन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों को समझने का अवसर मिलता है । किन्तु यह तभी सम्भव है, जब पात्र के कथन उसके अपने हों । कभी-कभी नाटककार किसी सिद्धान्त-प्रतिपादन व आदर्श प्रतिपादन के मोह में अपने विचारों , मान्यताओं व आदर्शों को पात्र के ऊपर इस तरह लाद देते हैं कि वह उनकी परिपूर्ति में नाटककार का 'माउथपीस' बनकर रह जाता है । निश्चय है कि ऐसे कथन पात्रों के चरित्र को नहीं उभार सकेंगे । चरित्र विकास के लिए आवश्यक है कि कथोपकथन का प्रत्येक शब्द अर्थपूर्ण व सार्थक हो तथा पात्र की क्रियाओं द्वारा परिपुष्ट होता हो अन्यथा वह अपनी परिपूर्णता खो बैठेगा[१] । डा० श्यामसुन्दरदास ने भी इसी तथ्य की सत्यता स्वीकार की है --' नाटककार को

१- स्वेदि, पृ०५१-५२

"Every speech which a character wishes to utter, every momoment which a character wishes to make, must be minutely scrutinised before it is allowed to pass. Words and movements may be perfectly 'in character' and yet serve no dramatic purpose; and, as it is one of the fundamental laws of drama that anything which does not help, hinders it follows that errelevancies born of character, however in themselves, however witty, must be pitilessly sacrificed. "

चरित्र-चित्रण बहुत ही संकुचित सीमा के अन्दर करना पड़ता है और-अपने+क्योंकि कहानी उसे थोड़े ही दृश्यों में चरित्र-चित्रण करना पड़ता है और अपनी कहानी भी पूरी करनी पड़ती है । नाटकों के कथोपकथनों का प्रत्येक शब्द कुछ विशेष महत्व का और अर्थपूर्ण होना चाहिए और उसके प्रत्येक अंश का सारे नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध होना चाहिए जो सारी कथावस्तु को देखते हुए बहुत ही उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े[1]।

१५. संवाद द्वारा चरित्र-चित्रण निम्न रूपों में किया जा सकता है--

१- दो या दो से अधिक पात्रों के सामान्य संलाप में ।

२- परस्पर के वार्तालाप में किसी पात्र का भावावेग व उत्तेजना में आत्म-चरित विषयक कथन ।

३- स्वगत कथनों में ।

४- किसी पात्र के सम्बन्ध में अन्य पात्रों के कथनों में ।

१६. नाटककार का यथार्थ शक्ति उसके संलाप हैं, जिनके द्वारा वह पात्रों के चरित्र को संवारता हुआ कथा को गतिशील बनाता है । इस कार्य में वह एक क्षण नहीं रुक सकता, क्योंकि यह नाटक की सम्पूर्ण प्रभावपूर्णता को नष्ट कर देगा । नाटक की सारी संवाद-श्रृंखला चरित्र की दृष्टि से सार्थक नहीं होती-घटना, कथा, दृश्य व अन्य दृष्टियों से उसका महत्व भले ही हो । लेकिन कुछ ऐसे स्थल होते हैं, जहां संलापों में कथा के विकास के साथ चरित्र की झांकी मिलती है जो पात्र के किसी विशिष्ट गुण को सामने लाते हैं । चक्रव्यूह भेदन में अनेक योद्धाओं व महारथियों से घिरा अभिमन्यु निःशस्त्र व निहत्था होकर भी क्षत्रिय के वीरोचित गौरव को नहीं त्यागता । दुर्योधन के द्वारा आग्रह करने पर वह प्राण भिक्षा नहीं मांगता ,वरन् उसके स्थान पर शस्त्र की इच्छा रखता है । जिसके द्वारा प्रतिपक्षियों का संहार करके वह अपने कर्तव्य को पूरा कर सके । उसके इस कथन में क्षात्रियोचित अहंम्, वीरोचित उत्साह, गौरव की मान-मर्यादा व हृदय की निष्कपटता स्पष्ट है --

----

१- श्यामसुन्दरदास -- 'साहित्य लोचन', पृ०१०६

अभिमन्यु -- भीख ? और तुच्छ जैसे नर पिशाच से ? भीख मांगना भिखारियों का
 कार्य है । क्षत्रिय,सच्चे क्षत्रिय ऐसी भ्रष्ट भीख कभी नहीं ले सकते ।

दुर्योधन -- नहीं, तू जो मांगे वह अब भी तुझे दे सकते हैं ।

अभि० -- दे सकते हो ?

दुर्यो० -- हां, दे सकते हैं ।

अभि० -- तो वह उस तरफ पड़ी हुई मेरी तलवार मुझे दे दो । यदि मैं सुभद्रा
 का लाल हूं तो इस तलवार से तुम सब को मारता हुआ.... निर्भय
 होकर अपनी सेना की ओर जाऊंगा ।[1]

१७. इन सामान्य कथनों में पात्र के जाने-अनजाने उसके चरित्र की रूपरेखा व्यक्त होती चलती है । स्वेच्छा से वह अपने विषय में कुछ नहीं कहता । जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं जब पात्र अपनी मनोवेदना ,अपने विचारों व मन्तव्यों को किसी आवेग की उत्तेजना में अन्य दूसरे पात्र के सम्मुख व्यक्त कर बैठता है । ये कथन उसके चरित्र के प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं और उसके किसी न किसी विशिष्ट पहलू पर प्रकाश डालते हैं । चक्रव्यूह में नि:शस्त्र अभिमन्यु पर सप्तरथियों के एकसाथ आक्रमण व अभिमन्यु की मृत्यु पर अत्याचारियों के प्रति भीम के मन की क्रोधाग्नि युधिष्ठिर की पश्चाताप विगलित अश्रुओं से ही लेना चाहता है । उसकी उद्दण्ड प्रकृति युधिष्ठिर के प्रति उसके निम्न कथन में स्पष्ट है --

भीम-- 'नहीं, स्वर्ग में वह शान्ति पाएगा ? बस अब कुछ नहीं सुहाता । सर चकराता है । जब तक प्रतिज्ञा पूरी न हो जाए भीम कहीं चैन पाता है ।..... तुम पुत्र-शोक की अग्नि आंसुओं से बुझाओ और भीम,रुधिर से बुझाता है ।'

१८. इसी की दूसरी स्थिति वहां उपलब्ध है, जहां पात्र भावपूर्ण स्थितियों में डूबा हुआ होता है । उसके हृदय में गहरी पीड़ा होती है जो थोड़े से आघात से विचलित होकर अभिव्यक्त हो उठती है । ऐसी अभिव्यक्ति का

१- कथावाचक-- वीर अभिमन्यु अंक१,दृश्य७,पृ०८३-८४

सम्बन्ध पात्र के हृदय और कोमल अनुभूतियों से है । विचार-पक्ष के स्थान पर ये उसके भाव पक्ष को सामने लाती हैं । जनता के प्रति अनन्य विश्वास,व उसके हितार्थ अपने सर्व सुख त्यागने वाले राम को जब उसी प्रजा से प्राणप्रिया सीता के प्रति अविश्वास मिलता है तो वे सहसा उसे ग्रहण नहीं कर पाते । एक ओर प्रजा के प्रति विश्वास, दूसरी और सीता के प्रति अनन्य अनुराग-- दोनों के मध्य की द्वैध स्थिति ने उन्हें एक विचित्र मानसिक उलझन में डाल दिया है, जिसने उनके चरित्र को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाया है --

राम -- वो राम से क्या चाहती है ?

दुर्मुख -- रामप्रिया सीता का त्याग ।

राम-- चुप अन्यायी घातक,दूर हो, चला जा, दूर हो जा,तू मेरी प्रजा की निन्दा करता है ।

दुर्मुख -- प्रभो । मैं ?

राम-- हां तू । क्या मैं तेरे कहने से यह मान लूं कि आज सरयू उल्टी बह रही है, अयोध्या रसातल को जा रही है ,प्रलय के हाथों सृष्टि की चिता तैयार हो रही है । निश्चय ही तुझे किसी छलिये ने भरमाया है । स्वीकार कर कि तू ने प्रजा के शब्दों का अर्थ समझने में धोखा खाया है ।[१]

१९. अन्तिम पंक्ति ने चरित्र को पूर्णत: खोलकर रख दिया है । प्रजा के प्रति विश्वास,सीता के विछोह की पीड़ा व दोनों से उद्भूत राम की मानसिक व्यथा इन सीमित शब्दों में पूर्णत: मुखरित है ।

२०. व्यक्ति के चरित्र का वास्तविक रूप उस समय उभरता है, जब वह किसी संघर्षात्मक स्थिति में होता है । जब तक जीवन की गति सम रहती है, किसी विशेष दशा में क्रियाशील होने की आवश्यकता नहीं होती । तब तक चरित्र का सम्पूर्ण वैभव प्रकाश में नहीं आ पाता । संघर्ष आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार का हो सकता है । बाह्य संघर्ष में किसी विकट एवं विरोधी स्थिति के समुपस्थित होने पर पात्र जिस तत्परता एवं अपने समस्त बल के साथ उस ओर अभिमुख होता है उसी से उसके चरित्र के विकास का बोध होता है । संघर्ष का बाह्य स्वरूप व्यक्तित्व के उभार के साथ पात्र की चारित्रिक दृढ़ता एवं वैशिष्ट्य को

१- बागेश इन्द-- सीता वनवास' अंक १,दृश्य४,पृ०१७

प्रकाश में लाता है । लेकिन आन्तरिक शक्तियों का वैभव मानसिक संघर्षों में ही सम्भव है ।

२१. किसी पात्र के चरित्र-चित्रण में उसके बाह्य क्रिया-कलापों से अधिक उसके अन्तर्संघर्षों का महत्व है ।अचेतन मन का स्पर्श करके ये उसके कार्यों का हेतु एवं आधार प्रस्तुत करते हैं । घटनाओं,क्रियाओं तथा कथोपकथनों का कार्य कारण सम्बन्ध का ज्ञान किसी पात्र के मानसिक द्वन्द्वों से ही सम्भव है । पात्र की क्रिया व उसके हेतु का अंकन ही उसका सच्चा चरित्र-चित्रण है ।

२२. अवरोध एवं संकटपूर्ण परिस्थितियों को सामने पाकर पात्र में जो पहली प्रतिक्रिया होती है,वह है उसका अन्तर्मुखी चिन्तन । इस काल में वह परिस्थिति की गम्भीरता एवं दुरूहता का अनुभव करता है तथा उस परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने आसन्न कर्तव्यों को स्थिर करता है । उसके हृदय में कुछ समय के लिए उचित-अनुचित एवं कर्तव्याकर्तव्य का संघर्ष चलता है । दृढ़ चरित्र अपने कर्तव्यों को तुरन्त स्थिर कर लेते हैं । लेकिन कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है, जब कि पात्र स्थिर नहीं कर पाते कि इन दोनों में से किसे महत्व दिया जाय,क्योंकि दोनों ही स्थितियां उसे जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं । इस द्वैध स्थिति में पात्र अन्तर्द्वन्द्व के भागी बनते हैं । पात्र की यह मानसिक स्थिति उसके आत्मबल और संकल्प शक्ति की परीक्षा के साथ ही उसके चरित्र को भी निखारती है ।

२३.पात्रों की इस मन:स्थिति से अपने पाठकों को परिचित कराने के लिए स्वगत कथनों के अतिरिक्त नाटककार के पास अन्य कोई उपकरण नहीं है । सिने-जगत में वैज्ञानिक साधनों की सुगमता से 'फ्लैश बाक्ट' के द्वारा पात्र के हृदय में चलते हुए संघर्ष को प्रकट किया जा सकता है । किन्तु नाटककार के पास इस प्रकार के कोई साधन न होने से वह एकान्त में स्वयं पात्रों के ~~मुख से~~ निसृत कथनों द्वारा ही उसके अन्त:करण की अभिव्यक्ति करता है ।

२४. स्वगत एक प्रकार से पात्र का मानसिक वार्तालाप है,जिसमें वह स्वयं से बात करता प्रतीत होता है । अत्यधिक यथार्थवाद के आग्रह में स्वगत कथन की स्वाभाविकता पर आज अनेक प्रश्न उठाए जाते हैं किन्तु फिर भी इतना निर्विवाद है कि पात्रों की मन:स्थिति और उसके अन्तर्संघर्ष की अभिव्यक्ति में इसका अपना महत्व है । इसके बिना नाटककार पात्रों के उन मनोभावों से दर्शकों

को परिचित नहीं करा सकेगा ,जिसके घात-प्रतिघात का चरित्र निर्धारण के अतिरिक्त कथा पर भी प्रभाव पड़ता है ।

२५. आलोच्य नाटकों पर आरोप लगाया जाता है कि वे घटना एवं कार्य प्रधान हैं । उनसे उद्भूत अन्तर्संघर्षों एवं चरित्रों का उनमें अभाव है । आरोप आधारयुक्त नहीं है । घटनाओं की प्रधानता अवश्य है किन्तु स्वगत जो रंगमंचीय नाटकों में भरे पड़े हैं वे पात्रों की मानसिक अवस्थाओं,भावों विचारों तथा उनके मानसिक द्वन्द्व के ही परिणाम हैं । इतना अवश्य है कि उनके प्रयोग में स्वच्छन्दता है । आज के नाटककारों के समान सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिकता का उनमें अभाव है ,फिर भी चरित्र-निरूपण की दृष्टि से वे प्रभावपूर्ण हैं । उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी । चक्रव्यूह भेदन के लिए जाने को तत्पर अभिमन्यु में एक ओर युद्धोत्साह का सागर हिलोरें मार रहा है तो दूसरी ओर उत्तरा की स्मृति व युद्धजनित परिणामों पर उससे वियोग की आशंका उसके हृदय को मथ रही है । पितृ स्नेह एवं गुरुजनों के समक्ष की गई प्रतिज्ञा कर्तव्य के लिए प्रेरित करती है तो स्नेह जनित कोमलता उससे विरत होने के लिए । दोनों के मध्य की द्वैध स्थिति से उद्भूत मानसिक संघर्ष ने उसके चरित्र को सजीव व स्वाभाविक बना दिया है --
"वीरता कहती है, जाओ, जाओ प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए जाओ, शत्रुओं का मुख-भंजन करने के लिए जाओ,चक्रव्यूह भेदन करने के लिए जाओ । उधर प्रेम कहता है जाओ ।.... क्या करूं ? किसका कहा मानूं ? प्रेम का ? नहीं, नहीं मैं इस समय प्रेम से निठुराई करूंगा ।.... हैं हैंफिर धक्का लगा, हृदय पर घूंसा लगा । मैं जब वीरता की ओर बढ़ता हूं तो प्रेम मुझसे लड़ता है ।"[1] -- प्रेम और वीरता के संघर्ष से उद्भूत ऐसे द्वन्द्वात्मक स्थल रंगमंचीय नाटकों में भरे पड़े हैं । स्त्रियों के पुत्र एवं पति-प्रेम तथा कर्तव्य एवं प्रेम के इन संघर्षों का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है ।

२६. मानसिक द्वन्द्वों की अभिव्यंजना के अतिरिक्त आलोच्य नाटककारों ने स्वगत का प्रयोग एक अन्य रूप में भी किया है । दुष्ट पात्रों की प्रकृति के सम्बन्ध

१- कथावाचक-- 'वीर अभिमन्यु', अंक १, दृश्य ८, पृ० ३२

में प्राय: उन्हीं के मुख से कथन कराए गए हैं, जिसकी पुष्टि आगे कथा के विकास के साथ स्वयं उसके कार्यों द्वारा की गई है । उदाहरणार्थ बेरम का यह कथन--

'मैं आफत का पर काला हूं मैं छलने वाला काला हूं ।
मैं फन्दा फांसा छला फांसा लाखों हिकमत वाला हूं ।
सब सो गए जब से मेरा फरेब जागा.....
दुनिया में चलता सब को छलता कातिल सम का प्याला हूं[1] ।

२७. उसकी दगा-फरेब मनोवृत्ति का परिचायक है । नाटक में आदि से अन्त तक उसके इसी रूप में दर्शन होते हैं । अपने पिता व भाई को धोखा देता है । धन-सम्पत्ति के प्रलोभन में महापारा और दिलआरा के प्रति प्रेम का स्वांग भर कर वह उन्हें धोखा देता है, उनको एक दूसरे के विरुद्ध उभाड़कर युद्ध कराता है और स्वयं युद्ध भी मरता है ।

२८. किसी पात्र के सम्बन्ध में अन्य दूसरे पात्र द्वारा व्यक्त किए गए मन्तव्य बहुधा उसके चरित्र के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन करते हैं । किन्तु आवश्यक यह है कि ये धारणाएं निष्पक्ष एवं तटस्थ हों । एक पात्र दूसरे पात्र के मूल्यांकन में ईर्ष्या व पश्चातापवश गलती कर सकता है,किन्तु नाटकों में यह अभिव्यक्ति प्राय: किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रहों से रहित होती है । रंगमंचीय नाटककारों ने अपने चरित्र निरूपण के विधान में इस शैली का उन्मुक्त प्रयोग किया है । आगा हश्र के नाटक 'दिल की प्यास' में कृष्णा के विषय में मनोरमा का यह कथन ---- 'विचित्र स्त्री है ? घर का राज्य छिन गया, अधिकार छिन गया, पति छिन गया, लेकिन इतने बड़े भूकम्प में भी उसी तरह स्थिर और शान्त है । मानों उसके जीवन की दुनिया ने अभी तक कोई करवट नहीं बदली ।' अथवा वरुण का हरिश्चन्द्र के विषय में यह कहना --

'हरिश्चन्द्र जैसा प्रतापी सत्यवादी आत्मा,
दान में राजा बलि सा है महा धर्मात्मा ।
सर्वगुण सम्पन्न है जो जो लिखे श्रृंगार में,
है महासुन्दर नहीं जैसा कोई संसार में ।'[2]

१- आगा हश्र - तुर्की हूर अंक२,दृश्य३,पृ०६२
२- दुर्गाप्रसाद गुप्त-'नल दमयन्ती' अंक१,दृश्य४,पृ०२०

हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता ,दान शमता, व कृष्ण के धैर्य तथा सहिष्णु प्रकृति को स्पष्ट करता है, जिसका नाटककार ने आगे घटनाओं के उतार-चढ़ाव में विकास किया है ।

क्रिया-कलाप द्वारा चरित्र-चित्रण

२९. नाटक में क्रिया का अर्थ दैनिक जीवन की क्रियाओं से भिन्न व व्यापक है । दैनिक जीवन में घटित अधिकांश क्रियाएं कार्य-कारण रहित होती हैं । परन्तु पात्र की कोई भी क्रिया अकारण, निष्प्रयोजन व निरर्थक नहीं होती । क्रिया का यहाँ उद्देश्य कारण उसके चरित्र को स्पष्ट करता है । यदि पात्र अपनी क्रियाओं के प्रति सजग नहीं रहता और उसका वास्तविक अभिप्राय तथा प्रयोजन स्पष्ट नहीं कर पाता तो उसका चरित्र अस्पष्ट रहता है । पाठक को पात्र की प्रयोजनजनित क्रियाओं में ही चरित्र की झलक मिलती है[1]। वह उसके उन्हीं कार्यों की ओर आकृष्ट होता है जो पात्र के चिन्तन मनन से प्रेरित होते हैं । उसके द्वारा जानबूझकर या सोच-विचार कर किए जाते हैं ,क्योंकि ऐसी ही क्रियाओं में पात्र को समझने की सामग्री उपलब्ध हो सकती है । ये क्रियाएं केवल शारीरिक ही नहीं हैं,वरन् पात्र का संभाषण और उसकी मानसिक दशा भी क्रिया के अन्तर्गत आती है[2]।

३०. आलोच्य रंगमंचीय नाटकों में पात्रों की क्रियाओं के आधार अथवा हेतु की मनोवैज्ञानिक खोज और इस दृष्टि से उनके चरित्र की समीक्षा औचित्यपूर्ण न होगी । ये प्रारम्भिक युग की नाट्य रचनाएं थीं जिनमें चारित्रिक गाम्भीर्य एवं सूक्ष्मता के स्थान पर घटनाओं एवं बाह्य संघर्षों की प्रधानता है । नाटक के सभी पात्र इन संघर्षों में लीन हैं । ऐतिहासिक पात्र का तो निर्माण ही संघर्ष की पृष्ठभूमि पर होता है, सामाजिक व पौराणिक पात्र भी कुरीतियों का उन्मूलन करके समाज परिष्कार व आदर्शों की प्रतिष्ठापना में संघर्षरत है । हरिश्चन्द्र प्रह्लाद,मोरध्वज,नल,अभिमन्यु आदि सभी पात्र संघर्षों में पनपते हैं । यही कारण है कि आलोच्य नाटकों में व्यक्ति-विशिष्ट की अपेक्षा वर्गगत अथवा टाइप-चरित्र अधिक हैं ।

१- डा० रविशंकर अग्रवाल-हिन्दी नाटकों में चरित्र प्रकार-वर्गीकरण और विकास-शोधप्रबन्ध,प्रयाग विश्वविद्यालय,१९६४,पृ०३२
२- ,, ,, ,, ,, ,, पृ०३३

चरित्र-चित्रण का तुलनात्मक शैली

३१. इस शैली में दो विरोधी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि एक-दूसरे के सापेक्ष में वे प्रकाश में आ सकें। साधारणतः सद् और असद् प्रवृत्तियों वाले पात्र तुलना में रखे जाते हैं जो विरोधी भावों, विचारों और मान्यताओं का स्पष्टीकरण करके एक-दूसरे के चरित्र का निखारण करते हैं। दोनों विरोधी पात्र समान स्तर के होते हैं और नाटक में उनका समान महत्व होता है।

३२. रंगमंचीय नाटककारों में यह तुलनात्मक पद्धति अधिक लोकप्रिय था। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर जैसे आदर्श चरित्रों को और उज्ज्वल बनाने के लिए उनकी तुलना में रावण, शिशुपाल, कंस, रुक्मिणी, दुर्योधन आदि अनेक आदर्शहीन पात्रों के चरित्र उपस्थित किए गए हैं। इनसे ही पता चलता है कि आदर्श से भिन्न रूप कैसा हो सकता है? आदर्श को ऊंचा उठाने के लिए आदर्शहीन पात्रों को और भी आदर्शहीन चित्रित किया गया है।

३३. सामाजिक नाटकों में यह स्थिति इतनी प्रखर नहीं है। वहां कुछ पात्र समाज की बुराइयों के शिकार हैं तो कुछ उसका उन्मूलन करने वाले देशभक्त व सुधारक हैं जिनके प्रतिपक्ष में विदेशी सत्ता की अनुयायी कुछ शक्तियां अवश्य हैं, किन्तु सापेक्षता में चरित्र को उभारने की अपेक्षा नाटककार उद्देश्य के प्रति अधिक तत्पर रहे हैं। सुधारकों के मार्ग में अवरोधों को लाकर उनके चरित्र को प्रकाश में लाया गया है, किन्तु वह तुलनात्मक की अपेक्षा स्वतन्त्र इकाई के रूप में है।

मनोविश्लेषणात्मक शैली

३४. मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति के अचेतन मन से उसकी गुत्थियों और उलझनों से है। इस शैली के अन्तर्गत नाटककार पात्र के अचेतन मन की गहराई में उतर कर उन प्रेरक तत्वों पर ध्यान केन्द्रित करता है जो पात्र के चरित्र पर नियन्त्रण रखते हैं। इसके लिए वह अनेक मनोविश्लेषणात्मक प्रणालियों को अपनाता है।

३५. रंगमंचीय नाटकों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनके पात्र मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। यह सत्य है कि ये नाटककार मनोविज्ञान की गहराइयों

में नहीं उतरे । लेकिन यदि कोई पात्र किसी परिस्थिति-विशेष में वहा कुछ करता है जो उस स्थिति में अपेक्षित है तो कहा जायगा कि पात्र मनोवैज्ञानिक है । यदि वह वैसा नहीं करता तो उसका कारण देना आवश्यक है,अन्यथा पात्र अपनी स्वाभाविकता खो देगा ।

३६. हिन्दी के रंगमंच पर प्रवेश करने से पूर्व १६ वीं शताब्दी के आलोच्य नाटकों में पति की मृत्यु पर पत्नी का गायन आदि प्रसंग अवश्य चिन्तनीय है, किन्तु परवर्ती नाटकों में यह स्थिति नहीं है । पात्रों के संभाषण एवं कार्य-कलापों को उनकी मनोवृत्तियों एवं स्थितियों के अनुकूल रखकर उन्हें अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की गई है । अपनी वस्तु की मांग करना,तत्काल उसको प्राप्त करने की जिद तथा उसकी स्थानापन्न वस्तु को ग्रहण करने के लिए तैयार न होना सदैव से बालमनोवृत्ति का अंग रहा है ।

विशाल-- लाओ,लाओ कन्हैया हमारी गेंद लाओ ।
कृष्ण -- मुझ पर कहां है ? वह तो यमुना में गई ।
वि० -- नहीं हम तो तुम्हीं से लेंगे ।
कृ० -- अच्छा मुझी से लेना, मैं दूसरी मंगवा दूंगा ।
वि० -- नहीं हम तो वही लेंगे ।
कृ० -- अच्छा वही ला दूंगा ।
वि० -- कैसे ला दोगे ?
कृ० -- ऐसे ला दूंगा । (कालिदह में कूदना)[1]

(कथावाचक श्री कृष्णावतार)

३७. विशाल और कृष्ण के बाल जीवन के चित्रण में उन मनोवृत्तियों को स्थान देकर नाटककार ने उपर्युक्त चरित्रों को पूर्णत: मनोवैज्ञानिक बना दिया है । अचेतन मन की ग्रन्थियों का विश्लेषण तो नहीं किन्तु स्वभावोचित मनोभावों के अभिव्यंजन द्वारा नाटककारों ने अपने पात्रों को सजीव बनाने की चेष्टा की है और यही उनकी मनोवैज्ञानिकता है ।

---

१. कथावाचक — 'श्रीकृष्णावतार', अंक २, १९२६ ई., पृ० ११५

रंगमंचीय नाटकों के पात्र

पौराणिक पात्र

३८. आलोच्य रंगमंचीय नाटककार अपनी पौराणिक कृतियों द्वारा एक तौर से दो लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रति सचेष्ट थे। एक ओर वे जनता की धार्मिक मनोवृत्तियों को सन्तुष्ट करना चाहते थे, तो दूसरी ओर जनता के उस वर्ग की मांग थी जिसपर रोमांचकारी नाटकों के अश्लील, अस्वच्छ, वासना जनित और बाजारू[१] प्रेम की खुमारी अब तक चढ़ी हुई थी। इसका मनोरंजन पौराणिक कथानकों की अपेक्षा लौकिक कथानकों से अधिक होता था। पौराणिक महापुरुषों को रंगमंच पर देखने के इच्छुक वर्ग में पात्रों के यथार्थ चित्रण और औचित्य निर्वाह की परीक्षा करने की बुद्धि और विवेक का अभाव था। वे केवल रंगमंच पर अपने पौराणिक पात्रों को देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। इससे नाटककारों को मनमानी करने का अच्छा अवसर मिला। अर्थवृत्ति के विचार से भी वे अपनी कथावस्तु की योजना इस प्रकार संगठित करने के लिए बाध्य थे, जिससे दोनों ही वर्ग सन्तुष्ट हो सकें। इसी बेमेल संगठन ने उनके पात्रों के स्वरूप को कलंकित कर दिया। भीष्म, प्रह्लाद, विश्वामित्र तथा भगीरथ जैसे तपस्वी पौराणिक पात्रों के कलेवर को धारण किए हुए सामान्य प्रेमियों के धरातल पर उतर आए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सीता का यह इश्क प्रदर्शन उन्हें सामान्य व्यक्ति के गौरव से भी नीचे ले जाने वाला है --

राम --'उल्फत में वह कमाल दिखाया जमाल में
 रहता हूं ख्वाब में भी तुम्हारे ख्याल में।

सीता-- तुम मिल गए जो मुझको तो गोया खुदा मिला
 जाहिर है उसका नूर तुम्हारे जमाल में।'[२]

१-डा० वेदपाल खन्ना-हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ०९३

~~२-राधेश्याम कथावाचक-सतीलीला, अंक २, दृश्य६, पृ०७९~~

२ ज्वाला प्रसाद -- 'रामलीला नाटक', अंक १, दृश्य ३, पृ० २०

३६. लक्ष्मी, सरस्वती जैसी देवियां अपने गौरव को त्याग कर इश्क के क्षेत्र में अपनी महत्ता व सफलता के लिए वादाविवाद करती है तथा उसकी प्राप्ति को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानकर सामान्य वेश्या के समान सौदाबाजी में अपने जीवन की सार्थकता खोजती है ।

लक्ष्मी--

घर में नित मोहन आते हैं, हंस हंस के बात बनाते हैं
अपने मन को बहलाते हैं, मुझसे सब प्रीति जताते हैं ।

\+ \+

छीन लेती हूं मन को हंस हंस कर
फिर भला कौन हो प्यारी बढ़ बढ़ कर ।

\+ \+

हंस के दिल लेना तुम्हें आता नहीं
बोसा भी देना तुम्हें आता नहीं ।[१]

शिव के प्रति पार्वती की यह शंका भी इसी प्रकार की है, जिसने पौराणिक मर्यादा को दोषयुक्त कर दिया है --

चार दिन की चांदनी इनके हृदय की प्रीति है ।
चलते मौसिम की तरह इनकी अनोखी रीति है[२] ।

४०. पौराणिक पात्रों के लिए अनेक स्थलों पर जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है वह बड़ी ही लज्जाजनक एवं असह्य है । अपने सम्मान की अवहेलना करने वाले शिव के प्रति दक्षराज का उन्हें 'कामी कुत्ता', 'नीच अभिमानी'[३], 'भिखारी', 'कीड़ा', 'पटबीजना'[४] आदि संज्ञाओं से सम्बोधित करना देवपात्रों की मर्यादा को कलंकित करने वाला है ।

१- आत्मानन्द - 'गणेश जन्म', अंक१, दृश्य२, पृ०४५
१- स्वरूप -- 'गंगावतरण', अंक१, दृश्य१, पृ०६
२- ,, ,, ,, २, दृश्य ६, पृ०६०
३ [illegible] — 'सती लीला', अंक २, दृश्य ६, पृ० ६८
४ आत्मानन्द — 'गणेश जन्म', अंक १, दृश्य २, पृ० ४५

४१. इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हिन्दी से पूर्व आलोच्य व्यावसायिक रंगमंच पर उर्दू के पौराणिक नाटकों का अभिनय होता था। कम्पनी के सर्वसत्ताधारी पारसी लोग थे जो अपने नियुक्त मुसलमान लेखकों से आदेश पूर्वक उक्त नाटकों का निर्माण कराते थे। ये दोनों ही जातियां भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए विदेशी थीं। उन्हें इस देश की संस्कृति का समुचित ज्ञान न था। नाटक के प्रस्तुतिकरण के लिए न ही उनके अध्ययन की आवश्यकता समझी गई। इधर उधर से सुने-सुनाए ख्यात इतिवृत्त को मुस्लिम दरबारी संस्कृति व रीति-कालीन उद्दाम शृंगार भावना में रंग कर प्रस्तुत कर देना इतना ही उनका लक्ष्य था।

४२. "हम यहां रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भण्डार भरने नहीं।"[१] इन मनोवृत्तियों के साथ नाट्य-क्षेत्र में पदार्पण करने वाले अर्थोपजीवी कम्पनी-मालिकों का आग्रह नाट्यकला के समुन्नत रूप की ओर उतना नहीं था, जितना अलौकिक, चमत्कारिक व अति प्राकृतिक प्रसंगों व उसके प्रस्तुतिकरण की विस्मयकारी शैली पर। इस अबाध्य प्रलोभन ने पात्रों के चरित्र को बहुत अधिक प्रभावित किया। वे अपनी गहराई व स्वभाव की सम्पूर्णता के साथ उभरने के स्थान पर उथले रह गये। क्योंकि चरित्र की प्रेरक प्रवृत्तियाँ चेतन-अचेतन तथा कार्य-कारण सम्बन्धों के स्थान पर विस्मय व अलौकिकता में खोजी गई। नायक के जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्य किसी अतिप्राकृतिक शक्ति के कारण स्वरूप चित्रित किए जाते हैं जिससे उसके चरित्र का महत्व नष्ट हो जाता है। ट्रांसफारमेशन सीन की शोभा के लिए भी पौराणिक पात्रों को अवसर के औचित्य की चिन्ता किए बिना नाटककार की इच्छानुसार जब तब चाहे उपस्थित होना पड़ा है। नैतिक सत्य की प्रतिष्ठापना व उद्देश्य की प्रधानता के कारण वे नाटककार की इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य हैं। दुष्ट जानकीनाथ से अपनी लाज का आंचल बचाती मंजरी भगवान की शरण में आती है तो भक्तों के कारण नंगे पांव दौड़ने वाले भगवान् कृष्ण तुरन्त प्रकट होकर देश के भक्ति-मार्गों के विलोप का रोना रोते हैं--

---

१-डा०सोमनाथ गुप्त-- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास,तृ०सं०, १९५१,पृ०१११

'सुबह जन्नत है भी लेकिन तेरा शामरहा ।
तड़पा परवाना तो क्या शमा को आराम रहा ।
मैं तो समझा था कलियुग में कोई भक्त नहीं
तेरी भक्ति से यह समझा कि मेरा नाम रहा[1] ।'

४३.शमा और परवाना की उर्दू दरबारी संस्कृति को नाटककार अपने देव पात्रों के चित्रण में भी नहीं भूल सका । नाटककारों ने नैतिकता का प्रभाव बनाए रखने के लिए अनेक विचित्र साधनों का प्रयोग किया है । बड़ी चतुरता से धार्मिक प्रवृत्ति वालों का ध्यान उन्होंने अपनी ओर आकर्षित किया है । अनेक अति प्राकृतिक प्रसंगों, रोमांचकारी और आकर्षक दृश्यों में नाटककार इतना उलझ गए कि वे जीवन के यथार्थ को पूरी तरह भुला बैठे ।

४४. व्यावसायिक रंगमंचीय नाटककार चरित्र के विभिन्न पहलुओं के सामंजस्य के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाए । अधिकांश में पात्रों को उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिस रूप में पुराणों में के दंत कथाओं में अथवा जहां से सामग्री गृहीत है चित्रित है । ऐसी स्थिति में पात्र पौराणिक टाइप बनकर रह गए । किन्तु सामयिकता के आग्रह में जहां कहीं नाटककारों ने मौलिकता प्रदर्शन की चेष्टा की है वहीं प्रतिभा और सामंजस्य कौशल के अभाव में पात्रों के स्वरूप विद्रूप हो गए । पौराणिक होते हुए भी वे भद्दे और असंस्कृत रूप में सामने आए हैं । पौराणिक महापुरुषों के यथार्थ अंकन व उनके महात्म्य के प्रति सम्यक् न्याय के लिए आवश्यक है कि नाटककार तद्युगीन समाज,देश व काल की संस्कृति सभ्यता तथा सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों से अवगत हो वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में लाने की उसमें प्रतिभा हो । रंगमंचीय नाटककारों में गम्भीर अध्ययन व प्रतिभा दोनों का ही अभाव था । उनकी कृतियों में आदर्श के ही दर्शन अधिक होते हैं । यथार्थता होती है तो बहुत ही निम्न रूप में । लेकिन यह कुतूहलपूर्ण वातावरण नसरवान जी खानसाहेब'आराम', विनायकप्रसाद'तालिब' व श्रीकृष्ण'हसरत' के नाटकों में ही अधिक परिलक्षित है । नारायणप्रसाद 'बेताब' , राधेश्याम 'कथावाचक' व आगा हश्र की रचनाओं में उनके लेखकों की सामाजिक चेतना व जागरूकता

१- दुर्गाप्रसाद गुप्त--'श्रीमती मंजरी',अंक२,दृश्य २,पृ०६२

के फलस्वरूप उपदेशात्मक प्रसंग अवश्य उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनके पात्रों में वह असंगतियां नहीं हैं जो पूर्ववर्ती रचनाओं में हैं । पौराणिक वातावरण व पौराणिक आदर्शों की पूर्णत: रक्षा की गई है ।

रेतिहासिक पात्र

४५. रंगमंचीय नाटककार रेतिहासिक नाटकों के प्रणयन के प्रति पूर्णत: उदासीन रहे । किशनचन्द 'जेबा' का 'पद्मिनी' (१९२३), 'शहीद सन्यासी अर्थात् आर्यवर स्वामी श्रद्धानन्द जी (१९२७), हरिकृष्ण 'जौहर' का 'नागपुत्र शालिवाहन', जिनेश्वरप्रसाद 'मायल' का 'भारत गौरव' अर्थात् सम्राट चन्द्रगुप्त' (१९२२) तुलसीदत्त शैदा 'स्नेही' का 'नारी हृदय' (१९२७), श्रीकृष्ण 'हसरत' का 'महात्मा कबीर' व आगा हश्र का 'प्राचीन और नवीन भारत (१९२१) के द्वितीय स्कट अकबर के अतिरिक्त जो भी रचनाएं उपलब्ध हैं वे कम्पनी के बन्धनों से उन्मुक्त लेखकों की स्वतन्त्र रचनाएं हैं । रेतिहासिक नाटककार यथार्थ के धरातल पर जीवन का सम्भाव्य चित्र अंकित करता है । समयानुसार युग की मांग व राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप देश प्रेम , त्याग, वीरता, स्वाभिमान, कर्तव्य परायणता आदि आदर्शों को लेकर ही उपर्युक्त रेतिहासिक नाटकों की रचना की गई है । सामयिक युग-चेतना और उद्देश्य गौरव पर अत्यधिक आग्रह के कारण पात्रों का अपना व्यक्तित्व नहीं उभर सका । स्वामी श्रद्धानन्द व महात्मा कबीर आधुनिक युगचेता महापुरुष हैं, जिन्होंने हिन्दू जाति के संगठन व उसकी आन्तरिक विसंगतियों के परिमार्जन की अथवा चेष्टाएं कीं । सम्राट चन्द्रगुप्त व पद्मिनी के के चरित्र द्वारा नाटककार ने पूर्वजों के शौर्य, देश-प्रेम, त्याग आदि गुण और वर्णत्र-व्यवस्था की संकीर्णता व पारस्परिक फूट के परिणाम दर्शा कर देश जाति सम्बन्धी उदात्त भावनाएं स्थूलता से व्यक्त की हैं । वस्तुत: इन नाटककारों का उद्देश्य आदर्श चरित्र नायकों के जीवन दिग्दर्शन से देश को सुधारना है और इसी सुधार वृत्ति के कारण नाटक में घटनाओं की बहुलता के साथ चरित्रों की महत्ता कम हो गयी । नाटककार रेतिहासिक सत्य के साथ ही इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सके ।

सामाजिक पात्र

४६. सामाजिक नाटकों में आलोच्य रंगमंचीय नाटककारों की दृष्टि प्रमुखरूप से स्त्री समस्या के विभिन्न पहलुओं की ओर गई । बाल विवाह,

अनमेल विवाह, विधवाओं की दुर्दशा, वैश्या समस्या, नारी को स्वतन्त्र बनाने के दुष्परिणाम, उसके सतीत्व एवं पातिव्रत धर्म पर अनेक नाटक प्रस्तुत किए गए। अस्पृश्यता, गौरक्षा, मद्यपान, आधुनिक शिक्षा व धनिक वर्ग की स्वार्थपरता तथा अत्याचार आदि भी नाटक के प्रमुख विषय रहे। जीवन के यथार्थ के विविध रूपों में चित्रण के लिए नाटककार ने यथार्थ एवं आदर्शवादी दोनों ही पात्रों का ग्रहण किया है। इनके द्वारा वे समाज के यथातथ्य अंकन के साथ उन कुरीतियों का प्रक्षालन कर समाज के उदात्त एवं सुष्ठु रूप की प्रतिष्ठा चाहते थे। फलत: अपने पात्रों द्वारा रूढ़ियों से आक्रान्त जीवन को गति देने के प्रयास में वे पात्रों के मनस्तात्विक व्यक्तित्व विकास के प्रति उदासीन हो गए। उनके आदर्श एवं यथार्थवादी दोनों ही पात्र अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण व्यक्तिगत से अधिक वर्गगत हैं। युग यथार्थ के चित्रण तथा सुधारवादी दृष्टिकोण ने नाटकों को सरल, घात-प्रतिघात रहित बना दिया। पात्रों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य प्रहार के प्रति अधिक लक्ष्य होने के कारण पात्रों का निजी व्यक्तित्व नहीं उभरने पाया। परन्तु पात्रों को विभिन्न वर्गों से लेकर नाटककारों ने जिस व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया उससे उनका महत्व अवश्य है।

स्त्री पात्र

४७. 'बिन घरनी घर भूत का डेरा', 'न गृहम् काष्ठ पाषाण: दयिता यत्र तद् गृहम्'[१] अथवा 'यावन्न विन्दते जायां तावादर्धो भवेद् पुमान:' अर्थात् जब तक पुरुष को पत्नी नहीं प्राप्त होती तब तक वह केवल आधा मनुष्य रहता है-- आदि कथन इस बात के प्रमाण हैं कि आदिकाल से ही भारतीय नारी पत्नी के रूप में गौरव तथा सम्मानपूर्ण पद की अधिकारिणी रही है। किन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी के पश्चात् स्त्रियों के ऊपर अनेक एकांगी आदर्श लाद दिए गए। एक बार किसी पुरुष से विवाह होने के उपरान्त उसमें न्यूनताएं होने पर भी पर-पुरुष का विचार उसके लिए पाप हो गया। मनु ने तो यहां तक कहा कि पति के दु:शील होने पर भी पत्नी साध्वी रहे[२]। आलोच्य रंगमंचीय नाटककारों ने

१- नीति मंजरी -८८

२- मनुस्मृति ५-१५४

पत्नी रूप में नारी के लगभग एक से चित्र खींचे हैं और जो भी चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे इसी उपर्युक्त तथ्य के पोषक हैं। पति द्वारा लांछित होने पर भी वे अनन्य पति-प्रेमी हैं। आगा साहब की सरोजिनी, शिवरामदास की आशा, शान्ता, कल्याणी दुर्गाप्रसाद गुप्त की 'सरोजिनी, ~~शिवराम-दास-की-आशा~~ बासन्ती, जमनाप्रसाद मेहरा की रमा पति की अवहेलना पर न केवल उससे चिपकी रहती है, वरन् घर से निष्कासित होकर भी उसकी कल्याण कामना करती है तथा उसकी सुख-शान्ति के लिए अपने स्वत्व व अधिकारों को ही नहीं, वरन् अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग कर देती है।

४८. पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में पातिव्रत एवं सतीत्व के असंख्य चित्र उपलब्ध हैं। सामाजिक नाटक भी इससे अछूते नहीं। नाटककार ने इस महत्व के प्रतिपादन में अलौकिक दृश्यों का विधान किया है। पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के साथ सामाजिक नाटक भी इसके प्रभाव से बच नहीं सके। 'कराल चक्र' की सत्यवती धर्म बल तथा सतीत्व के बल से जिस विस्मयकारी शक्ति का परिचय देती है वह सामान्य स्त्रियों के लिए सम्भव नहीं है।

<u>चरित्र विधान की दृष्टि से रंगमंचीय नाटककारों की विशेषताएं</u>

४९. चारित्रिक परिवर्तन को स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि परिवर्तन की ठोस आधार भूमि प्रस्तुत की जाए जिससे चरित्र के अन्य विकसित अंग बेजोड़ न लगें वरन् सम्पूर्ण चरित्र एक क्रमबद्ध विकास के रूप में प्रस्तुत हो सकें। रंगमंचीय नाटककारों ने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। प्राय: विरोधी पात्र के एक - दो शब्द सुनकर ही पात्र परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए 'बेबा' के 'भारत दर्पण' का शराबी मञ्जु मोहन की इन उपदेशात्मक उक्तियों--

> इस आबादी को ढूंढो जिससे बेड़ा पार हो जाए
> नशे से जिसके सारे देश का उद्धार हो जाए।[1]

१- 'बेबा' -- भारत दर्पण'-- अंक ३, दृश्य २, पृ० १९२

५०. से प्रभावित होकर तुरन्त ही अपनी भूल को स्वीकार करता हुआ उसके परिमार्जन के लिए कटिबद्ध हो जाता है । परिवर्तन में नाटककार ने यत्र-तत्र अन्त:प्रबोध को भी उपदेशों के साथ संयुक्त किया है, किन्तु उसकी स्थिति बड़ी स्थूल है । गौरी जो कि बहन विद्यावती को दुष्ट दामोदर के बहकाने पर माता की बीमारी का बहाना बनाकर पति-गृह से ले आता है, बहन की धिक्कार से अचानक ही उसके हृदय में सद्ज्ञान का प्रकाश प्रज्ज्वलित हो उठता है और वह अपनी भूल को स्वीकार कर लेता है[1]। इन अस्वाभाविक परिवर्तनों से ऊपर उठकर जहां कहीं नाटककार ने अन्त: प्रबोध के साथ आन्तरिक द्वन्द्व व सद्-असद् प्रवृत्तियों के संघर्ष में पात्र की विचित्र मनोस्थिति को प्रकट करते हुए सद् प्रवृत्ति के फलस्वरूप चरित्र विकास दिखाया है वहां चरित्र अधिकाधिक स्वाभाविक हो गए हैं । मुहम्मद इसहाक साहब के 'भक्त सूरदास' में वेश्या चिन्तामणि के अनन्य प्रेमी बिल्व का भक्त रूप में चारित्रिक परिवर्तन इस बात का प्रमाण है । ब्राह्मण धर्म पर वेश्या द्वारा कुठाराघात तथा अपनी अज्ञानता व मोहान्धता के स्पष्ट प्रमाणों को देखकर धर्म व धिक्कार के भावों से उद्भूत अन्तर्संघर्ष[2] ने बिल्व के चरित्र को पूर्णत: मनोवैज्ञानिक आधार भूमि पर रखा है ।

५१. दुष्ट पात्रों का परिमार्जन उनकी दुर्दशा और तदुपरान्त पश्चाताप द्वारा कराया गया है । ऐसे सभी पात्र स्वप्न में अथवा प्रत्यक्ष रूप में अपने कुकर्मों के फल से दग्ध होकर पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए सुधार की ओर उन्मुख होते हैं ।

५२. निष्कर्ष यह है कि नैतिक सत्य व किसी स्थूल उद्देश्य की प्रतिष्ठापना हेतु नाटककार ने पात्रों के व्यक्तित्व की चिन्ता न करते हुए विभिन्न घटनाओं के संयोगों तथा कथा को मनोवांछित रूप देकर फलसिद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया है । चरित्र-चित्रण के प्रति वे विशेष सजग नहीं थे । यही कारण है कि आलोच्य कृतियों में उद्देश्य का निबन्धन तो पर्याप्त है, किन्तु चरित्र-चित्रण का कोई उज्ज्वल व परिमार्जित रूप नहीं मिलता ।

-०-

१- हरिकृष्ण उपाध्याय- 'श्रवणकुमार', अंक २, दृश्य१, पृ०५५

२- मुहम्मद इसहाक- 'भक्त सूरदास' अंक२, दृश्य१, पृ०५२-५३

अध्याय --७

-0-

संवाद अथवा कथोपकथन

संवाद

१. नाटकीय कार्य-व्यापार का मूलाधार संवाद है । उपन्यासकार और कहानीकार के समान नाटककार इतना स्वतन्त्र नहीं है कि वह स्वयं कुछ कह सके । पात्रों के परस्पर वार्तालाप में ही उसे अपनी कला को रूप देना पड़ता है । संवाद ही उसकी यथार्थ शक्ति है जिसके ब द्वारा कथा के विकास, व पात्रों के चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त वह अपने मनोभावों और विचारों को अभिव्यक्ति देता है । इन्हीं गुणों के आधार पर नाट्याचार्य अभिनव भरत ने संवाद को --"भाव संक्रमण सामर्थ्य संवादः" (११२) के रूप में परिभाषित किया है अर्थात् जिसके द्वारा सामाजिक तक भावों का संक्रमण हो या नाटककार के जिस इष्ट अभिप्राय: तथा भाव को अभिनेतागण अपने अभिनय के द्वारा सामाजिकों के हृदय तक पहुंचाकर उसका विभावन करा देते हैं, सामाजिकों के हृदय तक पहुंचा हुआ वह भाव ही संवाद का वास्तविक अर्थबोधक है ।

२. वस्तुत: नाटकीय संवाद के दो या दो से अधिक व्यक्तियों की उस बातचीत को कहते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति प्रसंग, आवश्यकता, योग्यता, परिस्थिति और पद के अनुरूप बात करते हैं[१]। नाट्य-कला अपने रूप में चूंकि समस्त कलाओं को समाहित किए हुए है, अस्तु पात्रों के सामान्य वार्तालाप के साथ व्यक्ति की असामान्य अवस्था का प्रलाप, नेपथ्य से की गई पुकार व कोलाहल तथा अलौकिक कारणों से उद्भूत शब्दों का प्रयोग भी अपने विस्तृत अर्थ में संवाद का ही अर्थ व्यंजक है ।

१-(अ) "अनेकानुषंगिवाग्व्यापार: संवाद:" १२९
अभिनव नाट्यशास्त्र--सीताराम चतुर्वेदी, द्वि०सं०, १९६४, पृ०३१८

(आ) "प्रसंगपरावृत्यायाय वाक्य प्रयोगश्च संवाद: " १५४
अभिनव नाट्यशास्त्र -- सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ३६७

३. नाटककार की यथार्थशक्ति होने पर भी संवादों के मनोवांछित प्रयोग में वह स्वतन्त्र नहीं है । उसे अपनी कला के रूप देते समय संवादों के संयोजन में जीवन की यथार्थता और साहित्यिक रुचि सम्पन्नता का सदैव ध्यान रखना पड़ता है । इस सम्बन्ध में नाटककार की सीमाओं को निकोल ने अधिक स्पष्टता सेउपप्रस्तुत किया है । उनके अनुसार --' नाटककार के अधिकार में कुछ क्षणमात्र हैं और इस कारण उसको अपने शब्दों में सचेष्ट रहना पड़ता है और समन्वय से काम लेना पड़ता है । इस अर्थ में यह याद रखना चाहिए कि नाटकीय कथोपकथन सर्वदा ही कलात्मक हैं और कलाकार की कल्पना का निश्चित स्वरूप है ।'

४. भारतीय नाट्याचार्यों ने नाट्य-विवेचन के समय उसके अंगरूप में वस्तु अभिनेता और रस का विवरण दिया है । संवादों का इस दृष्टि से अर्थात् अंगरूप में पृथक विवेचन उपलब्ध नहीं होता । किन्तु वे संवाद शक्ति से अपरिचित थे ऐसा नहीं है । वाचिक अभिनय नाटक का मुख्य आधार है, संवाद ही नाटक है, इससे भली भांति अवगत आचार्यों ने अपने लक्षण ग्रन्थों में नाटककारों के मार्गदर्शन हेतु संवादों के स्वरूप, उनके गुण, आकार-प्रकार के सम्बन्ध में निश्चित नियम प्रस्तुत किए हैं, जिससे नाटककार अपनी कला का रूप संवारते समय अवरोधात्मक स्थितियों को सहज ही पार कर सके । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का सत्रहवां अध्याय इस बात का प्रमाण है । अभिनवभरत ने भी इस सम्बन्ध में एक निश्चित रूप-रेखा प्रस्तुत की है । उनके मतानुसार संवाद को --'पात्रानुकूल-कथा चरित्र-विस्तार लोक-बोध्योत्तर प्रत्युत्तर सम्पन्नोचित परिणामयुक्त'[१] होना चाहिए । अर्थात् --

१- संवाद स्वाभाविक हो यानि पात्र प्रकृति अनुरूप हो ।

२- संवाद उतना ही हो जितने से कथा का विस्तार और नाटकीय चरित्रों का विकास हो ।

३- भाषा लोकबोध्य हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोगों और विषयों का विवेचन न हो ।

४- संवाद में जोड़-तोड़ के उत्तर -प्रत्युत्तर हों, सजीवता हो, भाव और परिस्थितियों के अनुरूप भाषा में वेग, मध्यम गति या मन्दता हो, केवल विभिन्न व्यक्तियों के वक्तव्य मात्र न हों ।

१- सीताराम चतुर्वेदी --'अभिनव नाट्यशास्त्र' द्वि०सं०, १९६४, पृ०३८०

५. पात्र प्रवृत्ति की अनुरूपता नाटकीय संवाद का अपरिहार्य अंश है। जिस प्रकार वास्तविक मनुष्य का प्रतिरूप अभिनेता है, संवाद भी उसी प्रकार की प्रतिकृति मात्र है। अतः उसका अपने में पूर्ण होना अनिवार्य है। यदि यह प्रतिकृति अपने बोलने वाले के स्वभाव, चरित्र, मानसिक अवस्था व गुणों के अनुरूप न हुई तो नाटक अपनी सम्पूर्ण सजीवता खो बैठेगा। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह मत कि --'ग्रन्थकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत विरचित करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो, वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो... पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है[१]' पूर्णतः युक्तियुक्त है।

६. किसी विशेष अवस्था में अधिकांश मनुष्य क्या सोचते व क्या करते हैं, इनका यथार्थ अंकन ही स्वाभाविकता का रक्षक नहीं है, जैसी कि अधिकांश समीक्षकों की धारणा है, वरन् स्वाभाविक संवाद वह है जो किसी व्यक्ति विशेष की प्रकृति के अनुकूल हो। अर्थात् विभिन्न अवस्थाओं में जो कहा जाता है, कहा जाना चाहिए और कहा जा सकता है वही संवाद की स्वाभाविकता है[२]।

७. संवादशक्ति की इस अपरिहार्य सीमाओं के साथ नाटक की अभिनेयता की दृष्टि से नाटककार के लिए निम्न नाट्य-परिस्थितियों का परिपालन भी आवश्यक है --

१- संवाद सदैव इस प्रकार चले कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद उसमें नए पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का विधान हो।

२- संवादों में आंगिक और सात्विक अभिनय के लिए पूर्ण अवकाश मिलना चाहिए।

८. थियेट्रिकल कम्पनियों के नाट्य-संवादों की विवेचना, समीक्षा व उनके सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्ष देने से पूर्व तत्कालीन नाट्य-आदर्शों व नाट्य-परिस्थितियों का सम्यक् अवलोकन अपरिहार्य है, जिनके परिप्रेक्ष्य में नाटककारों ने अपनी कला को रंग दिया। जहाँ तक आलोचना का प्रश्न है, हिन्दी के प्रायः

१- भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ७७३

२- 'काव्य परिस्थितिस्वभावानुरूपो हि संवादः -१६७।
सीताराम चतुर्वेदी--अभिनव नाट्यशास्त्र-द्वि०सं०, १९६४, पृ० ४३२।

सभी उद्भट नाट्य -समीक्षकों के मन्तव्य इनकी संवाद-कला के प्रति लगभग समान धारणाओं से अभिभूत हैं । उनके मतानुसार इन नाटकों की भाषा और संवादों में पर्याप्त शक्ति थी । व्यंग्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण उनमें से सुगमता से निकाले जा सकते हैं । किन्तु एक बात खटकने वाली है । साधारण बातचीत में भी लयमुक्त गद्य का विशेषरूप से प्रयोग किया गया है । बोलते-बोलते फौरन ही कविता आरम्भ हो जाता है और जब तकपात्रों के उतार-चढ़ाव से युक्त उनकी यह वार्ता चवन्नी वालों को सुनाई न दे तब तक नाटक का अभिनय असफल ही समझा जाता है[1]। डा० वेदपाल खन्ना ने अपने आलोच्य ग्रन्थ में इसी मत की पुष्टि की है । उनके अनुसाररंगमंचीय नाटकों के संवादों में शक्ति,सरसता तथा वेग अवश्य होता था और वे बहुधा अनुचित आवेग से भरे हुए तथा आडम्बरपूर्ण होते थे[2]।

९. पारसी नाटकों की सफलता गीतों और प्रभावशाली कथोपकथनों पर निर्भर है । इनमें अरबी और फारसी की अधिकता होते हुए भी एक हृदयस्पर्शी रोचकता थी । उर्दू व फारसी की कवि उक्तियों को संवादों के बीच में डालना, पूर्व वक्ता के वाक्य से किसी शब्द को लेकर फब्ती कसना, संवादों में अनुप्रास लाना और भावों की तथा शब्दों की वक्रोक्ति से संवादों को आगे बढ़ाना पारसी नाटकों की विशेषता है । संवादों के चलते-चलते किसी आकस्मिक घटना से उन्हीं संवादों का विकास और इस नवीन घटना के प्रकाश में मोड़ देने की प्रणाली पूर्णत: पारसी नाटकों की है । बी०पी० श्रीवास्तव का यह मन्तव्य न केवल रंगमंचीय संवाद-कला के समस्त गुणों को समाहित किए हुए है वरन् निष्पक्ष समालोचना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है ।

१०.आलोच्यकालीन नाट्य-संवादों की सरसता,ओज और शक्ति को स्वीकार करते हुए भी प्रस्तुत कला के निम्न तथ्यों के प्रति आलोचकों में तीव्र असन्तोष है,जिसके कारण बेचारे नाटककार एकांगी निष्कर्ष और कटु आलोचना के शिकार हुए —

१- लययुक्त गद्य

२- पद्यात्मक संवाद

१- डा०सोमनाथ गुप्त- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास,तृ०सं०, १९५१,पृ० १४८

२- डा० वेदपाल खन्ना- हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन,पृ०९५

३- अनुचित आवेग

४- अस्वाभाविकता व आडम्बरपूर्णता ।

११. यद्यपि इन आरोपों को पूर्णत: निराधार नहीं कहा जा सकता, किन्तु केवल इसी आधार पर आलोच्य-नाटकों को उनके महत्व से वंचित करना भी उचित नहीं है । इसके लिए उस समय के नाट्यादर्श व नाट्य-परिस्थितियां उत्तरदायी हैं । पूर्व अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि पारसी संस्थापकों की व्यावसायिक कम्पनियाँ, यूरोपियन-नाट्य-कम्पनियों के प्रभाव में आविर्भूत हुई थीं जो भारत-भ्रमण के समय भारतस्थित अंग्रेजों के मनोरंजनार्थ यदा-कदा अपने नाट्य-प्रयोग किया करती थीं । अभिनयों में अधिकांशत: शेक्सपियर के नाटकों की प्रधानता थी । कला की दृष्टि से अंग्रेजी नाट्यसाहित्य का यह युग विशेष सम्पन्न न था । बीसवीं शताब्दी तक रंगमंचीय संवादों का स्वरूप अधिकांशत: पद्यात्मक था । संवाद बड़े लम्बे-लम्बे होते थे जो वास्तविक जीवन के व्यावहारिक संवादों की अपेक्षा अधिक जोड़-तोड़ के और तुले हुए होते थे । कोई एक बात कहता तो दूसरा भी उसी आवेग में वैसे ही ढंग से उसी जोड़ की बात में उत्तर देता था । आलोच्यकालीन नाटककारों के लिए चूंकि ये नाट्य-अभिनय ही आदर्श थे, अत: उन्होंने उसका पूर्णत: अनुकरण किया ।

१२. हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में पूर्णत: अभावग्रस्तता थी । इस युग में मौलिक और सुन्दर कही जाने योग्य कोई नाट्य-कृति न थी । संस्कृत के ह्रासोन्मुख युग की कुछ रचनाएं अथवा उनके अनुकरण में रीतिकाल में संगठित की गई नाटक नामधारी कुछ ब्रजभाषा की संवाद रचनाएं ही इस काल की आदर्श थीं । संस्कृत नाटकों में पद्य एवं छंदों की प्रधानता मिलती है । नाटक को दृश्य काव्य की संज्ञा देने और इस प्रकार काव्य का एक रूप मानने के कारण उसमें काव्यत्व की प्रधानता होना स्वत: स्वाभाविक था । कुछ आलोचक जो संस्कृत नाटकों की प्रतिच्छाया में आलोच्य नाटकों का अध्ययन करते हैं । उनके अनुसार इन नाटकों के सम्भाषणों के बीच छन्द-प्रयोग में उस कवित्वमय वातावरण का अभाव मिलता है जो संस्कृत नाटकों में उपलब्ध है, क्योंकि ये छन्द केवल छन्द ही हैं--वास्तविक

सौन्दर्य से रहित केवल भाषा-शैली के अलंकरण मात्र । इसका मुख्य कारण यह है कि ये नाटककार किसी एक नाट्य-परम्परा के अनुवर्ती नहीं रहे । प्रस्तुतिकरण की एक इनकी अपनी शैली थी जिनमें कला की अपेक्षा अर्थलाभ को प्रधानता दी जाती थी । जन-रुचि की सन्तुष्टि और अर्थपूर्ति के लिए अपनी मनोभिरुचियों के अनुकूल इन्हें जहां से जो मिला सहर्ष गृहीत किया । अत: इन नाटकों में किसी निश्चित नाट्य-विधा की प्रतिच्छाया खोजना गलत है ।

१३. इस प्रसंग में अमानतकृत इन्दर सभा(१८५३) को भुलाना अप्राकृतिक होगा । गीत ,छन्द और पद्यात्मक संवादों से युक्त इस संक्षिप्त गीति-नाट्य(Opera) से ये नाटककार पूर्णत: अभिज्ञ थे । इसकी आकस्मिक लोकप्रियता ने उनपर अमिट प्रभाव छोड़ा था । इन तथ्यों के अतिरिक्त आलोच्य नाटककार उस दौराहे पर खड़े थे जहां रीतिकाल की श्रृंगारिक कविता अपना दम तोड़ रही थी और आधुनिक काल अपने आगमन में मुस्करा रहा था । ऐसे संधिस्थल में यदि नाटककार अपने को तत्कालीन श्रृंगारिक वातावरण से पूर्णत: उन्मुक्त न रख सके तो कुछ आश्चर्य नहीं ।

१४. स्पष्ट है कि ऐसी नाट्य परिस्थितियों में आज के सदृश्य परिष्कृत मंजी हुई कला-कृतियां प्रस्तुत करना कठिन था । उनका पद्य-प्रयोग अपने युग और समय की मांग के अनुकूल था जो किसी भी प्रकार अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । हां, कुछ ऐसे स्थल अवश्य चिन्तनीय हैं जहां वातावरण की गम्भीरता की कुछ भी चिन्ता किए बगैर पात्र मौके-बे-मौके अपना पाण्डित्य प्रदर्शन शुरू कर देते हैं । लम्बे-चौड़े भाषण दे डालते हैं । व्यर्थ का रोना-पीटना व गाना चिल्लाना आरम्भ कर देते हैं । इस स्थिति - निर्माण में कम्पनी व्यवस्थापक और मालिक श्रेय के पात्र हैं जिनकी रुचि और आदेशों का रचना निर्माण में पूर्ण आधिपत्य था । कृतिकार स्वयं भी कम उत्तरदायी नहीं,जिनके लिए नाट्य-कला आजीविका का साधन थी । विस्तृत नाट्यशास्त्रीय ज्ञान से वे अनभिज्ञ थे । अवसर की उपयुक्तता की जांच की सामर्थ्य का उनमें अभाव था । इसी से यत्र-तत्र बेमेल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं । फड़कते हुए पद्यों और भड़कीली दृश्य सज्जा में दर्शक वृन्द को मनोमुग्ध देखकर वे पूर्णत: सन्तुष्ट हो जाते थे । इससे आगे बढ़कर कला के क्षेत्र में पदार्पण की बात उनके लिए अग्राह्य थी । इन तथ्यों के अतिरिक्त

पारसी रंगमंच के पद्यात्मक कथोपकथन तत्कालीन नाट्य-शैली के एक रूप थे,जिसके द्वारा नाटककार एक ओर तो नाटकीय वातावरण प्रस्तुत करता था तो दूसरी ओर उसे भावों में अनुरूपता लाने में सहायता प्राप्त होती थी ।

१५. उपर्युक्त गद्य और पद्यात्मक संवादों के अतिरिक्त आलोच्य-नाटकों पर अनुचित आवेग का दोषारोपण कियागया है । उनकी सफलता की कसौटी थी उतार-चढ़ाव से युक्त पात्रों के संवादों का सबसे पीछे स्थित चवन्नी वाले दर्शकों के लिए सहज श्रव्य होना । इसमें सन्देह नहीं कि स्वरविस्तारक यन्त्र के अभाव में पात्रों को अपने कंठ-स्वर को कुछ ऊंचा रखना पड़ता था जो बहुत भावपूर्ण स्थितियों में भी उसके समानुपात में तीव्र रहता था । किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं था । पात्रों के आंगिक और सात्विक अभिनय उस मन:स्थिति के पूर्णत: परिचायक थे जिसमें कि वह संवाद बोलाजा रहा है । आज के समान सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का अवश्य अभाव है,क्योंकि उस समय कार्यव्यापार को प्रधानता दी जाती थी । घटनाओं को अधिक महत्व प्राप्त था ।

१६. रंगमंचीय नाट्य-संवादों का विवेचन उनके कार्य एवं गुणों के आधार पर निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है ।

संवादों के कार्य

पात्रों के चरित्र का विकास

१७. ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि नाटककार की अपनी सीमाएं हैं । उपन्यासकार और कहानीकार से भिन्न संलाप व सम्भाषण ही उसकी यथार्थ शक्ति है,जिसके द्वारा वह पात्रों के व्यक्तित्व और उसके चरित्र की रूपरेखा प्रस्तुत करता है । कथोपकथन हमें पात्रों की सूक्ष्म बातें समझाने में सहायक होते हैं । पात्रों के भावों,विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का पता कथोपकथन से ही चलता है । किसी पात्र का अधिकांश चरित्र-चित्रण प्राय: उसी की बातचीत ही में होना चाहिए[१] ।पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटककार प्रधान अंग है ।

१- रामचरण महेन्द्र--हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार,प्र०सं० १९५५, पृ० १७

१८. संवाद द्वारा चरित्र-निरूपण निम्न शैलियों में किया जा सकता है --

१- दो या दो से अधिक पात्रों के सामान्य संलापों में ।

२- परस्पर के वार्तालाप में किसी पात्र का भावावेग में आत्मचरित्र विषयक कथन ।

३- स्वगत कथन में ।

४- किसी पात्र के सम्बन्ध में अन्य पात्रों के कथन द्वारा ।

१९. नाटक में पात्रों का सामान्य संलाप ही सर्वप्रमुख है । पारस्परिक वार्तालाप से न केवल घटनाओं का विकास सम्भव है, वरन् पात्रों के अन्तर्हृदय का परिचय भी इसी के द्वारा मिलता है । अत: स्वाभाविकता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि दैनिक वार्तालाप के समान ये संवाद संक्षिप्त व गत्यात्मक हों किन्तु उनके समान निरर्थक निष्प्रयोज्य व्यर्थ के व असंगत न हों । नाट्य साहित्य के अंग रूप में व दैनिक व्यवहार के वार्तालाप में यही अन्तर है कि जहां दूसरे में अनियमितता व निरर्थकता का भी समावेश है वहां नाटक में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है । यहां हर कथन का अपना प्रयोजन होता है, अपनी सीमाओं में उसकी उपादेयता है । रंगमंचीय नाटककारों में इस दृष्टि से थोड़ी शिथिलता मिलती है । वे यत्र-तत्र बहक गए हैं, किन्तु वह भी अर्थोपार्जन, निम्न वर्ग से आई जनरुचि का आग्रह, अपने अनुकरणीयआदर्शों की प्रतिच्छाया व नाट्यशास्त्र के विस्तृत व सम्यक ज्ञान के अभाव तथा नाटक की प्रारम्भिक अवस्था के परिणाम हैं । अन्यथा संवाद पूर्णत: पात्र-प्रकृति के अनुकूल, कथा चरित्र विस्तारक, गतिशील व ओजयुक्त हैं । यही कारण है कि इनके संवाद जनता को यों ही कंठस्थ रहा करते थे । उदाहरणों से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी --

प्रह्लाद-- मैं तो अब भी कहता हूं कि वे जगदीश हैं ।

कुम्हारी-- और मैं अब भी कहती हूं कि यह मिट्टी का घरौंदा है । जगदीश दूसरा है ।

प्रह्लाद-- तू अवश्य अपने किए का दण्ड पावेगी ।....

कु०-- तुम । और मुझे दण्ड ? बिल्कुल असम्भव है ।

प्र०-- असंभव है ? कारण ।

कु०-- कारण ? कारण यही है कि अगर मेरा जगदीश मेरा सहायक है तो कौन मुझे दण्ड दे सकता है ?[1]

२०. प्रह्लाद का राजसी अहंकार, अपने पद का गुरुत्व व कुम्हारी का अपने भगवान व भक्ति में अनन्य विश्वसनीयता इस छोटे से चलते संवाद में पूर्णतः मुखरित है । यह अभिव्यक्ति ही नाटककार का इष्ट है । इसी अनन्य भक्ति से आगे प्रह्लाद के चरित्र में परिवर्तन की सम्भावना का संकेत कथा के विकास का परिचायक है ।

२१. यदा-कदा जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं जब पात्र अपने मित्र और सहयोगियों के समक्ष अपनी दबी मनोवेदना, अपने अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष को किसी भावपूर्ण स्थिति में अभिव्यक्त कर बैठता है । ये एक प्रकार से स्वगत के प्रतिरूप हैं । अन्तर इतना है वहां एकान्त में अभिव्यक्ति होती है ; यहां किसी के समक्ष व्यक्तिकरण होने पर भी पात्र अपने से बोलता प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में भाषा के रूप में थोड़ी कलात्मकता आ जाना अस्वभाविक नहीं है ; ~~ऐसी स्थिति में भाषा के रूप में थोड़ी कलात्मकता आ जाना स्वाभाविक नहीं है,~~ क्योंकि वे पात्र की सामान्य अवस्था से विपरीत उसके भावावेश में निसृत उद्गार होते हैं । उदाहरणार्थ आगा हश्र 'काश्मीरी' के 'भीष्म प्रतिज्ञा' में अपने सात पुत्रों की अनवरत होती हत्याओं के उपरान्त राजा शान्तनु जब स्वेच्छाचारिणी रानी को आठवें पुत्र की हत्या पर कटिबद्ध देखते हैं तो उनका पितृ-हृदय अपनी परवशता के साथ मात्र विह्वल हो उठता है ।

शान्तनु--'यहां देखो छिन्नदल छाती चीरे बिना देख सकते हो तो यहां देखो... पिता के कर्तव्य और प्रतिज्ञा में युद्ध हो रहा है । यदि तुमने प्रकृति और प्रलय का संग्राम देखा होता तब समझ सकते थे कि हृदय और संतान स्नेह का युद्ध क्या भीषण युद्ध है... शांतनु । शांतनु । क्या इस रानी की तरह तू भी मर गया ?

१- क्यावाचक- 'भक्त प्रह्लाद', अंक१, दृश्य१, पृ०१४-१५

आज ममता की पुकार कर उत्तर दे और अपमानित कर किन्तु क्षमा तक जाता है[१]।

२२. घटनाओं की सूचना के साथ ही प्रस्तुत संवाद पुत्र जनित स्नेह और विवशता के अन्तर्संघर्ष का परिचायक है। पुत्रों की अनवरत होती हत्याएं महाराजा शांतनु के पितृ-हृदय को विचलित कर देती है, किन्तु पौरुष का अहं रानी के समक्ष अपने ही दिए शब्दों के कारण स्वयं परवश हो जाता है।

२३. प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने संवादों के प्रसंग में आकाशभाषित,जनान्तिक,अपवारित व स्वगत भाषण की विवेचना की है। अन्तिम को छोड़कर आज ये सभी प्रयोग नाट्य-जगत् में अमान्य हैं। अत्यधिक यथार्थवाद के आग्रह में स्वगत कथन भी विवादास्पद बना हुआ है। उसकी स्वाभाविकता आज स्वयं एक प्रश्न है। कहा जाता है कि यह कैसे सम्भव है कि जब दूर बैठा दर्शक कथन को सुन लेता है पास खड़ा अन्य पात्र न सुन सके। क्योंकि स्वगत में दूसरे पात्रों के रंगमंच पर उपस्थित होते हुए भी पात्र अपने हृदय की गुह्य बातों को अभिव्यक्त करता है, जिसे अन्य पात्र नहीं सुन सकते। इस दृष्टि से कितना ही अस्वाभाविक क्यों न हो, किन्तु इतना निर्विवाद है कि पात्रों की मन:स्थिति और अन्तर्संघर्षों की अभिव्यक्ति में इसका अपना महत्व है। स्वगत का प्रयोग मनोभावों के स्वरूप को तथा अन्तर्द्वन्द्वों को प्रेक्षकों के सम्मुख लाने के लिए कियाजाता है और यदि इसका चरित्र निर्माण के अतिरिक्त घटनाओं के विकास में महत्व है तब तो स्वगत का प्रयोग और भी वांछनीय है क्योंकि इसके बिना नाटककार पात्रों के उन मनोभावों से दर्शकों को परिचित नहीं करा सकेगा, जिनके घात-प्रतिघात का कथा पर प्रभाव पड़ता है। इसको समझे बिना नाटककार के उद्देश्य के अनुभवन व रसानुभूति में व्याघात पड़ेगा। स्वगत भाषण संसार की सुन्दरतम कविता के उदाहरणों में गिने जा सकते हैं। यह एक प्रकार से पात्र का मानसिक वार्तालाप है। किन्तु ध्यान रखने योग्य है कि अत्यन्त आवश्यक स्थलों पर व संक्षिप्त रूप में ही इसका प्रयोग होना चाहिए। जहां कहीं नाटककार भाषा-प्रभुत्व व कल्पनाशीलता की समृद्धि दिखलाने तथा दार्शनिक तथ्यों के विवेचन

१- हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई थी जिसमें पृष्ठ संख्या नहीं दी गई थी।

में लम्बे-चौड़े भाषण दिखा देता है वहां न केवल ये अपनी प्रेषणीयता खो बैठते हैं,वरन् उबाने वाले और अस्वाभाविक हो जाते हैं।

२४. आलोच्य नाटकों पर प्राय: आरोप लगाया जाता है कि ये घटना एवं कार्य प्रधान हैं। घटनाओं के घात-प्रतिघात एवं उनसे उद्भूत अन्तर्संघर्षों का उनमें अभाव है। यह आरोप आधारयुक्त नहीं है। घटनाओं की प्रधानता अवश्य है किन्तु एकगत जो रंगमंचीय नाटकों में भरे पड़े हैं वे पात्रों की मानसिक अवस्थाओं,भावों,विचारों तथा घटनाओं के घात-प्रतिघात के ही परिणाम हैं। उनके प्रयोग में स्वच्छन्दता अवश्य है। आज के नाटकों के समान सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिकता का उनमें अभाव मिलता है। किन्तु फिर भी वे प्रभावपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ-- --' हैं ? कौन बोला ? किसने पुकारा ? क्या कहा? लक्ष्मी देवी। लक्ष्मी देवी। यह विवाहिता लक्ष्मी देवी ? हां तुम भी हो। लक्ष्मी तुम भी साक्षात् कि लक्ष्मी हो.... मैं भूला। मेरे कलेजे की मीठी कसक चन्दा है। मेरा रुवां रुवां जिसको मुहब्बत के धागे में जकड़ा हुआ है वह मेरी रुहानी मुहब्बत चन्दा है'[1]।

२५. प्रस्तुत छोटे -छोटे से प्रश्न श्यामलाल के उस अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है, जिसमें पत्नी लक्ष्मी का अनन्य प्रेम, उसके प्रति अपना कर्तव्य और वेश्या चन्दा का रूपासक्ति जनित प्रेम उसे अपनी ओर खींचता है। मन का यह द्वन्द्व पूर्णत: मनोवैज्ञानिक है। प्रारम्भिक (१९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के) रंगमंचीय नाटकों में अवश्य ऐसे स्थलों का अभाव है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में जब कि हिन्दी ने रंगमंच पर अपना प्रभुत्व जमाया, कला की दृष्टि से नाटकों को पूर्वापेक्षा में कुछ अधिक संवारा गया इस प्रकार के स्वाभाविक व संक्षिप्त अन्तर्संघर्षों के प्रभूत उदाहरण उपलब्ध होते हैं। तत्कालीन नाटककारों ने अपने नाटकों को कला के अंग रूप की अपेक्षा समाज-सुधार के उपकरण के रूप में अधिक अपनाया था। समाज में फैली कुरीतियों का अंकन, व उसके दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराकर जन-जागरण का संदेश देना उनका प्रमुख उद्देश्य था। विभिन्न वर्गों से आई जनता की मनोरुचियों के अनुकूल मनोरंजन की सामग्री का भी देना अर्थोपार्जन की दृष्टि से आवश्यक था।

१- कथावाचक--'परिवर्तन' अंक १,दृश्य६,पृ०३३-३४।

यही कारण है कि वे चरित्रों की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दे सके । अपने विषय में गम्भीर विचार करके पूर्णत: अपने को प्रकाश में लाने की अपेक्षा उनके पात्र समाज-सुधारक अधिक हैं । मनोवैज्ञानिकता के अभाव का यही कारण है । वस्तुत: नाटककार चरित्र-विकास के महत्व और से भली भांति परिचित न थे ।

२६. मानसिक द्वन्द्वों की अभिव्यंजना के अतिरिक्त आलोच्य नाटककारों ने स्वगत का प्रयोग एक अन्य रूप में भी किया है । दुष्ट पात्रों की प्रकृति के सम्बन्ध में प्राय: उन्हीं के मुख से कथन कराए गए हैं, जिसकी पुष्टि आगे कथा के विकास के साथ स्वयं उनके कार्यों के द्वारा की गई है । उदाहरणार्थ--

सिकन्दर --

> 'मैं आतिश का फव्वारा हूं, दोज़ख का एक शरारा हूं ।
> हर घर में आग लगाने को, मैं गंधक बिजली पारा हूं ।
> मैं जिसको चाहूं ख़ाक करूं, दम भर में किस्सा पाक करूं ।
> दुनिया में आफत ढाने को, गोया मैं फ़ाहूू तारा हूं ।'[१]

नाटक की सम्पूर्ण घटनाओं के उतार-चढ़ाव में उसकी इसी प्रकृति का परिचय मिलता है ।

२७. ऊपर कहा जा चुका है कि जनान्तिक और आकाशभाषित का प्रयोग आलोच्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता। दुर्गाप्रसाद गुप्त के धार्मिक नाटक में एक स्थल पर आकाशभाषित का एक प्रसंग अवश्य उपलब्ध है । किन्तु इस प्रकार के प्रयोग अधिक नहीं हैं । इसमें एक पात्र आकाश की ओर मुख करके दूसरे पात्र की कल्पना करते हुए स्वयं बोलता है । प्रश्न, उत्तर, प्रत्युत्तर सब इसी एक पात्र के द्वारा होता है । यह एक प्रकार से अंग्रेजी नाटकों के 'स्लाइड' का प्रतिरूप है । स्वगत से इसकी भिन्नता इसी क्षेत्र में है कि वहां पात्र अकेला अपने मन की बात कहता है । यहां पात्र के एकाकी रहने पर भी किसी दूसरे पात्र की कल्पना रहती है और दो पात्रों के मध्य चलते संवाद के समान संभाषण एक अकेले पात्र से कराया जाता है । निम्न उदाहरण से तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाएगा --

---

१- अहसन लखनवी--'चलता पुर्जा', अंक१, दृश्य २, पृ०२१

राजा कुम्भ --'कहो । क्या कहा ? आप मेरी सहायता नहीं करते कि मैंने एक अबला को सताया है ? झूठ,सरासर झूठ । यदि सच हो तो बताओ वह कौन अबला है ? क्या कहा ? मीरा ? (रोता, उन्माद में) मीरा.... प्राणेश्वरी मीरा... । तुम कहां हो ? आओ,आओ मीरा आओ । क्या कहा ? अब न आओगी क्यों ? क्या मैंने बहुत सताया है ? हां , सताया है ।... फिर उपाय ? प्रायश्चित । हां हां प्रायश्चित करूंगा प्रायश्चित ।[१]' आगे इसके प्रयोग के अधिक प्रसंग उपलब्ध नहीं होते। धीरे धीरे ये पद्धति उठती जा रही है थी ।

कथावस्तु का विकास

२८. चरित्र निरूपण के अतिरिक्त कथा की गतिशीलता संवाद शक्ति का ही प्रमाण है । अत: संवादों के संयोजन में सतर्कता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । अनेक सीमाओं के साथ नाटककार पर समय का प्रतिबन्धता है । इसे रंगमंच पर अपनी कला को पूर्णता देनी होती है । अत: संलापों को सम्बद्ध,गत्यात्मक और सुनियोजित होने के साथ ही संक्षिप्त और प्रेषणीय होना चाहिए । व्यर्थ का वितंडावाद दर्शकों को एक झमेले में डाल देता है जिसमें मुख्य कथासूत्र पीछे छूट जाते हैं । श्रृंखला के टूटने से न केवल रसानुभूति में आघात पहुंचता है,वरन् कथा क्रम भी ठीक से समझ में नहीं आता ।

२९. रंगमंचीय नाटकों में प्रभावपूर्ण,गतिशील और शक्ति समन्वित संवादों के साथ ही ऐसे संवाद भी पर्याप्त हैं जो बिल्कुल निरर्थक हैं,जिनका कथावस्तु और पात्रों से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं । वे प्रधानत: दर्शकों को गुदगुदाने और एक हास्यपूर्ण वातावरण के निर्माण के लिए संयोजित किए गए हैं । उदाहरणार्थ --

सिकन्दर-- जी हां, मुद्दायका नेस्त कि तुम मुझको दर दे शहर शरबत फारोशी का मशगला दारम । हम यूं शरबते अनार, शरबते गुलाब,शरबते फिरौशीन,वा कुल हमकिस्म के शर्बत भी दारम ।
सालाभाई -- भई वाह, क्या फारसी छुआन है --
कुम्भन-- फायदा नीस्त कि दरजुबाने फारसी अल्फाजे हिन्दी दाखिल शव्द ।

१- दुर्गाप्रसाद गुप्त--'मीरा बाई', अंक ३, दृश्य २, पृ० १०६

सिकन्दर -- खुलासा है कि दर जुबाने हिन्दी खिचड़ी व बैंगन का सालन गड़बड़ गड़बड़[1]

३०. ऐसे संवादों का मुख्य कारण कम्पनी-मालिकों का व्यावसायिक प्रवृत्ति के साथ ही दर्शकों का वह वर्ग था, जो इन प्रसंगों में डूबकर अपनी दैनिक उलझनों को भूल जाता था। यह विस्तृत प्रेक्षक दल समाज के निम्न स्तर से सम्बन्धित था। उसकी रुचियां ऐसे ही भौंडे और भद्दे हास्य के अनुरूप थीं। किन्तु यह स्थिति सदैव नहीं रही। रुचि के परिवर्तन के साथ २० वीं शताब्दी के दूसरे दशक में हिन्दी नाटकों के रंगमंच पर प्रवेश के साथ ही इस क्षेत्र में पर्याप्त परिमार्जन हुआ। अब हास्य से तात्पर्य मात्र गुदगुदाना नहीं, वरन् व्यंग्य मिश्रित स्मित से था।

३१. नाटक केवल वर्तमान में आबद्ध नहीं होता। इसमें भूत और भविष्य की घटनाओं व तद् सम्बन्धित बातों की भी चर्चा होती है। कथावस्तु के सम्यक् प्रवाह के लिए प्राचीन भारतीय नाट्यविदों ने स्थान और समय की एकता के विचार से इस प्रसंग में प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार--का विवरण दिया है जिनके द्वारा मुख्य घटनाओं का संकेत दिया जाता है। किन्तु आधुनिक नाटककार इस वितंडावाद में न पड़कर पात्रों के सम्भाषणों में ही भूत और भविष्य की सूचना देकर इसकी पूर्ति कर लेते हैं।

३२. रंगमंचीय नाटकों के संवाद कथा को प्रवाहशील बनाने व घटनाओं की सूचना देने इन दोनों दृष्टियों से पूर्ण सक्षम है। निम्न उदाहरण इसकी पुष्टि के प्रमाण हैं --

(१) नौशरवा-- 'उफ़! तुम्हारे पास दिल नहीं है।

चंगेजखां-- क्या? मेरे पास दिल नहीं है?

नौ०-- हां। नहीं है। और अगर है भी तो बेकार है, सुराग़दार है जिन सुराग़ों से शैतान आता जाता है। आखिर इतनी बात चाहते हो तो उससे क्या चाहते हो?

चं० -- मौत? मौत? नादिर की मौत? जहां तक उसके बदन में रूह के पुर्जे दौड़ते होंगे वहां तक मौत। जब तक मेरी प्यास उसके आखिरी कतरे से न बुझेगी तब तक मौत मौत बस मौत।'[2]

१- 'बल्लभ' उपनाम- 'कलवा पूर्वा' अंक १, दृश्य ६, पृ०४५-४६

२- आगा हश्र काश्मीरी --'असीरे हिर्स', पृ० ६०

३३. हिर्स में डूबे चंगेज का हिंसात्मक वृत्ति के परिचय के साथ ही प्रस्तुत संलाप घटनाओं के उतार-चढ़ाव का परिचायक है, जिसमें राज्याभिलाषा से प्रेरित चंगेज नासिर की हत्या के लिए बेचैन है ।

(२) सती -- 'तो क्या पिता अपनी पुत्री का तिरस्कार करेगा ?

शंकर -- करेगा । अहंकारी होने के कारण ।

स० -- माता भी विवशता हो जायगी ?

शं० -- हो जायगी । पराधीन नारी होने के कारण ।

सं० -- बहनें भी प्रेम से नहीं मिलेंगी ।

शं०-- नहीं मिलेंगी, मेरे भिखारी होने के कारण ।

स० -- सम्पूर्ण देव समाज भी मौन रहेगा ?

शं०-- रहेगा । यज्ञ की मर्यादा प्यारी होने के कारण[1] ।'

३४. प्रस्तुत संवाद जहां दक्षराज और शंकर के मनोमालिन्य का संकेत देता है, वहां कथा को विकसित करते हुए आगे की इस घटना की सूचना भी देता है कि निकटभविष्य में पितृ-गृह जाने पर सती का अपमान होगा किन्तु उपस्थित वर्ग कुछ न कर सकेगा ।

३५. इन सीधे और सामान्य संवादों के अतिरिक्त नाटककारों ने यत्र - तत्र सांकेतिक शैली का प्रयोग किया है । इससे उद्देश्य सिद्धि के साथ ही कथन में वक्रता और सौन्दर्य आ गया है । उदाहरणार्थ--

(३) मंगल--'बिजली किस प्रकार रह रह कर चमक जाती है ?

कृष्ण-- जिस प्रकार क्षुद्र मनुष्य की प्रीति में ओछाई पाई जाती है ।

मं० -- कभी वेग से पवन चलता है तो बादल छितर-बितर हो जाते हैं ।

कृ० -- इसी प्रकार अधम के जन्म लेने से धर्म और लक्ष्मी नष्ट हो जाती है ।

मं०-- कभी अंधेरा और उजाला दृष्टि आता है ।

कृ०-- जिस प्रकार भली और बुरी संगत से ज्ञान उत्पन्न होता है और दब जाता है[2] ।'

१- राधेश्याम कथावाचक-- 'सती पार्वती', अंक २, दृश्य ५, पृ० १३५

२- आनन्दप्रसाद कपूर--'बिल्वमंगल' अंक १, दृश्य ८, पृ० ४७

३६. एक पात्र के वाक्य की दूसरे के द्वारा पूर्ति करने वाली यह कथन-शैली सम्पूर्ण आगामी कथासूत्रों के साथ बिल्व के चरित्र, उसमें आने वाले उतार-चढ़ाव व परिवर्तनों को समाहित किए हुए है। बिल्व की वैश्या चिन्ता के प्रति गहरी आसक्ति, तज्जन्य मोह में अपने कर्तव्यों का विस्मरण, किन्तु सत्संगति के प्रभाव में वैश्या चिन्ता में परिवर्तन व उसके प्रति अपनी आसक्ति के फलस्वरूप अन्धकार में डूबे बिल्व में होने वाले रूपान्तर ,उसके ज्ञान के प्रकाश आदि समस्त बातों का परिचय इन थोड़े से संकेतात्मक कथनों से मिल जाता है। गुणों के आधार पर रंगमंचीय नाट्य संवादों का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है--

यथार्थवादी संवाद

३७. यथार्थवादी संवादों से तात्पर्य है कि पात्रों के मुख से निसृत कथन उसके हों, ऊपर से लादे,थोपे और आरोपित प्रतीत न हों। वे उसी प्रकार यथार्थ और वास्तविक हों जिस प्रकार वस्तुजगत में उन परिस्थितियों में जिनमें पात्र स्थित है, हम बोलते। यही संवाद की स्वाभाविकता है। किन्तु यहां यह स्मरण रहे कि स्वाभाविकता का यह तात्पर्य नहीं कि किसी विशेष अवस्था में अधिकांश मनुष्य जो करते हों,कहते हों या सोचते हों वही स्वाभाविक है। यहां व्यक्ति-विशेष का महत्व है अर्थात् व्यक्ति विशेष के संवादों का उसके पद,मर्यादा और स्वभावानुसार होना ही स्वाभाविक है। इसके लिए नाटककार को संवादों की नियोजना के पूर्व ही इस कल्पना में स्पष्ट होना चाहिए कि उसे अपने पात्रों को किस रूप में व कैसे चित्रित करना है? तभी वह उन परिस्थितियों के अनुरूप संवादों की योजना में सफल हो सकेगा।

३८. ऊपर संकेत किया गया है कि रंगमंचीय संवादों के सम्बन्ध में अधिकांश आलोचकों की धारणा है कि वे अस्वाभाविक व आडम्बरपूर्ण है। किन्तु इससे तात्पर्य क्या है? किस क्षेत्र में ये अस्वाभाविक हैं? इसकी विवेचना किसी समीक्षक ने नहीं की। आज की उन्नत नाट्य-विधा के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करने पर पात्रों के उच्च स्वर से बोलने,बीच-बीच में शेर-शायरी और पद्य संवादों की प्रचुरता के कारण ही प्रस्तुत निष्कर्ष दिए गए प्रतीत होते हैं। लेकिन यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि साधनों के अभाव के अतिरिक्त पारसी रंगमंचीय

नाटकों की यह अपनी विशिष्ट नाट्य-शैली थी । अतः पूर्वाग्रह छोड़कर इसके अपने नियमों के अनुसार समीक्षा करना औचित्यपूर्ण होगा । यह अवश्य चिन्तनीय है कि नाटककार चरित्र सामंजस्य को ठीक से नहीं समझ सके । पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों को जहां एक ओर आदर्श रूप दिया गया है, वहां दूसरी ओर वे उन्हें समाज के सामान्य धरातल पर ले आए हैं । फलतः उनके कथन उनके पद, मर्यादा और स्वभाव के समानुरूप नहीं रह पाए, वरन् कहीं-कहीं तो काफी निम्न-स्तरीय हो गए हैं । इस क्षेत्र में अवश्य थोड़ी अस्वाभाविकता है । उदाहरणार्थ--

शंकर--' देखता हूं सृष्टि कर्ता की पदवी पाते ही तुममें गर्व उत्पन्न हो गया है ।

दक्ष -- शंकर मुंह संभालो ।

शं० -- दक्षराज आंखें न निकालो ।

द० -- अन्यथा ?

शं० -- पछतावोगे, अपनी भूल पर एक दिन अपने आप आंसू बहावोगे[1] ।'

३६. शंकर और दक्ष का यह पारस्परिक वादविवाद और उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली उन्हें उनके दैवी स्तर से एकदम सामान्य मनुष्य के रूप में ले आती है । कहीं-कहीं नाटककार इससे भी नीचे उतर आए हैं । ऐतिहासिक पात्रों की सापेक्षता में पौराणिक पात्रों के साथ यह अन्याय अधिक हुआ है । इस स्थिति के लिए निम्न रुचि का प्रेक्षक भी अधिक उत्तरदायी है । व्यापारिक वृत्ति की अभिप्रेरणा से कम्पनी मालिकों को समाज के निम्न स्तर से आए प्रेक्षकों की उन धार्मिक मनोभिरुचियों की सन्तुष्टि करनी पड़ती थी, जिनमें वे राम कृष्ण आदि पौराणिक पात्रों को रंगमंच पर देखने के साथ ही लौकिक मनोरंजन की वांछा रखते थे जिससे दिन भर की अपनी मानसिक थकान को भूलकर उत्तेजक-प्रसंगों से वे अपना दिल-बहलाव कर सकें । इसी से नाटककारों ने जहां पौराणिक आदर्शों के स्थापन की चेष्टा की है, वहीं वे वर्तमान में भी बहक गए हैं । दोनों कालों में सामंजस्य बैठा सकने की प्रतिभा के अभाव में वे अपने पात्रों को वह रूप न दे सके जो देना चाहते थे ।

४०. कुछेक इन प्रसंगों को छोड़कर रंगमंचीय संवाद पूर्णतः स्वाभाविक और पात्रानुकूल है । विभिन्न वर्गों के संलापों के निम्न उदाहरणों[3] से इसकी पुष्टि हो सकेगी ।

१. कथावाचक -- सती पार्वती, अंक १, दृश्य १, पृ० १२

४१. सहेलियों की पारस्परिक वार्ता--(हास्य,विनोद और कुहल का प्रधानता)

१ सहेली--ऐ, चल रहने भी दे । तू हमेशा दूसरों की बातों का खण्डन मण्डन करती है । कभी भी समर्थन करती है ? तेरी यह जनम की आदत अभी छूटी थोड़े ही है ।

५सहेली-- नहीं जो मैं कहती हूं वह अक्षार-अक्षार ठीक है ।

१सहेली-- ठीक है तेरा सर ।

५सहेली -- तेरा सर ना ।...[1]

४२. स्त्रियों की अपने कथनों को व्यंग्य सम्पुष्ट बनाने की प्रवृत्ति--

लक्ष्मी--वह कौन ? अजी वही भोले भिखारी ।

पार्वती(स्वगत)--यह मारी ताने की कटारी । (प्रकट) अजी वो राजा बलि के यज्ञ में भीख मांगने आए हैं ।

सावित्री-- खूब बदला लिया । उसका तमाचा उसी के मुंह पर दिया ।

लक्ष्मी-- अजी मैं तो पशुपति को पूछती हूं ।

पार्वती-- वो तो गोलोक में गायें चराते होंगे ।

सावित्री-- शाबाश री बेबाक, जिसकी छुरी उसी की नाक ।....

लक्ष्मी-- मैं तो उस सांपों के आभूषण वाले को पूछती हूं ।

पार्वती --तो क्या शेषनाग की शय्या पर विराजने वाले की भी तुमको खबर नहीं ?[2]

स्त्रियां स्वभावत: सीधे-सादे ढंग से वार्तालाप करने के स्थान पर बीच-बीच में व्यंग्य का पुट देती जाती हैं । लक्ष्मी,पार्वती और सावित्री जैसी देवियों से श्रृंगार रससिक्त उक्त प्रकार के कथन कराकर नाटककार उन्हें सामान्य स्त्रियों के धरातल पर ले आया है किन्तु स्त्री मनोविज्ञान के विचार से प्रस्तुत संवाद पूर्णत: स्वाभाविक और नाटककार की सूझ का परिचायक है ।

१- आत्मानन्द 'अमरोही' -'सती लीला',अंक२,दृश्य१०,पृ०१००

२- नारायणप्रसाद 'बेताब' -'पत्नी प्रताप', अंक १, दृश्य २, पृ० १६

(३) [४३] पति पत्नी --

शिव-- 'मैंने तुम्हारी शंका समाधान करी । अब तुम मेरी शंका समाधान करो ।

सती -- (नीची गरदन करके) मुझमें आपकी शंका समाधान करने की शक्ति नहीं है ।

शिव-- फिर और किसमें है ?

स० -- आप अन्तर्यामी है, यह रहस्य आप ही जान सकते हैं ।

शिव-- नहीं प्रिये । वास्तव में मैं नहीं जानता ।

स०- हां, हां चलो रहने भी दो । मैं जान गई'[१]...

(४) ४४. ग्रामीणों की मनोवृत्ति-

सांदीपन--'अपना पाण्डित्य सिद्ध करने के लिए तो मैं शास्त्रार्थ नहीं कर सकता ।

सब ग्रामीण-- हरे है रे हरे है ।

सां०-- हां यों घड़ी दो घड़ी किसी विषय पर बातचीत में कोई हानि नहीं है ।

मनवा-- ऊपल्ले मनहूं कहे है--'भीतल्ले से जान चुरावे हैं' ।

धनवा-- बाहर हमारे पण्डत की विद्या राजपुतों की छाछ पी पीकर बढ़ी है ।

मनवा-- ठे सुन ठे रे महाराज । तो कूं बहस करनी ही होगी।[२]

प्रस्तुत संवाद अपने गुरु की विद्वत्ता में अनन्य विश्वास से प्रेरित ग्रामीण पात्रों की उद्दण्डता और निर्भीकता का साकार चित्र है ।

(५) ४५. पण्डों की मनोवृत्ति

१पण्डा--' हे पाखंला, तु दक्षिणा कैसा लेगा ? मेरे तो यजमान हैं । सोलहों आना हक मेरा है । मत बोल ।

२पण्डा-- वाह वाह । खूब कहल । साथ साथ दर्शन पर्शन किया करामा दक्षिणा के वक्त हम कोई नाहीं ।

३पण्डा-- (गुस्से से) हे दूर रह । ई लोगन का यजमान और हम कोई नहीं ।

१पण्डा-- अच्छा तो देखिला न के लेला ? कैसे कोई लेई ?

२पण्डा-- और हम लेब । देखिला न के रोकला ? ई कोई के बाप का साझा नाहीं बाय ।'[३]

१- आत्मानन्द 'अमरोही' - 'सती लीला', अंक २, दृश्य ८, पृ०८७

२- नारायण प्रसाद 'बेताब' -'कृष्ण सुदामा' अंक १, दृश्य४, पृ०१६

३- हरिशंकर उपाध्याय 'श्रवणकुमार', अंक२, दृश्य५, पृ०७०

तीर्थस्थानों पर दर्शनाभिलाषियों को देखकर पण्डे न केवल उन्हें घेर लेते हैं, वरन् दर्शन के समय उनके पीछे-पीछे चलकर वृत्ति के समय अपने-अपने यजमान बनाकर उनके पारस्परिक संघर्ष के दर्शन प्रायः ही तीर्थस्थलों पर होते हैं । प्रस्तुत संवाद उसी का साकार चित्र है जो प्रभावपूर्ण होने के साथ ही हमें उन स्थलों की फांकी दिखलाता है ।

४६. उपर्युक्त सभी संवाद अपने वर्ग की मनोवृत्ति के परिचायक हैं । विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों का वार्तालाप किस रूप में चलता है, इन उदाहरणों से भली भांति स्पष्ट है । इसके साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न और है । स्वाभाविक संवाद की विवेचना के समय स्वीकार किया गया है कि वे पात्र प्रकृति के अनुकूल हों । किन्तु विभिन्न पात्रों का प्रवृत्यानुसार क्या तद्देशीय भाषा, विभाषा और उपभाषा का प्रयोग होना चाहिए ? यदि ऐसा हुआ तो दर्शकों को रसानुभूति में कठिनाई होगी । वे भाषा को समझने में ही उलझे रहेंगे । फलतः नाटक अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सफल न हो पायेगा । इसी से आचार्यों का मत है कि नाटक की भाषा आदि से अन्त तक एक रहे । यदि नाटककार विभिन्न प्रदेश के व्यक्तियों का समावेश करता है तो उसे अपने वाक्यों के उच्चारण और वाक्य स्वरत्व(वाक्य कहने का ढंग) इस प्रकार विकृत कर देना चाहिए कि अर्थ समझने में भी बाधा न हो और जिस देश का पात्र है उस देश के उच्चारण और ध्वनि से पात्र के देश और उसकी विशेषता भी व्यक्त हो सके । आलोच्य नाटककारों ने इस प्रथा का पूर्णतः निर्वाह किया है । विभिन्न प्रदेशों के पात्रों के संवादों में वे उनकी प्रादेशिक बोलियों का रंग अवश्य दे देते हैं किन्तु वाक्य विन्यास नाटक की अपनी भाषा में है । इससे संवाद काफी सजीव व सप्राण बन सके हैं । निम्न उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं--

४७. मारवाड़ी पात्र--

(१) कक्कड़--(रोकर) भाया यो के करो हो ? से काम बिगड़ जासी ।

लोढ़ामल--क्यों के बात है ? कुछ बतावोगा भी ।

कक्कड़-- म्हारो दोस्त सुदर्शन पुरी गांधी के दल को है । वा म्हारो सुख को कांटो हो रहयो है । वे पैलीस कचिये में जाकर छह गयो है ।'[1]

४८. गुजराती, मराठी, बंगाली आदि पात्र--

(२) कुलसकी रोहित-- हां सेठ जी, मुझे भी इनके साथ खरीद लीजो ।

दिल्लीवाला -- भाई अपना रोजगार तो जवाहिरात का व्यापार है । कुछ हीरा पन्ना हो तो हम लेने को तैयार हैं ।

---

१. बल्देव प्रसाद खरे-- 'सम्राट परीक्षित', अंक १, दृश्य ३, पृ० २५

तारामती-- माधवी दया करो और दैन से छुड़ाकर मुझे दासी बना लो ।

बनिया-- आजना जमानामां पोतानु पेट भरह भारी पड़े छे । तयां बनी बिजानु
        गुजरात ते कयम थई शके । (मरहठा से) राव शाहब तुमीं ग्यालनी ।

मरहठा-- न को दादा । मार्जा तीन बायका है, त्यानंचा पोट नाप भरत तर
        छ्यांना घेऊन काम करूं (बंगाली से) छ्यां दादा तुमीं घ्या ?

बंगाली-- न माशा । आमरा ई शोब चाईना, एके नीये आर्मा की कोर मो ?
        चालो माशा चालो[1] ।'

४६. अंग्रेजी शिक्षित पात्र--

(३)

सूर्य सिंह -- गुड ईवनिंग मामा ।

कौशल्या-- अरे मोर बछुआ मैं तोरे कुरबान गई । नयन देखन का तरस रहे । मात
        पिता उमुअब लग तोरे कारन जिये ।

सूर्य०-- थैंक यू । कम्बख्त इण्डियन कुली का तमाम कपड़ा बदबु मारता है ।....
        जब से हम विलायत छोड़कर इण्डिया में आया है तबियत बिल्कुल खराब
        है । विलायत बौत अच्छा जाह है । इधर का मैन नैटिव है गंवार है बड़ा
        पैटू है[2] ।'

५०. पारसी रंगमंच पर हिन्दी के प्रवेश के लगभग तीन दशक पूर्व से उर्दू नाटक जन मनोरंजन में सन्नद्ध थे । हिन्दी नाटककारों को यही परम्परा विरासत में मिली जिसकी प्रतिच्छाया उनके नाटकों पर पड़ना स्वाभाविक ही था । इसी का प्रभाव था कि नाटककारों ने न केवल मुस्लिम पात्रों से वरन् हिन्दुओं से यहां तक कि उनके पौराणिक आदर्श पात्रों के मुख से यत्र-तत्र उर्दू बहुल ऐसी भाषा प्रयुक्त की है, जो उस काल और संस्कृति से अपनी असमानता के कारण खटकती है । इस प्रारम्भिक स्थिति से आगे भाषा का परिमार्जन अवश्य हुआ, किन्तु उसका रूप सरल हिन्दुस्तानी ही रहा । विस्तृत विवेचन भाषा के प्रकरण में किया जायगा ।

१- विनायकप्रसाद 'तालिब' -- 'सत्यहरिश्चन्द्र', अंक१, दृश्य१, पृ०७७

२- किशनचन्द 'जैबा' --'गरीब हिन्दुस्तान', अंक१, दृश्य१, पृ०३६

साहित्यिक संवाद

५१. वास्तविक मनुष्य के प्रतिरूप अभिनेता के समान नाटकीय संलाप भी वस्तु जगत के यथार्थ वार्तालाप की प्रतिकृति है । अत: उसकी योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि वे पात्रों के मुख से निकले स्वयं उनके कथन प्रतीत हों । इससे यह तात्पर्य नहीं कि वे अपने स्वरूप में साहित्यिक सौष्ठव सम्पन्न नहीं हो सकते । रंगपीठ पर जिन दो व्यक्तियों में वार्तालाप होता है, वह वस्तुत: उनके लिए नहीं, वरन् दर्शकों के लिए उसकी योजना की जाती है । अत: हमारे प्रतिदिन के पारस्परिक वार्तालाप से इसमें थोड़ी भिन्नता होना आवश्यक है, क्योंकि नाटक साहित्य का एक अंग है, जहां रस तत्व की प्रधानता है । नाटकीय संवाद की साहित्यिकता से तात्पर्य है कि साधारण बातचीत में जो असंगति आवृत्ति पुनरावृत्ति व अन्य निरर्थक बातें होती हैं, उनका नाटक में समावेश न हो अन्यथा रसाघात की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी ।

५२. अलंकृत लच्छेदार और काव्यप्रधान भाषा में अपने संवादों को सजा देना ही साहित्यिकता नहीं है जैसी कि साधारणत: धारणा है और जिसके फलस्वरूप आलोच्य नाटकों पर साहित्यिक रुचि विहीनता का आरोप लगाया जाता है । भारतीय नाट्याचार्यों ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाटकीय संवाद का रूप तो साहित्यिक रहे, किन्तु ढंग स्वाभाविक बातचीत का हो[1] । पात्रों के संलाप का कोई भी अंश जो दर्शकों की वृत्ति को आकृष्ट करता है, उनके मन को छूता हुआ उसपर अपने प्रभाव की रेखा छोड़ता है, अपने स्वरूप में साहित्यिक हैं । इस दृष्टि से रंगमंचीय संवाद सौन्दर्य रहित नहीं कहे जा सकते । निम्न उपशीर्षकों में इनकी साहित्यिकता की समीक्षा युक्तियुक्त होगी ।

(अ) आलंकारिक कथन

५३. अपेक्षित अवसर होने पर यदि पात्र की मन:स्थितियों के अनुकूल उसकी सामान्य उक्तियों में थोड़ी वक्रता और अलंकारिकता का विधान हो

१- 'स्वरूपे साहित्यिकी वार्तावृत्तिश्च स्वाभाविकी-' १६५
अभिनय नाट्यशास्त्र, पृ०३८२

तो वे अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती हैं। किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उनकी नियोजना पाण्डित्य एवं चमत्कार प्रदर्शन के हेतु न हो। आलोच्य नाटकों में चमत्कारिकता की प्रधानता अवश्य है, किन्तु इसके लिए नाटककारों ने उक्तियों की वक्रता के स्थान पर अलौकिक एवं अद्भुत दृश्य विधान का अवलम्बन अधिक ग्रहण किया है। जहां कहीं अलंकार प्रयुक्त हैं वे अपने सहज और स्वाभाविक रूप में हैं। मत्स्यगंधा सत्यवती की रूप श्री पर मुग्ध राजा शांतनु का यह कथन इस बात का प्रमाण है --

शांतनु-- (सत्यवती को देखकर) 'कैसा अलौकिक रूप है मानो यमुना जल से स्वर्गीय ऊषा का उदय हुआ है। मानो सौन्दर्य सरोवर का कमल बहकर यमुना के तट पर आ गया है।

शिवदत्त-- नरेन्द्र! आप विस्मित आंखों से कैसे देख रहे हैं?

शांतनु-- जिसे देखकर चित्रकार की लेखनी और कवि की कल्पना मंत्रमुग्ध हो जाती है।[1]

५४. उपमा और उत्प्रेक्षा को अपने कथन में सामान्य ढंग से प्रयुक्त करके नाटककार ने जहां अपने कथन को सौन्दर्य दिया है, वहीं अपनी बात को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंजित करने में भी सफल हो सका है। अलंकारों की यही उपयोगिता है कि जिस बात को हम जितनी तीव्रता से अनुभव करते हैं, पाठक व प्रेक्षक को भी वैसी ही अनुभूति करा सकें।

(ब) भावात्मक कथन

५५. भावावेग में बोले कथन सामान्य कथनों की अपेक्षा अधिक मधुरिम, कल्पनात्मक और उत्तेजक होते हैं। राम द्वारा परित्यक्त वनवासिनी सीता वाल्मीकि के मुख से अयोध्या और राम का नाम सुनते ही स्मृतियों के भंवर में डूबने उतराने लगती है--

सीता-- 'अरे यह क्या? अयोध्या का नाम सुनते ही हृदय की टूटी हुई वीणा का प्रत्येक तार यौवन की मधुर रागनियों से क्यों गूंज उठा। ना... ना... मो

१- आगा हश्र --'भीष्म प्रतिज्ञा' (हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई थी)

सुख का दृश्य था । बहते हुए पानी पर बिजली की मुस्कराहट का प्रतिबिम्ब था । आंखों का भ्रम था । कल्पनाओं का स्वप्न था.... हां हां निश्चय स्वप्न था... किन्तु... किन्तु... एकबार दयामय,केवल एक बार.... देवता के भी हाथ छूटे, देवता का धाम भी । जाइए,प्रभु, जाइए अयोध्या की प्रजा के लिए मेरा आशीर्वाद भी लेते जाइए और प्रणाम भी[1] ।'

५६. इस प्रकार के संवाद २० वीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही जब कि हिन्दी ने रंगमंच पर प्रवेश किया, उपलब्ध होते हैं । इससे पूर्व के नाटकों में ऐसे स्थल कम ही हैं ।

(स) लाक्षणिक ~~मूल्य~~ कथन

५७. अभिधा के अतिरिक्त साहित्य में उसकी लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का अपना महत्व है । कथनों में यत्र-तत्र लक्षणा का प्रयोग उसे अद्भुत ,चमत्कृत और सौन्दर्य सम्पन्न बना देता है । इसकी तात्विक विवेचना से परिचित न होते हुए भी रंगमंचीय नाटककारों ने अपने पात्रों के संवादों में यत्र तत्र लक्षणा की नियोजना द्वारा कथा को गति व संलापों को एक हृदयग्राही वक्रता दी है । यथा--

वीरभद्र--'नहीं, बड़े आदमियों के ऐसे शब्द तो ग़रीबों के लिए आशीर्वाद हैं ।

किशोरी-- अब समझी दर्पण है ।

वी०-- परन्तु धुंधला ।

कि० -- हृदय है ।

वी०-- परन्तु कांपता हुवा ।

कि० -- रत्न है ।

वी०-- परन्तु बिका हुवा ।

कि०-- ~~प्र~~ फूल है ।

वी०-- परन्तु बढ़ा हुवा । देवी चकोर चन्द्रमा को प्यार करता है पर उसे छू नहीं सकता । कमल सूर्य को देखकर खिल जाता है पर उसके पास तक पहुंच नहीं सकता[2] ।'

१- आगाहश्र --'सीता बनवास',अंक२,दृश्य१.(हस्तलिखित)

२- राधेश्याम कथावाचक-'महर्षि वाल्मीकि',अंक१,दृश्य५,पृ०५७

वैभव के बीच में खेलती किशोरी के प्रति वीरभद्र के ये कथन किशोरी के प्रति उसके वासना रहित स्नेह की अभिव्यक्ति देते हैं । इसके साथ ही यह शान्ता से अपने आत्मिक बन्धन का संकेत भी दे देता है । उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त रंगमंचीय नाट्य संवादों में निम्न विशेषताएं उपलब्ध हैं--

हास्य और संवाद

५८. प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि हिन्दी नाटकों के विकास की यह प्रारम्भिक स्थिति थी । संवादों की वास्तविकता और उपादेयता से ये नाटककार भली भांति परिचित न थे । इसी अज्ञानता के कारण उनके नाटकों में संलाप का एक विकृत रूप भी उपलब्ध है, जहां वे न पात्रों के चरित्र का निवारण करते हैं न कथा की गति का विकास और न ही वे अन्य किसी नाटकीय निर्देश के सूचक हैं । इनकी उपादेयता एकमात्र ऐसे वातावरण की सृष्टि में है जो अपने दर्शकों को गुदगुदा सके । उदाहरणार्थ--

मड्डक--'आपका नाम नामी, आइए जनाब गिरामी ।
कालौल-- शेख कालौल ।
म०- -- बाप का नाम ?
क०- -- इब्न कालौल ।
मड्डक -- आपके दादा का नाम ?
क० -- इब्न कलौल ।
म०-- आपकी मां का नाम ?
गुलबैरा-- फटी हुई ढोल ।
क० -- चुप वे नहीं तो मार दूंगा एक पिस्तौल[१] ।'

५९. ध्वन्यात्मकता से हास्यपूर्ण वातावरण का निर्माण करने वाले ये अर्थहीन और निरर्थक संवाद आज असंगत भले ही प्रतीत हों, किन्तु उस युग में जब कि कलातत्व के स्थान पर मनोरंजन की प्रधानता थी, व्यापारिक दृष्टि से इनकी अपनी उपादेयता थी । समय के विकास व जन-रुचि के परिमार्जन के साथ इस प्रकार के उदाहरणों का अभाव होता गया । बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं जहां प्रेक्षक इस प्रकार के भोंडेपन से अब ऊब चुके थे ।

१--आगा हश्र काश्मीरी- 'सफेद खून',अंक२,दृश्य२,पृ०५६

वे ऐसा हास्य चाहते थे जो व्यंग्य मिश्रित और चुटीला हो तथा मूल कथा से सम्पृक्त हो ।

६०. इस प्रवृत्ति का अन्त अवश्य हो गया किन्तु शेक्सपियर के नाटकों की प्रतिच्छाया में हिन्दी नाटकों में संवादों का वह रूप बना रहा जहां ओज और दृढ़ता की अबाध धारा प्रवाहित थी । पात्र एक या कुछ संक्षिप्त शब्दों में अपने चरित्र की दृढ़ता और स्थिरता व्यक्त करते हुए कथा को तीव्र गति देते हैं --

ख़ाकान-- 'तू गुस्ताख है ।

असलां-- मगर ख़ुशामदबाज भी नहीं ।

खा० -- तू सख़्त परवर है ।

अ० -- मगर सख़्त साज नहीं ।

खा० -- कुव्वती ।

अ० -- मगर रास्तगुफ़्तार ।

खा० -- अहमक़ ।

अ० -- मगर आप से ज्यादा हुशियार[१] ।'

ख़ुशामदपसंद ख़ाकान और उसका वफादार वजीर असलां जो मित्र हितैषी होते हुए भी ख़ुशामदी प्रकृति का नहीं है । इस छोटे से संलाप से अपने चरित्र की रूपरेखा के साथ-कथा को नए मोड़ पर लाकर खड़ा कर देते हैं ।

६१.आलोच्य नाटकों में इस प्रवृत्ति का आगमन इण्डियन शेक्सपियर आगा हश्र के द्वारा हुआ,जिन्होंने शेक्सपियर की नाट्य प्रवृत्तियों को अपने नाटकों में प्रतिबिम्बित करने की अथक चेष्टाएं कीं । अपने उद्देश्य में आगा हश्र साहब सफल भी हुए । किन्तु जहां कहीं इस संवाद रूप को थोड़ा विस्तृत और लम्बा कर दिया गया है वे उबाने वाले व अस्वाभाविक हो गए हैं ।

नग़मा-- सच्चे हो ?

असलम-- मोती की तरह ।

न० -- मुस्तकिल हो ।

१- आगा हश्र - 'ख़ूबसूरत बला', अंक१,दृश्य१,पृ०६

अ० -- मौत की तरह ।

न० -- साफ दिल हो ?

अ० -- आईने की तरह ।

न० -- वफादार हो ?

अ० -- परवाने की तरह ।

न० -- साथ दोगे ?

अ० -- आमाल की तरह ।

न० --पास रहोगे ?

अ० -- कब्र की तरह ।

न० -- दुनिया के सामने भी ?

अ० -- हां, हां दुनिया के सामने भी और खुदा के सामने भी[1] ।

६२. अर्थ की अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रस्तुत संवाद अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता । कभी-कभी एक शब्द ही पूर्ण वाक्यत्व का बोध कराता है । अत: यह आवश्यक नहीं है कि पात्रों के संवाद पूरे वाक्य में हों । किन्तु इस प्रकार के संवादों की प्रभविष्णुता के लिए आवश्यक है कि वे अपने रूप में संक्षिप्त हों । संवादों की दृष्टि से अनुवादों में इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है ।

६३. पात्रों के कथनों को प्रभावशाली बनाने के लिए संवादों के बीच में शेर शायरी का प्रयोग पारसी रंगमंचीय नाटकों की अपनी विशेषता है । वस्तुत: पद्यात्मक कथनों के समान ही यह उनकी अपनी नाट्य-शैली थी जो विरासत में मिले उर्दू नाटकों की परम्परा में पोषित हुई । जनता की उर्दू कविता के लालित्य व सरसता के प्रति आकर्षण से भी इस प्रवृत्ति को बल मिला । निम्न उदाहरण इसकी प्रभावपूर्णता का परिचायक है--

अजीज--' खबरदार भाई । आपके सामने एक बाजारी रण्डी शरीफ़ और अस्मतदार को धक्के दे रही है फिर भी आप खामोश खड़े हैं ?

१- 'बहसन लखनवी. --'चलता पुर्जा',अंक२,दृश्य१,पृ०६१ .

'कहो इंसाफ से खुद सर है अच्छा या खुदा अच्छा ।
दिले गम दोस्त अच्छा या कि इसने खुदनुमा अच्छा ।'

जसवन्त-- मैं मजबूर हूं अज़ीज ।

अ०-- आप मजबूर नहीं अंधे हैं । जरा इंसाफ कीजिए कहां बीबी और कहां रण्डी ।

'ये मिसाले दो जहां ये हिज्र की तमहीद हैं ।
ये हैं एक बागे दरा ये नगमए तौहीद है ।
तालिबे दौलत है ये, ये इश्क से मामूर है ।
ये सरापा नार है और ये खुदा का नूर है[1] ।'

केवल मात्र गद्य के प्रयोग से प्रस्तुत कथन में वह प्रभाव व्यंजकता नहीं आ सकती थी जो इस कविता के प्रयोग से सम्भव हो सकी है ।

६४. संवादों के बीच लोकोक्तियों और मुहावरों का अपना विशिष्ट महत्व है । जीवन के अनुभवों से पुष्ट इन उक्तियों को यदि सामान्य संलाप के बीच उचित स्थान दिया जाए तो यह कथन न केवल सौन्दर्यपूर्ण वरन् अधिक सजीव व सप्राण हो जाता है । उसमें गम्भीर भाव और जीवन की निकटता का बोध होता है । आज के नाटककार इस ओर से उदासीन है । किन्तु रंगमंचीय नाटककारों ने अपनी कला को अधिकाधिक जीवन के सन्निकट लाने की चेष्टा की । उन्होंने उन्हीं कला रूपों और सौन्दर्य उपकरणों का प्रयोग किया जो इस दृष्टि से सार्थक थे । उदाहरणार्थ --

तमीर--"यह घी सीधी उंगलियों से नहीं निकलेगा ।

अमीर -- नहीं राजी से मान जाएगी ।

रूपवती-- झूठी मुहब्बत के अंधे । अपने गन्दे मुंह से गन्दी बातें न निकाल ।
होश में रह और अपनी ज़बान संभाल ।

अमीर -- औरतो । रस्सी जल गई मगर बल नहीं गया ।

रूप० -- मूर्ख कांटों में फंसा हुआ फूल अपनी महक नहीं छोड़ता । अंधेरे में भी दीपक की ज्योति जगमगाती है ।

तमीर -- ऐसी औरत सीधी तरह काबू में नहीं आती है ।

अमीर -- ऐसो रजामन्दी से मान जाओ ।

रूप० -- जाओ जाओ अपना मुंह काला करो[2] ।'

१- आरजू --'हिन्दू स्त्री' अंक१,दृश्य६,पृ०३६
२- आत्मानन्द 'आरोही' --'भयानक भूल' अंक२,दृश्य७,पृ०६२

६५. विरोधी स्थितियों में रूपवती के चरित्र की दृढ़ता, स्थिरता, व निर्भीकता तथा प्रवीर की दुष्ट व छलप्रपंचात्मक प्रवृत्ति का निरूपण जितनी स्पष्टता से मुहावरों के कारण इन सीमित उक्तियों में सम्भव हो सका उतना सामान्य कथनों से सम्भव न था । इन विशिष्ट उक्तियों का अपना अर्थ है जो प्रेक्षक के मस्तिष्क में पहले से रहता है । उचित अवसरों पर इन मुहावरों का प्रयोग दर्शकों की कल्पनात्मक बुद्धि को सजग करके दृश्य चित्र को अधिक स्पष्ट निखार देने में योग देता है ।

६६. पद्यात्मक संवादों का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में किया जा चुका है । यहां उसके कुछ विभिन्न रूपों को उदाहरणों से समझाना पर्याप्त होगा ।

१- गद्य पद्य मिश्रित

६७. आलोच्य नाटकों में इसी संवाद रूप की सर्वप्रधानता है । पात्र गद्य में बात करते हुए तुरन्त ही पद्य पर उतर आते हैं । गद्य में अभिव्यंजित भावों को अधिक प्रभावव्यंजक बनाने व बल देने के लिए हिन्दी छन्दों, उर्दू बहरों में उसका प्रस्तुतीकरण एक प्रकार की पुनरावृत्ति मात्र है, क्योंकि नए भावों और विचारों के प्रस्तुतीकरण में सम्भव ही किसी स्थल पर उसका प्रयोग हुआ हो । छन्दों के आकार-प्रकार पर यह अपने संक्षिप्त और विस्तृत दोनों ही रूपों में उपलब्ध है । दोहे के अतिरिक्त जहां कहीं नाटककार ने छप्पय कुण्डलियों जैसे विस्तृत छन्द प्रयुक्त किए हैं, वहां संवादों का विस्तृत होना स्वाभाविक था ।

६८. पात्रों के वाचिक अभिनय और रंगपीठ पर प्रस्तुतिकरण की अपनी विशिष्ट शैली के कारण ये संवाद तत्कालीन नाट्य परिस्थितियों में पर्याप्त प्रभाव व्यंजक थे । जिन्होंने उन संवादों को रंगशाला में सुना है वे आज भी उसके प्रभाव का बखान करते हैं । युद्धात्मक प्रसंगों पर जोश एवं उत्साहवर्द्धक होने के कारण तदनुकूल वातावरण के निर्माण में गद्य की अपेक्षा पद्य संवादों की सार्थकता अधिक है । 'सीता बनवास' में अश्वमेध यज्ञ के घोड़े के अपहरण पर लवकुश व लक्ष्मण का यह विवाद इस बात का प्रमाण है --

लक्ष्मण--'तुम घोड़ा न दोगे ?

लव-- दैंगे ।

लक्ष्मण-- कब ?

कुश-- जब शस्त्र फेंककर यह स्वीकार करोगे--

है यह धुल की रस्सी जिसे जंजीर कहते हैं

ये सब धोखे में हैं जो लक्ष्मण को वीर कहते हैं ।

लक्ष्मण-- .... अच्छा प्रहार करो --

यह रंगभूमि भी लंका की तरह नाच एक बार उठे ।

यही हो सृष्टि लक्ष्मण की फिर से जय पुकार उठे ।'[1]

गद्य में इस जोश और उत्साह की सृष्टि असम्भव थी जो उपर्युक्त पद्यों के द्वारा सम्भव हो सकी ।

२- केवल पद्यात्मक रूप में

(अ) प्रश्नोत्तर रूप में जहां पद्य में ही प्रश्न व उसी लय में उत्तर दिया जाता है--

वृद्ध-- क्या नाम है तेरा तू बतलाना ?

कैस -- मुझे कहते हैं मंजनू दीवाना ।

व०-- किस मुल्क का तू वाशिन्दा है ?

कै०- वह बस्ती जिन्हुं कहलाता है ।

व०-- तेरे अहले वतन का क्या मतलब ?

कै०-- रहती याद से दिलबर की मतलब ।.... आदि[2]

(ब) क्रमबद्ध रूप में--

७०. यहां पात्र एक बात कहता है तो दूसरा उसी जोड़ की दूसरी व तीसरा तीसरी । इसी क्रम से पद्य का रूप पूर्ण करके किया जाता है, उदाहरणार्थ--

१डाकू--'नाम के हैं डाकू लेकिन काम के हैं गमख्वार हैं ।

२डाकू-- ढाल हैं कंगाल की सुरमार की तलवार हैं ।

१-आगा हश्र--'सीता बनवास', अंक २, दृश्य६, पृ० ५९-६०

~~२- ... ... --'... ...' अंक १, दृश्य७, पृ० ५७-५९~~

२- पिंड घायल --'लैला मंजनूं' अंक१, दृश्य६, पृ०४६-४७

३डाकू-- करते हैं डाकाबाजी इंसान ही के वास्ते ।

४डाकू-- लड़ते हैं इंसान से इंसान ही के वास्ते ।[1]

७१. पद्य में सामान्य वार्तालाप से समस्त आलोच्य नाट्य साहित्य भरा पड़ा है । स्वाभाविकता और सौन्दर्यपूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि ये अपने रूप में संक्षिप्त हों । जहां कहीं नाटककारों ने सीमा का उल्लंघन किया है अस्वाभाविकता और उबाने के साथ ही स्थिति चिन्तनीय हो गई है । 'पाप परिणाम' में दुर्गादास और कालिदास का,[2] 'बेताब' के 'महाभारत' में कृष्ण व द्रौपदी[3] तथा इन्हीं के 'पत्नी प्रताप' में गोपाल और रेवा के तीन-तीन पृष्ठों के लम्बे संवाद प्रेक्षकों की सहनशक्ति के लिए एक प्रश्न हैं ।

संवादों में ध्वन्यात्मकता

७२. तुकान्त गद्य व अक्षर साम्य भी आलोच्य नाट्य संवादों की अपनी रूढ़ी है जो पद्यात्मक संवादों के समान नाटकों में सर्वत्र उपलब्ध हैं । निम्न उदाहरण इस तथ्य के स्पष्टीकरण में सहायक होगा --

अम्बा-- '(घुटने टेक कर) नहीं नहीं राजन् । मुझे मार्ग में अटकने वाले रोड़े की तरह न ठुकराओ ।

शाल्वराज-- ईश्वर के लिए कांटा की तरह मेरे पीछे न पड़ जाओ ।

अ०- मेरे प्रेम का मूल्य समझो ।

शा०- मेरी बात का अर्थ समझो ।

अ०- मेरी जवानी पर तरस खाओ ।

शा०- बस जाओ मेरा घर न फिराओ ।'[4]

७३. पद्यात्मक संवादों में भी यह स्थिति उपलब्ध है--

सुदामा-- 'यह पात्र कहां गई भोरी है मन की कमजोरी ।

कृष्ण-- लाज है जितनी बात न इतनी ।

सु०-- दो एक मुट्ठी को चबाकर हुआ हूं मैं अघोरी ।

कृ०-- की है किसी की कोई चोरी चमारी बरजोरी । काहे सूरत बिगाड़ गई थोरी ।'[5]

१- राधेश्याम कथावाचक -'मशरिक की हूर', अंक१,दृश्य१,पृ०३

२- जमनाप्रसाद मेहरा--'पाप परिणाम' अंक१,दृश्य७,पृ०५७-५६

३- बेताब -- महाभारत- 'मशरिक-की-हूर', अंक १,दृश्य २,पृ०१७

४- विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक-- भीष्म' अंक२,दृश्य६,पृ०६६ ।

५- नारायणप्रसाद 'बेताब'--'कृष्ण सुदामा', अंक १, दृश्य ८, पृ० ४४

७४. पद्यात्मक संवाद वाली च्यवनाट्य-शैली के अपने विशिष्ट रूप थे । किन्तु साहित्यिक सुरुचि का उनमें पूर्णतः अभाव है, यह अमान्य है । साहित्यिकता का विशेष आग्रह न होने पर भी इनमें यत्र-तत्र वह स्वाभाविक सौन्दर्य है जो इन नाटकों पर सुरुचि और सौष्ठवहीनता का आरोप लगाने वाले विद्वानों के लिए एक उत्तर है ।

अध्याय ---

-0-

भाषा

भाषा

१. पारसी रंगमंच को उसके संस्थापकों की नाट्य-संस्था मान कर अधिकांश आलोचकों ने उसे हिन्दी का रंगमंच मानने से अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं[1]। जो भी नाट्य-कृतियां प्रस्तुत रंगमंच पर अभिनीत हुई उन्हें ये आलोचक हिन्दी के नाट्य साहित्य में स्वीकृत नहीं करते। वे सभी उर्दू साहित्य की सम्पत्ति मानी गई हैं[2]। यह सत्य है कि ~~नितान्त~~ तिजारती मनोवृत्ति वाले पारसी युवकों ने इस रंगमंच की नींव डाली किन्तु सदैव यह वर्ग ही इसका एकमात्र अधिपति नहीं रहा। समय के विकास के साथ नागर, मौजक, ब्रागण, नायक आदि गुजराती, शंकर सेठ जैसे मराठी व मुसलमान तथा हिन्दू युवक व्यवस्थापक, संचालक, निर्देशक, लेखक व अभिनेता आदि विभिन्न रूपों में कम्पनी में प्रवेश पाते रहे हैं। इस तथ्य के साथ ही बदलती जन-रुचि व व्यापारिक मनोवृत्ति के सम्मिलन के कारण भी कम्पनियों के नाटकों की भाषा सदैव एक-सी नहीं रही। इतिहास पक्ष में स्पष्ट किया जा चुका है कि गुजराती, उर्दू व हिन्दी के नाटक समयानुसार इसी रंगमंच पर अभिनीत हुए जिन्होंने विकसित होकर आगे अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया। अतः हिन्दी नाटकों को इस परम्परा से अलग रखना और प्रस्तुत रंगमंच को हिन्दी रंगमंच न मानना भूल है। यह रंगमंच वस्तुतः अपनी

१- (अ) जयशंकर प्रसाद- काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, तृ०सं०२००५वि०,पृ०१०६

(आ) डा०नगेन्द्र--`आधुनिक हिन्दी नाटक`, छठां संस्करण,१९६०,पृ०१

(इ) श्रीकृष्णदास --`हमारी नाट्य परम्परा`,प्र०सं०,१९५६,पृ०५६१

(ई) डा० देवर्षि सनाढ्य--`हिन्दी के पौराणिक नाटक`,प्र०सं०,सं०२०१७ पृ० २१९।

(उ) डा० सोमनाथ गुप्त--`हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास`,चतुर्थ सं०, १९५७,पृ०९८

(अगले पृष्ठ पर देखें)

विशिष्ट नाट्य-पद्धतियों एवं नाट्य-रूढ़ियों के अनुसरण के साथ अपने संस्थापकों के कारण 'पारसी रंगमंच' के नाम से विख्यात था। जिस भाषा के भी नाटकों ने इनपरम्पराओं को अपनाया वे 'पारसी रंगमंच के नाटक' नाम से प्रसिद्ध हो गई जब कि इनका मूलतः आलोचकों द्वारा दी गई विवेचना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. विषय की दृष्टि से यहाँ महत्वपूर्ण विचार यह है कि आलोच्य रंगमंच पर हिन्दी का प्रवेश कब से हुआ ? कौन-सा वह सर्वप्रथम नाटक है, जिसे हम हिन्दी रंगमंचीय नाटकों का आरम्भ मानें ? ऐसा कोई स्थायी आधार नहीं मिलता जिससे इस प्रश्न के उत्तर में निश्चित् समय का निर्धारण किया जा सके। किन्तु यह कहा जा चुका है कि आलोच्य नाट्य कम्पनियों के अभिनय के समय ही मराठी नाटक मण्डलियां महाराष्ट्र में तत्कालीन हिन्दू जनता का मनोरंजन कर रही थीं। इनके पौराणिक और धार्मिक नाटकों के प्रति जनता में तीव्र आकर्षण था। मराठी के अतिरिक्त इतर भाषा-भाषियों को अपने प्रेक्षक दल में सम्मिलित करके इससे और अधिक लाभान्वित होने के लिए उस समय की 'हिन्दू ड्रामेटिक कौर अथवा सांगलीकर नाटक मण्डली' (१८४३) के स्थापक श्री विष्णुदास भावे ने एक नवीन नाट्य प्रयोग किया। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा में एक नया नाटक तैयार कराया। नाम था 'गोपीचन्द'। इस नए प्रयोग की प्रेरणा विष्णुदास को अंग्रेजी नाट्याभिनयों से मिली थी। उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार किया है --' उसी अवसर पर वहाँ एक यूरोपियन नाटक का अभिनय हो रहा था। उसे देखने के लिए मैं अपनी मित्र मण्डली के साथ गया। वहाँ की सजावट, बैठने की व्यवस्था, परदे, दृश्य आदि देखकर मन को बड़ा सन्तोष हुआ। मन में यह विचार आने लगा कि यदि यह रंगमंच अभिनय के लिए हमें मिल जाए तो बड़ा अच्छा हो...[१]'। विष्णु चरित्र लेखक राव साहब श्री वासुदेव गणेश

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या -२)

२- रामचन्द्र शुक्ल-'हिन्दी साहित्य का इतिहास', तेरहवां संस्करण, सं०२०१८ पृ०-४६-४७।

१- नाट्य कविता संग्रह, जनवरी १८८५, पृ०७-८

भावे ने भी इसी मत की पुष्टि की है ।...'यदि ऐसे स्थान पर अपने नाटक का अभिनय किया तो पारसी, युरोपियन, मुसलमान, गुजराती सब लोगों की समझ में आएगा । इन कारणों को योग्य समझकर विष्णुदास ने उसी समय नया गोपीचंद नाटक हिन्दुस्तानी भाषा में तैयार किया । नाटक का पूरा नाम 'राजा गोपीचन्द और जालन्धर' था[1] ।' यह सर्वप्रथम २६ नवम्बर १८५३ को ग्रांट रोड थियेटर बम्बई में अभिनीत हुआ । दूसरा प्रयोग ३ दिसम्बर १८५३ को हुआ, जिसकी विज्ञप्ति १ दिसम्बर १८५३ को छपी ।

३. विष्णुदास के इस नाट्य-प्रयोग की अभूतपूर्व सफलता व इसके प्रति जनता के बढ़ते झुकाव का आलोच्य कम्पनियों के संस्थापकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा । हिन्दी का ग्रहण उन्हें व्यापारिक विकास की दृष्टि से संभावित प्रतीत हुआ, क्योंकि समस्त उत्तरभारत में इस भाषा के जानने वाले प्रेक्षक फैले हुए थे । लेकिन यह ध्यान रखने योग्य है कि हिन्दी ने एक साथ सम्पूर्ण नाट्य-कृति के रूप में रंगमंच पर प्रवेश नहीं किया । सर्वप्रथम राग-रागिनियों के रूप में ही उसका आगमन हुआ । यह प्रयोग सन् १८७० में खिलने वाले ईरानी नाटक मण्डली के 'रुस्तम बरजोर' नाटक में हुआ था । पारसी नाटक मण्डली के 'रुस्तम सोहराब' में पारसी गानों को मराठी तर्जों में देखकर ही सोहराब जी पटेल ने यह कदम उठाया था[2] । इन मराठी तर्जों को निर्माणकर्ता श्री फरामजी गुस्ताद जी थे जी । स्पष्ट है कि आलोच्य रंगमंच पर हिन्दी का प्रवेश सर्वप्रथम पारसियों के द्वारा ही हुआ । सन् १८७० में हिन्दी भाषा के पूर्णरूप ने तो नहीं, किन्तु हिन्दी तर्जों व राग-रागनियों ने अवश्य अपना स्थान ग्रहण कर लिया था ।

४. इसी प्रवृत्ति का किंचित् विकास पारसी नाटककार नसरवान जी खान साहेब 'आराम' के प्रयासों द्वारा हुआ । आपने 'गोपीचन्द' (विष्णुदास भावे के गोपीचन्द की प्रेरणा पर) 'शकुन्तला', 'पद्मावत',

---

१- विष्णु चरित्र, पृ० ६६-७०

२- श्री विद्यावती नम्र (मर्दा) -'हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब', शोधप्रबन्ध, १९६७, पृ० ८७ ।

चन्द्रावली', 'हैमा बटाऊ मौहना रानी', 'हातिमताई' आदि अनेक गीति नाट्य लिखे। ये सभी रचनाएं सन् १८७२ से १८७६ के बीच की हैं। श्री मन्नूलाल डुल्तानियां ने अपने एक लेख में 'आराम' साहब के 'गोपीचन्द' को प्रथम हिन्दी नाटक का श्रेय दिया है[१]। जब कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि राग-रागनियों के रूप में हिन्दी का रंगमंच पर प्रवेश इसके दो वर्ष पूर्व ही हो चुका था।

५. खान साहब 'आराम' के प्रयासों को विक्टोरिया नाटक मण्डली के लेखक श्री विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी ने और विस्तृत रूप दिया। उर्दू के साथ ही आपने 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'रामायण', गोपीचन्द', 'कनकतारा' 'विक्रम विलास' आदि हिन्दी के अनेक नाटक तैयार किए। इनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' को अप्रत्याशित लोकप्रियता प्राप्त हुई। चार हजार से भी अधिक बार खेले जाने वाले इस करुणा रसपूर्ण नाटक ने विक्टोरिया नाटक मण्डली की विलायत यात्रा के पश्चात् गिरी हुई आर्थिक स्थिति को पुन: सुदृढ़ बनाने व क्षतिपूर्ति में महत्वपूर्ण योग दिया। इस समय के हिन्दी नाटकों की भाषा का क्या रूप व स्थिति थी, यह प्रेमचन्द जी द्वारा दी गई "विनायक प्रसाद 'तालिब' के नाटकों की इस समीक्षा में पूर्णत: मुखरित है।" भला हो मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी का, जिन्होंने उन दिनों की विख्यात आल्फ्रेड विक्टोरिया कम्पनी को 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा', 'भर्तृहरि' आदि हिन्दी के ड्रामे सबसे पहले लिखकर दिए। इस खूबी के साथ उन्होंने इन नाटकों में हिन्दी दी थी कि उर्दू-हिन्दी के सम्मिश्रण में हिन्दी की चाश का आनन्द भी नाटक प्रेमी जनता को प्राप्त हुआ और नाटक भी पास हो गए।[२]

६. उपर्युक्त इस मन्तव्य से नाटकों में हिन्दी की स्थिति के सम्बन्ध में दो तथ्य स्पष्ट हैं--

१- जन-रुचि का उर्दू की ओर झुकाव।

२- व्यापारिक मनोवृत्ति के कारण आलोच्य कम्पनियों द्वारा हिन्दी-उर्दू के मिश्रित रूप का ग्रहण।

१- श्री मन्नूलाल डुल्तानियां--'बेताब युग ही क्यों?' श्री नाट्यम्, वर्ष ५, अंक ५, १९६६, पृ० १८

२- प्रेमचन्द-- 'हिन्दी रंगमंच', माधुरी, वर्ष ८, संख्या ६

७. तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां, प्रशासन द्वारा उर्दू को प्रश्रय तथा लम्बे समय तक मुगलों के राज्य के कारण जनता का अधिक झुकाव उर्दू के प्रति था । उसका शिक्षा-दीक्षा का माध्यम भी यही भाषा थी । अतः व्यापारिक व व्यावहारिक मनोवृत्ति वाले कम्पनी संस्थापक नाटक जैसे मनोरंजनात्मक उपादान के लिए इसी भाषा को अपनाने के लिए बाध्य थे । अधिक हिन्दी को लेकर सर्वप्रथम रंगमंच पर आने वाले 'वीर अभिमन्यु' नाटक के सम्बन्ध में कम्पनी मालिक माणिक जी जीवन जी मास्टर की यह प्रश्नात्मक उक्ति कि 'इतनी ज्यादा हिन्दी का नाटक समझ सकेगी पब्लिक ?'[१] भाषा की दृष्टि से उस समय के जन-झुकाव की परिचायक है । वस्तुतः जनता का वह विस्तृत वर्ग जो आलोच्य नाटकों का प्रेक्षक था वह समाज के निम्न व सामान्य वर्ग से सम्बन्धित था । उसकी शिक्षा-दीक्षा उच्चकोटि की न थी और जो थी भी वह प्राय: उर्दू के माध्यम से थी । नाटक उनके लिए मनोरंजन से अधिक कुछ न था । अतः ऐसे प्रेक्षकों के समक्ष हिन्दी के साहित्यिक व सौष्ठव सम्पन्न भाषा के रूप को प्रस्तुत करना रंगमंच के लिए एक चुनौती था जिसे कम्पनी संस्थापक स्वीकार न कर सके ।

८. किसी भी चीज की प्रतिक्रिया आवश्यक है । साहित्य में जब भी कोई विशिष्ट विचार-धारा विभिन्न तर्क व तथ्यों से सम्पुष्ट होकर अग्रसर होती है, उसके साथ ही उसकी प्रतिक्रिया में नवीन विचार उठ खड़े होते हैं। ~~उसके साथ ही उसकी प्रतिक्रिया में~~ यही विकास की प्रक्रिया है । आलोच्य रंगमंच के साथ भी यही सत्य है । उक्त रंगमंच पर जब उर्दू का पूर्ण साम्राज्य था तो उसकी प्रसिद्धि व लोकप्रियता ने कुछ हिन्दी भाषा-भाषियों के मन में वितृष्णा के भाव उत्पन्न कर दिए । और वे इसकी प्रतिस्पर्द्धा में कुछ नाट्य मण्डलियां स्थापित करके हिन्दी नाट्य-अभिनयों की ओर उन्मुख हुए । जनता के इस ओर बढ़ते झुकाव ने कम्पनी-मालिकों को विचारोत्तेजना दी और वे अपने व्यापार के विचार से इन नई मनोभिरुचियों को अपनाने के लिए बाध्य हुए ।

१- 'कथावाचक' -- मेरा नाटक काल', पृ०सं०, १९५७, पृ०५८

रामचन्द्र शुक्ल का विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' रचित 'बुद्धदेव' नाटक की भूमिका में दिया गया यह मन्तव्य--"इन नाटक मण्डलियों का लोकप्रियता धीरे-धीरे पारसी कम्पनियों के ध्यान में आने लगी और उन्होंने अपने व्यवसाय की दृष्टि से कुछ नाटक लिखाकर खेलना आरम्भ किया ।.... उनका ध्यान हिन्दी में भी नाटक दिखाने की ओर रहने लगा । इस प्रकार हिन्दी का प्रवेश तो इन कम्पनियों में हुआ पर नाटक वे अपने लेखकों से लिखवाते हैं । इन नाटकों की भाषा हिन्दी तो होती है पर उर्दू वालों के मुख से निकली हुई सी"-प्रारम्भिक रंगमंचीय हिन्दी के नाटकों के सम्बन्ध में पूर्णत: तथ्ययुक्त है । भाषा की दृष्टि से यह रुचि - परिवर्तन उत्तरभारतवासियों में अधिक था । फलत: ,काशी,प्रयाग,कानपुर आदि नगरों में ये प्रयोग अधिक हुए । आलोच्य कम्पनियां भ्रमणशील थीं अत: भाषा के उसी रूप को अपनाने के अधिक पक्ष में थीं जिससे उन्हें अपने नाट्य-प्रयोगों में असुविधा न हो और सर्वत्र प्रेक्षक मिल सकें । जब उन्होंने यह अनुभव किया कि सारा उत्तर भारत उनकी मुस्लिम भावनाओं का स्वागत करने को तैयार नहीं है तो हवा का रुख देखकर कार्य करने वाले कम्पनी -संस्थापकों ने हिन्दी नाटकों को सहर्ष अपना लिया । डा० वार्ष्णेय ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है[१]।

६. हिन्दी नाटकों का यह प्रथम युग था जो सन् १८७० से आरम्भ होकर सन् १९१३ तक समाप्त हो गया है । इतिहास की दृष्टि से नारायण प्रसाद 'बेताब' के 'महाभारत' सन् १९१३ में इस क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान नहीं ग्रहण कर पाई थी । गीतों और तर्जों में ही उसका अधिक प्रयोग होता था । गद्य-खण्ड में उर्दू की प्रधानता थी । स्वयं 'बेताब' जी ने उर्दू से ही अपनी नाट्य रचनाओं का आरम्भ किया था । 'महाभारत' से पूर्व उनकी समस्त रचनाएं इसी परम्परा में हैं । इतना अवश्य है कि उर्दू रंगभूमि पर वे बराबर हिन्दी-भजनों और गीतों को स्थान देते रहे । 'महाभारत' नाटक का महत्व केवल हिन्दी को स्थान देने के कारण ही नहीं है, वरन् इस दृष्टि से भी है कि एक नई परम्परा के सूत्रपात के साथ

१- डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-- आधुनिक हिन्दी साहित्य, हिन्दीपरिषद , इलाहाबाद युनिवर्सिटी, १९४८, पृ० २७० ।

'बेताब' जी ने आलोच्य कम्पनियों के इतिहास में हिन्दी के उस स्वरूप का प्राण प्रतिष्ठा की, जिसका आगे सभी नाट्य-लेखकों ने अनुसरण किया और जो सभी का मान्य आदर्श रहा। वे शुद्ध हिन्दी और ठेठ उर्दू दोनों के विरोधी थे। भाषा की दृष्टि से जनता की मनःस्थितियों के निरीक्षण व व्यापारिक लाभ हेतु समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए उद्विग्न कम्पनी-मालिकों की मनोवृत्तियों के अनुकूल व एक ऐसी मिश्रित भाषा के ग्रहण के पक्षपाती थे जो उन्हें स्थायित्व दे सके। सम्भवतः इसी विचार से सूक्ष्मदर्शी 'बेताब' जी ने यह उद्घोष किया था --

> 'न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी
> जबान गोया मिली जुली हो
> दूध से अलग व रहे न मिसरी
> डली डली दूध में घुली हो।'

१०. हिन्दी-उर्दू के इसी मिश्रित रूप ने अन्य नाटककारों का पथ प्रदर्शन किया। 'बेताब' की इस देन को सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। ''बेताब' ने सबसे पहले हिन्दी नाटकों की भाषा में परिवर्तन किया।... सरल हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया और गाने सब हिन्दी में लिखे'[1]। 'सरल हिन्दी को रंगमंच पर प्रतिष्ठित किया .... जिसमें हिन्दी के साथ उर्दू के सरल और सुबोध शब्द भी व्यवहृत होते थे। भाषा के इस परिवर्तन और सुधार के कारण इन नाटकों की लोकप्रियता का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया[2]।' इस ओर सबसे प्रथम नारायणप्रसाद 'बेताब' का ध्यान गया। उन्होंने सबसे पहले 'महाभारत' नामक नाटक लिखा। यद्यपि उर्दू की बू इससे भी दूर नहीं हुई पर इसमें हिन्दी भाषा के अनुकूल ही उर्दू शब्द गृहीत हुए, प्रत्यादि और वाक्यादि का त्याग किया गया। केवल वाक्यों की बनावट उर्दू के ढंग की थी। 'महाभारत' नाटक के मैदान में आते ही रंगशाला के नाटकों ने अपना पुराना चोला उतार कर फेंकना आरम्भ किया। कम्पनी के वेतनभोगी नाटककारों ने अपनी भाषा का रुख बदल दिया।

१- डा० श्रीकृष्णलाल-- हिन्दी साहित्य का विकास, तृ०सं०, १९५२, पृ०२१०

२- डा० वेदपाल खन्ना--'हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' पृ०९५

'एक बात में पारसी नाटककार धन्यवाद के पात्र हैं कि बहुत कुछ हिन्दी हिन्दु तथा समाज-सुधार के भावों का प्रचार किया है और कर रहे हैं।... बाद में 'बेताब' के महाभारत में ने ऐसी भावनाओं का प्रचार कराकर पारसी नाटकों में क्रान्ति काग्ता पैदा कर दिया'[1]। डा० दशरथ ओझा[2], श्रीकृष्णदास[3] ने भी 'बेताब' के इस महत्व को स्वीकार किया है। युग प्रवर्तक 'बेताब' के इन्हीं योगदानों के कारण श्री फज्लूलाल दुल्लानियां ने इस युग का अभिषेक ही 'बेताब'- युग' के नाम से कर दिया[4] जो पूर्णतः उचित है।

११. कितने आश्चर्य की बात है कि पारसी गुजराती नाट्याभिनयों के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और गुजराती तीनों भाषाओं के नाटकों की परम्परा का सूत्रपात 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' के रंगमंच से हुआ। खान साहब 'आराम' का 'गोपीचन्द' (१८७२), विनायक प्रसाद 'तालिब' का 'हरिश्चन्द्र', कुंवर जी नाजर का 'करणघेलो' (१८७२), बेराम जी फरदून जी मर्जबान कृत अनुवाद 'सोने के मूल की खुरशीद' इन परम्पराओं का सूत्रपात करने वाले प्रारम्भिक नाटक हैं। लेकिन हिन्दी नाटकों के अभिनय का अधिक श्रेय कलकत्ते की कोरान्थियन, कावस जी खटाऊ की अल्फ्रेड व तदुपरान्त मिलिकियत के ~~परिवर्तन~~ परिवर्तन पर मदन थियेटर की पारसी अल्फ्रेड तथा न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी को है। हश्र जी की 'ग्रेट शेक्सपियर' तथा 'ग्रेट अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' ने भी इस प्रकार के थोड़े से प्रयोग किए। इन कम्पनियों के अधिपति, संस्थापक व उपसंस्थापक खुरशेद जी मेहरबान जी बालीवाला, कावस जी पालन जी खटाऊ, सोराब जी ओग्रा और अमृत केशव नायक के हिन्दी रंगमंच के उन्नयन व स्थापन के प्रयासों को भुलाना तथा विनायक प्रसाद 'तालिब', नारायण प्रसाद 'बेताब', राधेश्याम 'कथावाचक', आगा हश्र 'काश्मीरी', हरिकृष्ण 'जौहर'

१- ललित कुमार सिंह 'नटवर'--'हमारा रंगमंच और अभिनय कला', माधुरी, वर्ष ८, खण्ड २, १९३०।

२- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, द्वि०सं०, १९५४, पृ०२९।

३- हमारी नाट्य परम्परा, प्र०सं०, १९५६, पृ०६२२

४- श्री फज्लूलाल दुल्लानिया 'अज्ञात' - 'बेताब' युग ही क्यों?

श्री नाट्यम पत्रिका, वर्ष ५, अंक ५, १९६६, पृ०२३

तुलसीदत्त 'शैदा', श्रीकृष्ण 'हसरत', मुंशी किशनचन्द 'जेबा', श्री विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' की नाट्य कृतियों से आंख मूंदना हिन्दी नाट्य साहित्य के एक महत्वपूर्ण पक्ष को अन्धकार में तिरोहित कर देना है। इनकी समस्त नाट्य-कृतियों का विस्तृत परिचय पूर्व अध्यायों में दिया जा चुका है।

हिन्दी नाटक अपने जिस मिश्रित स्वरूप को लेकर अग्रसरित हुए थे, उनका स्वरूप सदा वैसा नहीं रहा। कालान्तर में भाषा की दृष्टि से उनमें पर्याप्त परिवर्तन आए। प्रारम्भिक स्थिति में (१८७०-१९१२ तक) उर्दू का बाहुल्य था। हिन्दी को अपना कर भी सब कुछ उर्दू के ढंग पर था। सन् १९१३ में हिन्दी के साथ अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों को अपनाकर सरल हिन्दी भाषा का ढांचा खड़ा किया गया। उर्दू का प्रयोग यद्यपि अन्त तक बना रहा किन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के रूप को प्रांजल व परिष्कृत बनाने की चेष्टा की गई। 'कथावाचक' का 'वीर अभिमन्यु' इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास था। प्रस्तुत नाटक के सम्बन्ध में सौराब जी का यह कथन कि 'अधिक हिन्दी स्टेज पर पहुंचाकर हम परीक्षण कर रहे हैं'[1] इसी बात का प्रमाण है। 'मशरिकी हूर' के अतिरिक्त 'कथावाचक' जी की समस्त नाट्य-रचनाएं, 'बेताब' के 'समाज', 'गणेशजन्म', 'सीता वनवास' व आगा साहब की पौराणिक रचनाएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 'कथावाचक' के अन्तिम नाटकों में 'महर्षि वाल्मीकि' की भाषा तो साहित्यिक हिन्दी के बहुत निकट है। डा० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार 'भाषा की दृष्टि से उनके नाटक अधिक उत्कृष्ट और परिष्कृत हैं। बोलचाल की परिष्कृत आदर्श हिन्दी इनके नाटकों में प्राप्त होती है[2]।' अपनी कृतियों द्वारा रंगमंच पर शुद्ध साहित्यिक हिन्दी को प्रश्रय देने में 'कथावाचक' जी का प्रयास निश्चय ही सराहनीय है। डा० सोमनाथ गुप्त ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि 'अनेक विरोधी परिस्थितियों के होते हुए भी उन्होंने रंगमंच पर शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रवेश कराया और दर्शक मण्डली में सुरुचि

१- राधेश्याम 'कथावाचक' - 'मेरा नाटककाल', प्र०सं०, १९५७, पृ०६८

२- डा० सनाढ्य — 'हिन्दी के पौराणिक नाटक', प्र०सं०, संवत् २०१७, पृ०२२६

प्रसार का सतत् उद्योग किया[१]। "किन्तु अथक उद्योग के उपरान्त भी के कथावाचक उद्देश्य प्राप्ति में सफल न हो सके । अन्य नाटककारों का सहयोग न मिलने के कारण उन्हें किसी स्थायी फल की प्राप्ति न हो सकी । यही कारण है कि उन्हें हिन्दी भाषियों से सदैव शिकायत बनी रही । 'बरसों के परिश्रम के बाद हम लोग स्टेज को उठाकर 'महर्षि वाल्मीकि' तक लाए, परन्तु हिन्दी भाषी हमारे पोषक न बने इसलिए हम और न बढ़ पाए ।'

१३. इसी सम्बन्ध में जमना प्रसाद मेहरा, 'दुर्गाप्रसाद गुप्त, आनन्दप्रसाद कपूर, पण्डित रामशरण आत्मानन्द 'अमरोही' ,शिवरामदास गुप्त, बलदेवप्रसाद खरे, मुरादाबाद निवासी पं० बलदेव प्रसाद मिश्र , विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', कन्हैयालाल 'तसव्वर' श्री नन्दकिशोर लाल, हरिशंकर उपाध्याय, गोपाल दामोदर 'तामस्कर' , मनसुखलाल लोयलिया, रामसिंह वर्मा ,गोकुलदास वैश्य, रेवती नन्दन भूषण , सुवर्ण सिंह वर्मा , 'आनन्द' आदि नाट्य लेखकों की भाषा का अध्ययन भी आवश्यक है । ये सभी अव्यवसायी नाट्य मण्डलियों के लेखक थे जिन्होंने आलोच्य-कृतियों को कुरुचिपूर्ण ,अश्लील एवं भौंड़ा कहकर उनकी प्रतिक्रिया में अपने नाटकों का निर्माण किया था । ये कम्पनियों के वेतनभोगी नाटककारों के समान प्रतिबन्धित नहीं थे जिनके रचना-निर्माण में स्वेच्छा व प्रतिभा से अधिक प्रतिबन्धों का आग्रह था, वरन् वे मनोनुकूल रचना के लिए मुक्त थे । यही कारण है कि आलोच्य नाटकों की अपेक्षा ये कृतियां अपने उद्देश्य में अधिक सार्थक व संगठन में सुरुचि सम्पन्न हैं, किन्तु उक्त रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं । उनकी नाट्य रूढ़ियां व विधाएं इन रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त हैं । भाषा की दृष्टि से अवश्य ये आलोच्य युग की उत्तरवर्तिनी रचनाओं के समीप हैं या कहा जा सकता है कि इनमें भाषा को हिन्दी के निकट रखने का प्रयास किया गया है ।

१४. इससे पूर्व कि हम रंगमंचीय नाटकों की भाषा के संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत करें, आलोचकों द्वारा की गई समीक्षाओं व आरोपों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है । ऊपर कहा जा चुका है कि आलोच्य रंगमंच से हिन्दी लेखकों का कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया गया ।

अधिकांश विचारकों का मत है कि हिन्दी के पास अपना कहने योग्य कोई रंगमंच नहीं, फिर पारसी रंगमंच का जो भग्नावशेष अपने विकृत रूप में विद्यमान है उससे अधिकांश हिन्दी लेखकों का कोई सम्बन्ध नहीं है । और यदि है भी तो मात्र इतना ही कि इनके प्रेक्षकों में अधिकांश हिन्दू थे । 'हिन्दी नाटकों अथवा हिन्दी -अभिनयों से इनका इतना ही सम्बन्ध था कि इन तमाशों को देखने प्राय: हिन्दी भाषी लोग ही अधिक जाया करते थे । कारण उत्तरभारत में हिन्दी-उर्दू का कोई ऐसा बटवारा नहीं हो पाया था कि अमुक सीमा तक हिन्दी है और अमुक सीमा तक उर्दू । आरम्भ में इन पारसी कम्पनियों के नाटकों की भाषा ठेठ साहित्यिक उर्दू तो थी ही साथ ही अभिनय भी पूर्ण रूप से मुसलमानी होते थे । कारण पात्र मुसलमान थे, जिनके लिए यह असंभव हो जाता था कि वे यथार्थ भारतीय रहन-सहन का चित्रण अंकित कर सकें ।.... यही कारण है इन कम्पनियों द्वारा यथार्थ हिन्दी रंगमंच का सूत्रपात नहीं हो सका[1] ।' सच तो यह है कि हिन्दी भाषा का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि नाटककार इससे अधिक परिचित नहीं थे और न उसमें अपेक्षित चटकीलापन था[2] । जो नाटक लिखे भी गए थे, वे वस्तुत: उन साहित्यकारों की देन थी 'जिनकी साहित्यिक प्रतिभा एक बड़े शून्य से कम न थी[3] ।' ये हिन्दी नाटक वैसे ही लगते हैं, 'जैसे किसी मुसलमान के सर पर चन्दन का त्रिपुण्ड[4] ।' 'इनकी भाषा हिन्दी तो होती है, पर उर्दू वालों के मुंह से निकली हुई सी... उसमें उर्दू नाटकों की भाषा का परम्परागत ढांचा बहुत कुछ रहता है[5] ।' सम्भवत: इन्हीं आधारों पर ये निष्कर्ष दे दिए गए हैं कि इनमें साहित्यिकता का सामंजस्य नहीं है । रंगमंच के ये नाटक सरकस के खेल समझ कर देखे जाते थे । साहित्यिकता की दृष्टिकोण में लाने[6] की भावना ही किसी में न थी । वे केवल मनोरंजन का साधन बनकर रह गए । 'क्यामतकक', 'हक', 'बैता', 'बेताब', 'जौहर' आदि ने नाटकों को

१- देवेन्द्रनाथ शुक्ल-'आधुनिक हिन्दी रंगमंच', माधुरी, वर्ष ११, खण्ड, २, १९३३, पृ०६०-६१

२- भानुदेव शुक्ल --'भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य', पृ० ३००

३- देवेन्द्रनाथशुक्ल -'आधुनिक हिन्दी रंगमंच, माधुरी, वर्ष ११, खण्ड २, १९३३, पृ०६१ ~~नाटक नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, १९३०, पृ०५८०~~

४- ,, -- 'आधुनिक नाटक' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, १९३०, पृ०५८० ।

५- रामचन्द्र शुक्ल -'कौशिक' जी के 'कुदेव' नाटक की भूमिका"

६- कृष्णप्रसाद सिन्हा--'हिन्दी नाटक साहित्य का विकास', माधुरी, भाग २५ खण्ड२-१९४७, पृ०५७८

हिन्दी का रूप तो दे दिया है, परन्तु उसकी वह पारसी आदत दूर नहीं कर सके, जिससे भाषा का स्वरूप विद्रूप हो गया है[1]। डा० वार्ष्णेय ने किशोरीलाल गोस्वामी के शब्दों में उन्हें 'शतरंजी मशाल वाले भ्रष्ट सैलों'[2] की संज्ञा से सम्मानित किया है। अपने तथ्य के समाधान में उन्होंने जनता को उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार 'हिन्दी के नाटककारों के सामने जो जनता था, वह मूढ़ और अज्ञानान्धकार के गर्त में डूबी हुई थी। वह केवल साहित्यिक नाटकों का अनादर करना ही नहीं जानता था, वरन् नाटककारों को उपहासास्पद दृष्टि से भी देखना जानती थी[3]।'

१५. आलोचकों द्वारा दी गई इन समीक्षाओं व आरोपों के उपरान्त रंगमंच पर हिन्दी भाषा के विद्रूप व अभाव के सम्बन्ध में कारण रूप में निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं --

१- अभिनय करने वाले पात्र मुसलमान थे, जिनके लिए हिन्दी व उर्दू भावनाओं को समझना व अपनी पूर्णता में उनका प्रस्तुतिकरण करना कठिन था।

२- नाटककार स्वयं हिन्दी भाषा की समर्थता व शक्ति से अपरिचित थे।

३- उसकी प्रतिभा पर कम्पनी व्यवस्थापकों व निर्देशकों का अंकुश था।

४- रंगमंच की दृष्टि से भाषा उपयुक्त नहीं थी।

५- जनता की सुरुचि व सौष्ठव सम्पन्न नाटकों के प्रति अरुचि।

१६. चौथा और पांचवां तथ्य पूर्णतः भ्रामक है। यह सत्य है कि १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की जनता जिसके समक्ष मनोरंजन का कोई उपादान नहीं था आलोच्य नाटकों के अश्लील वातावरण से बहुत अधिक

१- देवेन्द्रनाथ शुक्ल -- 'आधुनिक नाटक', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग१०, १९३०, पृ० ५८० ।

२- 'भारतेन्दु युगीन नाटक' (लेख) सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ६९७ ।

३- ,, ,, ,,

प्रभावित थी, क्योंकि उसमें उसकी निम्न वृत्तियों की पोषक दृश्यावलियां और भाव थे, औत्सुक्य जागृत करने वाला चमत्कार था । किन्तु इस वृत्ति के सन्तुष्ट होते ही वह ऐसे दृश्यों से ऊब उठी । समाज में आई पुनरुत्थान की लहर व राजनैतिक आन्दोलनों से प्रेरित होकर रंगभूमि पर वह ऐसे दृश्यों की खोज में रहने लगी जो विचारोत्तेजक हों, जिसमें उसकी भावनाओं का परिष्कार करने की सामर्थ्य हो, जागरण का संदेश हो, सुरुचि सम्पन्नता व नई चेतना हो । २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही नाटकों में इस प्रकार की प्रगति के अंकुर मिलते हैं । यदि जनता का नाट्य - साहित्य के ~~प्रगति-के-अंकुर-मिलते-हैं~~ सुष्ठु रूप के प्रति आग्रह न होता तो अव्यवसायी नाट्य मण्डलियों का अभ्युदय असंभव था । यह अवश्य है कि वह रंगस्थली पर जयशंकर प्रसाद के नाटकों का काव्य वैभव नहीं चाहती थी , जहां वह भाषा के माया-जाल में उलझ कर रह जाए और मूल वस्तु पीछे छूट जाए ।मनोरंजन उसके लिए प्रधान वस्तु थी जिसका वह कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुतिकरण चाहती थी । इसी का प्रभाव है कि हिन्दी के सम्यक् आरंभ(१९१३) के साथ ही पूर्व परम्परा की अपेक्षा हमें उन्नति के अंकुर मिलते हैं, जिसका आगे 'कथावाचक' व रूप के नाटकों में अधिक विकास हुआ । किन्तु खेद यही है कि सिने-कला के जन्म के साथ यह रंगमंच काल -कवलित होने लगा । अत: नाटकों को इस दृष्टि से विकास का अधिक अवसर ही नहीं मिला । उन्नति के अंकुर प्रस्फुटित ही हुए थे, कि रंगमंच का अवसान प्रारम्भ हो गया । सन् १९१३ से १९३५ तक विकास की जो कड़ियां मिलती हैं, उनकी अवहेलना उचित नहीं है । जनता के एक सीमित वर्ग की निम्न मनोभिरुचियों के परितृप्त्यात्मक कुछ दृश्यों व खेलों के कारण सम्पूर्ण आलोच्य नाट्य-साहित्य को निकृष्ट कह देना -- रंगमंचीय साहित्य के महत्वपूर्ण अंश को नष्टप्राय: करना है ।

९७. प्रस्तुत प्रसंग में इस तथ्य को भुलाना उचित न होगा कि आलोच्य नाट्य-युग की भाषा का आदर्श वही था, जिसका राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने रूप-निर्धारण किया था अर्थात् वह भाषा जो सर्वसामान्य की हो, मात्र अलंकारों से बोझिल ,भाव व कल्पना के वैभव से युक्त, संस्कृतनिष्ठ तथा कुछ

सीमित व शिक्षित व्यक्तियों की न हो । नाटकीय भाषा की साहित्यिकता से तात्पर्य है कि वह प्रभावपूर्ण हो, पात्रों के भाव-द्वन्द्व, उनके अन्तर्संघर्ष व नाटककार के विचारों का अनुभावन व रसास्वादन कराने में सक्षम हो । इस दृष्टि से आलोच्य नाटकों की भाषा अशक्त नहीं कही जा सकती । वह अपनी कथा की योजना व संगठन के समानुरूप है और इसी दृष्टि से उसकी समीक्षा अभिधेय है ।

१८. राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद "बेताब" आगा हश्र "काश्मीरी" व हरिकृष्ण "जौहर" की हिन्दी नाट्य कृतियों की अभूतपूर्व सफलता व इनकी बढ़ती लोकप्रियता तथा अव्यवसायी कम्पनियों के नाट्य-प्रयोग रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी की अनुपयुक्तता के प्रश्न का स्वयं एक उत्तर है ।

१९. प्रथम और तृतीय तथ्य आंशिक रूप से सत्य है, किन्तु पूर्णत: नहीं । वस्तुत: इस युग के नाटकों की भाषा का स्वरूप ऐसा था, जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों का ही रंग था । दोनों भाषा-भाषी इन्हें अपनी साहित्य-सम्पत्ति बताते हैं । रंगमंचीय नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में श्री मुंशी कमल एदुल्लाही ने बड़ी सटीक समीक्षा दी है । उनका मत है कि "हिन्दी या हिन्दुस्तानी में नाटक लिखने वालों में आगा हश्र, पण्डित "बेताब", मुंशी अब्बास और पण्डित राधेश्याम कथावाचक को कमाल हासिल था । ये समाशाभिनार ऐसे कोमल और सुन्दर शब्द बरता करते थे कि मकालमों और गुफ्तगू में जान पड़ जाती थी । जबान इतनी मीठी गोया सुनने वालों के कान में अमृत रस घोला जा रहा हो और लुत्फ की बात यह थी कि उर्दूदां उनकी बरती हुई जबान को ठेठ उर्दू कहते थे तो हिन्दी वालों में यही कही जाती कि केवल हिन्दी भाषा है । इस तरह दोनों जबान का लुत्फ उठाते न हिन्दी से कीन, न उर्दू से बैर[१]।"

२०. इन नाटकों की भाषा के स्वरूप को भली भांति समझने के लिए निम्न रूपों में उसके कुछ उदाहरणों का अध्ययन सहायक होगा--

---

१- "बहादुरशाह ज़फ़र", निज़ाम पब्लिकेशन, हैदराबाद, पृ० १६

भाषा- शृंगार

अलंकार

अनुप्रास

२१. अक्षर साम्य अथवा गद्य में ध्वन्यात्मकता पारसी रंगमंचीय नाटककारों की प्रमुख विशेषता है, जिसका उन्होंने निर्बाध रूप से अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है। रीतिकालीन कविता के प्रभाव के फलस्वरूप गद्य व पद्य दोनों ही क्षेत्रों में अनुप्रास प्रयोग की प्रधानता मिलती है जो निम्न दो शैलियों में प्रयुक्त हुआ है :-

२२. साधारण अक्षर साम्य

१- ' की है किसी की कोई चोरी छटमारी बरजोरी, काहे सूरत बिगड़ गई तोरी[1]।'

२- 'अब आपकी आरोग्यता से बड़ी हुई प्रसादी मुझको मिले जो मैं उमंग से भंग का अभंग रंग लेकर अंग में मस्त हो आनन्द की तरंग में बहता हुआ मित्रों के संग जा मिलूं[2]।'

२३. तुकान्त गद्य

एक पात्र के कथन व संवाद दोनों ही रूपों में उपलब्ध हैं---

१- शाल्वराज --'मेरी बात का अर्थ समझो।

अम्बा -- मेरी जवानी पर तरस खाओ।

शाल्व -- बस जाओ मेरा सर न फिराओ[3]।'

१- 'बेताब' --'कृष्ण सुदामा', अंक १, दृश्य ८, पृ० ४६

२- श्री तुलसी--'बोधीचन्द', अंक १, दृश्य १, पृ०२

३- विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक--'भीष्म', अंक २, दृश्य ५, पृ० ६६

२४. ध्वन्यात्मकता व उच्चार-साम्य के विशिष्ट रूपों के अतिरिक्त गद्य व पद्य दोनों में ही अनुप्रास प्रयोग के संयत पुष्ट रूप के दर्शन होते हैं, जिसने भाषा की कलात्मकता व सौन्दर्यवर्धन में पर्याप्त योग दिया है--

१- 'मोहन के मन को मोहनेवाली महिला की मंद मंद मुस्कान महामन्त्र के समान शक्तिशाली है .... कोमलांगी कामिनी के कमल नेत्र से चले हुए तीन रूपी सर कुसुमसरसायक से किसी प्रकार कम नहीं है'[1]।

२- 'वीरन के वीर वीरसेन वीरभद्र वीर
वीरता की वीणा बाँधी बाँधी बाजती रहे।'[2]

यमक

१- 'पय समझी जिसको, पिया, पिया है विष की धार
पिया पिया पय न पिया, पिया पिया गई हार।'[3]

२- 'अफसोस! जाना के घर में आना तो है जान से जाना
मगर तुमने मेरा जाना ही बेहतर जाना तो लाज़िम हुआ जाना।'[4]

३- मुझे चिन्ता है चिन्ता की नहीं, चिन्ता तो है चिन्ता, बिना चिन्ता रात भर तारे हूँ मैं गिनता'[5]।

उपमा

२६. आलोच्य नाटककारों ने यत्र-तत्र कुछ विचित्र उपमानों का प्रयोग किया है। उनके ये उपमान वैज्ञानिक आविष्कारों से सम्बन्धित है, अथवा दैनिक जीवन की सामान्य उपभोग्य वस्तुओं से लिए गए हैं, जिससे साहित्यिक सुरुचि एवं सौन्दर्य पर आघात पहुँचा है। उदाहरणार्थ आगा हश्र 'काश्मीरी' के 'धर्मी-बालक' में---

१- दुर्गाप्रसाद गुप्त---'भारतरमणी', अंक १, दृश्य ३, पृ० २६
२- राधेश्याम कथावाचक ---'सती पार्वती', अंक १, दृश्य १, पृ० १०
३- आनन्दप्रसाद कपूर ---'गौतमबुद्ध', अंक १, दृश्य ३, पृ० २०
४- आगा हश्र काश्मीरी ---'दिल फरोश'
५- तुलसीदत्त 'शैदा' ---'बिल्वमंगल'

१- देखिए महाशय ये जलेबी जिस तरह मैदे शीरे और घी से तैयार हुई है उसी प्रकार यदि मनुष्य अपने स्वभाव को मैदे की तरह नर्म बनाकर कर्म के घी और कर्तव्य के शीरे में डुबो दे तो उसका जीवन इस जलेबी से ज्यादा मीठा हो जायगा।
२- जिस प्रकार हलवाई की दुकान को मक्खियां हर वक्त घेरे रहती हैं, उसी प्रकार नए प्रजापति के साथ सब समय यह मंत्रिमंडल चिपका रहता है[1]।
३- 'ब टपक पड़ती है सब की राल बाहर की सफाई पर,[2]
बरक चिपकाए हैं चांदी के गोबर की मिठाई पर।'

२७. अनेक स्थानों पर नाटककार ने पात्रों की प्रकृति के अनुकूल अलंकारों का प्रयोग कराया है। आगा हश्र के 'सीता-वनवास' में वीरभाव की प्रतिमूर्ति लक्ष्मण द्वारा अस्त होते सूर्य के दृश्य की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त निम्न उपमाएं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं --'अस्त होते सूर्य का दृश्य कैसा विचित्र है जैसे दिन भर का थका हुआ पुजारी सांझ के समय घोड़े की दुरजीन में शिकार लटकाकर घर की तरफ आता है, वैसे ही सूर्य का रथ विश्राम भवन की ओर बढ़ रहा है और दिन की शोभा पक्षियों से बंधी हुई रथ के साथ-साथ घिसटती हुई चली आ रही है।' इसी दृश्य को उर्मिलाने अपनी प्रेममयी प्रकृति के अनुकूल वर्णित किया है।

उत्प्रेक्षा

२८. सामान्य जीवन की व्यवहृत वस्तुएं प्रस्तुत अलंकार के लिए भी उपमान रूप में प्रयुक्त हुई हैं--

१- बेइमान का हुक्का क्या है मानो अर्क उतरने की भट्टी है और निगाली मानो आकाश दीपक टांगने का कच्चा बांस। जब धुआं छोड़ती है तो जान पड़ता है कि हावड़ा की मालगाड़ी प्लेटफार्म पार कर रही है[3]।

१- 'क्याचाचक'--'सती पार्वती', अंक १, दृश्य २, पृ० १५
२- 'बैताब'--'पत्नी प्रताप', अंक १, दृश्य ६, पृ० ७८
३- बलदेवप्रसाद खरे--'राजा शिवि' अंक १, दृश्य ४, पृ० २८

२६. लेकिन ऐसे उपमानों की सापेक्षता में कलापूर्ण एवं सुष्ठु रूप में प्रस्तुत अलंकार प्रयोग के उदाहरण अधिक उपलब्ध हैं। नाटककारों ने उत्प्रेक्षा का उन्मुक्त प्रयोग किया है। इसके प्रति उनका विशेष मोह रहा है।

१- 'यह मुण्डों की माला और मणिधर सर्पों के भूषण अंग भस्मी रमे हुए शरीर पर इस भांति सुहा रहे हैं मानो नील आकाश पर सप्त ऋषियों के साथ सम्पूर्ण नक्षत्र शोभा पा रहे हैं[1]।'

२- 'कैसी अच्छी केशावली है मानो घटाओं की पंक्ति चन्द्रमा को छुपाने के लिए आकाश मण्डल पर मण्डला रही है[2]।'

३०. प्राकृतिक दृश्यों के अंकन को प्रस्तुत अलंकार के प्रयोग ने विशेष आकर्षक एवं सजीव बनाया है। उदाहरणार्थ आगा हश्र के 'भीष्म-प्रतिज्ञा' का यह दृश्य --'यमुना का प्रवाह सवेरे के स्वर्ण अभावों से झिलमिल कर रहा है। ऐसा भ्रम होता है मानो चंचल जल की नीली तरंगों पर सोने की मछलियां तैर रही हैं और पुन्य देवता उन्हें पकड़ने के लिए यमुना की लहरों और सूर्य की किरणों से नीले रंग का जाल बुन रहे हों।'

रूपक--

३१. रूपक अलंकार का प्रयोग नाटककारों ने प्रधानतः अपने धार्मिक एवं दर्शन सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति में अधिक किया है। अन्य स्थलों पर इसके प्रयोग के उदाहरण कम मिलते हैं। तुलसीदत्त 'शैदा' के 'बिल्वमंगल' में अपने उद्भव व संसार के अनाचारों के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के ये उद्गार रूपक की शैली में हैं --'जिस समय संसार सागर में धर्म रूपी नाव डूब जाती है, तो अनाचार रूपी आंधी सत्यता के आकाश पर धूल फिलाती है औ पाप रूपी बिजुली को अपना साथी बनाकर संसारी मनुष्यों के हृदय से क्या,

---

१- 'कथावाचक' --'सती पार्वती', अंक १, दृश्य३, पृ०२०

२- ,, -- 'ऊषा अनिरुद्ध', अंक ४, दृश्य ४, पृ० ६६

उपकार और धर्म रूप देवता की धज्जियां उड़ाती हैं ।'

लोकोक्तियां, मुहावरे व सूक्तियां

३२. भाषा का अलंकरण केवल अलंकृत कथनों से ही सम्भव है, ऐसा नहीं है, वरन् उसे सजीव एवं सप्राण बनाने के लिए आवश्यक है कि भाषा गतिशील एवं प्रवाहमान हो। मुहावरे और लोकोक्तियों का अपना विशिष्ट अर्थ है जो पाठक एवं दर्शक के मस्तिष्क में पूर्व स्थित होता है । वांछित स्थल पर उसका प्रयोग न केवल कथन को वक्रता देता है, वरन् नाटककार के इष्ट अर्थ के अनुभावन में अपनी प्रभावपूर्णता द्वारा भाषा को प्रवाहशील बनाता है । रंगमंचीय नाटककारों ने मुक्त रूप से इनका प्रयोग किया है, जिनकी सम्पूर्ण सूची तो काफी विस्तृत होगी । यहां केवल कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा --

३३. चार चांद लगाना, लोहे के चने चबाना, नौ बारह, दूज का चांद, कान न देना, लकीर पीटना, भैंस के आगे बीन बजाना, नौ दो ग्यारह, आंख लड़ना, समझ पर पत्थर पड़ना, दाल में काला, पांचों घी में, बायें हाथ का खेल, छाती जुड़ाना, छठी का दूध याद आना, ऊंची दुकान फीका पकवान, हाथ कंगन को आरसी क्या ?, तबेले की बला बन्दर के सर, धोबी का गधा न घर का न घाट का, पानी में रहकर मगर से बैर, बहती गंगा में हाथ धोना, एक एक के चार चार, एक पंथ दो काज आदि आलोच्य नाटकों के बहु प्रयुक्त मुहावरे व लोकोक्तियां हैं ।

३४. चोरी सब करते हैं मगर जो पकड़ा जाता है वही चोर कहलाता है, सबेरे का भूला सन्ध्या समय घर आ जाए तो भूला नहीं कहाता, लात का भूत बात से नहीं मानता, होना वह जो सर पर चढ़कर बोले, जाके पैर न फटी बिवाई वो क्या जाने पीर पराई, आप मियां जी मांगते द्वार खड़े दरवेश आत्मा में पड़े तो परमात्मा की चूक, करम गति टारे नाहिं टरे, एक तो लौकी तीती दूजे नीम चढ़ी जैसी लोकप्रिय सूक्तियां भी नाटक में सर्वत्र प्राप्त है ।

भाषा-प्रयोग

पात्रानुसार भाषा --

३५. देश,प्रान्त और जाति के अनुसार पात्रों की भाषा का स्वरूप परिवर्तित कर दिया जाए अथवा नाटक के आदि से अन्त तक उनके मुख से एक ही भाषा का प्रयोग कराया जाए इस सम्बन्ध में मतभेद है । संस्कृत नाट्य-शास्त्र पात्रों को दृष्टि में रखकर भाषा -परिवर्तन के पक्ष में है । यदि विभिन्न देशों व प्रान्तों में प्रयुक्त उनकी अपनी भाषा के शब्द नाटकों में रखे जायें तो इससे रस स्थिति के अनुभावन में आघात पड़ेगा, क्योंकि उस दशा में पाठक व दर्शक भाषा को समझने के लिए शब्दों के माया-जाल में उलझा रहेगा । इसके विपरीत विभिन्न कालों,देशों, एवं प्रान्तों के प्रतिनिधि पात्रों के मुख से निसृत एक सी भाषा व परिस्थितियों के अनुरूप न होने के कारण उनके चरित्र को अस्वाभाविक बना देगी । ऐसी स्थिति में किसी पात्र के उच्चारण एवं वाक्य स्वरत्व के अनुकूल यदि थोड़ी विकृति ला दी जाए व पात्र से उसकी मातृ एवं प्रान्तीय भाषा न कहलवाकर हिन्दी में अथवा नाटक की भाषा में कुछ ऐसे शब्द मिला दिए जाएं जिससे उसके कथन उनके प्रान्त व जाति के अनुरूप दीख पड़े तो नाटककार सहज रूप में उपर्युक्त विवादात्मक स्थिति से सहज ही में ऊपर उठ सकता है । भाषा के सम्बन्ध में पात्रों के चरित्र की स्वाभाविकता के लिए यह अधिक न्यायसंगत होगा कि पात्रों की भाषा उनकी स्थिति के अनुकूल न हो । आलोच्य नाटककारों ने इस नियम का पूर्णत: परिपालन किया है । उनका मारवाड़ी पात्र-- "म्हारो दोस्त मुचकन्दर पूरी गांधी के बल को है । वा म्हारी सुख की आंटी हो रह्यो है । बे पैलीसे बागीचे में बाकर हट गयो है"[1], गुजराती --" आजना जमाना मां पौंवानु पेट मरवं भारी पड़े है । क्यां बनी बिजानु गुजरात से क्यम थई सके" -- बंगाली --" म माशा । आमरा ए शौब चाईना,एके मीये आमी की कोरबो ? चालो माशा चालो"[2], मराठा --" म को दादा। माझी तीन नायका है,त्यांमधा

१- बलदेव प्रसाद खरे--"परीक्षित" अंक १,दृश्य ३,पृ० २५

२- "लाक्षि" --"हरिश्चन्द्र", अंक ३,दृश्य१, पृ०७७

पीट नाय मरत तर छ्यांना चढ़ेन काम करं ?[१] यदि अपने प्रान्त के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं तो अंग्रेज अथवा अंग्रेजी शिक्षित पात्रों के मुख से नाटककार ने अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग कराया है--"नेवर नेवर, आइ विल नॉट एक्सक्यूज़ हिम, विल इस माइ लास्ट ब्रेथ। मैं मदनमोहन से इस इन्सल्ट का जरूर रिवेन्ज लूंगा। आज से मेरी जिन्दगी की हर मिनिट इस ट्राई में खर्च होगी कि मनोरमा का उसने छीन लूं[२]।" इतना ही नहीं योग्यता एवं प्रवृत्ति, शिक्षित एवं अशिक्षित, ग्रामीण एवं नागरिक तथा नौकर स्वामी की भाषा में पर्याप्त वैविध्य रखा गया है। इसका विस्तृत विवेचन संवाद वाले अध्याय में यथार्थवादी संवादों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

२६. इस प्रसंग में उर्दू भाषा के प्रयोग में नाटककारों ने पूर्णत: स्वेच्छा से काम लिया है। मुस्लिम पात्रों के मुख से अरबी फारसी बहुला क्लिष्ट उर्दू का प्रयोग कराया गया है जो किसी भी प्रकार हिन्दी की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ --"खादिम की यह आरज़ू थी कि आला हजरत मेरे बाप जहान्दार को सताने की वह बेशकीमती बेशकीमती मोती जो अब तक नासुफ्ता है, उसकी कबूलियत की इज्जत अता फरमाकर अपने ताज के गोशे में जगह देंगे और मेरे मरहूम बाप की रूह को शाद करेंगे[१]।" भाषा का यह रूप पूर्णत: उर्दू का है। पौराणिक पात्रों एवं पौराणिक हिन्दी नाटकों में भी ऐसी ही भाषा का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए तुलसीदत्त "शैदा" के "बिल्वमंगल" में --" आफताब मगरिब की गोदमें छिपा जाताहै, हमारे लिए पैगामे वस्ल आताहै। परिन्दों के लिए आसमाने मुअर्रत पर अब्रे खुशहाली छा जाती है। जब बामे गुल-रूखे आँखें मिलाते हैं, जाम पर जाम लुढ़काते हैं तो कोई एक लायक व शायर के दिमागी तसव्वुर को ज़बान के जरिए दुहराते हैं।" भाषा के इस रूप प्रयोग की उत्तरदायी उर्दू नाटकों की वह लम्बी परम्परा है जो सन् १८७१ में 'सोने के मूल की खुरशीद' से आरंभ

२- अहमद अहमद शाद -- 'काली नागिन' अंक१, दृश्य१, पृ०५५

१. ललित० - 'सत्य हरिश्चन्द्र', अंक ३, दृश्य १, पृ० ६६

होकर सन् १६१२ तक क्रमबद्ध रूप में बराबर बनी रही व आगे भी स्वतन्त्र रूप से उसका विकास होतारहा । इसके अतिरिक्त उस समय तक हिन्दी -उर्दू नाटकों के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गयी थी कि हम हिन्दी उर्दू को पृथक् पृथक् रख सकें । दोनों के मिश्रित रूप अर्थात् सरल हिन्दुस्तानी का प्रयोग ही अधिकांश रचनाओं में उपलब्ध होता है । इतना अवश्य है कि "कथावाचक", आगा हश्र के पौराणिक नाटक व "बेताब" की उत्तरकालीन रचनाओं में उसे हिन्दी के निकट लाने के प्रयास किए गए । अन्यथा सभी रचनाएं सरल हिन्दी में प्रस्तुत की गई हैं ।

अध्याय --६

-0-

गीत

उसी तरह संलग्न है, जिस तरह देह के साथ आत्मा। संगीत के बिना रंगभूमि नीरस और शुष्क लगती है। संगीत की विशेषता यह है कि जिस जमाने में रंगभूमि इतनी समृद्ध न थी, निष्प्राण नाटक अभिनीत होते थे, उस समय में भी नाटक के गीत लोकप्रिय बनकर लोकगीत बन गए।"[1]

३. पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन के यथार्थवाद के प्रभाव में आज न केवल पद्यात्मक संवादों को वरन् गीतों की परम्परा को भी हटाया जा रहा है। किन्तु भारतीय-मन में नृत्य और संगीत के प्रति सदा से प्रीति रही है। अतः नाटक से संगीत का पूर्णतः बहिष्कार असम्भव-सा है। यह अवश्य है कि उसकी योजना को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की जाए। इस सम्बन्ध में सेठ गोविन्ददास का मत अधिक युक्तियुक्त है। उनके अनुसार --"हमारे यहाँ हरेक पात्र गाता है और हरेक अवसर पर। गानों की तो इतनी भरमार रहती है कि युद्ध में जाने वाला वीर खड्ग निकाल कर उसे घुमाता हुआ गाता है, कोई बीमार मर रहा है तो उसके सिरहाने गीत होता है, कोई मर जाता है तो उसके शव पर गाया जाता है। यहाँ तक कि मरने वाला पात्र स्वयं गाता गाता मरता है। यह सब बन्द करना चाहिए पर युरोप के नाटककारों के सदृश्य गायन, नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा बहिष्कार करना भी उचित नहीं। संसार में गानों से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है अतः नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते हैं।"[2]

४. गीतों का महत्व निश्चित हो जाने पर आलोच्य नाट्य गीतों की समीक्षा का प्रश्न आता है। किन्तु इससे पूर्व इस सम्पूर्ण कार्य-काल में गीतों के विकास का एक पर्यवेक्षण मेरे विचारानुसार निश्चित निष्कर्षों के निर्धारण में लाभप्रद सिद्ध होगा। रंगमंचीय कम्पनियों के इतिहास सम्बन्धी अध्याय में कहा जा चुका है कि उक्त रंगमंच की प्रारम्भिक अवस्था में संगीत को स्थान प्राप्त न था। इसका कारण पारसी

१- गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, पृ०४१

२- सेठ गोविन्ददास--"नाट्यकला मीमांसा", १९६२, पृ०२१-२२।

जाति का पिछड़ापन और उनके अन्ध विश्वास थे। गायन तथा संगीत कला को इस वर्ग से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, बरन् जो गाता था वह भी तुच्छ और हेय दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियों को भी संगीत की कोई शिक्षा नहीं दी जाती थी। पारसियों में इस कला का उद्धार करने के लिए अपने वर्ग के समाज-सुधारक काबराजी ने सन् १८७० में संगीत उत्तेजक मण्डली की स्थापना की, जहां संगीत की नि:शुल्क शिक्षा का प्रबन्ध था। काबराजी द्वारा काफी प्रोत्साहित किए जाने पर कावसजी होरमसजी गांधी भाई, मनचेर जी मेरवान जी नाणावटीवाला, डा० मनचेरजी सोराबजी, माणेकजी धनजीशाह, दादाभाई पेस्तनजी बाकिंग, फरामजी सोराबजी, आदि कुछ युवकों ने बड़ी कठिनाई से इस संगीत मण्डली में प्रवेश किया। दादाभाई रतन जी ठूठी भी बाद में इन संगीत-शिष्यों में सम्मिलित हो गए[1]। माणेक जी बारभचा ने सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की। संगीत शिक्षा लेने से पूर्व ही सन् १८५८ में आपकी 'रागे दिल चमन' नामक एक संगीत पुस्तिका प्रकाशित होचुकी थी।

५. शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित करने के साथ ही काबराजी ने 'ज्ञान प्रचारक मण्डली' की ओर से स्वयं भी संगीत शास्त्र पर निम्नलिखित तेरह भाषण दिए -- देशी संगीत, देशी संगीत विद्या, सुर विद्या, ताल विद्या, राग विद्या, पारसी गायन, पारसी लगनना गायन, गरबा, रागिनी किसौटी, गायननी भाषा, होणीना गायन, मल्हारना गायन, बहारनी, मौसमना गायन आदि[2]। सन् १८८२ में जब विलायत में राष्ट्रगीत का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करने की योजना बनी तब गुजराती में इस राष्ट्रगीत को लिखने में सर्वाधिक सफलता काबराजी को ही मिली।

६. वस्तुत: पारसी कौम में संगीत का शौक उत्पन्न करने के साथ ही रंगमंच पर संगीत की स्थापना का श्रेय काबराजी को ही है। अन्यथा नाटकों में

१- डा० धनजीभाई नसरवान जी पटेल, 'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख', १९३१ पृ० ४६

२- ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ७७

संगीत का कोई स्थान न था । 'अेक जमानामां नाटकना शोकीन सज्जनो नाटकमां म्यु म्युजीक आमेल थयेलु जोवा नाराज हता । अने ते कारन नाटकमां म्युजीक दाखल करवानी लेखको काणजी राखता हता नाहि । अने जे कंईक म्युजीक ने नामे रजु थतु ते जो आजे रिपीट थाय तो अमो तो मान्येछ के कोहेलां ईंडानो मार पड़े । ते वखते नाटक पुरे थतां बलवमां चार पांच गानारा वेबटरो अेक हीध्धी हारमां खुरशीओ ऊपर गोठवई जता । तेओनो पोशाक आबद पैला कान साफ करवा आवनारा मुसलमानो जेवो लागतो हतो ।' 'जुदीन फधड़ो' नाटक की प्रस्तावना में जहांगीर जी पेस्तन जी संमाता के ये विचार उस समय के नाटकों में संगीत की स्थिति के सच्चे परिचायक हैं । बाद में बाबराजी के प्रयासों के फलस्वरूप देशी संगीत को नाटकों में स्थान मिलने लगा जो विभिन्न राग-रागिनियों के रूप में प्रस्तुत किया गया । यहां ध्यान रखने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य है कि फार्स या कामिक की तरह ही संगीत की यह शास्त्रीय राग-रागिनियों वाली परम्परा भी किर्लोस्कर या डोंगरेकर आदि मराठी नाटक मंडलियों की देखा-देखी अपनाई गई थी जहां कि उच्च स्तर का संगीत था । इसके साथ ही कलकत्ता में जो कि बम्बई के उपरान्त पारसियों का दूसरा प्रमुख नाट्य केन्द्र था । पारसी कलाकारों को बंगाली कलाकारों के सम्पर्क में आने और उनकी नाट्य कला के अध्ययन का अवसर मिला । कलाप्रेमी बंगालियों में संगीत के प्रति सदैव से ही आकर्षण रहा है । उनके रंगमंच पर संगीत की प्रभावोत्पादकता और श्रेष्ठता से प्रभावित होकर आलोच्य कम्पनियों ने भी अपने नाटकों में संगीत पर विशेष ध्यान दिया ।संगीत की इस परम्परा को गुजराती नाटक कम्पनियों ने भी अपनाया किन्तु दोनों ही आगे परम्परा का निर्वाह न कर सकीं । पारसी रंगमंच पर तो बहुत शीघ्र ही हल्की फुल्की गज़लों की भरमार हो गई । गुजराती रंगमंच से भी सन् १८८० के बाद उच्चस्तरीय संगीत की परम्परा समाप्त हो गई ।

७. 'कमलेख' नाटक के प्रस्तुत निम्न उदाहरणों से आलोच्यकालीन प्रारम्भिक नाटकों के संगीत का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है --

वाली सबनी बेनी रखनी गमता गीतडां गावने जी
मधुर वाणी बोले छलकारी,वाली वनाडी वाली गीतडां गावोजी...
गोरी बानडी पोरी गमती गमत रमतमां रमती जी
होंसे हसिवाहन सावा हणमार मां संसारेना सुख अमती गीतडां गावो जी

२- <u>राग देश</u>

'हो मोरा बालम हमसे लड़े रे ऽऽऽ वे राह
हो सारे वेलम तमने नमेरे
तमने नमे सारी जगसे जमेरे ऽऽऽ वे राह । हो मारो ....
कृतोकशानी हीकमती मारी १
जादी करी कारीगरी तमेरे ऽऽऽ वे राही हो मारी ..

८. संगीत को स्थान मिलते-मिलते तो फिर अनेक संगीत नाटक (Opera) रंगमंच की शोभा बने । सम्पूर्ण नाटक गायन में लिखने या आपेरा का प्रयोग सर्वप्रथम 'हिन्दी मंच' के स्थापक नसरवान जी आप अल्त्यार ने किया । आपने संगीतप्रिय बारभाया जी के मधुर 'कंठ से प्रभावित होकर ०.२०८२९ कावराजी से शाहनामा के आधार पर 'रुस्तम सोहराब' नाटक लिखवाकर अपने 'पारसी स्टेज प्लेयर्स' के रंगमंच पर खेला । जिसमें रुस्तम तथा सोहराब की भूमिकाएं निभाईं स्वयं नसरवान जी व माणेकजी बारभाया ने । इसके पश्चात् तो संगीत नाटकों के अभिनय की एक परम्परा ही आरम्भ हो गई ।

९. ऊपर कहा जा चुका है कि धीरे-धीरे पारसी स्टेज से राग-रागनियों वाले उच्चस्तरीय संगीत ने विदा ले ली और उनका स्थान हल्के गानों ने ले लिया । पात्र मौके-बेमौके गाने लगे । न स्थान का ध्यान रखा जाता था न अवसर का । यही कारण है कि तत्युगीन रंगमंचीय नाटककार इस क्षेत्र में तीव्र आलोचना के शिकार बने । उनके नियोजित गीतों को 'गज़ल ठुमरी आदि के रूप में कुरुचिपूर्ण अश्लील गाने' की संज्ञा दी गई । उन्हें केवल तुकबन्दियाँ और थियेटर तर्ज के गाने कहा गया ।[2] कुछ ने उन्हें 'सस्ते गज़ल शैली के गीत कहा जिनमें न सामाजिकों की

१- 'जमशेद', अंक १, दृश्य १, पृ० १२
२-अ- श्रीकृष्णदास--हमारी नाट्य परम्परा, प्र०सं० १९५६, पृ० ६१०
आ-डा०सोमनाथ गुप्त - 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', तृ०सं०, १९५१, पृ० १४८
इ- डा०श्रीकृष्णलाल - 'हिन्दी साहित्य का विकास', तृ०सं० १९५२, पृ० २३२
ई- डा०वेदपाल खन्ना - हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन', पृ० ६४
उ- डा०रामकिशोरी श्रीवास्तव- हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन, शोधप्रबन्ध(अप्रकाशित), पृ० ४२४ ।

सुरुचि का ध्यान रखा गया है न उनमें भावों की उदात्तता,गहराई या उच्चकला ही मिलती है और न उत्कृष्ट गीतितत्व ही है। डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत है कि इनके पात्र मौके-बेमौके गाया ही करते हैं और पद्यों में बातचीत करते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक अपना गौरव भूलकर गाने और नाचने लग जाते हैं। गीतों में गज़ल, ठुमरी,दादरा,दोहा,छप्पय,हरिगीतिका आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। नाटकों में जितना ध्यान अत्यधिक हाव भाव प्रदर्शन और गानों पर दिया गया है,उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं दिया गया। उनके अनुसार इन नाटकों में भद्दे गीत,ऊटपटांग और अश्लील हाव-भाव प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है[1]। श्री ललितकुमार सिंह `नटवर` ने भी रंगमंचीय गीतों की असामयिकता और अनियमितता का उपहास उड़ाया है। `हरेक जगह गीत... फिर गीतों का भी क्या कहना ? एक ही में दादरा भी है, सारंग भी है और भैरवी भी। एक ही में चार-चार और पाँच-पाँच राग-रागिनियाँ मिश्रित हैं और ताल में भी कभी सुरफाख्ता, कभी तीन, कभी डेढ़ और कभी गड़बड़ताली है। संगीत में सामयिकता का भी कुछ अनिवार्य नहीं। नौ बजे रात में विहाग या भैरवी तथा दो बजे रात में मालकौश या बागेश्वरी अलापे जाते हैं[2]।

१०. ये समस्त समीक्षाएं निराधार नहीं हैं। इनमें आंशिक सत्य है। लेकिन यदि कारण की खोज की जाय तो प्रमुख रूप से अमानत की `इन्दर सभा` (१८५३) उत्तरदायी ठहरती है जो आलोच्य नाटककारों में अत्यधिक लोकप्रिय रही। `इन्दर सभा` की समीक्षा में कहा जा चुका है कि उसका दो तिहाई अंश गीतों में है। कार्य का आदेश,पात्रों का परिचय व कथा का संगठन आदि सब कुछ गीतों में है। इस छोटे से नाटक में ३१ गज़लें ,२ चौबोले, ५ छन्द और १४ गीत हैं,जिनमें आठ ठुमरियां चार होली, एक सावन, एक बसन्त और एक फाग सम्मिलित है। अपने युग की जनरुचि से प्रेरित `इन्दर सभा` के इस पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि उस समय गीतों का क्या स्थान था ? इसकी लोकप्रियता से प्रेरित होकर ही आलोच्य नाटककारों ने अपने नाटकों में गीतों को प्रमुखता दी और उसी के ढंग पर उनकी नियोजना की। यही कारण है कि उनके गीतों में वही दोष मिलते हैं जो उक्त नाट्य-रचना में है। लीलाओं का प्रभाव तथा जनता की मांग भी इसके लिए बहुत कुछ अंशों में उत्तरदायी है।

१- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय -`आधुनिक हिन्दी साहित्य`,हिन्दी परिषद,प्रयाग विश्वविद्यालय,१६४८,पृ०२०३।
२- `हिन्दी रंगमंच और अभिनय कला`, माधुरी वर्ष ८, खण्ड२,१६३०,पृ० ४४४

११. किसी प्रकार का निष्कर्ष देने से पूर्व रंगमंचीय नाट्य गीतों की विशिष्टताओं और उसके विविध रूपों का अध्ययन आवश्यक होगा । प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि अंग्रेजी नाटकों और नाट्य क्लबों के आधार पर इन पारसी नाटक कम्पनियों की स्थापना हुई थी, जहां शाहनामा और अवेस्ता पर आधारित कथाओं के अतिरिक्त शेक्सपियर आदि अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों और अनुवादों का भी अभिनय होता था । अत: उनकी विशेषताओं का समावेश स्वाभाविक था । इन्हीं विशेषताओं का प्रभाव था कि न केवल अंग्रेजी धुनें वरन् अंग्रेजी गीत और शब्दावली तक नाटकों में उपलब्ध है जो उन्हें भारतीय वातावरण से दूर ले जाती है ।

'आई टुक माई वाइफ टु वाल बन डे

टु मैक ए डान्स एट दी सपर

शी फेन्टेड आन दी टैबल क्लाथ एण्ड स्टक हर नाज़ इन

दी बटर । हीडन्ड आर लाफ हा हा हा ।

आई टुक माई वाइफ टु टैलर बन डे, टु मैक फार हर ए जाकेट

शी कट बाई दी टैलर्स मैक एण्ड बैकड् इट इन हर पैकेट

हीडन्ड आई लाफ़ हा हा हा । ....'[१]

१२. इन व्यर्थ व निरर्थक गीतों की योजना प्राय: हास्य कथा में की गई है जो कि मूल से पूर्णत: पृथक् है । इनका प्रयोजन केवल मात्र मनोरंजन तथा विदेशी सभ्यता, संस्कृति में डूबे व बहके व्यक्तियों का उपहास करना है । मांस, मदिरा व फैशन अंग्रेजी सभ्यता की देन है । इनमें आलोच्य नाटककारों की दृष्टि मदिरा पर विशेष रूप से गई । अपने नाटकों में उन्होंने इससे सम्बन्धित अनेक अंग्रेजी धुनें रखी हैं---

१- 'साकी दे दे भर भर जाम

बोतल में है दिल का आराम ।

मस्त बनादे, गम को भगा दे

रिन्दों की दुनिया में होगा तेरा नाम । साकी....

२- 'दे दे बाला भर भर प्याला रंगन वाला

पीने वाला हो मतवाला मायल करदे काला-काला...

१- आगा हश्र --'खूबसूरत बला', अंक १, दृश्य ४, पृ०२५

१३. `इन्दर सभा` के प्रभाव में ही यत्र-तत्र कार्य की आज्ञा भी संगीत में ही दी गई है जो बड़ी विचित्र और अस्वाभाविक प्रतीत होती है। `तालिब` के हरिश्चन्द्र` नाटक में अप्सरा प्रथमतः नृत्यगान का अवसर माँगती है, फिर पुरस्कार में राजा की रानी बनना चाहती है। उसकी ढीठता पर हरिश्चन्द्र का यह कथन मन पौराणिक मर्यादा की अवहेलना के साथ ही क्रोध के सामंजस्य में बड़ा असंगत है--

`अरे हां री काहे-काहे तू न माने गोरी।
शर काहे को करत औ गंवारी
मतवारी, नाबकारी, छोड़ सारी कैसी औ नारी तू डिठाई करत
खोई तूने लाज, तोरी सुधि गयी आज तोरी। काहे .....
काहु के बचन `मानत` नहीं (सिपाही से) कर दे इसी दम इसे
दूर सिपाही, चतुराई, निठुराई, बेह्याई, बेसवाई। काहे...[1]

१४. पद्यात्मक संवादों के समान संवादों के रूप में संगीत की योजना भी रंगमंचीय नाटकों की विशेषता है। यहां एक पात्र यदि एक पंक्ति कहता है तो दूसरा उसी जोड़ की दूसरी।

जाल शरीफ और शेरदिल दोनों -- मारूं घुटना फूटे आंख
जाल० -- मुझसे मत तू शेखी हांक।
शेर -- देखा बड़ी तेरा हांक
जाल० -- दूं घूंसा
शेर० -- दूं ठोंसा
जाल० -- जा घर जा
शेर० -- जा मर जा
दोनों -- तेरी बीबी मेरी बने। मारूं....[2]

१५. लय, छन्द और गतिहीन इस गीत का न कोई तात्पर्य है न अर्थ। पूर्णतः व्यर्थ सा है। रंगभूमि पर इन उक्तियों और उसके भाव प्रदर्शन को देखकर

१- आगा हश्र कश्मीरी -- `काली नागिन`, अंक १, दृश्य २, पृ० १५
२- मुंशी नायक हसन -- `मस्ती-गुलाब`

हंसी के अतिरिक्त इसकी और कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होता । प्रस्तुत गीत में प्रश्नोत्तर रूप में इसी शैली का है--

'वाह वाह क्या जगमग जग की गत न्यारी
दीखत है क्या प्यारी प्यारी ।

नर्मदा-- धीर धरो मन में मत हो अधीर
सुध बुध क्यों है बिसारी । वाह...

कौशिक -- यह क्या है ?

नर्म० -- यह भाड़ है ।

कौ० -- और यह क्या है ?

नर्म० -- यह भोपड़ी है ।

कौ० -- यह क्यारी ?

नर्म० -- फुलवारी

कौ० -- खिल रही क्या सारी ?

नर्म० -- शान्त हो स्वामी प्रेम धारी ।' वाह...

१६. पात्रों द्वारा अपनी या दूसरों की मनोदशा प्रकट करने वाले गीतों में नाटककारों ने एक पक्ष को ही प्रधान रूप से अपनाया है । उनके दुष्ट पात्र अपने चरित्र का निवारण अवश्य अपने मुख से कर देते हैं, किन्तु सद्पात्रों द्वारा इस प्रकार के आत्मविषयक कथन बहुत कम कराए गए हैं ।

१७. नाटककारों ने देव तथा पौराणिक पात्रों तक को भी नहीं छोड़ा । उसके दैवी पात्र अपनी मर्यादा को भूलकर शीघ्र ही सामान्य मनुष्यों की तरह गाने लगते हैं । लगता है वे इसी धरती के और इनके रंगमंच के साधारण व्यक्ति हैं । 'श्रीमती मंजरी' में दुखियारी मंजरी का दुष्ट जानकीनाथ से अपनी लाज बचाकर भगवान् की शरण में आकर गाना तथा प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण का प्रकट होकर उसी के समान गाने लगना इस बात का प्रमाण है कि वे दैवी पात्र हैं, उनमें अलौकिक शक्ति है । इस विभिन्नता के अतिरिक्त देव और सामान्य पात्रों में कोई अन्तर नहीं ।

१- मुंशी नायक साहब - 'पत्नी प्रताप', अंक २, दृश्य ६, पृ. ६८

'सुबह जन्नत से माँ बेचैन तेरा श्याम रहा ।
तड़पा परवाना तो क्या शमा को आराम रहा ।
मैं तो समझा था कि कलियुग में कोई भक्त नहीं
तेरी भक्ति से ये समझा कि मेरा नाम रहा ।
मुझको आना ही पड़ा तेरी मदद को झलझल
जब तेरे वास्ते न दाना रहा न दाम रहा ।'[1]

इन गीतों का इतना प्रभाव पड़ा कि ईश-वन्दना में भी ऐसी ही शब्दावली प्रयुक्त होने लगी ।

१८. शेरो-शायरी, उर्दू की गज़लें व थियेटर तर्ज के गीत जिनके उत्तराधिकारी आज के सिने-जगत के गीत हैं- ऐसे गीतों से तो नाटक भरे पड़े हैं । हिन्दी छन्दों के सापेक्ष्य में ये उर्दू गज़लें अधिक मधुर व प्रिय हैं तथा भावप्रवण हैं -

'खाक में मिलवा दिया मिल मिल के क़ातिल से मुझे ।
हसरतें दिल का गिला हैं, हसरते दिल में मुझे ।
एक तरफ बैठी हूं कुछ कहती नहीं सुनती नहीं ।
फिर उठाते हो भला क्यों अपनी महफिल से मुझे ।'[2]

१९. जहां तक नाटकीय गीतों की भाषा का प्रश्न है, उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि नाटककारों ने मुक्तरूप से उर्दू का प्रयोग किया है, भले ही वह सामान्य व्यक्ति के मुख से निसृत हो या पौराणिक पात्र के --इससे उन्हें कोई मतलब नहीं । ननिहाल से लौटकर पितृ-मृत्यु पर शोक के आवेग में भरत इन्हीं शब्दों में अपनी मनोभिव्यक्ति करते हैं, जिस भाषा में सामान्य मुस्लिम पात्र बात करता है--

'यह चमन में कैसी हवा चली कि गुलों के तलवे से मल गयी ।
जो कली है वो है मली दली न मली गयी है तो जल गयी ।
मुझे नज़र आता है यूं नज़र कि उजड़ चुका है तमाम तर
यह बदन बदन है पड़ा हुआ कोई जान थी कि निकल गई ।'[3]

१-दुर्गाप्रसाद गुप्त--'श्रीमती मंजरी' अंक २, दृश्य२, पृ०६२
२- आरजू-- 'कलियुग की सती', अंक२, दृश्य६, पृ०८७
३-नारायणप्रसाद 'बेताब'--'रामायण' अंक२, दृश्य२, पृ०१०८

२०. १९ वीं शताब्दी के नाटकों में ही ये उपर्युक्त विशेषताएं अधिक परिलक्षित होती हैं, जब कि उर्दू नाटकों का प्राधान्य था, इश्क व श्रृंगारिक भावनाओं की बहुलता थी । किन्तु २० वीं शताब्दी के दूसरे दशक में हिन्दी के रंगमंच पर प्रवेश करते ही भाषा परिष्कार के साथ सम्पूर्ण नाट्य अंगों में परिमार्जन आया । यह कहा जा चुका है कि हिन्दी का आगमन सर्वप्रथम गीतों के रूप में हुआ । उनकी अनुकरणीय मराठी नाटक कम्पनियों में भी गीतों की योजना हिन्दी में ही थी- जब कि संवाद मराठी में लिखे गए थे । आलोच्य रंगमंच पर इस क्रान्ति को विस्तार दिया स्वर्गीय नारायण प्रसाद `बेताब' ने । चूंकि इस युग में पौराणिक नाटकों की रचना सर्वाधिक हुई अस्तु गीत भी भक्ति और दार्शनिक भावों को लेकर अधिक लिखे गए ।

२१. संगीत के क्षेत्र में २० वीं शताब्दी में निम्न मुख्य परिवर्तन हुए--

१-भाषा की दृष्टि से हिन्दी की प्रधानता

२-तर्जों के साथ अच्छे बोलों का स्थान

३- भाव व विषय-विस्तार ।

२२. वस्तुतः अच्छे बोल ही आलोच्य-काल में नाट्य गीतों के परिष्कार के मुख्य आधार हैं । अब तक तर्जों के आधार पर ही गीत की योजना होती थी -गीत के आधार पर तर्ज का निर्माण नहीं । 'कथावाचक जी ने इसका विरोध किया । उनकी धारणा थी कि अच्छे बोल ही जनता पर पहले प्रभाव डालते हैं, तर्ज बाद की चीज है । अगर अच्छे बोल के साथ तर्ज भी अच्छी हो तब तो 'सोना और सुगन्ध' है ।'[1] यह तभी हो सकता है, जब दोनों अर्थात् तर्ज और बोल बनाने वाला एक व्यक्ति हो । राधेश्याम जी कथावाचक होने के कारण संगीत के ज्ञाता थे । इसी से वे मनोवांछित गीतों की रचना कर सके । अन्यथा होता यह था कि कम्पनी व्यवस्थापक व निर्देशक संगीत मास्टर से तर्जें बनवाकर उसके आधार पर गीत लिखने का आदेश दे देते थे । लेखक को बोलों के निर्माण में स्वतन्त्रता नहीं थी । किन्तु यदि नाटककार संगीतशास्त्र से परिचित रहे तो अपने

१- राधेश्याम कथावाचक --`मेरा नाटक काल',प्र०सं०, १९५७ ,पृ०५१

बोलों के लिए स्वयं तर्ज निर्धारित कर सकता है तथा उसके अनुरूप गीतों की योजना क भी ।

२१. अच्छे बोलों के महत्व से अवगत होकर २० वीं शताब्दी के नाटक-कारों ने पुरानी लीक से ऊपर उठकर नए-नए विचारों को अपने गीतों का विषय बनाया । केवल श्रृंगार ही उनका प्रतिपाद्य नहीं रहा । इस युग के गीतों में हमें यथार्थवाद के दर्शन होते हैं । पराधीनता व देश-दुर्दशा के प्रति क्षोभ, देश-प्रेम, नारी-जागरण का संदेश, सत्याग्रह, चरखा, जनहित व जन-नेताओं के प्रति उनकी भावाभिव्यक्ति आदि विषय गीतों के आधार बने । नाटककारों ने अपने देश पर तत्कालीन परिस्थितियों पर खुली दृष्टि डाली केवल मनोरंजन को लेकर कला साधना में रत नहीं रहे । निम्न कुछ गीत इस बात के प्रमाण हैं--

परार्धीनता के प्रति शोक

> विदेशी शौक ने यारों हमें मुफलिस बनाया है,
> गुलामों में हुई गिनती यहां तक तो गिराया है ।
> बने बाबू लॉ लेकिन विदेशी फैलसूफी में
> पसीने का कमाया धन विदेशी में लुटाया है ।....[१]

देश दुर्दशा

> 'रहा चांदी न सोना सभी घर में रोना
> लिया कागज़ का डाकू ने देश सारा लूट ।
> दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग से
> इस घर को आग लग गई घर के चिराग से
> गुल क्या कि खार तक न बचा हाय लूट से
> भारत का बाग उजड़ गया आपस की फूट से[२] ।'

१- 'सेवा' --'देशदीपक' अंक १, दृश्य३, पृ०२८

२- बाबू --'ऊषा अनिरुद्ध', अंक१, दृश्य१, पृ०३

भारतीय नारी

'भारत रमणी की हो तार
एक को माने एक को जाने एक को समझत प्रान अधार ।
पति को समझत जग की जोती जीवन का उजियाला ।
रोम रोम और स्वांस स्वांस पर जपती प्रीतम माला ।
तज देत है संधार । भारत०...[1] ।

सत्याग्रह

'व्रत भंग करेंगे नहीं दुर्वाक्य बोलकर
सह लेंगे जुल्म प्रेम से छाती को खोलकर ।
पीछे को हटेंगे ही न आगे ही बढ़ेंगे
कातिल जब हम पे आएगा तलवार तोलकर ।...[2]'

नेता

'जो नेता है वह सब लुटाए हुए हैं
कि जीवन तलक को मिटाए हुए हैं ।
वह चुपचाप कब बैठते हैं घरों में
कि दुनिया से दिल को उठाए हुए हैं ।
वह कब शेर पीछे को हटते हैं रन से
जो बर्छी कलेजे पे खाए हुए हैं ।...[3]'

२४. भौतिकता व संसारी वस्तुओं के प्रति आसक्ति की उपेक्षा भक्ति भाव,दर्शन (philosophy),आलम्बन व उद्दीपन दोनों ही रूपों में प्रकृति के सौन्दर्य का पर्यवेक्षण इन नाटककारों के नाट्य-गीतों के मुख्य विषय रहे हैं । यत्र-तत्र सूर और मीरा के पदों को भी किंचित् हेर-फेर के साथ नाटकों

१- आगा हश्र'काश्मीरी'—'भारत रमणी',अंक२,दृश्य४,पृ०५५
२- राधेश्याम कथावाचक-'भक्त प्रह्लाद',अंक२,दृश्य३,पृ०१०४
३- किशनचन्द 'जेबा' - 'शहीद सन्यासी',अंक१,दृश्य५,पृ० ५६

में स्थान दिया गया है। जिन समीक्षकों ने रंगमंचीय नाट्य गीतों में सुरुचि, उत्कृष्ट ग्राति तत्व व गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति का अभाव माना है उनके निष्कर्ष एकांगी है। वे आलोच्य युग के पूर्ववर्ती नाटकों पर आधारित प्रतीत होते हैं। यदि उत्तरवर्तिनी नाट्य रचनाओं का वे अध्ययन करते तो सम्भवतः उनकी ऐसी धारणाएं न होतीं। हास्य कथा में भले ही पूर्ववर्ती गीतों की परम्परा का प्रभाव रहा हो अन्यथा सभी नाटक इस दृष्टि से उच्च भावों से प्रेरित और साहित्यिक स्तर के हैं। नारी मनो-वेदना पर लिखा निम्न गीत इस बात का प्रमाण है--

'मर्म व्यथा की निकली आह
टूटा जीवन हत उत्साह। मर्म०
सुख दुःख के वे टूटे तार
हृत्तन्त्री के निर्मल सार
जीवन नैया लेकर आये
बहा अश्रुकी तपती धार। मर्म०[1]

पुत्र-विरह में महाराजा शान्तनु का यह गीत भी ऐसी ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है --

'आज कुछ दशा और है मन की
खली न जाती मुरझाती ये कलियां नन्दन वन की।
यह नव जात चांद का टुकड़ा इसकी छवि शिशुपन की
देख देख मोहित मन होता प्रण क्या याद न तन की।
हाय लाल आंखों का तारा उस पर चोटें घन की
मन कुछ दीप बुझाने को तब कुमति पवन है सनकी।'[2]

२५. यह ध्यान रखने योग्य है कि गीत का लिखना और संगीत बद्ध करना दो भिन्न चीजें हैं। यदि साहित्यिकता का आग्रह प्रसाद के नाट्य-गीतों के काव्य-सौष्ठव, गम्भीर व क्लिष्ट भाषा से है तो अवश्य ही रंगमंचीय नाट्य

१-'जौहर'--'दुःखी भारत' अंक२, दृश्य१, पृ०४८

२- कौशिक --'भीष्म', अंक१, दृश्य६, पृ०२०

गीतों में उसका अभाव है । किन्तु इतना सिद्ध है कि इस प्रकार के गम्भीर गाने रंगमंचके उपयुक्त नहीं हैं । क्लिष्टता वश तथा दर्शकों की सहज बुद्धि से परे होने के कारण उनसे कवित्वपूर्ण उस वातावरण की सृष्टि नहीं होती जो नाटक में वांछित है । वे एकान्त में पढ़ने की वस्तु बनकर रह जाते हैं जब कि उक्त गाने इस दृष्टि से अधिक सफल हुए हैं । डा० देवर्षि सनाढ्य ने ठीक ही कहा है कि जहां तक जन साधारण का प्रश्न है, रंगमंचीय गाने ही अधिक सफलता के साथ सुने गए हैं, साहित्यिक नाटकों को कभी उतनी लोकप्रियता नहीं मिली[१] ।

२६. रंगमंचीय गीतों की सफलता का मुख्य कारण है कि उनके गीत शब्दों के साथ ही तर्ज,गायक,अभिनेताओं की प्रकृति और योग्यता तथा नाटक के प्रस्तुतिकरण में उस समय के दृश्य बंध,वातावरण व कथावस्तु में उसकी स्थिति को ध्यान में रख कर लिखे जाते थे । नाटक-लेखकों को संगीत का ज्ञान होता था और वे रंगमंच से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित थे । ये गीत रंगमंच को कल्पना में रखकर साहित्यिक नाटककारों की कलम से प्रसूत केवल भाषा के श्रृंगार नहीं हैं ।

२७. रंगमंचीय गेय पदों को उनकी योजना के आधार पर निम्न भागों में बांटा जा सकता है--

१-ईश-स्तुति व नान्दी गीत । नान्दी गीत कुछ ही नाटकों में उपलब्ध है ।

२- पात्रों द्वारा अपनी या दूसरे पात्र की मनोदशा प्रकट करने वाले गीत ।

३- अप्सराओं,नर्तकियों तथा वेश्याओं द्वारा गाए गीत ।

४- सखियों के छेड़-छाड़ व उपहास सम्बन्धी गीत ।

५- हास्य के प्रयोजन से रखे गए कुछ निरर्थक गीत ।

-०-

१- डा० देवर्षि सनाढ्य - हिन्दी के पौराणिक नाटक -चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी,प्र०सं०,सं०२०१७--पृ० ३३५

अध्याय -- १०

-०-

अभिनेयता

अभिनेयता

१. भरतमुनि ने 'अभिनय' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि 'अभि' उपसर्ग 'नी' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाने पर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका तात्पर्य है-- पहुंचाना अथवा सम्मुख ले आना[1]। इसके अन्तर्गत अभिनेता नाटकीय प्रयोग के अवसर पर अपनी आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक क्रियाओं और मनोभिव्यक्तियों द्वारा नाटक के सम्पूर्ण तात्पर्य को प्रेक्षकों के सम्मुख लाता है। बाहरी चेष्टाओं के साथ प्रमुख मन के भावों को व्यक्त करना अभिनय का मुख्य उद्देश्य है। नाटक के मुख्य विषय को लेकर रंगभूमि में जो व्यापार प्रदर्शित किया जाता है, वस्तुत: वही अभिनय कहलाता है[2]। भरतमुनि ने यह कार्य-व्यापार चार रूपों में स्वीकार किया है[3], जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

२. अभिनय की इस पारिभाषिक विवेचना से स्पष्ट है कि नाटक का रंगभूमि से निकट सम्बन्ध है। इसके बिना अभिनय एक निराधार

१- 'अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थ निर्णये
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय: स्मृत:
विभावयन्ति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगत:
शाखांगो पांग संयुक्तस्तस्मादभिनय: स्मृत: । (ना०शा०)

२- 'अभिनय दर्पण' -- नन्दिकेश्वर -- अनु० -- देवदत्त शास्त्री, पृ० २५, प्र०सं० १९५९

३- 'आंगिको वाचिकश्चैव आहार्य: सात्त्विकस्तथा
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पित:
(ना०शा० ८।९)

कल्पना होगी । नाटक की परिपूर्णता रंगभूमि पर उसकी साकारता में ही सम्भव है । प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटक को 'दृश्यकाव्य', 'रूपक' और 'चाक्षुषयज्ञ' की संज्ञाएं दी हैं, ये इसी बात के प्रमाण हैं कि 'रंगमंच पर प्रदर्शित हो सकना' नाटक का अपरिहार्य व आवश्यक गुण है । 'नट' शब्द से नाट्य व नाटक की व्युत्पत्ति से भी इसी अर्थ की प्रतीति होती है । इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में नाटक शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि नाट्य का अर्थ ही है कार्य रूप से रखना । नाटक का आरम्भ कार्य और दृश्यों से होता है । इसमें शब्दों से पूर्व कार्य, संवाद से पूर्व नृत्य और मानसिक नाट्य से पूर्व शारीरिक नाट्य का समावेश है[1] । नाटक की अनुकरणमूलक धारणा भी इसी रंगमंच की सापेक्षता का अर्थबोधक है । भरतमुनि, धनन्जय, अरस्तू आदि अनेक विद्वानों ने नाटक को जीवन का अनुकरण कहा है । लेकिन यह अनुकरण कहां पर सम्भव है ? रंगमंच पर ही । वस्तुत: यही वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटककार अपनी कला को मूर्त रूप प्रदान करता है, नाना संस्थाएं, मनुष्य के चरित्र, सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप और सुधार के उपाय को प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित करता है । यह वह सामाजिक कला है, जिसमें लोक जीवन का प्राधान्य होता है 'लोकवार्तानुकरणं नाट्यम्'[2]-- जनता जिसमें अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखती है और मनोरंजन के साथ ही अपने जीवन को परिष्कृत करती है ।

श्री ब्रार्डे के अनुसार 'नाटककार सदा रंगमंच की व्यवस्था आदि को देखकर नाटक लिखता है और कम से कम विचार रूप में निर्णय कर लेता है कि इसमें नाटक के नियमों का पालन करना शुभ है अथवा नहीं । इसीलिए दृश्यों की संख्या एवं स्थूलत्व ने नाटक-कला को सदा से प्रभावित किया है ।' ('द ड्रामा इन यूरोप इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस--ई०बी० ब्रार्डे'[3]) ।

1- इन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ०५७६

2- ना०शा० १।११२

3- कामिनी मेहता--'नाटक के तत्व और मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ०३८०
सम्वत् २०००, पृ० १३३

गा रैरछैडयुक्स ने नाटक का अस्तित्व ही उसकी सम्पन्नता में (रंगमंच सापेक्षता) स्वीकार किया है[1]। निकौल के अनुसार प्रेक्षक रहित नाटक की कल्पना भी असम्भव है[2]। नाटक की उत्पत्ति अभिनय के लिए ही हुई है और नट इसका अनिवार्य अंग है[3]।

४. नाटक और रंगमंच की इस अन्योन्याश्रित और अभिन्नता के उपरान्त भी कुछ नाटकों को 'रंगमंचीय' विशेषण देना कहां तक औचित्यपूर्ण है ? डा० सोमनाथ गुप्त, डा० देवर्षि सनाढ्य डा० रणधीर उपाध्याय, डा० दशरथ ओझा , डा० श्रीकृष्णलाल आदि प्रभृति विद्वानों ने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों को 'रंगमंचीय' विशेषण दिया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भी उनके लिए यही सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत नाटकों का आदर्श दुरयत्व होने पर भी अनेक ऐतिहासिक कारणों से १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नाटक दो भागों में विभक्त हो गए। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे कृतियां थीं जो किसी विशेष रंगमंच अथवा नाटक कम्पनी को दृष्टि में रखकर उसकी आवश्यकता पूर्ति के हेतु निर्मित हुई थीं। उनके अपने नाट्यादर्श व नाट्य-रूढ़ियां थीं, जिनका परिपालन उन रचनाकारों के लिए अनिवार्य था। इनमें से कुछ तो कम्पनी के वेतनभोगी नाटककार थे, जिनके ऊपर कम्पनी के मालिकों की इच्छा का अंकुश व तत्कालीन जनता की रुचि का प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध था। कुछ प्रतिबन्धों से उन्मुक्त होकर भी उपर्युक्त प्रभाव से ग्रसित थे, तो कुछ थोड़े से परिवर्तन परिमार्जन के साथ इस प्रभाव में अपनी रचनाओं का निर्माण कर रहे थे। ऐसी सभी नाटककारों की कृतियां रंगमंचीय नाट्य-कृतियों के नाम से अभिहित हुई हैं।

१- 'ड्रामा'-- डि०बं०,१६४७,पृ०२८

"The bond between drama and it's audience is industructible plays truely live in performance alone.

२- निकौल-- थ्योरी आफ ड्रामा,पृ०३१

" A play without audience is inconcievable."

३- 'द आर्ट आफ ड्रामा',पृ०७

" A drama is written to be performed .....the student must not forget that the actor is an element indispensible to the drama."

५. इसके विपरीत कुछ नाटककार अपनी स्वतन्त्र इच्छा से रचनाओं का निर्माण कर रहे थे। उनकी कला-रुचि पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था। रंगमंचीय आवश्यकताओं के प्रति भी वे अधिक जागरूक नहीं थे। इसी कारण[३-६] रंगमंचीय नाटकों से भिन्न वर्ग में सम्मिलित किया गया है।

६. नाटकों के समान ही रंगमंच का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है। उत्सवप्रिय मानवों के नृत्य गान में नाटक के आदि रूप की सन्निहिति के साथ ही रंगमंच का सूत्रपात हो गया था। ऐसी अवस्था में जब कि मानव-सभ्यता अपने विकास का प्रथम चरण पूरा कर रही थी, विस्तृत रंगमंच तथा पर्दे, रंगपीठ नेपथ्य आदि की व्यवस्था से पूर्ण रंगमंच की कल्पना नहीं की जा सकती। उस समय का रंगमंच मध्यकालीन लोक-रंगमंच का पूर्वरूप था। सब प्रकार के नियम बन्धनों से रहित किसी खुले स्थान पर अथवा किसी चबूतरे आदि पर उस नृत्य-नाट्य समारोहों की योजना होती थी और इसी से बस्ती के सब लोग अपना मनोरंजन करते थे।[१]

७. भरतमुनि के समय रंगमंच का यह अव्यवस्थित स्वरूप सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित हो गया। नाट्य नियमों के समान ही भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रंगमंच के उपादान तथा प्रेक्षागृह निर्माण का विस्तृत वर्णन दिया है। विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त इन तीनों प्रकार की नाट्यशालाओं की विस्तृत रूपरेखा नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती है। नेपथ्य, रंगशीर्ष व रंगपीठ के सम्बन्ध में गम्भीर विचार प्रस्तुत किया गया है। सरगुजा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की गुफाओं में प्राप्त रंगशालाओं के भग्नावशेष इन प्राचीन रंगमंचों के प्रमाण हैं। कर्नल बे०आर०ओसली ने छोटा नागपुर के निकट रामगढ़ की पहाड़ियों में सन् १८५८ में सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाओं की खोज की है, जिनके शिलालेखों के अध्ययनात्मक परिणामों पर डा० थियोडर ब्लॉक

१- डी०आर०मनकड--'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा', पृ० १५८

~~२- एम०एल० दास गुप्ता-- इण्डियन स्टेज-भाग१, सं०१९३५, पृ०४०~~

ने उन्हें प्राचीन नाट्य-गृहों का अवशेष माना है[1]। इन विवरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में रंगमंच की समृद्ध दशा थी ।

८. भरतमुनि ने जनहित व जनरंगमंच को दृष्टि में रखकर नाटक के लिए लोक कल्याणकारी रूप को प्रश्रय दिया संस्कृत नाटकों में वह अपनी विस्तृत परिधि को छोड़कर राजा महाराजाओं के जीवन की संकुचित सीमाओं में आबद्ध हो गया । नाटककार की दृष्टि अब साधारण जनता के जीवन से हटकर उच्च तथा राजवर्ग तक सीमित हो गई । फलत: अभिनय भी राज-प्रसादों व मंदिरों की प्राचीरों में बंध गए ।

९. मुस्लिम आक्रमणों ने रंगमंच के इस अवशिष्ट स्वरूप को भी नष्टप्राय: कर दिया । अब तक अभिनय-कला के दो प्रमुख केन्द्र थे -- राजाओं के दरबार व देवमंदिर । मुस्लिम आक्रमणों से ये दोनों ही स्थान नष्ट हो गए । विजेतव्य के गर्व व धार्मिक संकीर्णताओं ने अभिनय कला को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया । फलत: नाटक ने अपने रूप का विकास लीला-नाटकों के रूप में किया जो धार्मिक व लौकिक दोनों ही उद्देश्यों से प्रेरित थीं । इन लीला-नाटकों का अध्ययन लोक-नाटक के प्रसंग में किया जा चुका है ।

१०. मध्य युग के इन लोक-नाटकों का अपना रंगमंच था जो इन नाटकों के सदृश्य ही जनता की अपनी सम्पत्ति था । इसके लिए विशेष उपकरणों व जटिल तथा कलात्मक विधानों की कोई आवश्यकता नहीं थी । किसी भी खुले स्थान पर कुछ क तख्त डालकर रंगमंच का निर्माण कर लिया जाता था, इसी पर अभिनेता अपना अभिनय करते थे तथा गायक-वादकभी वहीं एक ओर बैठे रहते थे । दर्शक रंगमंच के चारों ओर जमीन पर बैठते थे । अभिनेता अपनी साज सज्जा पर्दे के पीछे अथवा निकट के किसी कमरे में करते थे, जो ग्रीनरूम का काम देता था । अभिनय के नाम पर उछल-कूद, हास्य-मजाक, रोना-चिल्लाना आदि

१- एस०एन०बाखल्या- इण्डियन स्टेज-भाग१,सं०१९३४,पृ०४०

का ही विशेषरूप से प्रदर्शन होता था । परन्तु सत्य तो यह है कि इस जन-रंगमंच पर शास्त्रीय अभिनय तत्वों का पूर्णतः अभाव था । विष्कम्भक ,प्रवेशक,यवनिका, नान्दीपाठ आदि की कोई व्यवस्था नहीं था । रामलीला, रासलीला,नौटंकी आदि के घरेलू रंगमंच नाममात्र के ही रंगमंच थे ।

११. आलोच्यकालीन रंगमंच अपने उद्भव के लिए मध्यकालीन लोक-रंगमंच का किसी प्रकार ऋणी नहीं । कुछ विद्वान् थियेट्रिकल कम्पनियों के कृत्रिमतापूर्ण अभिनयों पर लोक-नाटकों की किंचित् प्रतिच्छाया देखकर उसे प्रभावित सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं । 'लोक-नाटक' शीर्षक के अन्तर्गत इसका विवेचन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है । रंगमंचीय कम्पनियों के इतिहास में स्पष्ट विवेचित है कि प्रथम वैज्ञानिक रंगमंच हमें पारसियों के प्रयास से मिला । शेक्सपियर के समय के अंग्रेजी रंगमंच को अपना आधार बनाकर उसे भारतीय वातावरण व परिस्थितियों के अनुकूल रूपान्तरित करते हुए पारसियों ने थियेट्रिकल कम्पनियों के रूप में एक नवीन रंगमंच की स्थापना की जिसका पूर्व रंगमंचों से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं।[१] हिन्दी क्षेत्र में सर्वप्रथम जिस रंगमंच का सूत्रपात हुआ वह इन्हीं पारसी कम्पनियों द्वारा । अन्यथा लोक-रंगमंचों के कुछ निकृष्ट रूपों के अतिरिक्त हिन्दी के पास इस समय तक अपना कोई रंगमंच नहीं था । रंगमंच की दृष्टि से यह (१६१३-१६३२ ई०) हिन्दी का 'स्वर्णकाल' था । इसके बिना रंगमंच के क्षेत्र में हिन्दी की स्थिति शून्य से अधिक कुछ नहीं ।

१- (अ) डा० सोमनाथ गुप्त--'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास',तृ०सं०, १६५१,पृ० १३६ ।

(आ) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --'आधुनिक हिन्दी साहित्य',१६४८,पृ०२६६

(इ) श्रीपति शर्मा- हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव', प्र०सं०१६६१,पृ०३६४

(ई) डा० श्रीकृष्णलाल --'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', तृ०सं० १६५२,पृ० २७२ ।

(उ) डा० रणवीर उपाध्याय --'हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन',प्र०सं०, १६६६,पृ०३०२ ।

पारसी रंगमंच का स्वरूप

१२. नए वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से अलौकिक विस्मयोत्पादक व चमत्कारी दृश्यों के संयोजन तथा रंगमंच पर यथार्थता के समावेश के लिए पारसी नाटक-कम्पनियाँ विशेष श्रेय एवं आलोचना की पात्र रही हैं। किन्तु अपनी प्रारम्भिक स्थिति में प्रस्तुत रंगमंच की इतनी समुन्नत अवस्था न थी। किसी भी खुले स्थान पर तख्तों एवं बेंचों को लगाकर एक सामान्य से रंगमंच का निर्माण कर दिया जाता था, उसी पर उसके अभिनय होते थे। लोक-रंगमंचों के समान ही रंगमंचीय प्रसाधन व नाटकीय उपकरणों में किसी प्रकार की जटिलता नहीं थी। दादा भाई रतन जी ढुंढी के पुत्र अरदेशर ढुँढी के इस कथन में तत्कालीन रंगमंच की झांकी देखी जा सकती है --'तख्तों और बेंचों के स्टेज बनाये जाते थे। स्टेज के दाएं-बाएं एक्टरों के बैठने के लिए कुर्सियां बिछाई जाती थीं, जिनपर बैठकर वह मेकअप करते और कपड़े बदलते। स्टेज के सामने सोफे, कुर्सियां मूढ़े, स्टूल और बेंचे बिछाई जातीं। तमाशाई अपने घरों से भी कुर्सियां लाते। गर्मियों में दस्ती पंखे भी इनके हमराह होते। स्टेज की पुश्त पर एक पर्दा लटका दिया जाता। एक्टर अपने प्राइवेट कपड़ों में स्टेज पर आते और अमूमन वे कपड़े इस्तेमाल करते जिन्हें नाकाबिले इस्तेमाल समझते थे। वो इन पर रंग-बिरंगे अबरक चिपकाते और सीधी-सादी जबान में स्टेज पर अपना मतलब बयान करते थे। तमाशा आमुमन पांच छः के दरमियान शुरू होता और एक घण्टे में खत्म हो जाता। एक्टरों को आलात मौसिकी से कोई वास्ता न होता था यहां तक कि रोशनी भी गैर जरूरी समझी जाती। अगर कोई शख्स किसी एक्टर को इनाम देना चाहता तो वह उसको इशारे से बुलाता, वह (एक्टर) उतर कर उसके पास जाता, इनाम लेता और फिर अपने काम में मशरूफ हो जाता।'[१] श्री जहांगीर जी संभाता ने बाल्यावस्था के अपने नाटकीय जीवन के अनुभवों का विवरण देते हुए एक ऐसे ही रंगमंच का

१- डा० अब्दुल अलीम 'नामी'-उर्दू थियेटर, भाग१, प्र०सं०, १९६२, पृ०२५०-२५१।

उल्लेख किया है --' ११ वीं खेतवाड़ी गली में के नुक्कड़ पर बदरुद्दीन तैयब जी का एक छोटा-सा बंगला था। जो हमने किराए पर लिया। इस बंगले में एक बड़ा हाल था, उसमें हमने स्टेज बनाया। बैंचें होरमस जी के बाग से लाए। आठवीं गली के सामने एक मारवाड़ी की दुकान थी। उसके यहाँ से तेल में बत्ती डालकर जगह-जगह रख दिए। ठीक सात बजे तमाशा शुरू हुआ।'[१]

१३. स्पष्ट है कि न रंगमंच की कोई स्थायी रूपरेखा थी न प्रकाश का कोई प्रबन्ध था। प्रेक्षागृह पूर्णतः उपलब्ध साधनों और स्वेच्छा से निर्मित थे। जनता लोक-रंगमंच की भांति इन उपलब्ध साधनों से अपने मनोरंजन की सन्तुष्टि कर रही थी। धीरे-धीरे अंग्रेजी नाटक कम्पनियों के सम्पर्क व आदान प्रदान तथा कालगति से रंगमंच में सुधार होने लगे। कुंवरजी सोराब जी नाज़र ने अपने 'अलाउद्दीन यानि जादुई फानूस', 'इन्दरसभा', 'सुलेमाना शमशीर उर्फ निर्दोष नूरानी' नाटकों द्वारा लाइम लाइट्स व यान्त्रिक दृश्य विधानों से रंगमंच को एक नया रूप प्रदान किया। दादाभाई सोराब जी पटेल तथा उनके पिता जमशेद जी बनजी भाई फ़राम जी पटेल के संरक्षण व निर्देशन में कार्य करने वाला ईरानी नाटक मण्डली ने इससे आगे बढ़कर रंगमंच पर यथार्थवादी दृश्यों का समावेश किया। 'रुस्तम और बरजो' नाटक में खेत में उगी घास के अन्दर बरजो को कार्य करते हुए दिखाना, प्रातःकालीन उगते सूर्य का दृश्य, उसके तेज व गर्मी का आभास देने के लिए मगनेशियम वायर की लाइट का प्रयोग दृश्यों की यथार्थता व स्वाभाविकता के प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, रुस्तम और बरजो के युद्ध में रंगमंच पर घोड़े लाए गए थे, जिसके फलस्वरूप नाटक के प्रस्तुतिकरण के मध्य लकड़ी के स्टेज के टूट जाने व उसमें घोड़े के फंस जाने के कारण एक दिन दुर्घटना भी हो गई थी। किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट है कि रंगमंच की अधिकाधिक

१-'जहांगीर जी पैस्तन जी खंभाता-मारो नाटकीयो अनुभव', १९४४, पृ०२८

स्वाभाविक व यथार्थवादी बनाने के में कम्पनी मालिक प्रयत्नशील थे। विभिन्न कम्पनियों में प्रतिद्वंद्विता का मुख्य आधार यही दृश्य-विधान था , जिसके निर्माण में सचेष्टता के साथ प्रचुर धन व्यय किया जा रहा था ।

१४. पारसी रंगमंच की कोई स्थायी रूपरेखा नहीं था । ये भ्रमणशील कम्पनियाँ थीं जो अपने रंगमंचीय उपकरणों के साथ देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करती रहती थीं । जहाँ जिस समय जैसा प्रस्तुतिकरण वांछित होता ये थियेट्रिकल कम्पनियां अभिनेय नाटक के दृश्य व पर्दों के अनुसार लकड़ी के तख्तों का एक कामचलाऊ साधारण रंगमंच तैयार कर लेती जो कि अभिनय के पश्चात् पुन: उठा लिया जाता था । इस कामचलाऊ रंगमंच के अतिरिक्त अनेक कम्पनियों ने बम्बई में अपने स्थायी प्रेक्षागृह बना रखे थे । विक्टोरिया थियेटर (१८७०) हिन्दी थियेटर(१८७३) एलफिन्स्टन थियेटर (१८७३) एडल्फैनेह थियेटर (१८७६) गेयटी थियेटर (१८७६) अल्फ्रेड थियेटर (१८ ५) बाम्बे थियेटर (१८८६)नौवेल्टी थियेटर (१८७७) रौयल थियेटर (१८६२) रिपन थियेटर,त्रिवोली थियेटर,स्टोलियर थियेटर--बम्बई की स्थायी नाट्यशालाएं थीं जहाँ कि विभिन्न थियेट्रिकल कम्पनियों ने अपने नाटकीय प्रयोग किए । न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के मालिक माणिक जी जीवन जी मास्टर ने बम्बई के बाहर अहमदाबाद में 'मास्टर थियेटर' के नाम से अपनी स्वतन्त्र रंगशाला का निर्माण कराया ।

१५. उपर्युक्त सभी रंगमंच अपने आकार-प्रकार में चतुर्भुजी थे, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई प्रधानत: कम्पनी के पर्दों पर अवलम्बित होती थी । यह रंगमंच प्राय: चारों ओर से ढका रहता था । रंगशीर्ष और रंगपीठ जैसा कोई विभाजन आलोच्य रंगमंच पर नहीं था । मुख्यत: बल्लियों और बांसों के आधार पर रंगमंच बनाए जाते थे, जिसके निर्माण में रंगमंच को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की सुगमता ही प्रधान थी । प्रौसीनियम(रंगमंच का अन्तिम पर्दा) के आगे वन,उपवन,राजभवन,आश्रम आदि दृश्यों को दिखाने के लिए तदनुकूल पर्दे लगाए जाते थे जिनका क्रम-विधान नाटक के दृश्यों के अनुकूल रहता था तथा जो पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान के अनुकूल रखे जाते थे । ये सभी पर्दे हैं अपने में भली भांति लपेट कर झालरों की ओट में इस प्रकार लटकाए जाते थे कि प्रेक्षागृह में

बैठे दर्शकों की दृष्टि उन तक न पहुंच सके । घिर्री के आधार पर ये पर्दे कक्ष में उठाए व गिराए जा सकते थे । सबसे आगे बाह्यपटी (Drop-scene) व यवनिका रहती है तथा रंगमंच के दाईं व बायीं ओर छोटे-छोटे पर्दे (Wings) रहते हैं । पात्रों का प्रवेश व प्रस्थान इन्हीं 'विंग्स' से होता था । ग्रीन रूम अथवा नेपथ्य गृह अन्तिम पर्दे के पीछे होता था । दाहिना व बायीं ओर के विंग्स भी अन्य कार्य के लिए आवश्यकता पड़ने पर प्रयुक्त होते थे । वाद्य संगीत की योजना प्रेक्षागृह में रंगमंच के समीप ही की जाती थी । प्रकाश का प्रबन्ध प्रधानत: बाह्यपटी के रंगमंच के सीमान्त पर होता था । ठीक इसके ऊपर झालर के समीप ही प्रकाश की व्यवस्था होती थी जिससे ऊपर के स्थानों पर प्रकाश फेंका जा सके । रंगमंच के प्रत्येक जोड़ पर, विंग्स तथा विभिन्न पर्दों के योजक स्थलों पर झालरों की ऐसी कलात्मक व सुनिश्चित् योजना थी कि रंगमंच की प्रत्येक विकृति उसके सौन्दर्य में छिप जाती थी । आकाश मार्ग से आने जाने वाली वस्तुओं और मनुष्यों को दिखाने के लिए विशेष प्रबन्ध रहते हैं व अदृश्य डोरों द्वारा इनकी गति का भान कराया जाता है । रंगमंच के निर्माण की अपेक्षा कम्पनी -मालिकों का ध्यान दृश्यों की परिपूर्णता, अभिनय सामग्री की प्रभावोत्पादकता तथा नाटक की सफलता पर अधिक रहता था ।

ड्रापसीन

१६. थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर प्रेक्षागृह से रंगभूमि को पृथक् करने वाले ड्रापसीन अथवा यवनिका का विशेष महत्व था । प्रारम्भ में प्रत्येक नाटकों के लिए स्वतन्त्र यवनिकाएं तैयार की जाती थीं जिनपर अभिनेय नाटक की मूल चेतना के दृश्य चित्रित थे । ये यवनिकाएं प्रेक्षकों की कौतूहल वृत्ति को उत्तेजित करके उनके ध्यान को नाटक की कथावस्तु की ओर आकृष्ट करने में विशेष प्रभावोत्पादक थीं । किन्तु सर्व अधिक होने से कालान्तर में प्रत्येक कम्पनी का एक ड्रापसीन रखा जाने लगा जो सभी नाट्य प्रयोगों के अवसर पर प्रयुक्त होता था । नाटक कम्पनी के अनुसार इन ड्रापसीनों की अपनी विशेषताएं थीं । ईरानी नाटकों का अभिनय करने वाली ओरिजिनल थियेट्रिकल नाटक मण्डली ने ईरानी सभ्यता के अनुसार अपना ड्रापसीन धार्मिक तवारीख के आधार पर तैयार कराया । ड्राप के

मध्य में बादशाह गुस्तास्प के दरबार में पैगम्बर जरथोस्त अपने हाथ में आतिशबाजी का एक गोला लिए चित्रित किए गए थे व उनके पार्श्व में हकीम जामास्प,शाहजादा असफन्दीयार,पाशोतैन और पहेलन फकीर बड़े अदब के साथ खड़े चित्रित किए गए थे । विक्टोरिया नाटक मण्डली के ड्राप पर जमशेद का चित्र था , जिसने बेजनमनी-जैह नाटक में अपनी प्रभावोत्पादकता के कारण विशेष लोकप्रियता प्राप्त की । एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली प्रधानत: अंग्रेजी नाटकों का अभिनय करती थी । अंग्रेजी सभ्यता के अनुसार उसके ड्राप पर पेरिस की नुमाइश का चित्र था । औरिजनल विक्टोरिया नाटक मण्डली के स्थापक दादाभाई सोराब जी पटेल ने अपनी विरोधी कम्पनी को नीचा दिखाने के लिए ड्राप पर एक जहरीला नाग चित्रित कराया था जो अपने अर्थ में पूर्णत: सांकेतिक था । बेरोनेट नाटक मण्डली के ड्राप पर सर जी०जी० हास्पिटल तथा दादी 'क्रास्ट' ने अपनी हिन्दी नाटक मण्डली के ड्राप पर कम्पनी के नामानुसार गनपत राव पेंटर से मंदिर में पूजा के लिए जाती हुई स्त्रियों का दृश्य पेंट कराया था ।

नाटक का आरम्भ

१७. रंगमंच पर किसी नए नाटक का अभिनयआरम्भ होने से पूर्व पारसी नाटक की सफलता की कामना से अनेक मांगलिक कृत्य करते हैं । ड्राप उठाने के पहले नारियल व शराब की बोतल तोड़ी जाती है । थोड़े-थोड़े कालान्तर पर तीन घंटियों के उपरान्त बन्दूक की गड़गड़ाहट के मध्य यवनिका ऊपर उठती है तथा विभिन्न चमत्कारिक दृश्यावलियों के द्वारा नाटक दर्शकों की कौतूहल वृत्ति को आकृष्ट करता हुआ उसे अन्त तक संलग्न किए रहता है[१] ।

१८. नए नाटक प्रधानत: कम्पनी के रंगमंच पर शनिवार की रात्रि से आरम्भ किए जाते हैं । रविवार के मध्याह्न में उसी अभिनय का प्रयोग होता है । नाटक की लोकप्रियता व सफलता उसके क्रम को वर्षों तक व

१- आर०के० याज्ञिक-'इण्डियन थियेटर',पृ० ११२

संचालित रखता है, किन्तु असफल होने पर शनिवार को पुन: नए नाटक की योजना की जाती है। लोकप्रिय पुराने नाटक प्राय: सोमवार व बुधवार को अभिनीत होते हैं। स्पष्ट है कि कम्पनी के रंगमंच पर सप्ताह में केवल चार नाटकीय प्रयोग होते हैं। बाकी समय नाटक के अभ्यास व 'रिहर्सल' में दिया जाता है। नाटक प्राय: रात्रि को नौ व दस बजे के मध्य आरम्भ होता है[१]।

अभिनेयता

१६. रंगमंच और नाटक की अभिन्नता तथा आलोच्य थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंचीय स्वरूप, उनकी अभिनय सामग्री के उपयोग तथा नाटकीय उपकरणों के विधि-विधानों की परिचयात्मक विवेचना के उपरान्त नाटकों की अभिनेयता की दृष्टि से उनमें प्राप्त रंग-निर्देशों व रंगमंचीय संकेतों का अध्ययन अनिवार्य प्रतीत होता है। नाटक की रचना के समय नाटककार की कल्पना में सदैव एक अमूर्त रंगमंच रहता है जिसपर वह घटना के परिप्रेक्ष्य तथा वातावरण की भूमिका में अपने पात्रों को कार्य करते हुए अनुभव करता है। यही अनुभूति उसकी कृति को नाटक का रूप देती है। प्रस्तुतिकरण के समय अपनी अमूर्त कल्पना को साकार व यथातथ्य रूप देने के लिए वह प्रस्तुतकर्ता तथा निर्देशक की सहायता हेतु नाटक में यत्र-तत्र पात्रों के आगमन, प्रस्थान, उनकी वेशभूषा, दृश्यांकन तथा वातावरण से सम्बन्धित अनेक सूक्ष्म तथा विस्तृत रंग निर्देश दे देता जाता है।

२०. आलोच्य रंगमंचीय नाटकों में इस प्रकार के विस्तृत सूक्ष्म व जटिल रंग-निर्देशों की सर्वत्र उपलब्धि का अभाव है। चमत्कारिक व अलौकिक दृश्यबंध के संकेत अवश्य पाए जाते हैं, किन्तु पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, उनकी वेशभूषा तथा प्रकाश के समुचित प्रबन्ध की नियोजना की ओर नाट्य-लेखकों ने कोई ध्यान नहीं दिया, वरन् इसकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गई। वस्तु सत्यतो यह है कि प्रकाशित होकर रंगमंचीय कृति के रूप में सम्मानित होने का

१- आर०के० यावनिक -- इण्डियन थियेटर, पृ०२२१

अपेक्षा रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से सफल होना हो। इन नाटकों के प्रणयन की मूल चेतना थी। नाटककार कम्पनी के वेतनभुक्त नाटककार थे, जिन्हें न केवल कम्पनी-मालिकों के आदेशानुसार नाटकों का प्रणयन करना होता था, वरन् प्रस्तुतिकरण के समय रंगमंच पर उसकी उपस्थिति भी अनिवार्य था। वह स्वयं अपने निर्देशन में अपने नाटकों का अभिनय कराता था। राधेश्याम कथावाचक के लगभग सभी नाटक स्वयं उनके संचालन व निर्देशन में अभिनीत हुए हैं। इसी स्वायत्तता के कारण नाटककारों को अपनी रचनाओं में रंग-संकेतों की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं हुई, क्योंकि जिस दृश्य में वे जैसा प्रभाव चाहते, पात्रों को जिस वेशभूषा में चाहते, उनके प्रवेश-प्रस्थान के साथ दृश्य सज्जा में जब जैसी उनकी वांछा होती थी रिहर्सल तथा अभिनय अभ्यास के समय पात्रों, दृश्य सज्जाकार व अन्य रंगमंचीय उपकरणों का प्रबन्ध करने वाले विभिन्न विभागीय व्यवस्थापकों के तदनुकूल निर्देश देते रहते थे। रचनाकार की अपनी अमूर्त कल्पना स्वयं उसके अपने निर्देशन में साकार होती थी।

२१. अभिनय-निर्देशन की स्वतन्त्रता के उपरान्त भी आलोच्य व रंगमंचीय नाटककारों पर अनेक प्रतिबन्ध थे। दर्शकों की रुचि, अभिनेता की योग्यता व प्रस्तुत कम्पनी के रंगमंचीय उपकरण तथा अभिनय सामग्री ने कृतिकार की कल्पना को सदैव ही किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। रचना से पूर्व इन तथ्यों पर ध्यान रखना उसके लिए आवश्यक रहा है --

१- नाटक प्रेक्षकों की अपेक्षा से लिखा जाता है।

२- अनेक बार नाटक में काम करने वाले अभिनेता की विशेषताओं पर ध्यान देकर नाटक लिखा जाता है।

३- नाटकीय साधनों, अर्थात् रंगमंच की परिस्थिति, अभिनीत करने की पद्धति, रंग सज्जा और पर्दे आदि की सुविधा को भी ध्यान में रखकर नाटक लिखा जाता है। 'बेताब' का 'महाभारत' व रामायण नाटक कावस जी खटाऊ मास्टर भगवानदास और गौहर को, उनकी अभिनय प्रतिभा व क्षमताओं को विशेष रूप से ध्यान में रखकर लिखे गए थे[१]।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'--'हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब' शोधप्रबन्ध, १९६७, पटना विश्वविद्यालय, पृ०७२६।

दृश्यांकन

२२. दृश्य-विधान से अभिप्राय दृश्य-रचना, दृश्य रचना में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों एवं अन्य साज-सज्जा के उपयोग से है । इन्हीं वस्तुओं के उपयोग के आधार पर दृश्यांकन को प्राय:एक प्रकार की ऐसी सजावट समझा जाता है,जिससे नाटक का प्रदर्शन सुन्दर दिखायी पड़े । किन्तु यह दृष्टिकोण सतही है । वस्तुत: दृश्यांकन नाटक की अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करता है , उसकी बाह्य विशेषताओं मात्र को नहीं । बाहरी सजावट पात्र की मनोदशा की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए पृष्ठभूमि का काम करती है और इसी दृष्टि से इसका महत्व है । वातावरण पर पृष्ठभूमि का ही प्रभाव पड़ता है । चरित्र का निरूपण करने वाले अनेक उपकरण इसी वातावरण में सन्निहित रहते हैं । पात्रों के प्रवेश से पूर्व प्रस्तुत दृश्य पीठ अपने पात्रों के सम्बन्ध में दर्शकों को बहुत कुछ बता देता है[1] ।

२३. श्री इब्राहीम अल्काजी ने नाटक को चरित्र की अनुभूति यात्रा कहा है, जो रंगमंच पर परिपूर्ण होती है । जिसमें विघ्न-बाधाओं से भरपूर गति,मार्ग में आने वाली बाधाएं तथा प्रयास और परिश्रम द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति आदि बातें निहित हैं और इसी के आधार पर दृश्य-विधान का मूल्यांकन किया है । चरित्र में वृद्धि और विकास की संभावनाओं के साथ अनुभूति से तात्पर्य सार्थक और महत्वपूर्ण घटनाओं से है जो रंगमंच पर प्रकटित होती हैं तथा जीवन अपने अस्तित्व से जिन्हें सार्थक बनाता है । इसीलिए दृश्यमंच को मंचीय भ्रमों के लिए से ऊपर उठकर अल्काजी ने उसे उसमें बसने वाले चरित्रों तथा उनके चेहरों में उत्कीर्ण भावों की अभिव्यक्ति में परिव्याप्त माना है[2] ।

२४. नाट्य प्रदर्शन का प्रभाव गुण दृश्यांकन की सुकरता पर बहुत अधिक निर्भर है, क्योंकि पर्दा उठते ही जो हमें सबसे पहले दृष्टिगोचर होता है, वह है उसकी मंच सज्जा । यदि दृश्यांकन हमारी कलात्मक अभिरुचियों

१-१- राजकुमार—'नाटक और रंगमंच',प्र०सं०,दिसम्बर,१९६१, पृ०९०

२- 'रंगमंच के लिए दृश्यांकन' नटरंग, वर्ष १,भाग२,पृ०८ ७.

की तृप्ति नहीं करता तो नाटक में अन्तर्निहित रस तत्व की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ेगी । लेकिन दृश्य-विधान इतना अलौकिक व चमत्कारिक भी न होना चाहिए कि दर्शक उसी ओर आकृष्ट हो जाए । दृश्य का काम पृष्ठभूमि को प्रकट करना, वातावरण को दर्शाना और नाटकीय अभिनय में अभिव्यक्त प्रवृत्तियों को मुखरित करना है । यह एक आनुषंगिक कला है जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं ।

२५. थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर दृश्यों का स्वतन्त्र व महत्वपूर्ण स्थान है । वे पृष्ठभूमि या आनुषंगिक रूप में नहीं, वरन् मुख्य आधार के रूप में गृहीत हैं । अलौकिक व चमत्कारिक दृश्य सज्जा के द्वारा जनता को घर को अधिकाधिक आकृष्ट करना कम्पनियों का मुख्य ध्येय था । किसी कम्पनी की लोकप्रियता व सम्पन्नता उसकी अभिनय प्रतिभा के स्थान पर रंगमंचीय उपकरणों व उनकी चमत्कारिक दृश्य-योजना पर अधिक अवलम्बित थी । यही कारण है कि सीन-सीनरियों के निर्माण में प्रचुर धनराशि व्यय की गई । नाटकीय विज्ञापनों में भी अलौकिक दृश्य विधानों का ही विशेष उल्लेख रहता था[१] । इन सर्वोत्ति सैटस में जनता के लिए विशेष आकर्षण था । पौराणिक नाटकों में ही नहीं, ऐतिहासिक व सामाजिक नाटकों में भी ऐसी दृश्यावलियाँ पर्याप्त हैं । उदाहरण के लिए 'कथावाचक' के पौराणिक नाटक 'सती लीला' के प्रथमांक का यह दृश्य-- 'सती का आकाश की ओर हाथ उठाकर जयमाल उछालना, पृथ्वी का फटना, दिव्य तेज से भगवान शंकर का प्रकट होना और माला पहने दिखलाना । देवताओं का आकाश से पुष्प बर्षाना । दक्ष का शस्त्र चलाना, आप से आप उसके हाथों का बंधना । सती को बैठाकर शिव का आकाश की ओर जाना और सब देवताओं का अदृश्य होना'-- इसी आश्चर्य पर यवनिका-पात होता है ।

२६. डा० श्रीकृष्णलाल तथा डा० वेदपाल खन्ना ने २० वीं शताब्दी के पारसी नाटकों के कला-विधान में उन्नति के अंकुरों की विवेचना करते

१-- उदाहरण निम्न पुस्तक में देखें--

आर०के० यागनिक-- इण्डियन थियेटर, प्र०सं०, १९३३, पृ०११४

हुए उसके 'अतिनाटकीय अति प्राकृतिक तथा रोमांचकारी' दृश्यों की बहुलता पर सिनेमा तथा बाइस्कोप के प्रभाव को स्वीकार किया है । १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नाटकों में यद्यपि ऐसे दृश्यों का अभाव नहीं था । दृश्यबंध की चमत्कारिता प्रारम्भ से ही आलोच्य नाटकों का प्राण रही है, किन्तु फिर भी उपर्युक्त तथ्य आधारहीन नहीं है । सिनेमा ने कम्पनियों के दृश्यबंध पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। इतना अवश्य है कि सिनेमा ने अपने चित्रपट पर जिन यथातथ्यवादी (Realistic) दृश्यों व उपकरणों की योजना की थी । कम्पनियों के रंगमंच पर उनका तद्वत समावेश कठिन ही नहीं, दुष्कर था । फिर भी जनता के इस ओर बढ़ते आकर्षण से अपने अस्तित्व के प्रति सशंक कम्पनी मालिकों ने इन चित्रपटों की प्रतिस्पर्धा में अपने रंगमंच पर भी उन दृश्यों के प्रस्तुतिकरण की चेष्टाएं की जो सिनेमा के दृश्यों से मिलते-जुलते थे, आश्चर्यपूर्ण थे तथा जनता की कौतूहल वृत्ति को शान्त कर सकते थे ।

<u>दृश्य सन्निवेशक (scene-Painters)</u>

२७. इन दृश्यों के निर्माण के लिए कम्पनियों के पास अपने सन्निवेशक थे । मास्टर हुसैन बख्श, दीनशा ईरानी, आनन्दराव गणपतराव, केस्तन बी माधन, उनका शिष्य धनजी अंबीरवाग तथा बीजीभाई आटीया ने विभिन्न कम्पनियों में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया । किन्तु १८८०ई० से पूर्व पर्दे चित्रित करने वाले पारसी सन्निवेशकों का अभाव था । कोर्सारोनी, रुबा, पिंटो आदि कुछ यूरोपियन सन्निवेशक अवश्य कला को सजीव बनाने में प्रयत्नशील थे । हिन्दू व पारसी सन्निवेशकों ने इन्हीं से शिक्षा ली ।

<u>दृश्यबंध</u>

२८. थियेट्रिकल कम्पनियों के दृश्यबंध तीन प्रकार के थे-- लकड़ी के तख्तों पर चित्रित, पर्दों पर चित्रित तथा वे दृश्य जो तख्तों के दोनों ओर चित्रित रहते हैं तथा जिन्हें एकदम से परिवर्तित कर देने की व्यवस्था है ।

तख्तों पर चित्रित दृश्यों को सेट सीन भी कहा जाता है । किला, महल्ला, सभाभवन, बैठकखाना, भोजनालय आदि के दृश्य इन्हीं तख्तों पर चित्रित रहते हैं । बड़े होने के कारण एक ही तख्त पर इनका सम्पूर्ण दृश्यांकन कठिन है । इसके अतिरिक्त रंगमंच पर उनकी व्यवस्था तथा लाने ले जाने में असुविधा के कारण प्राय: ये दो सम तख्तों पर आनुपातिक रूप से चित्रित रहते हैं । छोटे-छोटे पहियों की सहायता से दोनों ओर की विंग्स से लाकर रंगमंच के मध्य में इनके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य प्रस्तुत किया जाता है । कपड़ों पर चित्रित दृश्य कवरसीन कहलाते हैं । घिर्री की सहायता से ये कक्ष में सुगमता से उठाए व गिराए जा सकते हैं । मकान का बाहरी भाग, दालान, मार्ग व बस्ती के दृश्य प्रधानत: इन्हीं कवरसीनों के द्वारा दिखाए जाते हैं । आलोच्य कम्पनियों के रंगमंच पर प्रधानता इन्हीं कवर सीनों की है । इनके अतिरिक्त 'ट्रांसफारमेशन' अथवा फलाट सीनों का प्रयोग भी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ हुआ है ।

२६. इन सभी दृश्यों के संकेत नाटकों में यथावसर उपलब्ध होते हैं । दृश्यों के विवेचन में नाटककारों ने स्पष्ट उल्लेख किए हैं कि वे कवरसीन हैं, सेट सीन हैं अथवा फलाट(Transformation) दृश्य हैं, उदाहरणार्थ 'बेताब' के 'गणेशजन्म' के प्रथमांक का चौथा तथा तृतीयांक का प्रथम दृश्य मकान व पहाड़ी के कवरसीन हैं ।'समाज' नाटक के प्रथमांक के प्रथम प्रवेश में मकान का सेट सीन प्रयुक्त हुआ है, जिसके सम्यक् निर्माण हेतु नाटककार ने कोष्ठक में विस्तृत निर्देश दिया है --' साधारण फरनीचर ,सामने की दीवार पर दरवाजे के ऊपर कृष्ण की बहुत बड़ी तस्वीर, एक साइड में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का चित्र, दूसरी साइड में लार्ड का फेमिली ग्रुप जो कि कपड़े के पर्दे से ढका हुआ है । किशोरी बाजा बजा रही है और गंगा साथ गा रही है ।' 'सीता वनवास' के अंक १ दृश्य ८ में मूर्छित सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण द्वारा वन-पशुओं से आग्रह किए जाने पर सीन ट्रांसफर --(मोर, बगुला, हंस, शेर, रीछ, हिरन, आदि पशु-पक्षियों का प्रकट होना) ...'नहीं अब भी इत्मीनान नहीं होता, आखिर पशु-पक्षी ही तो हैं '... (सीन ट्रांसफर) देवताओं का अपने-अपने वाहनों पर दिखायी देना । बैल पर शिवजी, हाथी पर इन्द्र, हंस पर ब्रह्मा, गरुड़ वाले विमान पर कुबेर आदि-- फलाट अथवा ट्रांसफारमेशन दृश्य का स्पष्ट उदाहरण

है । फ्लाट व सेट सीन के अतिरिक्त नाटक के सभी मुख्य दृश्य पर्दों पर चित्रित रहते थे ,जिनकी क्रमानुसार व्यवस्था प्रबन्धक पर निर्भर थी । किन्तु कुछ नाटककारों ने प्रस्तुतिकरण में सुगमता के विचार से दृश्यारम्भ में पर्दों की संख्या देने की चेष्टा की है, उदाहरणार्थ नजीर कृत 'हरिश्चन्द्र'-- पहला ऐक्ट-पहला सीन-साहिल दरिया- पर्दा नं०८ । अब्दुल्ला कृत 'शकुन्तला' में -- तीसरा ऐक्ट --दूसरी सीन - मठ- पर्दा नं० ६ ।

टैब्लो

३०. रंगमंचीय नाटकों के दृश्य विधान में यदि टैब्लो का विवेचन न किया जाए तो यह अध्ययन अपूर्ण रहेगा । नाटक के प्रत्येक अंक के अन्त तथा अधिकांश दृश्यों के अन्त में हमें इस दृश्य-योजना का संकेत मिलता है,जिसकी आकस्मिकता व चमत्कारिता के चरमोत्कर्ष के कारण नाटककारों ने इसे टैब्लो की संज्ञा दी है । टैब्लो अंग्रेजी शब्द 'टैब्लो' (Tableau) अथवा (Tableaux) का हिन्दी रूपान्तर है,जिसका तात्पर्य है चित्र अथवा चित्रवत् स्थिति में बैठे हुए व्यक्ति समूहों का दृश्य । रामलीला या दशहरे के अवसर पर हमारे यहां जो झांकियां निकाली जाती हैं,आलोच्य नाटकों का टैब्लो उन्हीं के प्रभाव का अनुकरण प्रतीत होता है । थियेट्रिकल कम्पनियों ने शेक्सपियरकालीन रंगमंच को अपना आधार अवश्य बनाया [1], उनकी नाटकीय विधि-विधानों व नाटकीय रूढ़ियों का पूर्णतः अनुसरण किया किन्तु यह ध्यान रखने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य है कि विस्मयकारी दृश्यबंध कम्पनियों की अपनी देन थे जो व्यापार,व्यवस्था व्यवसाय के हानि-लाभ के विचार से विभिन्न रूपों में परिवर्तित व संगठित किए गए । बंगला रंगमंच ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया । मंच पर सिंह लाने, आस्मान से अप्सराएं उतार कर नृत्य कराकर पुनः आसमान में उड़ा ले जाने वाले दृश्यों के संगठन में बंगाली कम निपुण नहीं थे[1]। पारसी इस क्षेत्र में उनसे भी

१- अमृत लाहिड़ी--'मंच सज्जा की भूमिका' नटरंग, वर्ष १, भाग २,पृ०१६

आगे थे जिन्होंने आकस्मिकता के प्रलोभ में स्वाभाविकता व अस्वाभाविकता की सीमाएं भी लांघ दीं ।

३१. प्राय: उन्हीं स्थलों पर टेबले की योजना की गई है, जहां कथा की दृष्टि से एक नया मोड़ आता है । पट-परिवर्तन के कारण उन क्षणों को स्थायित्व देने के लिए नाटककार प्राय: ऐसे स्थलों पर कुछ चमत्कारिक दृश्यों की योजना करते हैं, जिससे नए दृश्य के आरम्भ होने तक दर्शकों की कौतूहल वृत्ति जागृत होकर कथा के प्रति आकृष्ट रहे । अपने 'वीर अभिमन्यु' में 'कथावाचक' जी का यह कथन कि --' ड्राप गिरने वाले सीन में ड्रामे ही का और न रहे सीनरी का भी हो-- ट्रांसफारमेशन सीन हो तो बहुत ही अच्छा'[1] ऐसी प्रवृत्ति का प्रमाण है ।

दृश्य क्रम विधान

३२. एकत्व पर विशेष आग्रह के कारण भारतीय नाट्यशास्त्र में अंक के भीतर विविध दृश्यों के विधान को मान्यता नहीं दी गई, क्योंकि वहां समय, स्थान और कार्य के एकीकरण को स्वीकार किया गया है । दृश्य क्रम विधान के सम्बन्ध में साधारणत: यह नियम है कि किसी बड़े दृश्य की सजावट के लिए उससे पूर्व छोटे दृश्य की व्यवस्था की जाए जिससे उसके अन्दर बड़े दृश्य की तैयारी सम्भव हो सके व दृश्य परिवर्तन में निर्देशक को कोई कठिनाई उपस्थित न हो । आलोच्य कम्पनियों के रंगमंच पर इन दोनों ही नियमों का परिपालन नहीं हुआ । वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से पारसियों ने अपने रंगमंच को इतना सक्षम बना लिया था कि विभिन्न दृश्यों का प्रस्तुतिकरण उनके लिए कठिन न रहा । पर्दों की सहायता से रंगमंच विभिन्न कक्षों में विभाजित था । किस भाग में भी अभिनय चलता पीछे के कक्षों में नाटकों की

१- कथावाचक--'मेरा नाटक काल', प्र०सं०, १९५७, पृ०६५

दृश्य क्रम व्यवस्था के अनुसार सेट सीन व अन्य उपकरणों की सहायता से सुगमता से अन्य दृश्यों की योजना की जा सकती थी । यही कारण है कि अंकों के भीतर दृश्यों की व्यवस्था के साथ ही एक दृश्य के अन्तर्गत विविध उपदृश्यों के प्रसंग मिलते हैं । श्रीकृष्ण 'हसरत' के 'गंगावतरण' के द्वितीयांक का सातवां दृश्य इसका उदाहरण है, जिसमें पट-परिवर्तन की सहायता से हिमालय-हरिद्वार - त्रिवेणी-काशी-गंगा- व सागर के दृश्य शीघ्रता से एक के पश्चात् एक परिवर्तित होते जाते हैं । 'बेताब' के 'मातृभक्ति' नाटक में प्रवीर अर्जुन युद्ध के प्रसंग पर उद्भवनित क्रिया-प्रतिक्रियाओं को लेकर बारह दृश्य परिवर्तित होते हैं । 'अकबर गोरखा' के प्रथमांक के प्रथम प्रवेश में परिवर्तन की दृष्टि से छः दृश्य हैं -- देवर्षि नारद का गाते हुए आकाश मार्ग में दिखायी देना, विष्णु का ताली बजाना-सीन का बदलकर गोकुल का आना, गवलों का चरते हुए दिखायी देना, विष्णु का लक्ष्मीसहित गौ-भक्ति करते कृष्ण के रूप में दिखायी देना-- कृष्ण का वंशी बजाना व ब्रज बालाओं का राधा के साथ गाते हुए आना, कृष्ण का पुनः मुरली बजाना व बृजनारियों का रास नृत्य तथा आकाश से पुष्प-वृष्टि , कृष्ण का ताली बजाना--सीन ट्रांसफर, कृष्ण-नारद का प्रस्थान आदि । इस प्रकार के अनेक दृश्य रंगमंचीय नाटकों में उपलब्ध हैं । इससे स्पष्ट है कि क्रम व्यवस्था व दृश्य संख्या के सम्बन्ध में नाटककारों ने किसी प्रकार के नियम-बन्धनों को स्वीकार नहीं किया । प्रस्तुत कम्पनी की रंगमंचीय उपलब्धियां ही उसकी रचना के विधि-विधान का मुख्य आधार थीं[1] ।

वेशभूषा एवं अंग-रचना

३३. वेशभूषा एवं अंग-रचना के द्वारा ही पात्र(अभिनेता) अपने व्यक्तित्व को तिरोहित करके रंगमंच पर उस चरित्र के रूप में प्रस्तुत होता है जिसका वह अभिनय कर रहा है[1] । अभिनीत चरित्र का प्रत्यक्षाभास कराने के लिए अभिनय की प्रभावपूर्णता के साथ ही यह भी आवश्यक है कि अभिनेता की बाहरी

१- क्लासिक थियेटर्स -- 'आवर थियेटर नाव', प्र०सं०,१९३६, पृ०२३७

रूप-रेखा सत्य- (Physical Appearance) अभिनेय पात्र का यथार्थ भ्रम उपस्थित करती हो अन्यथा दर्शकों की न्याय-बुद्धि एवं कलात्मक अभिरुचि पर आघात पड़ने से नाटक में अन्तर्निहित रस तत्व की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ेगी क्योंकि प्रेक्षक उस स्थिति में पात्र के साथ अपना तादात्म्य न अनुभव कर सकेगा ।

३४. अभिनेता को किसी चरित्र की भूमिका में उतारने से पूर्व व्यवस्थापक एवं निर्देशक के लिए आवश्यक है कि वह उस चरित्र के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखें । वह किस देश एवं काल का प्रतिनिधि है ? उसकी अवस्था एवं शरीर का संगठन कैसा था ? स्वभाव का कौन-सा अंग नाटकीय कथा में अवतीर्ण होता है ? नाटक की घटनाएं उसके जीवन के किन पहलुओं से सम्बन्धित है, आदि बातों की जानकारी के साथ ही नाटक के प्रकार कि वह पौराणिक है अथवा ऐतिहासिक, प्रस्तुत कम्पनी के मंचीय उपकरण, नाटक का वातावरण, प्रकाश व्यवस्था, शरीर संरचना व अभिनेता के स्वभाव तथा अभिनय प्रतिभा का ज्ञान भी अनिवार्य है । पौराणिक व ऐतिहासिक नाटक में दर्शकों की संस्कार बद्ध भावना पर ध्यान रखना पड़ता है । इन अनुभवों के पश्चात ही पात्र की वेशभूषा एवं अंग प्रसाधन के प्रति औचित्य निर्वाह सम्भव है ।

३५. थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर वेशभूषा की यथार्थता एवं स्वाभाविकता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया । उनके राजा महाराजा भी कुर्सों और कोच की गद्दियों के कपड़ों से अपने राजकीय वैभव की श्रीवृद्धि करते व कई -कई दृश्यों में चाहे वह महल का हो या जंगल का दृश्य एक ही अपरिवर्तित वेश-भूषा में अपना अभिनय करते थे ।१८६६ ई० में विक्टोरिया के लिए लिखे गए आगा कावराजी के 'बेन्जन मनीजेह' से प्रथम बार इसके महत्व की अनुभूति हुई । ईरान देश की कथा से सम्बन्धित प्रस्तुत नाटक की परशियन ड्रेसें पूर्णत: नए ढंग से तैयार कराई गईं । परवर्ती नाटककारों ने इस प्रथा का अनुसरण करते हुए वेशभूषा पर पर्याप्त ध्यान दिया, किन्तु केवल रंगमंच पर

१- जहांगीर की पेशवा की समानता के विचार उनके बुलीन कथड़ो नाटक में ।
धनंजय दादाभाई नवरोज ...'पारसी नाटक तत्त्वों', १६५०,पृ०५०

क्योंकि वहां उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी । नाटक में तत्सम्बन्धित संकेत नहीं मिलते ।

३६. राजकुमार जी ने पेशेवर संस्थाओं की दृश्य -सज्जा, वेशभूषा, अंग-रचना व प्रकाश व्यवस्था को अव्यवस्थित, अराजक एवं निकृष्ट कोटि का ठहराते हुए उसपर कटु समीक्षा दी है । उनके अनुसार --'वह न तो यह जानते हैं कि रंगमंच किस चिड़िया का नाम है और न इनके यह पता है कि रंगमंच को किस तरह सजाना चाहिए । दो चार पांच प्रकार के पर्दों से सभी तरह के नाटकों की-वह ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, पौराणिक हो या संगीत नाटक-- आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं । रंगमंच को सजाने का इनका ढंग भी प्राय: एक-सा होता है । वेशभूषा के क्षेत्र में भी ऐसी ही अराजकता नजर आती है । जो टोप सिकन्दर के माथे पर लगाने के लिए उपलब्ध होता है, वही महाराणा प्रताप के मस्तक की शोभा बढ़ाता है । अंग-रचना का काम किसी तरह रंग पोत कर पूरा कर लिया जाता है । प्रकाश व्यवस्था का तरीका भी बिलकुल नया -तुला है ।'[१]

३७. ये विचार पूर्ण सत्य नहीं हैं । विशेषत: दृश्य सज्जा के सम्बन्ध में तो लेखक ने अतिरंजनापूर्ण कथन किया है । रंगमंच के शिल्प की उन्नति तथा दृश्य सज्जा पर जितना व्यय उक्त पारसी संस्थापकों द्वारा किया गया, उसको देखकर भी यह कहना कि कुछ सीमित पर्दों के द्वारा ही सभी प्रकार के नाटकों के दृश्य प्रस्तुत किए गए पूर्णत: अनौचित्यपूर्ण है । इस सम्बन्ध में सेट सीन व ट्रांसफर मेशन सीन का उल्लेख पहले किया जा चुका है ।

३८. यह सत्य है कि वेशभूषा की दृष्टि से आलोच्य रंगमंच पर देश काल गत अनेक दोष दृष्टिगत होते हैं, किन्तु केवल इसी आधार पर उनके महत्व को अस्वीकार करना उचित नहीं । प्रारम्भिक युग के इन नाटकों की नाट्य शैली इतनी सूक्ष्म व न थी कि वातावरण व परिस्थितियों के सूक्ष्म अंकन की चेष्टा की जा सके । व्यापार-व्यवसाय के विचार से भड़कीली वेश भूषा व चमत्कारिक दृश्य विधानों का संयोजन ही उनका मुख्य ध्येय था ।

१- राजकुमार --'नाटक और रंगमंच', वाराणसी प्र०सं०, दिसम्बर १९६१

अध्याय -- ११

-o-

उपसंहार

उपसंहार

महत्व, मुल्यांकन और देन

१. कथावस्तु,चरित्र-चित्रण,कथोपकथन,भाषा,शैली, संगीत आदि नाटकीय तत्वों की दृष्टि से अध्ययनोपरान्त थियेट्रिकल कम्पनियों का योगदान व महत्व की दृष्टि से उनका समुचित मुल्यांकन यहां अनिवार्य प्रतीत होता है ।

लोकप्रियता

२. मध्यकालीन लोकरंगमंच के कुछ अवशिष्ट रूपों के अतिरिक्त १६ वीं शती तक उत्तरार्द्ध तक हिन्दी के पास रंगमंच नाम से अभिहित अपनी कोई वस्तु नहीं थी । सर्वप्रथम पारसियों ने इस क्षेत्र में सराहनीय प्रयास किए । शेक्सपियर कालीन रंगमंच को भारतीय वातावरण में उपस्थित करके उत्तरभारत में उन्होंने विविध साधनों एवं उपकरणों से युक्त एक नवीन रंगमंच की नींव डाली । विविध परदों के प्रयोग से प्रकृत दृश्यों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया तथा नारी को उसकी सम्पूर्ण साज-सज्जा में प्रथम बार रंगमंच पर उतारा । अभावकाल में व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि से संयोजित ये प्रयोग जन आकर्षण की दृष्टि से पर्याप्त लोकप्रिय हुए । लोगों ने थियेटर में नारी की उस साज-सज्जा को और निकट से देखा जिसे वे अब तक नाच मुजरों में देखा करते थे । अब तक किसी ने भी स्त्री को नाटकीय भूमिका में इ रंगमंच पर उतरते नहीं देखा था । अत: हजारों की संख्या में लोग पत्नी के गहने बेचकर उसे देखने के लिए दौड़े । दृश्य-सज्जा का आस्वादन लिए हुए प्रेक्षकों की रुचि पर टीका-टिप्पणी के साथ बाल भट्ट जी ने अपने एक लेख में पारसी अभिनयों की लोकप्रियता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है --' इस महीने यहां पारसी थियेटर की बड़ी धूम रही, भर मास पर्यन्त नित्य तमाशा हुआ किया । कितनों ने अपनी बीबी गिरो रखकर थियेटर देख डाला । पल्लाह,फेरी वाले या दूसरे ~~दुटपुंजिए~~ रोजगारी जो दिन भर की रगड़ में कुछ चार आने कमाते हैं वे भी वे-भी दिन भर दौड़ धूप कर अब भी शाम सांझ को थियेटर तीर्थ के पारसी पंडों को चार आने की दक्षिणा

दे जाते थे । भीड़ की कशमकशी में गरमी से लोगों के दम बन्द हो जाते थे, प्यास के तड़के से जीभ चटचटाने लगती थी पर बिना तमाशा खत्म हुए लोग किसी तरह नहीं हटते थे[1]। लगभग समानुरूप भावों की अभिव्यक्ति जहांगीर जी पैस्तन जी संभाता ने अपने उस प्रसंग में की है, जब कि विक्टोरिया नाटक कम्पनी दिसम्बर १८७६६० में अपनी दिल्ली यात्रा के अवसर पर जामा मस्जिद के सामने एक बड़े पंडाल में नाटकीय प्रयोग कर रही थी[2] । इन अभिनयों के पीछे जनता पागल थी । उसे एक साथ न जाने कितना कुछ मिल गया- कि उसने प अपनी सुख-सुविधा,संपत्ति व सब कुछ उस पर न्यौछावर कर दिया ।

३. निम्न व अशिष्ट रुचि के दर्शकों तक ही यह लोकप्रियता सीमित रही हो, ऐसा नहीं है । साहित्यिक नाटकों पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव रहा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों की अभद्रता,अश्लीलता भोंडेपन, कुरुचिपूर्णता व कृत्रिमता से क्षुब्ध होकर उच्च उद्देश्य व सुरुचि सम्पन्नता के आदर्श को सामने रखकर भले ही अपने नाटकों की रचना की हो, किन्तु रंगमंच की जो रूपरेखा उनके सामने रही वह पारसी कम्पनियों की ही थी । इसी को सामने रखकर उन्होंने परिष्कृत शैली में अपने नाटकों को प्रस्तुत किया । इसके उपरान्त भी पद्य-प्रयोग एवं गीतों की बहुलता, आनुप्रासिक कथोपकथन की भरमार,अतिमान-वीयता घटनाओं एवं दृश्यों की अवतारणा, हल्के फुल्के हास्य की योजना,भाषा-

---

१-'पारसी थियेटर से हमारा क्या फायदा है'? (लेख)

हिन्दी प्रदीप,जिल्द ५, संख्या ८, १ अप्रैल,१८८३,पृ०१८-१६

२- मारो नाटकीय अनुभव , पृ० १६७ --'अमारा नाटको जोवा माटे लोकोनी ठटाठट पड़,मोटा वरवारोथी ते गरीबमां गरीब वर्गना लोको प्र पण अमारा नाटको जोवा आववा लागा । ते केटला सुधी के भीखारा गरीब अक्कावोळे पोतानी मत को वेची,कोई कोई गरीब वेढ़ावो पोताना ढोरो वेच्या,गरीबोले पोताना रावरखीला हरवाटली कीधा जने वणी केटली सव थई के गरीब मकानवाळावोले पोतानी माळेकीनां मकानो वटोक 'हरीसेन' करी नांखी नाटक जोवा पुरो कीघो ।'

शेठ। में उर्दू की प्रतिच्छाया, अंकों के अन्तर्गत दृश्यों का विधान आदि बातें जिन्हें कि लेखकों ने पारसी नाटकों की प्रमुख विशेषताएं कहा है, न केवल भारतेन्दु में वरन् उनके सहयोगी व समकालीन नाटककारों की रचनाओं में भी इन विशेषताओं की प्रतिच्छाया सुगमता से ढूँढी जा सकती है। पण्डित जीवानन्द शर्मा के 'भीष्म प्रतिज्ञा' (१६०१), ज्वालाप्रसाद के 'श्री रामलीला नाटक' (१६०२), मुंशी तोताराम के 'सीता स्वयम्बर' (१६०३) ज्ञानकीदास के 'रामलीला' (१६०४), महावीर सिंह के 'नलदमयन्ती' (१६०५), गोचारण गोस्वामी के 'अभिमन्यु (१६०६), सुदर्शनाचार्य के 'अनर्घ नल चरित्र' (१६०६), रामनारायण मिश्र के 'जनक बाड़ा' (१६०६), विन्ध्येश्वरी दत्त शुक्ल के 'शिवाशिव नाटक' (१६०६), रामभजन सिंह के 'नरसिंहावतार' (१६०६) ब्रजचन्द्र वल्लभ के 'रामलीला' (१६०८) काशीराम के 'राजा हरिश्चन्द्र' (१६०८), रामनारायण मिश्र के 'कंसवध नाटक' (१६१०), नारायण सहाय के 'रामलीला नाटक' (१६१२) व रामगुलाम लाल के 'धनुषयज्ञ लीला' (१६१२) आदि पौराणिक नाटकों में ये सभी विशेषताएं पर्याप्त मात्रा में हैं। इनके अतिरिक्त देवकीनन्दन त्रिपाठी, लाला खड्गबहादुर मल्ल, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, बलदेव प्रसाद मिश्र, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री, प्रतापनारायण मिश्र, ज्वालाप्रसाद मिश्र, अजमेर के ज्ञानलाल कासलीवाल, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्ण काश्मीरी उर्फ तकक, विजयानन्द त्रिपाठी, कमलाचरण मिश्र, जीवानन्द ज्योतिर्विद, शालिग्राम वैश्य, विचित्र कवि गोस्वामी, जगतनारायण, मंसाराम, बन्दीदीन दीक्षित, प्रभुलाल कायस्थ, जवाहरलाल वैद्य, देवदत्त शर्मा, कुन्नलाल आदि नाटककारों ने विषय की दृष्टि से भारतेन्दु से प्रेरणा ग्रहण करते हुए देशहित और समाज-सुधार की भावना को ध्यान में रखकर तत्कालीन रंगमंच के लिए अपने नाटकों की रचना की जिसमें जनता के मनोरंजन का विशेष ध्यान रखा गया था। पारसी शैली का प्रभाव इनकी लगभग सभी रचनाओं में पाया जाता है। डा० वार्ष्णेय ने अपने शोधप्रबन्ध में इनकी कृतियों की विस्तृत सूची दी है[१]। नाट्य कला की दृष्टि से हरिश्चन्द्र स्कूल की कला पारसी नाटकों

१- डा० वार्ष्णेय --'आधुनिक हिन्दी साहित्य', १६४८; पृ० २४३-४४

रे, उन्नत न था, हां इसका वातावरण अधिक शुद्ध था और नैतिक चित्रण उन्नत था । भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युगीन लेखकों तथा जयशंकरप्रसाद व उनके समकालीन लेखक गोविन्द वल्लभ पन्त,जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द के नाटकों में भी रंगमंचीय नाट्य-गुणों का यत्किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है ।

व्यावसायिक पारसी रंगमंच की विशेषताएं
---

४. नाटकों की समीक्षा में उक्त रंगमंच की विशेषताओं का विवेचन किया जा चुका है । यहां केवल सामूहिक रूप से उसके सम्पूर्ण कार्यकाल (१८६८-१९३५) को दृष्टिपथ में रखते हुए केवल संकेत रूप में ये विशेषताएं प्रस्तुत की जा रही हैं ।

५. १- आलोच्य कम्पनियों के मालिक विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर रहे थे । वे न केवल कुशल अभिनेता,रंगमंच व्यवस्थापक व निर्देशक थे,वरन् अपनी अभिरुचि के अनुसार लेखनकला, संगीत एवं नृत्यकला को भी अपनी प्रतिभा से समुन्नत करने की चेष्टा में तत्पर थे । दादा भाई रतन जी ठूँठी, सोराब जी पटेल,केखशरू नवरोजी काबराजी,जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता, धनजी भाई पेस्तन जी भादन,फरामजी पेस्तन-जी मादन,कावस जी खटाऊ,सोराब जी बाटलीवाला, व नौरोजी इसके उदाहरण स्वरूप हैं, जिन्होंने रंगमंच की विभिन्न कलाओं को अपनी प्रतिभा से सम्पन्न बनाया ।

६. २- रोमांचकारी नाटकों तथा शेक्सपियर व अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकीय अनुवादों से प्रस्तुत रंगमंच के कार्यकारी जीवन का आरंभ हुआ था किन्तु शीघ्र ही इसका स्थान पौराणिक व सामाजिक कथानकों ने ले लिया । भारतीय रंगढंग व उसकी सभ्यता,संस्कृति तथा भारतीय जीवन से सम्पन्न कथानकों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा । इन रोमांचकारी पौराणिक व सामाजिक नाटकों का उल्लेख पूर्ववर्ती अध्यायों में क्रमानुसार किया जा चुका है ।

७. ३- नाटककार कम्पनी के निकट बन्धनों में आबद्ध व वेतनयुक्त थे । प्रत्येक कम्पनी अपने स्थायी नाटककार रखती थी, जो वहीं रहकर

मालिकों की रुचि के अनुसार अपने नाटकों की रचना करते थे । फलत: कृतियों में उनके लेखकों की उन्मुक्त प्रतिभा को चरितार्थ होने का अवसर नहीं मिला । वरन् कम्पनी मालिकों के व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण अनेक खटकने वाले दृश्य,संवाद व अनावश्यक बातों का बाहुल्य हो गया ।

८. ४- संगीत एवं नृत्य का आधिक्य -- भी जन-रुचि की मांग व व्यापार -व्यवसाय की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप था ।

९. ५- बोलचाल की भाषा का प्रयोग-- पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों की अभिनयगामी जनता समाज के सभी वर्गों से सम्बन्धित थी, अत: नाटककारों को उनके मनोरंजनार्थ साहित्य के सुष्ठु कलात्मक व भाव सम्पन्न रूप की अपेक्षा नाटकों की भाषा के जनरूप को अपनाना पड़ा । भाषा के सम्बन्ध में उपयुक्त गद्य का प्रसंग भी विचारणीय है ।

१०. ६- मुख्य कथा के साथ उपकथाओं व प्रहसन का संयोजन भी अनिवार्य था । प्रारम्भ में इन तीनों ही कथाओं का अस्तित्व अपने स्वतन्त्र रूप में था , किन्तु उत्तरवर्ती काल में उद्देश्य विशेष की प्रधानता व उसके प्रतिपादन पर दृष्टि रखते हुए मूल से उसके संयोजन की चेष्टाएं की गईं । हास्य के प्रसंग में अवश्य संगठन की दृष्टि से अन्त तक शैथिल्य व एकीकरण की भावना के अभाव के यत्किंचित् उदाहरण उपलब्ध होते हैं ।

११. ७- अपनी प्रारम्भिक स्थिति में अंग्रेजी रंगमंच के समान ही स्त्री पात्रों को आलोच्य रंगमंच पर उतरने की स्वतन्त्रता नहीं था । उनकी भूमिकाओं का निर्वाह प्राय: पुरुष पात्र ही किया करते थे । जो इस क्षेत्र में अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण रंगमंच पर विशेषरूप से इन भूमिकाओं के लिए ही नियुक्त थे । जयशंकर सुन्दरी, बाल गंधर्व (मराठी), सोराब जी बालीवाला, पेस्तन जी मादन,अमृत जी माधव,मास्टर निसार ,पुरुषोत्तम नायक,अमृत बनीचंद की स्त्री भूमिकाएं बड़ी स्वाभाविक होती थी । दादाभाई सोराब जी पटेल ने अपने 'इन्दरसभा' (१८७०) में विक्टोरिया के रंगमंच पर सर्वप्रथम बार हैदराबादी बेगमों को लाकर स्त्रियों को रंगमंच पर लाने की प्रथा का सूत्रपात किया व बाद में अन्य कम्पनियों ने भी इसका अनुकरण किया ।

१२. ८- सभी कम्पनियाँ भ्रमणशील थीं ।

९- नाटक उक्त रंगमंच पर अभिनीत होने के उद्देश्य से ही लिखे गए ।

थियेट्रिकल कम्पनियों की देन

१३. हिन्दी नाटक साहित्य को संस्कृत नाट्य परम्परा तो विरासत में मिला किन्तु मध्ययुगीन लोक-नाटकों के अशिष्ट घरेलू व जन रंगमंच के अतिरिक्त रंगमंच का कोई स्थायी स्वरूप उसके समक्ष नहीं था । १९ वीं शती उत्तरार्द्ध तक इस क्षेत्र में पूर्णत: अन्धकार रहा । सर्वप्रथम बम्बई के पारसियों ने अपनी थियेट्रिकल कम्पनियों के रूप में विभिन्न साधनों एवं वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त एक नवीन रंगमंच की रूप-रेखा प्रस्तुत की जिसके योगदान को उक्त रंगमंचीय नाटकों के कलाविधान की कटु आलोचना करने वाले सभी विद्वान समीक्षकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है[१] । यह रंगमंच वस्तुत: शेक्सपियरकालीन आंग्ल रंगमंच का भारतीय रूपान्तर था, जिसने अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद तथा पारसी-गुजराती नाटकों के अभिनय से अपने जीवन का आरम्भ किया । प्रश्न यह है कि हिन्दी रंगमंच व और नाटकों से यह कहां तक सम्बद्ध है? इसे हिन्दी का रंगमंच स्वीकृत किया जाए अथवा नहीं ? सेठ गोविन्ददास आदि कुछ विद्वानों ने इसे उर्दू भाषा का रंगमंच मानकर हिन्दी रंगमंच मानने से अस्वीकार कर दिया । इतिहास खण्ड में कहा जा चुका है कि अपनी विशिष्ट नाट्यशैलियों का अनुसरण करने वाली व पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों ने किसी एक भाषा के नाट्याभिनयों तक अपने को

१-(अ) सेठ गोविन्ददास--नाट्यकला मीमांसा ,सं०१९९२,प्रकाशन,पृ०१४०

(आ) डा० वासुदेवनन्दनप्रसाद--भारतेन्दुयुग का नाट्य साहित्य और रंगमंच (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध)१९५९,पटना विश्वविद्यालय,पृ०१४४।

(इ) डा०श्रीकृष्णलाल-हिन्दी साहित्य का विकास`तृ०सं०,१९५२,पृ०२०३

(ई) वेदपाल खन्ना-`हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन`,पृ०९८

(उ)जयशंकर प्रसाद--`काव्य कला तथा अन्य निबन्ध`प्र०सं०,पृ०१०५

सीमित नहीं रहा । पारसी गुजराती के अतिरिक्त गुजराती, (१८७१) उर्दू (१८७१), व हिन्दी (१८७२) तीनों ही भाषा के नाटक समयानुसार उक्त रंगमंच पर अभिनीत हुए । 'उर्दू और हिन्दी के अत्यधिक निकट सम्बन्ध के कारण उसे कुछ दूर तक हिन्दी का रंगमंच भी माना जा सकता है'[१] गोविन्ददास जी का यह अनुमानात्मक कथन हिन्दी रंगमंच के प्रति पूर्णत: न्यायपूर्ण नहीं है । पारसी रंगमंच ने हिन्दी रंगमंच के विकास और स्वरूप पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी है । १८७२ ई० से १९३०-३५ तक आलोच्य रंगमंच पर हिन्दी नाट्याभिनयों की लम्बी परम्परा को देखकर भी यह कहना कि इसका हिन्दी रंगमंच से कोई सम्बन्ध नहीं है, पूर्णत: अनौचित्य पूर्ण है । प्रारम्भ में यह धारा नवीन नाट्य प्रयोगों के कारण तथा अपनी साख जमाने व उ स्थिति को दृढ़ बनाने के प्रयासों में क्षीण अवश्य रही, किन्तु सन् १९१३ में बेताब के 'महाभारत' ने सभी भाष्य प्रयोगों को अवनत करते हुए उसे स्थायी रूप में हिन्दी रंगमंच के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । यदि हिन्दी रंगमंच के इतिहास में से इस काल (१९१३-१९३०) को अलग हटा लिया जाए तो हिन्दी साहित्य के रंगमंच के नाम पर गौरव लेने जैसी कोई चीज बाकी नहीं रहती । वास्तव में पारसी हिन्दी रंगमंचीय नाटकों का युग हिन्दी रंगमंच के इतिहास का 'स्वर्णयुग' है । सन् १९३० तक ही नहीं, वरन् उसकी क्षीण परम्परा आधुनिक काल तक खिंच आई है । पृथ्वीराज कपूर द्वारा स्थापित पृथ्वी थियेटर्स, बम्बई की वर्तमान यूनाइटेड कम्पनी तथा लगभग उन्हीं के आदर्शों पर और मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाला दिल्ली का 'थ्री आर्ट्स क्लब' (Three Arts Club) आज भी उसी परम्परा को अधूरे, अव्यक्त रूप में बार बार याद रहे हैं।[२]

१४. हिन्दी-उर्दू रंगमंचों के अतिरिक्त बंगदेश को छोड़कर लगभग सभी प्रदेशों में इनके नवीनतम रंगमंचों का विकास पारसी रंगमंच की प्रेरणा के फलस्वरूप ही हुआ। महाराष्ट्र का आधुनिक अनेक पटयुक्त रंगमंच इसी की देन है ।

१- सेठ गोविन्ददास-'नाट्य कला मीमांसा', १९६२, संवत् पृ०१३९

२- नेमिचन्द्र जैन --'हिन्दी रंगमंच परम्परा और प्रयोग'; नटरंग, वर्ष २, अंक ५ जनवरी -मार्च १९६६, पृ०१२

तमिल रंगमंच पर महाराष्ट्र रंगमंच का प्रभाव पड़ा । एल्फिन्स्टन ,अल्फ्रेड तथा विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनियों की समय-समय पर मद्रास यात्रा के फलस्वरूप १८६८-७० में 'म्यूजियम थियेटर' तथा लगभग इसी समय 'इ कनैया एण्ड को०' की स्थापना हुई । गुजराती रंगमंच का सूत्रपात तो इन्हीं थियेट्रिकल कम्पनियों में उनके पारसी अभिनेताओं द्वारा हुआ ।

१५. पारसी व्यावसायिक कम्पनियां भ्रमणशील थीं । उन्होंने देश के विभिन्न भागों में विचरण करके अनेक स्थानों पर अपने नाटकीय प्रयोग किए । उनके इस भ्रमण से जनता में न केवल नाटक देखने की रुचि का पुनर्जागरण हुआ,वरन् परोक्षरूप से हिन्दी के प्रचार को भी प्रश्रय मिला । प्रारम्भ में हिन्दी का यह स्वरूप, हिन्दुस्तानी के अधिक निकट था, किन्तु परवर्ती काल में 'बेताब' , [illegible] व विशेषरूप से 'कथावाचक' जी की उत्तरवर्तिनी रचनाओं में उसके स्वरूप को परिमार्जित व परिष्कृत करने की पर्याप्त चेष्टाएं हुईं । इतना अवश्य है कि उनकी भाषा का स्वरूप बोलचाल की भाषा के निकट रहा। अत: चन्द्रप्रकाश जी का यह कहना कि पारसी कम्पनियों ने हिन्दी के प्रचार के लिए न तो हिन्दी के नाटक लिखवाए और न उनका अभिनय कराया'--इस सम्पूर्ण इतिहास के बाद न केवल तथ्यहीन प्रतीत होता है,वरन भ्रामक है । पारसी रंगमंच की दूसरी प्रमुख उपलब्धि थी उसकी सुशोभन सीन -सीनरियां । अनेक असंभव लगने वाले दृश्यों को रंगमंच पर सम्भव बनाकर प्रस्तुत करने के प्रयास से रंगमंच की जिस टेकनीक और रंगमंचीय शिल्प का विकास हुआ उनमें पारसियों का योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है । उन्होंने पहली बार विविध दृश्य विधानों का आयोजन किया तथा सेट सीन व क्वरसीनों के द्वारा अनेक दृश्य एक साथ रंगमंच पर दिखाए जाने लगे । उनके दृश्य विधान की यह कला हिन्दी रंगमंच के विकास की एक निश्चित् अवस्था मानी गई है ।

१६. इन समस्त प्रयत्नों के ऊपर हिन्दी हिन्दू तथा समाज-सुधार के भावों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से प्रस्तुत कम्पनियों की स्थिति सर्वाधिक -महत्वपूर्ण है जिसका विवेचन कथावस्तु वाले अध्याय में किया जा चुका है । अत:

१- माधुरीश कुमार-- भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य ,पृ०३०३

उसका पुनरावर्तन यहां उचित प्रतीत नहीं होता ।

मुल्यांकन

१७. हिन्दी नाटक साहित्य के विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत रंगमंच के प्रति कुछ अच्छे नहीं हैं । नाट्यकला अभिनेयता व सामाजिक तथा सांस्कृतिक उपयोगिता की दृष्टि से इन नाटकों पर कटु समालोचनाएं की गई । 'अराजक व अव्यवस्थित'[1] नाट्यकला के साथ ही 'सस्ते और भद्दे'[2] ढंग के पारसी थियेटरों पर जनता में कुरुचि प्रसार व उनकी मनोवृत्ति को दूषित करने का आरोप लगाया गया है । रुचि परिमार्जन के स्थान पर उसे जन -रुचि का परिपूरक कहा गया।[3] चांद' के सम्पादक श्री रामरख सिंह सहगल ने एक अमेरिकन अभिनायक के विचारों का अनुवाद करते हुए इस सम्बन्ध में कहा है कि जनता ने नाटक को इतना अफल नहीं बनाया जितना कि अज्ञात रूप से नाटक * ने जनता को और इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अब मनोरंजन के सिवा और कुछ नहीं अच्छा लगता । मनुष्य समाज की एक बड़ी बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जन्म लेकर और धर्म मूलक होकर नाटक ने अपने जन्म सिद्ध अधिकार को उदर पूर्ति के लिए बेच दिया है । उसने अपनी मोहिनी के रुपए की वेदी पर बलिदान कर दिया है,क्योंकि जनता से प्रचुर धन लेकर उसके बदले में यह क्षणिक विनोद के सिवा उसे और कुछ नहीं देता[4] । पारसी -थियेटरों का यह शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण देश में सांस्कृतिक कुरुचिपूर्ण वातावरण[5] पैदा कर रहा था । उर्दू कविता की शोखी और बाजारू गानों के प्रयोग से ये नाटक पूंजीपतियों के लिए द्विगुणित लाभप्रद सिद्ध हुए । इन

१-डा०श्रीकृष्णलाल-आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास',तृ०सं०,१९५२,पृ०२१३

२-डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-आधुनिक हिन्दी साहित्य '१९४८,पृ०२४१

३- डा० चन्द्रभानुगुप्ता- इण्डियन थियेटर,पृ०१६८

* They had a practical bent of mind and so put commercial success' based on this formula - Give the public what it wants' above artistic achievents. '

४-'सिनेमा और थियेटर',चांद वर्ष ६, खण्ड२, सितम्बर,१९२८,पृ०५६१-६२

५- बच्चन सिंह -'हिन्दी नाटकों का विकास',आलोचना' अक्टूबर१९५२,पृ०५१-५२

नाटकों से कम्पनी-मालिकों को प्रभुत अर्थ-लाभ हुआ । तत्कालीन जन-जागरण को जो अन्तत: मालिकों के हितों पर कुठाराघात करने वाला सिद्ध होता-- एक प्रतिक्रियावादी अक्रियमाण दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया । भट्ट जी ने अपने एक लेख में देश,भाषा व साहित्य पर थियेट्रिकल कम्पनियों के प्रभाव,उनके मनोरंजनात्मक दृष्टिकोण व उद्देश्यहीनता का सम्पूर्ण मानचित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है --'हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों को आशिकी माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है । क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुस्तानी की झलक मन में आने पावे ? इतना पीर पैगम्बर , परी हूर का जहूर कहीं न पाओगे । तीसरे शायस्तगी की नाक,उर्दू का जौहर मुफ्त में दस्तयाब होता है । सच कहो तो यही तीन बड़े बड़े फायदे नाटकों के अभिनय के हैं-- पहला धर्म सम्बन्धी,समाज सम्बन्धी या राजकीय संबंधी उत्तम उपदेशों का मिलना, दूसरा देश की पुरानी रीति-नीति को किसी पुराने इतिहास या घटनाओं का अभिनय कर दरसाना अथवा प्रचलित कुरीतियों की बुराइयों को दिखाना,तीसरे भाषा का प्रचार । थोड़े से भव्य लोग यहां समझ जब कोई यहां जानता भी न था कि नाटक क्या वस्तु है, इसके अभिनय में प्रवृत्त हुए और हिन्दी के कई एक नाटकों का उन्होंने अभिनय कर लोगों को इसका शौक दिलाया । पीछे बम्बई के पारसियों का एक दल बम्बई से चला और वे बड़े-बड़े शहरों में इस ढंग का अभिनय करने लगे । अस्तु यहां तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी-किसी तमाशे में पुरानी रीति-नीति और हिन्दी कोई विरोध न था । पीछे दिल्ली,लखनऊ, आगरा आदिकई शहरों केबिगड़े नौजवानों की गिरोह बना ही अभिनय को,जो सभ्यता का प्रधान अंग था और भलाई के प्रचार तथा सदुपदेश प्राप्त करने का उत्तम द्वार था, इस दुर्गति को पहुंचाया । हमारी पुरानी हिन्दुस्तानी का सत्यानाश कर डाला और नई उभार के तरुण जनों को उनकी नई उमंग के लिए बड़ा सहारा मिल गया । भविष्य में इसका परिणाम यही होने वाला है कि हमारी नई दृष्टि में आर्यता और हिन्दूपन का

चिन्ह भी न बचा रहेगा।[1] ' जनार्दन भट्ट ने इनकी उत्तरवर्तिनी हिन्दी रचनाओं को जनता के धन और समय का अपहरण करने वाला कहा है।[2] कुछ आलोचकों ने व्यावसायिक कम्पनियों के दोषों को गिनाते हुए उनके नाटकों में 'जीवन का उठान की योजना' व 'विषय की विविधता' के अभाव के साथ ही उन्हें जनता की दूषित मनोवृत्ति का परिपूरक कहा है।

१८. आलोच्य नाटक साहित्य के प्रति ये समीक्षाएं कहां तक न्यायसंगत हैं? इस सम्बन्ध में उपर्युक्त समीक्षाओं से उद्धृत निम्न निष्कर्षों का अध्ययन आवश्यक है --

१- कलागत दृष्टि से अश्लील, अव्यवस्थित, भद्दे व विषय विविधता के अभावों से पूर्ण।
२- जनता में कुरुचि प्रसार वर्धक।
३- विनोद व मनोरंजन के अतिरिक्त उच्च आदर्शों व उद्देश्यों से रहित।
४- सांस्कृतिक रुचि से कुरुचिपूर्ण वातावरण के निर्माण करने वाले।
५- जीवन उठान योजना की दृष्टि से अभावग्रस्त।

१९. द्वितीय व चतुर्थ निष्कर्ष वस्तुरूप में एक ही बात के पुनरावर्तक है। भट्ट जी द्वारा कथित पुरानी हिन्दुआनी की झलक का अभाव भी इसी तथ्य से अनुग्रस्त है। तीसरा व पांचवा निष्कर्ष भी एक ही तथ्य पर आधारित प्रतीत होते हैं, जिसे भट्ट जी ने नाटक की उद्देश्यपूर्णता तथा प्रस्तुत कम्पनियों में उसके अभाव की दृष्टि से विवेचित किया है।

२०. आलोचना से पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पूर्वार्द्ध (१८७१ई० से १९१२ तक) और उत्तरार्द्ध (१९१३-१९३०) युग के रंगमंचीय नाटकों में कला, कुरुचि स्थापन, भाषा की ~~भ्रष्ट~~ प्राण -प्रतिष्ठा व उद्देश्य

१-'पारसी थियेटर' --'हिन्दी प्रदीप, भाग २५, संख्या ६-१२

२-'अब ये पारसी कम्पनियां हिन्दी के नाटक करने लग गई हैं। अच्छे-अच्छे सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक न करके वे सिर पैर के नाटक करवा और लाखों रुपए सीन-सीनरी में नष्ट करके, मेमों को नचाकर जनता के धन और समय का अपहरण करती है।' -- माधुरी, अक्टूबर १९२७

पूर्णता की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है । प्रारम्भिक युग के रचनाकारों के समक्ष नाट्य - रचना का कोई आदर्श नहीं था । व्यापार,व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने व प्रेक्षकों को आकर्षित करने के उद्देश्य से होने वाले नये-नये प्रयोगों ने नाट्य-कला की दृष्टि से किसी स्थायी रूप की प्रतिष्ठा को प्रोत्साहन नहीं दिया । फलत: नाटक विचित्र प्रकार के अजायबघर हो गए । निम्न रुचियों से अपील करने वाले हास्य की स्वतन्त्र रोमांचकारी व शृंगारिक भावों की प्रधानता व इन्हीं की भूमिका पर पौराणिक व ऐतिहासिक कथाओं की अवतारणा,समाज को उन्नत करने वाले भावों के स्थान पर नृत्य,गान,दृश्य,दृश्यान्तर व आकर्षक वेशभूषा के प्रति प्रबल मोह ने इन नाटकों को न केवल कला की दृष्टि से शिथिल व अव्यवस्थित बना दिया वरन् सांस्कृतिक दृष्टि से भी वह हेय रहे । तालिबके के 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि कुछ नाटक अपवाद स्वरूप अवश्य हैं किन्तु फिर भी इनकी कला उत्तरवर्तिनी नाटकों के समक्ष नहीं ठहरती ।

२१. बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से 'बेताब',कथावाचक व आगा हश्र के पौराणिक व सामाजिक नाटकों द्वारा इन दोषों के परिमार्जन व परिष्कार की प्रवृत्ति लक्षित होती है । इसका मुख्य कारण है जनता की मनोभिरुचियों में परिवर्तन । नारी की अद्भुत साज-सज्जा, नवीन व वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त रंगमंच,अलौकिक दृश्य विधान को समानुरूप ढंग में एक लम्बे काल तक देखते रहने के पश्चात् जनता में इनके प्रति अब वह उन्माद न था जो कि पूर्ववर्ती नाटकों में मिलता है । उस समय रंगमंच के अभाव व उसके प्रति अपनी तीव्र ललक के कारण प्रेक्षकों ने उक्त-रंगमंच पर जो कुछ मिला उसे सहर्ष गृहीत किया । किन्तु अब यह स्थिति नहीं रही थी । रंगमंच से परिचय के उपरान्त उसपर पुरानी घिसी-पिटी परम्पराओं के प्रदर्शन से जनता को सन्तोष नहीं था । वह कुछ नयापन चाहती थी । मानव मन की इस मनोवैज्ञानिकता व तत्कालीन धार्मिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन प्रदत्त चेतना ने कम्पनी मालिकों को प्रेरित किया कि वह अपने नाटकों को नवीन परिवेश दें । रोमांस व शृंगारिकता के स्थान पर पुराण एवं इतिहास प्रसिद्ध कथावृत्त,आदर्शों की स्थापना हेतु तदनुकूल पात्रों का निर्माण, तत्त्व दृष्टि से कथा के संगठन में उद्देश्य के आधार पर हास्य

एवं उपकथा का मूल कथा से संयोजन ,धर्म,समाज व राजनीति से सम्बन्धित अनेक बातों का समावेश इसी चेतना का प्रमाण है । नृत्य,गान,दृश्य-दृश्यान्तर व वेशभूषा का प्रभाव अवश्य पूर्ववर्ती नाटकों का ही रहा ।

२२. आधुनिक युग के नाटकों का सी कला प्रधानता का अभाव होने पर भी ये नाटक अव्यवस्थित एवं असंयत नहीं कहे जा सकते । पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक अपने तत्कालीन वातावरण में प्रस्तुत किए गए हैं । कहीं-कहीं सामयिकता एवं आधुनिकता का पौराणिक एवं ऐतिहासिक वातावरण में समुचित सम्मिलन न होने के कारण अवश्य विसंगतियां उत्पन्न हो गई हैं । पात्र अपनी मर्यादा से नीचे उतर आये हैं व वर्तमान धरातल पर उतरते प्रतीत होते हैं । किन्तु इससे किसी सांस्कृतिक कुरुचिपूर्ण वातावरण की उत्पत्ति नहीं मिलती जैसा कि आलोचकों का मत है। वर्तमान समाज के किसी प्रश्न को उठाकर उसके प्रतिपादन में ही प्राय: पात्रों का यह चरित्र स्खलन मिलता है । इन परिवर्तनों के पीछे नाटककारों की सामाजिक चेतना व उद्देश्य विशेष के पुष्टिकरण की भावना प्रमुख है । पौराणिक व ऐतिहासिक नाटकों की रचना का मुख्य उद्देश्य ही यही है कि अपने वातावरण की रक्षा करते हुए व वर्तमान से जुड़कर नवीन संदेश दे । किन्तु सामयिकता का रंग इतना गहरा नहीं हो जाना चाहिए कि ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना हो जाए और वे पुरानी बोतल में नई शराब मालूम हो । आलोच्य नाटककार इस दृष्टि से आलोचना के पात्र हैं कि प्राचीन और नवीन के इस गुंफन में वे प्रतिभा सम्पन्न कुशलता का परिचय नहीं दे पाए । सामाजिक नाटक तो कुरीतियों के निरूपण व उनके परिष्कार की भावना को लेकर ही लिखे गए हैं । अत: कुरुचि को प्रश्रय देने का प्रश्न ही नहीं उठता । कथावस्तु वाले अध्याय की विवेचना के पश्चात् इनपर विषय वैविध्य के अभाव का आरोप नितान्त प्रमूलक है ।

२३. अन्तिम आरोप है उद्देश्य का अभाव जो कि इन नाटकों के विषय में पूर्णत: तथ्यहीन है । रंगमंच तथा नाटक के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को महत्व देने के कारण उद्देश्य एवं आदर्श विशेष के प्रतिपादन को नाटककारों ने अपना मुख्य प्रतिपादन बनाया है । उनकी सभी रचनाओं में <u>कोई न कोई उद्देश्य एवं</u> आदर्श व निहित होता था[१] । कुछ नाटककार तो रचना

१- कथावस्तु वाले अध्याय में इसकी विस्तृत विवेचना की जा चुकी है ।

के लिए प्रारम्भ में ही उद्देश्य सोचकर तदनुकूल वातावरण और कथानक की सृष्टि करते थे। सामाजिक नाटकों में यदि प्रचलित कुरीतियों का निरूपण है तो पौराणिक व ऐतिहासिक नाटकों द्वारा पुरानी रीति-नीति और पुराने इतिहास को दर्शाया गया है तथा धर्म, समाज व राज्य सम्बन्धी अनेक उपदेश दिए गए हैं। भट्ट जी ने नाटकों की उपयोगिता के यही प्रमुख उद्देश्य माने हैं जिनकी परिपूर्ति आलोचना के उपरान्त भी उन्होंने प्रस्तुत नाटकों में स्वीकार की है--'यहां तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी-किसी तमाशे में पुरानी रीति-नीति और हिन्दी का विरोध न था।'

२४. व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों के अध्ययनोपरान्त मेरी व्यक्तिगत धारणा तो यह है कि रंगमंच तथा सामाजिक तत्वों के अतिरिक्त केवल कला की दृष्टि से प्रस्तुत नाटकों की समीक्षा उनके प्रति न्याय संगत नहीं होगी। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनसे इसकी अपेक्षा करना भी उचित नहीं है। नाटककार अपनी अन्तर्मुखी चेतना से समाज से सम्बद्ध है, अतः उससे एकदम अलग हटकर केवल कल्पना के लोक में विचरण करना उसके लिए सम्भव नहीं। तत्कालीन नाटककारों के समक्ष संस्थापकों द्वारा स्थापित वैज्ञानिक साधन सम्पन्न रंगमंच था जिससे वे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित थे व उनकी रचनाएं उसकी रंगभूमि पर अभिनीत होने के लिए ही प्रणीत हो रही थीं। दूसरी ओर विभिन्न आन्दोलनों से उद्भुत सामाजिक चेतना व स्वातन्त्र्य संग्राम की प्रबल भावनाएं थीं। कथावस्तु के लिए सामग्री संचयन में उनकी दृष्टि इसी चेतना की ओर अभिमुख हुई और वे इन दोनों के प्रवाह में इतना बह गए कि अन्य कला तत्वों की ओर उनकी दृष्टि जा ही नहीं सकी। यही कारण है कि इनमें कला का वह सौन्दर्य नहीं मिलता जिसे कि आलोचक आज के नाटकों को दृष्टि में रखते हुए इनमें खोजते हैं व न मिलने पर कुरुचिपूर्ण, भौंडे, अश्लील, अनैतिक और न जाने कितनी उपाधियों से उन्होंने इन्हें मण्डित कर दिया है। यदि थोड़े से धैर्य और पूर्वाग्रह रहित होकर अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि वे उतने बुरे नहीं हैं, जितने कि समझे जाते हैं। इनकी अपनी उपयोगिताएं हैं। प्रारम्भिक मञ्चीय रचनाओं के रूप में

अपनी मान्यताएं हैं और इसी दृष्टि से इसका विवेचन औचित्यपूर्ण होगा। अपने प्रबन्ध में मैंने इस पक्ष को बराबर दृष्टि में रखा है।

२५. रंगमंच की दृष्टि से तो यह काल(१८७३ से १९३०तक) हिन्दी नाटक साहित्य का 'स्वर्णयुग' है। इसके अलावा हिन्दी के पास अपना कोई रंगमंच नहीं। हिन्दी रंगमंच का इतिहास वास्तव में उन पारसी नाटक मण्डलियों का इतिहास है जिन्होंने जाने-अनजाने में हिन्दी भाषा और हिन्दी नाटक के प्रति जनता में रुचि उत्पन्न की तथा जिसके नष्ट होने के साथ ही कुछ फुट-फुट प्रयत्नों के अलावा हिन्दी रंगमंच की परम्परा भी नष्ट हो गई।

-0-

परिशिष्ट -- १

पारसी गुजराती नाटक

१. पारसी नाटक कम्पनियां चाहे वे मनोरंजन हेतु अवैतनिक व औत्सुक संस्थाओं के रूप में रही हों, या व्यावसायिक हों दोनों के ही नाटकीय जीवन का आरम्भ पारसी गुजराती नाटकों से हुआ । 'रुस्तम सोहराब अने बाबुल' (२६ अक्टूबर १८५३) 'बकुयो हार अने बखाइयो ओर'(शनिवार १६ मई १८६८) व 'बेवन मनीजेह(१८६६) नाटक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जो अक्टूबर १८५३ में स्थापित प्रथम अवैतनिक पारसी नाटक मण्डली व १८६८ में निर्मित सर्वप्रथम व सर्वप्रसिद्ध व्यावसायिक विक्टोरिया नाटक मण्डली द्वारा अभिनीत हुए । पारसी रंगमंच वस्तुत: गुजराती रंगमंच है, जिसका आरम्भ बम्बई के गुजराती भाषा-भाषी पारसी सज्जनों ने किया ,जिन्होंने आगे समय की गति के साथ अपने परिवेश को विस्तृत करके उसकी सीमाओं में उर्दू व हिन्दी नाटकों को भी समाहित कर लिया ? यही कारण है कि गुजराती के अतिरिक्त उर्दू व हिन्दी के लिए प्रथमबार इतने सम्पन्न रंगमंच के निर्माण का श्रेय उन्हें मिला जो कि इस अल्पसंख्यक वर्ग की कीर्ति-सम्पादन में भी बहुत महत्वपूर्ण है ।

२. गुजराती नाटकों के प्रणयन कारणों के मूल में जाने के लिए हमें इतिहास को टटोलना होगा । उसके पृष्ठों को पलट कर उसके तथ्यों को सम्यक् रूपेण अंकित करना होगा ।

पारसी और गुजराती भाषा
---

३. अपनी मातृभाषा परशियन छोड़कर पारसियों ने किन कारणों से अभिप्रेत होकर व किन परिस्थितियों में दूसरे देश की भाषा को स्वभाषा के रूप में गृहीत किया प्रथम अध्याय के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा से ये परिस्थितियां स्पष्ट हैं। अपने जरथुस्त्र धर्म की रक्षा के लिए शरणार्थियों के रूप में भटकते ये धर्मभीरु किसी निश्चित व सुरक्षित निवास स्थल की खोज में थे जहां स्वतन्त्रतापूर्वक उन्होंने धर्म-पालन के साथ वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। इसके लिए वे किसी भी प्रकार के त्याग के लिए तैयार थे। यही कारण है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी में भारत आगमन[1] के अपने उन्नीस वर्ष पश्चात (१६ ---------------- वर्ष दिवु द्वीप में रहे) संजान का वातावरण उन्हें अपने अनुकूल प्रतीत हुआ तो उन्होंने वहां के सम्राट जादिराणा (Jadi Rana) की हर आज्ञा को शिरोधार्य किया। भारतीय धर्म और संस्कृति की अनुरूपता में अपने धर्म की स्वरूप-व्याख्या में १६ सूत्रों[2] के प्रस्तुतिकरण द्वारा जहां उन्होंने सम्राट

१- जवाहरलाल नेहरू—'हिन्दुस्तान की कहानी (अनुवादक-रामचन्द्र टण्डन), १९४७, पृ०१७३-१७६।

२- ये १६ सूत्र अधोलिखित हैं--

(1) We are worshipers of Ahur Mazda (अहुर मज़दा Supreme being and the Sun and the Five elements.

(2) We observe Silence while bathing, praying, making offerings to fire and eating.

(3) We use incense, perfumes and flowers in our religious Ceremonies.

(4) We are the worshipers of the Cow.

(5) We wear the Sacred garments, the Sudra or Shirt the Kushti (कुश्ती) or Cincture for the Loins and the Cap of the two folds.

(6) We rejoice in Songs and with instruments of music on the occasion of our marriages.

(7) We ornaments and perfume our wives.

(8) We are enjoined to be liberal in our charities and specially in excavating tanks and wells.

~~(9) We are en~~

(9) We are enjoined to extent our Sympathies towards males as well as females.

(10) We practise ablutions with गो-मूत्र one of the products of the cow.

(11) We wear the sacred girdle when praying and eating.

का दुश्चिन्ताओं का निवारण किया जो कि इन विदेशियों को उनके धर्म, सभ्यता व संस्कृति की रूप-रेखा समझे बिना शरण देने में सशंकित था, वहां उसकी आज्ञा पर अपने पितृों की भाषा छोड़कर इस देश की भाषा गुजराती भी उन्होंने अपना ली,[1] क्योंकि ऐसा किए बिना उनके उद्देश्य की पूर्ति असम्भव थी। लेकिन उनके मुख से निसृत भाषा में गुजराती का शुद्ध और सुसंस्कृत रूप न था, वरन् वह एक मिश्रित भाषा थी, जिसमें गुजराती के साथ ही परशियन शब्दों के भी तद्भव रूप समाहित थे। इनकी भाषा के सम्बन्ध में डा० डी०जी० व्यास की यह संज्ञा 'गुजराती एज़ स्पोकन बाई पारसीज़' (Gujrati as spoken by Parsis) पूर्णत: समीचीन है। प्रस्तुत नाटक की कलात्मक समीक्षा में इस तथ्य की अवहेलना न केवल अनुचित वरन् समीक्षा की दृष्टि से अपरिपूर्णता का परिचायक होगी।

४. अंग्रेजों के नाटकीय प्रयोगों से प्रभावित होकर १६ वीं शताब्दी के मध्य पारसियों ने उन्हीं के अनुकरण में अपनी मनोरंजनात्मक प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए अनेक नाट्य संस्थाओं की स्थापना की, जिन्होंने पारसी गुजराती भाषा के अभिनयों से अपने जीवन का आरम्भ किया। प्रथम अध्याय में इस झुकाव व उसके कारणों की विवेचना हो चुकी है अत: उसकी पुनरावृत्ति न करके यहां नाटककार एवं उनकी नाट्य-कृतियों का अवलोकन विषय की दृष्टि से अधिक संगत होगा।

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या -२ का अवशिष्ट भाग)

(12) We feed the sacred flam with incense.
(13) We practise devotion five times a day.
(14) We are careful observers of conjugal fidelity and purity.
(15) We perform annual religious cremonies on behalf of our ancestors.
(16) We place great restraints on our women during and after their confinement.

१- दोसाभाई फराम जी कारका—हिस्ट्री आफ द पारसीज़ भाग १, १८८४, पृ०३४

५. व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक दोनों प्रकार की कम्पनियों के रंगमंच पर स्थापित होने वाली इस प्रकार की कृतियों एवं कृतिकारों में केखशरु नवरोजी काबराजी अग्रगण्य हैं। इनका जन्म सन् १८४२ में हुआ था। रंगमंच की आवश्यकता-पूर्ति व उसकी अभूतपूर्व सेवा के लिए ही इस साधक ने जन्म नहीं लिया था, वरन् उनके जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य पारसी समाज में फैली कुरीतियों का उन्मूलन करके स्वस्थ एवं सम्पन्न विचारधारा की प्रतिष्ठापना था। इसके लिए उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था से ही 'पारसी मित्र' के द्वारा अपने प्रयत्नों को रूप आकार देने की चेष्टा की जिसने विस्तृत होकर 'जामे जमशेद' और 'रास्त गोफ्तार' को भी अपनी परिधि में समाहित कर लिया। समय व अवस्था के साथ ये प्रयत्न पत्र एवं पत्रकारिता तक सीमित नहीं रहे, वरन् कर्मक्षेत्र में आकर प्रत्यक्ष रूप में प्रतिफलित हुए। वस्तुत: इस समाज-सेवक का जन्म ही समाज-सुधार के हेतु था।

नाट्य-जगत को देन

६. काबराजी ने समाज-सुधार के साथ ही नाट्य संसार और रंगमंच की अपूर्व सेवा की। निम्न क्षेत्रों में आपका योगदान अधिक महत्वपूर्ण है--
(१) रंगमंच केलिए अनेक सफल नाटकों की रचना की जो फिर्दौसी की कथा, पैशदादी कथा, अवेस्ता अथवा हिन्दू कथाओं के आधार पर स्थापित और संगठित किए गए थे। काबराजी ईरानी कथाओं के जितने शौकीन थे, उतना ही हिन्दुओं की धार्मिक कथाओं में भी रस लेते थे। यही कारण है कि अपनी रचनाओं के लिए उन्होंने इन दोनों को ही आधार ग्रहण किया। शाहनामा के आधार पर यदि 'बेजनमनीजेह', 'जमशेद' और फरीदून' नाटकों की रूपरेखा निर्मित की तो रामायण और अन्य हिन्दू कथाओं के आधार पर उसी सफलता के साथ 'हरिश्चन्द्र', लव-कुश', 'सीताहरण' व नन्दबत्रीसी' की रचना की। धार्मिक भावनाओं से परिप्लावित ये अन्तिम चारों नाटक 'नाटक उत्तेजक मण्डली' के रंगमंच से जन दृष्टि के समक्ष आए। अंग्रेजी नाटकों के आधार पर भी काबराजी ने पारसी संसार के लिए भी अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं। 'बूढी बच्चे सोपारी', विनाशकाल विपरीत बुद्धि',

'निन्दाखान,' 'भोला जान', 'काका पाहुलन' अंग्रेजी नाटकों के आधार पर तैयार की गई रचनाएं हैं, जिन्होंने पूर्ववर्ती रचनाओं के समान ही जन-मानस को आकर्षित किया। 'सीता हरण' के रूप में शुद्ध गुजराती में पूर्णगायनयुक्त (Opera) रचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की, किन्तु उनकी यह रचना पूर्ण न हो सकी[1]।

७. कुछ आलोचकों ने काबराजी की कृतियों के रचनाक्रम में उनके 'लव कुश' को द्वितीय स्थान पर रखा है। लेकिन यह धारणा तर्कहीन, तथ्यहीन व निस्सार है। 'नाटक उत्तेजक मण्डली' की नाटकीय गतिविधियों में स्पष्ट किया जा चुका है कि बुधवार २१ मई १८७८ को 'सीताहरण' के पश्चात् काबराजी का 'लवकुश' ६ अगस्त १८७९ को 'एस्प्लेनेड थियेटर' में अभिनीत हुआ। जब कि शाहनामा के आधार पर संगठित इनका नाटक 'जमशेद' इससे पूर्व सन् १८७० में ही 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' में अभिनीत हो चुका था। जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता ने इसी नाटक में जमशेद की बहन अरनवाज के अभिनय द्वारा अपने नाटकीय जीवन का आरम्भ किया था। 'पारसी नाटक मण्डली' ने 'जमशेद नाटक' को कुछ परिवर्तित रूप में 'आलमशाह' के रूप में ७ अक्टूबर १८६३ को और मुसलमानों के विरोध करने पर उसे ही 'आजमशाह' के रूप में २१ फरवरी १८६४ को अभिनीत किया। अतः 'लवकुश' को द्वितीय स्थान (क्रमानुसार) पर नहीं रखा जा सकता।

८ डा० धनजीभाई पटेल ने 'बेजनमनेजेह' से पूर्व काबराजी की एक अन्य कृति 'टानकेड अने देजमीडा' को अभिनीत माना है। आज इसका कोई रूप उपलब्ध नहीं है। काबराजी की प्रसिद्धि का श्रेय उनके 'बेजनमनीजेह' को ही है जो कि सर्वप्रथम विक्टोरिया के रंगमंच पर खिला व जिसने अपनी अभूतपूर्व सफलता से व कम्पनी के नाटकीय जीवन की नींव को अधिक गहराई से स्थापित किया।

९. नाट्य जगत को काबराजी की सबसे महत्वपूर्ण देन है-- रंगमंच पर देशी संगीत की स्थापना के लिए उनके अथक प्रयास। इस समय तक संगीत

१- डा० धनजीभाई न० पटेल- 'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख', १९३१, पृ०७८

को पारसी समाज में वह सम्माननीय स्थान प्राप्त न था जो कि वर्तमान समय में है । इतना ही नहीं, प्रत्युत इस कला को हेय और उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था । काबराजी के कला प्रेमी हृदय ने[36] कमी को अनुभव किया और इसकी स्थिति सुधारने के लिए 'नि:शुल्क संगीत उत्तेजक मण्डली' की स्थापना की । शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित किया व 'ज्ञान प्रसारक मण्डली' की तरफ से हिन्दी संगीत शास्त्र पर तेरह भाषण दिए[1]। रंगमंचीय नाटकों में जो देशी संगीत रहता है, वह काबराजी की ही देन है ।

१०. विक्टोरिया नाटक मण्डली के निर्देशक व नाटक उत्तेजक के मंत्रित्व को अपनाकर काबराजी ने प्रत्यक्ष रूप से भी रंगमंच की सेवा की । शुद्ध आचरण का अभ्यास, व पात्रों को अभिनय सम्बन्धी शिक्षा देना उनकी अमूल्य देन है जिसने रंगमंच पर कई प्रतिभाशाली कलाकारों को जन्म दिया ।

११. यह नाट्य-लेखक व कुशल निर्देशक स्वयं भी 'बेजान मनीजेह' की 'बेनिफिट नाइट' में बेजन के रूप में प्रथम बार रंगमंच पर उतरा । अभिनय सम्बन्धी उनके इस प्रत्यक्ष अनुभव ने रंगमंचीय ज्ञान की परिपूर्णता के साथ उनकी रचनाओं को और अधिक प्रभावपूर्ण व सफल बनाया ।

बहमन जी नवरोजी काबराजी

१२. अपने बड़े भाई केखुसरु काबराजी के समान ही बहमन जी ने नाट्य संसार को 'जमशेद अने शीरीन', 'मोली गुल', 'गामड़ेनी गोरी', 'बागे बहेश्त', 'कलजुग', 'दोरंगी दुनिया', 'जुगार', 'तुरने की', 'व्होरा व्होरा काका', 'भुलो पड़ेलो भाई', 'आपना आप' आदि अनेक रचनाएं दी जो

१- तेरह भाषण क्रमोलिखित हैं:-
(१) देशी संगीत, (२) देशी संगीत विद्या, (३) सुर विद्या, (४) ताल विद्या, (५) राग विद्या, (६) पारसी गायन, (७) पारसी लगनना गायन, (८)गरबा, (९)रागनी सिमीटी, (१०) गायन की भाषा, (११) छोणीना गायन, (१२) बलकारना, गायन, (१३) बहारनी मौसमना गायन ।
डा० धनजीभाई न० पटेल--'पारसी नाटक तख्तानी तवारीख',बम्बई,१६३१
पृ० ७७

समय-समय पर विभिन्न कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत हुई । 'गामड़ेनी गोरी' कावसजी खटाऊ की 'अल्फ्रेड नाटक मण्डली' व 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' दोनों में अभिनीत हुआ। गांव की गोरी के रूप में एक अंग्रेज महिला मिसमेरी फेंटन का अभिनय इसमें अद्भुतपूर्व था । उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त आपकी 'फरामर्ज कुवरी परावेहर', 'पाका जेह प्यार', 'बफापर जफा', 'हल्का कुना संकटो', 'मुटरयामा फुटया' आदि रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं । ये सभी अभिनय के लिए संरचित हुई थीं । अत: रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में ही इनका मूल्यांकन करना उचित होगा ।

१३. ऐदल जी जमशेद जी खोरी ने 'रुस्तम सोहराब', 'जालेम जोर', 'जांगीर', 'सोदावधा', 'हकुम बाद अने ठगननाज़', 'गुलबकावली', 'सोनाना मुलनी खोरशेद' व 'अबुलहसन' आदि अनेक पारसी गुजराती नाटक तैयार किए जो समय-समय पर विक्टोरिया, अल्फ्रेड और पारसी नाटक मण्डली के रंगमंच से जन-दृष्टि के समक्ष सफलतापूर्वक आए । 'सोनाना मुलनी खोरशेद', 'कामावती' नामक प्रसिद्ध हिन्दू कथा पर लिखा गया नाटक था । इसको 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' के निर्देशक दादा भाई सोराब जी पटेल ने 'रास्त-गोफ्तार' पत्र के मालिक सेठ बेहराम जी फरदून जी मर्जबान से हिन्दुस्तानी में रूपान्तरित कराकर व अपनी कम्पनी के रंगमंच से निकाल कर प्रथम उर्दू नाटक के अभिनय का श्रेय लिया ।

<u>अन्य नाटककार</u>

१४. उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त 'जामे जमशेद' के अधिपति अरदेशर बेराम जी पटेल ने 'काका मामा कहेवाना अने गांठ होय ते खावाना', 'सुनेली शीरीन ठेकाणे केम आवी', 'नवीबाई विरुद्ध जूनी बाई', 'तकदीरनी तासीर' व 'अलावी' नाटक लिखे । 'तकदीरनी तासीर' बाटली वाला की 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' में खास पारसी त्यौहार के लिए लिखा था[१]।

१- कन्हैया लिया धना बाराबाह हरीफ-'पारसी नाटक तख्तो', १९५०, पृ०२७

खरशेद जी अमन जी फरामरोज का 'शाहजादा शियावश' अल्फ्रेड नाटक मण्डली में लिखा। मोबेद माणेक जी खैरिया अपने 'पानचन्द कपूरचन्द', 'घोड़ी गाय छे' व 'होली' जैसे प्रहसनों के लिए प्रसिद्ध हुए। जहांगीर जी पेस्तन जी खंभाता ने 'हिन्दुस्तान अथवा' ,'मैड हाउस' 'माको मील', 'कोहियार कन्फ्यूजन', 'टीट पर टाट याने स्सरा कमाई हाथों हाथ', डा० नशरवान जी नवरोजी पारख ने सन् १८७२ में 'सुलेमानी समशेहर उर्फ निर्दोष नूरानी' तथा १८७४ में 'फरुखफर और सलीम' व 'पाकदामन गुलनार' नाटक 'एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब' के लिए लिखे।

१५. बन्देहुदा ने 'यकदे जर्द शहेदा यार', 'बरजेर म्हैरे सोमान औफार', 'खुशरो शीरीन', नाना भाई रुस्तम जी राणीना ने -- 'काणा मेंठा', 'होमलो हाऊ', 'नाजा शीरीन (फार्स), 'अहमाल जर (फार्स) 'रती रातोभत्री', करणी तेवा पार उतरणी', कामेजी आपा ररख ,'कवि फिरोज बाटलीवाला ने --'नैक बख्त तेहमाना', 'सरीदेलो सावीन्द', डा० धनजी भाई नशरवान जी पटेल ने 'खबली शैतान' ,'फेराउन', 'तुफान', 'लैला', 'रुस्तम सोहराब(ओपेरा)' ,'हातीम', खरशेद जी अमन जी फरामरोज ने --'रती मदन' 'रणवान्दनी खातर', 'सिविल मैरेज', 'बेरोनेटनो बेटो' ,'मुश्किल आसान', रास्ता-सीज, रीतनी टील', 'कांमे आवाज', मैजिक म्हेल्ली (फार्स) 'जवानी नी हवा', 'भुठी जात', 'मफतनी मिसिस', 'कुंवर जी नाजर ने कजुक कन्या ने लिखेला परण्या' खरशेद जी मेरवान जी बाटलीवाला ने 'असलाजी' 'मारी बध्नानो गलेबन्ध' (फार्स) 'गुस्तान थामर (फार्स) मक्कब बेहरो (फार्स) रतन जी शेठ जी ने 'पाकजाद परीन' 'कानी छोडी' सोदागर सबर', 'रोशन वैराग', 'दिनदार दीना', 'गुलअजरो', रमता पंखी', 'कुलथाप', जांगीर पटेल ने 'टोपसी वर्गी (फार्स) 'कांटानु कटेसर', 'पाताल पानी', 'फांकड़ी फकीरी' ,'मस्तान मनीजेह, 'व खाउजी' (फार्स) 'कलो जमास्प' ,'पेरनो गवण्डर' (फार्स) 'ममतो भूत', 'कुंवारु मण्डवा', 'कानपोरी' ,'बाण नो कुंवारो' ,'मारो मारी' (फार्स) 'मधरातनी परोणो (फार्स) ,'पीरोजशा जांगीर ने --'अफलातून', 'मांकनन्दरान', मस्बई महारो', 'कलो जमास्प', हिन्डलम बैक माई', एदु कोलेबर ने --'दुखियारी बहु', 'पैसानो पैसा, सोराब जी पोचखानवाला ने 'खुशरो सकीरीन' 'यम,बेर्द्र शेहरी यार', डा० जांगीर वाडीया ने 'पारसी हरिश्चन्द्र (पैरोडी)' 'पस्तायेलो पारसी', छोटाणामो गोथ' . लैला मजनु(पैरोडी) पेस्तन जी कापड़िया ने --'बेजन बरदान' जांगीर

इंजीनियर ने 'खूबसूरत बला', 'बीरे गैर इंसाफ', 'दु:खी दादाबा', फांठो पैमास्तर ने 'किस्मत', निर्दोष, धनजीशाह मेहता ने 'धर्मजय', 'दारा कापड़िया ने 'रोशन' शौरम जी मौदी ने 'निर्दोष राजा' अटो मर्जबान ने 'लगननी गांठ' 'काका जी औ काका जी', आफतमा अंकुरो', मीनू नरीमान ने 'नसीब' 'कनफ्यूजन' नशरवान जी बाच्छा ने 'सत्ता ने बुद्धि नाठी', जहांगीर ने 'जुरे छे जी पैसा वहेर', 'महेल्लो मदारीनु मैसमैरीज्म', डोसाभाई गौरखवाला ने 'श्रम गरीबनी बेटो', 'दारब शेठनी दीकरी', फराम कबारा' ने 'निराधार', दौराब आर० मेहता ने 'गरीबी तारो गुनाह', 'चिराग', केखशरू संजाणा ने 'जंगलनु गोलाब', 'शाहजादा रुस्तम', 'पारसी पिरोजा', बेहराम ईरानी ने 'बलिदान' आदि नाटक लिखे।[1] इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत से पारसी गुजराती नाटक कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत हुए।

अंग्रेजी नाटकों के आधार पर रचित नाटक

१६. उपर्युक्त रंगमंचीय नाटकों के कथानक अधिकांशत: शाहनामा, अरेबियन नाइट्स व ईरानी तवारीखों से लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त नाटककारों की दृष्टि अंग्रेजी नाटकों की दृष्टि अंग्रेजी नाटकों की ओर भी गई व भारतीय प्रेक्षक वर्ग को इन रचनाओं से परिचित कराने के लिए उन्होंने शेक्सपियर व शेरिडन आदि अंग्रेज नाटककारों की कृतियों के अनेक गुजराती रूपान्तर प्रस्तुत किए।

१७. इस दृष्टि से स्वनामधन्य अंग्रेज नाटककार शेक्सपियर अधिक लोकप्रिय हुए। उनकी रचनाएं ही सर्वप्रथम इस रंगमंच पर प्रस्तुत हुईं। न केवल पारसी गुजराती भाषा में वरन् उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी भाषा में भी शेक्सपियर की रचनाओं के ही रूपान्तरित रूप बहुतायत से अभिनीत हुए। 'पारसी नाटक मण्डली (अवैतनिक) ने २७ मई १८५७ को 'टेमिंग ऑफ द श्रू' को (गुजराती में)

१- शियावक्ष दाराशाह दरौक -- 'पारसी नाटक तख्तो', १९५०, पृ० ८६-८७।

सर्वप्रथम अभिनीत करके शेक्सपियर को पारसी नाटक कम्पनियों के रंगमंच पर प्रस्तुत करने का श्रेय लिया । इसके पश्चात् तो इस नाट्य मण्डली ने १८५७ को 'कॉमेडी ऑफ एररर्स' (Comedy Of Errors) व २९ नवम्बर १८५८ को 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' आदि अनेक नाटकों का अभिनय किया ।

१८. शेक्सपियर के अतिरिक्त अन्य अनेक अंग्रेजी नाटककारों की कृतियां भी जब-तब कम्पनियों के रंगमंच पर आईं । बहमन जी नवरोजी काबराजी ने अपने 'भोला गुल', 'बागे बहेश्त' व 'ज़ुगार' - नाटकों को हेनरी वुडनी के 'इस्टलीन' शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' (Cimbalien) तथा एक अन्य अंग्रेजी नाटक 'गैमिस्टर' (Gamester) के आधार पर संगठित किया था। 'भोला गुल' की वार्ता पर केखशरू काबराजी ने अपने 'हुशियारी बबु' नाटक की रचना की जो फरामजी अप्पु के 'प्रोफेसर' (के निर्देशन में सफलता के साथ 'गोइटी थियेटर' में अभिनीत हुआ । रहु कौटेज़र का अभिनय इस नाटक में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण था । कहा जाता है इसी वार्ता पर आगे केखशरू काबराजी ने अपने 'हुशीा गुल' नाटक को रूपायित किया[१]।

१९. केखशरू नवरोजी काबराजी ने भी अपने अनेक नाटकों का आधार, अंग्रेजी नाटकों को बनाया । उनका 'निन्दाखानु', शेरिडन के 'स्कूल फॉर स्केण्डल' (School For Scandal), 'भोली जान' बसिकॉल्टन के कौलिन बाउर्न (Collin Bawan), 'शुद्दी बन्धे सोपारी' (वाफु रेयु दे आर मेक्स रयु दे मेट), 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' (हट ऑफ द रेड हिल माउण्टेन) के आधार पर संगठित हुए । 'भोलाजान' अथवा 'धनजु धान' नामक त्रिअंकी नाटक सर्वप्रथम विक्टोरिया नाटक मण्डली द्वारा २५ अक्टूबर १८६७ को अभिनीत हुआ ।

२०. नशरवान जी खान साहब 'आराम' ने शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' पर 'आलमगीर', 'किंगलीयर' पर 'बागो बहार' व मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' के आधार पर 'कांबख्त' नाटकों की संरचना की । इन तीनों का

१- धनजीभाई दादाभाई श्रॉफ - पारसी नाटक तख्तो, कैसरे हिन्द प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९५०, पृ०४२ ।

कृतियों का निर्माण विक्टोरिया नाटक मण्डली के लिए किया गया था ।

२१. शैरिडिक्न के 'पिजारो', शेक्सपियर के 'टेमिंग' ऑफ द श्रू' (Taming of the Shrew), 'सिम्बेलीन और औथेलो' के आधार पर 'जालैमजोर', 'शाहजादा शियावर्श' और 'जुल्मेनारवां' नाटक विभिन्न कृतिकारों द्वारा संगठित किए गए । 'जालैमजोर' की रचना सन् १८७६ में 'जौराष्ट्रियन नाटक मण्डली' के लिए हुई और इसी कम्पनी द्वारा ग्रांट रोड के शंकर सेठ थियेटर में यह अभिनीत हुआ । 'जुल्मे नारवां' 'जहांगीर जी पैस्तन जी खंभाता की अपनी 'एम्प्रैस नाटक मण्डली' के टीमोली थियेटर के रंगमंच पर खिला । ऐदल जी जमशेद जी खोरी के हास्य प्रधान नाटक 'हाजमबाद अने ठगननाज़' की रचना शेक्सपियर के विविध नाटकों के कुछ चुने हुए दृश्यों के आधार पर हुई जैसा कि लेखक ने स्वयं कृति की प्रस्तावना में व्यक्त किया है --'आ हजमबाद अने ठगननाजनी खेल रचवामां में पैला नामांकीत कवि सेक्सपीअरनी घणेक ठेकाणे मदद लीधी छे । तेना मनोरंजक नाटकोनी मतलब मारा मनमां रमी रही वाथी ते मतलबोने अनुकृण आवतु रुखाण लावना मारा नवा नाटकमां कीधु छे ।'[1]

२२. वस्तुत: अन्य अंग्रेजी नाटककारों की सापेक्षता में शेक्सपियर की रचनाएं इस दृष्टि से अधिक सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुईं । उनके 'रोमियो जूलियट', 'हैमलेट', 'औथेलो' स्वतन्त्र रूप से विभिन्न कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत हुए । 'ओरीजिनल एलफिन्स्टन' कुंवर जी सोराब जी नाजर की 'एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब', 'पारसी विक्टोरिया आपेरा ट्रुप' व 'शेक्सपियर नाटक मण्डली' तो इसी उद्देश्य को लेकर आविर्भूत हुई थीं ।[2] शेक्सपियर की विभिन्न रचनाओं के ये पारसी गुजराती रूपान्तर अधिकांशत: सन् १८५७ से १८८० के अन्तराल में कम्पनियों के रंगमंच पर प्रस्तुत हुए । बहमन जी नवरोजी ने सन् १९०१ में 'सिम्बेलीन' के आधार पर 'बानो बहेरत' की रचना करके इस

१- ऐदल जी जमशेद जी खोरी --'हजमबाद अने ठगननाज़' (४ अंको) बहराम जी फरदून जी कम्पनी, बम्बई, ६-११-१८७१ , प्रस्तावना ।

२- इन नाट्य मण्डलियों की गतिविधि का विवेचन द्वितीय अध्याय में हो चुका है । अत: वहां द्रष्टव्य है ।

काल सीमा को काफी विस्तृत करने की चेष्टा की । यह नाटक १४दिसम्बर १९०९ को `पारसी नाटक मण्डली` में अभिनीत हुआ था किन्तु इसके साथ ही बहमन जी काबराजी व अन्य कृतिकारों के इन स्थानान्तरित रचनाओं को स्थापित करने के प्रयास समाप्त हो गए ।

गुजराती नाटक

२३. नाट्य-कला को व्यापारिक धरातल पर लाने वाले पारसी सज्जनों ने अपनी मनोवृत्तियों की प्रेरणा के साथ अधिकाधिक धनोपार्जन के लिए विविध नए नाट्य-प्रयोग किए । गुजराती भाषा के शुद्ध रूप में नाटकों का अभिनय भी एक ऐसा ही प्रयोग था, जिसकी प्रतिस्थापना के मूलभूत निम्न कारण थे अथवा निम्न परिस्थितियों ने इन अभिनयों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया --

१- रंगमंच पर नवीन नाटकीय विधियों और नाट्य-प्रयोगों के प्रस्तुतिकरण की प्रवृत्ति ।
२- सन् १८७१ में `सोने के मूल की खोरशेद` के उपरान्त उर्दू नाटकों का बाहुल्य ।
३- शाहनामा, अवेस्ता व अरेबियन नाइट्स के आधार ग्रहण के कारण मुस्लिम समाज और जीवन की झलकियों के प्रभुत्व के कारण नाटकीय वातावरण में परिवर्तन ।
४- उर्दू नाटककारों के आगमन के कारण भाषा की दृष्टि से पारसी नाटककारों की स्थान-रिक्तता ।
५- समय और युग की मांग पर अपनी कलाकृतियों के परिवेश में सीमित वर्ग के स्थान पर विस्तृत जीवन को अपनाने व भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण जीवन को सामने रखकर सामाजिक आदर्श के निर्माण की प्रेरणा ।

२४. इन्हीं सब कारणों और परिस्थितियों से प्रेरित होकर कुछ पारसी और हिन्दू सज्जनों ने केखुसरू काबराजी के मंत्रित्व में सन् १८७५ में `नाटक उत्तेजक मण्डली[१]` की स्थापना की कम्पनी-के जिसने रणछोड़ भाई उदयराम

१- पूर्ण नाटकीय विवरण द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है।

और नर्मदाशंकर की अनेक रचनाओं का अभिनय किया । चूंकि ये रचनाएं साहित्यिक गुणों से सम्पन्न थीं और भाषा भी इस दृष्टि से कुछ दुरूह थी अत: कावराजी ने अपनी कलम का रंग देकर उन्हें तत्कालीन रंगमंच के अनुकूल ढाला व यत्र-तत्र गीतों की संयोजना की । इस रंग के कारण ये कृतियां विशाल प्रेक्षक वर्ग की मनोरंजनात्मक रुचि को सन्तुष्ट कर सकीं व नाटकीय तकनीक की दृष्टि से रंगमंच पर भी पर्याप्त सफल व सिद्ध हुईं । स्वयं केख केखशरू कावराजी ने `लव कुश`, `सीताहरण`, `नन्दबत्रीसी` आदि अनेक धार्मिक रचनाएं इस कम्पनी को समर्पित की व उनका निर्देशन किया ।

२५. इस प्रवृत्ति की उद्भावना व बीजारोपण का श्रेय श्री कुंवर जी सोराब जी नाज़र को है जिन्होंने `नाटक उत्तेजक` की स्थापना से पूर्व ही अपने `एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब` में प्रसिद्ध हिन्दू कथा के आधार पर लिखे `करणघेलो` नाटक का अभिनय किया । चूंकि नाटक विशुद्धत: धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण था अत: उसे उसकी सफलता में (नाटक की आत्मा को उभारने के लिए) सफलतापूर्वक खेलने के लिए नाज़र जी को पारसी अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिए ब्राह्मणों और पुरोहितों की नियुक्ति की व्यवस्था करनी पड़ी , जिससे कोई भी बात हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के विरोध में न उठ खड़ी हो । नाटक में श्मशान तक की प्रक्रियाएं प्रस्तुत की गयी थीं । किन्तु यह परम्परा `नाटक उत्तेजक` के क्यक्क० के प्रयासों के के उपरान्त भी अधिक न चल सकी कारण शुद्ध गुजराती व पारसी गुजराती नाटकों के कला , संस्कृति एवं भाषा सम्बन्धी आदर्शों में पर्याप्त भिन्नता थी । अत: गुजराती नाटकों ने पारसी रंगमंच से अलग होकर अपनी नाट्य कम्पनियों की स्वतन्त्र रूप से स्थापना की[1] । सन् १८७८ में `आर्य सुबोध` नाटक मण्डली, सन् १८८५ में `मुम्बई गुजराती नाटक मण्डली`, १८८९ में `देशी नाटक समाज` आदि नाट्य संस्थाएं इसी प्रतिक्रिया में अस्तित्व में आईं । अन्य बहुत सी नाट्य मण्डलियां भी आविर्भूत हुईं , जिन्होंने गुजराती रंगमंच को काफी सम्पन्न बनाया । किन्तु

१- वासुदेव नन्दनप्रसाद —`भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच`, शोधप्रबन्ध पटना विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, १९५६, पृ० ३०७

इनका जन्म हुआ था पारसी रंगमंच व पारसियों के सहयोग से ही । बाद में भी पारसियों ने इन गुजराती कम्पनियों में रहकर गुजराती रंगमंच की पर्याप्त सेवा की ।

२६, सच तो यह है कि हिन्दुओं और पारसियों के पारस्परिक सहयोग से ही आलोच्य नाट्य-कम्पनियां संचालित हुई थीं । यदि अमृतलाल केशव नायक, वल्लभाई केशव नायक, मास्टर मोहन व मास्टर निसार जैसे भोजक और ब्राह्मण युवकों ने पारसी सेठों द्वारा संचालित कम्पनियों में अपने अभिनयों से प्राण फूंके तो गुजराती कम्पनियों को भी पारसी सज्जनों का पर्याप्त सहयोग मिला जिससे लाभान्वित होकर इन कम्पनियों ने अनेक हिन्दी-उर्दू नाटकों का भी अभिनय किया । 'देशोदय नाटक कम्पनी' का शम्स रचित 'लैला मजनूं', रहमत अली का 'मोहब्बत का फूल', 'बेताब' का 'कृष्ण सुदामा', 'ज़हरी सांप', राधेश्याम 'कथावाचक' का 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद', अनुवादक चिम्मनलाल मारवाड़ी का 'सती सुलोचना', रमाकान्त संगीत नाटक मण्डली का 'कृष्ण सुदामा', 'ज़हरी सांप' (बेताब रचित), 'दानवीर कर्ण', 'मोहब्बत का फूल', 'नवीन देशी नाटक समाज' का विनायक प्रसाद 'तालिब' रचित 'हरिश्चन्द्र', 'आर्य नैतिक नाटक समाज-का विनायक प्रसाद 'तालिब' रचित 'हरिश्चन्द्र', 'आर्य नैतिक नाटक समाज' का अब्बास अली कृत 'श्रीमती मंजरी', 'लक्ष्मीकान्त संगीत नाटक मण्डली' का मुंशी 'नाज़र' रचित 'नूरे एशिया' और 'मेरा ईमान', शम्स का 'अरब का सितारा', भारत कम्पनी का 'भूल भुलैया', 'ज़हरी सांप', 'श्रीमती मंजरी', 'अंधेरे दिये', 'खूने नाहक', 'सैदे हवस', 'हरिश्चन्द्र' (तालिब का), 'सती अनुसूया', 'दुर्गादास', 'परिवर्तन' 'इन्दरसभा', 'शीरीं फरहाद', 'बभ्रु वाहन', 'दग़ाबाज़ दोस्त', 'आफत का हीरा'[1] आदि हिन्दी और उर्दू नाटक हैं, जिन्हें गुजराती कम्पनियों ने समय-समय पर सफलतापूर्वक अभिनीत किया । पारसी और हिन्दुओं का यह समन्वय भाषा की एकरूपता के कारण ही सम्भव हो सका । सन् १८५३ से १८७० तक के पारसी गुजराती नाटकों की सुरुचि सम्पन्नता जब १८७१ में हिन्दुस्तानी नाटकों के उद्भव के साथ पतनोन्मुख होने लगी तो उस की प्रतिक्रिया में उपर्युक्त गुजराती नाट्य कम्पनियां आविर्भूत हुईं ।

१- श्रीमती विद्यावती 'नम्र'—'हिन्दी रंगमंच और नारायण प्रसाद 'बेताब' शोधप्रबन्ध, १९६७, पृ०७१-७३ ।

विशेषताएँ

२७. पारसी गुजराती नाटकों की समीक्षा से पूर्व उनके नाटककारों व अभिनेताओं की नाट्य सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन अत्यावश्यक है । उनके दृष्टिकोण को भली भांति समझे बिना कृतियों का समुचित मुल्यांकन नहीं किया जा सकता और न ही कृतिकारों के प्रति पुर्ण न्याय सम्भव है । किसी भी रचना के संगठन में तत्कालीन परिस्थितियों के साथ रचयिता के व्यक्तित्व और विचारों का महत्वपूर्ण योग रहता है ।

(१) २८. ये सभी सुशिक्षित , सुसंस्कृत व उच्च घरों के सम्पन्न नाटककारों की स्वतन्त्र इच्छा व मनोरुचि की प्रेरणा से प्रणीत रचनाएं थीं, जिनके ऊपर कम्पनी मालिकों का कोई निश्चित अंकुश नहीं था[1]।

(२) २९. इन नाटककारों के लिए नाट्य-साधना एक सहज सुगम कार्य न होकर एक कठोर तपस्या थी,जिसके लिए अथक परिश्रम वांछित था[2]।

(३) ३०. कृतिकारों के लिए रंगशाला केवल मनोरंजन का उपादान ही नहीं, वरन् शिक्षा प्राप्ति का केन्द्रस्थान थी, जैसा कि जहांगीर जी पैस्तन जी संभाता ने अपने 'सुदान -अंधड़ी' की प्रस्तावना में स्पष्ट शब्दों में उस समय की धारणा को व्यक्त किया है --' नाटक एक नीतिनी नीशाण है .... कारण

१- ' उस समय पारसियों के मन में नाटक के प्रति इतनी रुचि थी कि खा पीकर वे नाटक लिखने बैठ जाते थे । किन्तु उनके लिए यह कला आज के समान हल्की नहीं थी ... इसी से स्टेज पर आज भी उनका नाम व कीर्ति अमर है । -- शियावक्ष दाराशाह हसैन्फ शरीफ--'पारसी नाटक तख्तो' १९५०,पृ० १० ।

२- जहांगीर जी पैस्तन जी संभाता ने अपने 'पैड़ हाउस' में रुस्तम बेरिस्टर के निम्न शब्दों में इस कला-साधना के प्रति अपने ये भाव व्यक्त किए हैं--
'जेम[एक] बेरिस्टर ' थवा माटे बचपण थी केळवणी लेवी पड़े छे, जेम ' डोक्टर ' थवा माटे लांबा वरसनो अनुभव मेळववो पड़े छे,जेम सीवालियन थवा माटे केटला अघरा बेमावो उठलवंवा पड़े छे तेटलुंज महाभारत अने मुश्केल काम नाटक छे, अने ते हवे मारा नजर आगण प्रकट देखायछे ।'
-- शियावक्ष दाराशाह शरीफ--'पारसी नाटक तख्तो' , १९५०,पृ०४६

नाटकमां रमुज साथे नीतिमा बोध वानी शकाय छे । नाटक तत्त्वो अेवी जगा छे के ज्यां तमो तेरह कीसमना माणसोना, विचित्र प्रकारना, कीसम कीसमनां मुसाओं अने स्वभावो तेना सराम्पूरंगमा जोई शको छो । नाटक तत्त्वो एक अेवी जगा छे के जे ऊपर भजता बनावो जोया पछी जोनारना मन पर अेवी असर थवा पावे छे अने गोया तेना दिलनी अन्दर अेवी आकर्षित गति उत्पन्न थाय छे के ते पोताना दिलमांथी बदी ने दूर करीं नेकी अखत्यार करे छे ।' क मनोरंजन के साथ ऊशिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य पर बल देने के कारण पारसी नाटककार कलागत सौन्दर्य का बारीकियों पर पर्याप्त ध्यान न दे सके ।

(४) ३१. अभिनेताओं के लिए रंगमंच उनकी कला का कसौटी था । इसी से उन्होंने अपनी अभिनय-कला को अधिकाधिक सम्पन्न और प्रौढ़ बनाने की चेष्टा की । कीर्ति अर्जन, पत्र-पत्रिकाओं में सम्मानपूर्ण उद्‌बोधन और अपने चित्रों का प्रकाशन -- इतना ही उनका ध्येय नहीं था । वरन् इस कला को उन्होंने गम्भीर भाव से ग्रहण किया जिसका आगे निरन्तर ह्रास होता गया और यह अभिनेताओं के लिए मात्र आजीविका का साधन बनकर रह गई । 'वस्तुत: बालीवाला, सोराब जी ओग्राम जैसे हास्य कलाकार, कावस जी खटाऊ व जहांगीर जी खंभाता जैसे स्टेज के योगी, दादाभाई रतन जी ढूँढी और हीरजी भाई अस्पन्दीयार जी खंभाता जैसे निर्देशक अपनी मृत्यु के साथ ही पारसी स्टेज को सदा के लिए ले गए ।

<u>समीक्षा</u>

३२. समीक्षा से पूर्व निम्न तथ्यों पर दृष्टि रखना आवश्यक है --

१- कोई निश्चित नाटकीय आदर्श इनके समक्ष नहीं था । अंग्रेजी नाटकों से नाटककार अवश्य प्रभावान्वित हुए किन्तु वे भी ह्रासोन्मुख काल की ही रचनाएं थीं ।

२- नाटक के प्रति उनका दृष्टिकोण कलागत से अधिक मनोरंजनात्मक और

शिक्षात्मक था[१]। डा० डी०जी० व्यास के अनुसार पारसियों ने नाटक को साहित्य की एक शाखा के रूप में नहीं गृहीत किया जो मात्र पठन-पाठन की सीमाओं में आबद्ध हो वरन् मनोरंजन के साथ ही उन्होंने इसे अपने समाज में फैली कुरीतियों के परिष्कार व स्वस्थ विचारधारा के प्रसारण के साधन रूप में भी अपनाया।

३३. भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक पारसी गुजराती कृतियों को भद्दी, शिथिल व कृत्रिमतापूर्ण मानकर आलोचकों ने इनकी अवहेलना और उपेक्षा की है। यह सत्य है कि इनमें भाषा-सौष्ठव का अभाव मिलता है, क्योंकि गुजराती पारसियों की अपनी मातृभाषा न होकर अपनाई हुई भाषा थी। उसके पूर्ण शुद्धरूप से भी वे सामान्यतया परिचित न थे। उनके मुख से निःसृत भाषा में दोनों का (परशियन व गुजराती) एक मिश्रित रूप निहित था। भाषा का यह रूप ही हमें इन रचनाओं में उपलब्ध होता है। किन्तु नाटकीयता का कहीं भी अभाव नहीं है। घटनाओं और परिस्थितियों की मूर्तता के साथ भाषा पूर्णत: ओज और सौन्दर्य से युक्त है। पात्रों के चरित्र के से उसका पूर्ण सामंजस्य है। हां, उसमें सौन्दर्य की बारीकियां अवश्य उपलब्ध नहीं। बहमन जी नवरोजी काबराजी ने अपने सामाजिक नाटक 'आपना आप' में पुत्री जाल की मनोवेदना और 'डोम' द्वारा दी सांत्वना को कितनी पूर्णता के साथ अंकित किया है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है --

जाल-- (घणां दु:खथीं)' पण हींमत ते केम राखु ? काले मारा लगन छे न वे बरने वास्ते पैसो बाबाओ आपेला बीस हजारना दागीना सहवार सुधीमां महारा हाथमां नहीं आवे तो महारा लगन जरूर भागी परशे।

डोम-- (हसीने) --'केलो छे केलो। लगन, कांवे भागी परे। बीस हजार रूपाड़ीने वास्ते ? बीस हजार ? बीस हजार मां दम शुं बरयोच ? केम ते शुं हुं छे कब मुजी पुरयोय के ? हुं तारो दोस्त थयोव वे शुं तारे जोखवे थोड़े पीवानोंच के'।[२]

१-Rational entertainment in which popular amusement was combined with moral instruction and intellectual culture' Prince Albert.
खेरशदजी नवरोजी काबराजी के 'जमशेद' नाटक की भूमिका। जून १९६०.

२- [illegible]

३४. तुकान्त पद्यात्मक संवाद, हल्के-फुल्के गीतों की बहुलता व अपने अशिष्ट भौंडे हास्य के कारण पारसी रंगमंच तीव्र आलोचना का शिकार बना। किन्तु पारसी, गुजराती नाटकों की स्थिति इस क्षेत्र में पर्याप्त भिन्न है। गीतों की योजना तो इन प्रारम्भिक नाटकों में उपलब्ध ही नहीं होती। "एक जमानामां नाटकना शौकीन सज्जनो नाटकमां म्युजिक अमेज थयलु जोवा नाराज़ हता। अने ते कारण नाटकमां म्युझीक दाखल करवानी लेखको काण जा राखता हता नहीं"[१]। बाद में केखशरू काबराजी के अथक प्रयासों के फलस्वरूप देशी संगीत को नाटकों में स्थान मिलने लगा जो कि विभिन्न राग-रागिनियों के रूप में प्रस्तुत किया गया[२]। इसी परम्परा को गुजराती नाट्य कम्पनियों ने भी अपनाया। लेकिन दोनों ही आगे अपने इस उद्देश्य का पालन न कर सकीं। पारसी रंगमंच पर तो बहुत शीघ्र ही अशिष्ट व हल्की फुल्की गज़लों की भरमार हो गई।

३५. उपर्युक्त रंगमंचीय नाटकों के अन्त में समाज-सुधार के उद्देश्य से कॉमिक अभिनीत होते थे, जिनका मूल कथा से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता था। ये अपने उद्देश्य में पूर्णतः सामाजिक थे। सन् १८५३ में 'पारसी नाटक मण्डली' के 'रुस्तम सोहराब' अने बाझुजी' के साथ सत्य कथा पर आधारित धनजी गरक पहस्न से कॉमिक की इस परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसके पश्चात् तो लगभग प्रत्येक नाटक में इसका अनुसरण किया गया। वस्तुतः पारसियों ने विष्णुदास भावे की 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर अथवा सांगलीकर नाटक मण्डली' से इस परम्परा को ग्रहण किया जिन्होंने अंग्रेजी नाटकों के अनुकरण में अपने यहां भी फार्स पद्धति प्रारम्भ की थी। स्पष्ट है कि आलोच्य रंगमंच पर यह पद्धति अप्रत्यक्षतः अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव में आई। किन्तु धीरे-धीरे ये पारसी नाटककार

१- 'खुदीन फरखुंदी' नाटक की प्रस्तावना में जहांगीर संभाता का मत।

२- केखशरू काबराजी के 'बमशेद' के राग भैरवी का गीत उदाहरणस्वरूप--

ना फेंकुंगी ना फेंकुंगी बागबानी दुनियां-- वे राह पर
बागबानी, बागबानीमां अमारी दुनीयां
बागबीबोसां बतावे बाहुमान सुणीया बागबानी
बेहदी बीबाखीये बुदरती बेसी,
. पदेबसोना पेशकानी मान साथ बानीयां--बागबानी
अंक १, दृश्य १, पृष्ठ ३१

अपने उद्देश्य से पतित होने लगे और उनके प्रहसन 'हल्के फुल्के मजाक तथा उगड्डी बाजों के ढोंग तमाशे' मात्र बनकर रह गए, जिसमें उनके समाज-परिष्कार का उद्देश्य पूर्ण तिरोहित था। नाटककारों ने अनुभवों की प्रेरणा से अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसे दर्शन (*Philosophy*) को प्रस्तुत किया है जो जीवन और जगत की सत्यता का भास कराते हैं।

परिशिष्ट -- २

-०-

उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी नाटक

१. व्यावसायिक नाटक कम्पनियों का स्वरूप सदैव एक-सा नहीं रहा। अपने उद्भव के समय ये पूर्णत: पारसी व्यवस्थापकों एवं कार्यकर्ताओं के आधिपत्य में संचालित थीं-- जहां पारसी गुजराती भाषा में नाट्याभिनय एवं नाट्यप्रयोग हुआ करते थे। कथावस्तु के चयन एवं दर्शकों के आधिक्य -- इन दोनों ही दृष्टियों से ये अपने संस्थापक वर्ग से सम्बन्धित थीं। इन्हीं पारसी गुजराती नाटकों से सन् १८७१ में कैखुशरू नवरोजी काबराजी के मंत्रित्व में स्थापित 'नाटक उत्तेजक मण्डली' द्वारा गुजराती नाटकों का सर्वप्रथम व्यवस्थित ढंग से सूत्रपात हुआ जिसने आगे अपना स्वतन्त्र विकास किया।

२. इस समय के लगभग ही व्यावसायिक कम्पनियों के रंगमंच पर एक और नई क्रान्ति का जन्म हुआ, जब कि दादा भाई सोराब जी पटेल ने सन् १८७१ में विक्टोरिया थियेटर में 'सोने के मुल्क की खुरशीद' के रूप में अपने सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी नाटक का अभिनय किया। वस्तुत: इसी क्रान्ति ने आगे चलकर उर्दू और हिन्दी जैसी दो समृद्ध भाषाओं को उनके व्यावसायिक रंगमंच दिए। अनेक नाट्य कृतियों से उन्हें मण्डित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका यह योगदान निश्चय ही बड़े महत्व की वस्तु है।

३. थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर अभिनीत होने वाले उर्दू नाटकों एवं कृतिकारों के अध्ययन से पूर्व इस क्रान्ति के उद्भव के मूल कारणों, तथ्यों एवं परिस्थितियों का अवलोकन अत्यावश्यक है। अध्ययनोपरान्त जिन तथ्यों की उपलब्धि होती है, वे निम्नलिखित हैं:-

१- बम्बई की बहुभाषी जनता ।
२- कम्पनियों के संचालकों,कार्यकर्ताओं एवं अभिनेताओं की भाषागत भिन्नता ।
३- नित्य नये नाट्य-प्रयोगों के लिए कम्पनी-व्यवस्थापकों की आतुरता ।
४- हिन्दुस्तानी नाटकों के अभिनय द्वारा अर्थोपार्जन के विस्तृत क्षेत्र की उपलब्धि ।
५- मराठी नाट्य-कम्पनियों द्वारा हिन्दुस्तानी नाट्याभिनयों में प्राप्त होने वाली अभूतपूर्व सफलता की अभिप्रेरणा ।

अन्तिम दोनों कारण क्रान्ति के लिए अधिक ठोस एवं महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं । अन्य तथ्य भी कम उत्तरदायी नहीं ।

४, पारसियों द्वारा स्थापित कम्पनियां अपने प्रारम्भिक कार्यकाल में पूर्णत: अपने प्रस्थापकों पर अवलम्बित थीं । इस वर्ग की ही भाषा, इसी के अभिनेता,संयोजक,निर्देशक,व्यवस्थापक व अन्य कार्यकर्ता-तात्पर्य है इस अल्पसंख्यक वर्ग का ही नाटक के प्रत्येक क्षेत्र पर आधिपत्य था । किन्तु धीरे-धीरे जब कि नायक,भोजक,या गायकगण आदि गुजरातियों के अतिरिक्त मराठी भाषी और उर्दूदां मुसलमान कम्पनी के कार्यकर्ताओं और अभिनेताओं के रूप में नियुक्त होने लगे तो कम्पनी का स्वरूप काफी कुछ परिवर्तित हो गया । वे'कौसमोपोलिटिन' अर्थात् बहुभाषिक नाट्य संस्थाएं हो गईं । बम्बई की बहुरंगी जनता का मनोरंजन करने वाली इन थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर अब केवल एक ही भाषा (पारसी गुजराती) के नाट्याभिनयों का आधिपत्य कठिन था ।

५, थियेट्रिकल कम्पनियां व्यावसायिक थीं,जिनका उद्देश्य अधिकाधिक अर्थोपार्जन करना था । कम्पनी व्यवस्थापक सदैव ऐसे साधनों की खोज में संलग्न रहते थे, जो दर्शकों की जेबों से धन खींचकर कम्पनी की साख जमा सकें । मनोरंजन के अतिरिक्त दर्शकों की रुचि पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है इससे उन्हें कोई तात्पर्य नहीं था ।' हम तो यहां रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य-भण्डार भरने नहीं । देशोद्धार और समाज-सुधार का ठेका हमने नहीं ले रखा । हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे[१]।'मालिकों की

१- सोमनाथ गुप्त--'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास',तृतीय संस्करण, पृ० १५३ ।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप निम्न परिणाम सामने आए-- १- बहुभाषी जनता के लिए अपने रंगमंच पर उन्हें एक ऐसी भाषा को स्थान देना पड़ा जिससे अधिकाधिक बड़े वर्ग का मनोरंजन हो सके । २- दूसरी कम्पनियों को नीचा दिखाने और उनके अस्तित्व को मिटाकर कम्पनी की साख जमाने के लिए कम्पनी व्यवस्थापक सदैव ही नए साधनों और नए प्रयोगों की खोज में व्यस्त रहने लगे । 'सोने के मूल को खुरशादजी' दादाभाई सोराबजी पटेल की इसी मनोवृत्ति का परिणाम था । अपनी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी को वे उस समय की सभी कम्पनियों, जहां कि पारसी, गुजराती नाटकों के अभिनय होते थे, की सापेक्षता में सर्वोच्च बनाने के लिए एक ऐसे नवीन प्रयोग की खोज में आतुर थे, जिससे उनका उद्देश्य-पूर्ति हो सके । प्रस्तुत नाटक उनकी इसी खोज का परिणाम था ।

६. पारसी रंगमंच की स्थापना के एक दशक पूर्व ही मराठी नाट्य कम्पनियां स्थापित हो चुकी थीं । इनमें से अनेकों ने अपने मराठी अभिनयों के अतिरिक्त सौराष्ट्र, गुजरात में जाकर हिन्दुस्तानी नाट्य प्रयोगों द्वारा प्रचुर धनोपार्जन किया था । सन् १८४३ में विष्णुदास भावे द्वारा स्थापित 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर अथवा सांगलीकर नाट्य मण्डली' का 'राजा गोपीचन्द और जालन्धर' जो २६ नवम्बर १८५३ को सर्वप्रथम ग्राण्टरोड थियेटर बम्बई में अभिनीत हुआ, इस दिशा में इनका प्रथम प्रयास था । 'टेलीग्राफ एण्ड कैरियर' में गुरुवार २४ नवम्बर १८५३ को हिन्दू थियेटर की ओर से प्रकाशित इसकी निम्न विज्ञप्ति प्राप्त होती है --' बम्बई की जनता भारतीय व यूरोपियन से सविनय निवेदन है कि शनिवार, दिनांक २६ नवम्बर को हम एक बड़ा ही दिलचस्प नाटक 'राजा गोपीचन्द और जालन्धर' ग्रांट रोड थियेटर में हिन्दुस्तानी भाषा में स्टेज करेंगे ।' प्रस्तुत नाटक का द्वितीय प्रयोग ३ दिसम्बर १८५३ को हुआ ।

७. मराठी नाट्य कम्पनियों के इस नए नाट्य प्रयोग के पीछे भी बम्बई की बहुरंगी जनता जो किसी भी प्रकार के रंगमंच के अभाव में लोकी नाटकों एवं उनके कुत्सित अभिनयों से तुष्ट थी, का मनोरंजन करके अपने नाटकों के लिए विस्तृत प्रेक्षक वर्ग का निर्माण करना था । सांगली निवासी

रावसाहब श्री वासुदेव गणेश भावे का ~~निर्माण करना था । सांगली निवासी~~ य मन्तव्य इस बात का प्रमाण है--" वहाँ उनके पर्दे, स्थान-सीनरी तथा नाटक की व्यवस्था देखकर विष्णुदास ने मन में सोचा कि यदि ऐसे स्थान पर अपने नाटकों का अभिनय किया तो बड़ा ही आनन्द आएगा । ऐसे स्थान पर नाट्याभिनय किया तो पारसी, युरोपियन, मुसलमान, गुजराती इत्यादि सब लोगों की समझ में आएगा । इन कारणों को योग्य समझकर विष्णुदास ने उसी समय नया 'गोपीचन्द' नाटक हिन्दुस्तानी भाषा में तैयार किया ।[1] 'अपने नाट्य कथा-संग्रह में विष्णुदास भावे ने भी लगभग ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं । 'उर्दू थियेटर' के लेखक डा० अब्दुल अलीम 'नामी'[2] ने मराठियों व उनके 'गोपीचन्द' को प्रथम हिन्दुस्तानी नाटक का श्रेय दिया है ।

८. मराठी नाट्य कम्पनियों की अभूतपूर्व सफलता की अभिप्रेरणा ने व्यावसायिक मनोवृत्ति वाले पारसियों का इस दिशा में मार्ग निर्देशन किया । मुसलमानों की नाटकों के प्रति उदासीनता, व उर्दू में किसी भी प्रकार के रंगमंच अथवा नाटकों का अभाव देखकर पारसियों को इस दिशा में विकास के सापेक्षतया अधिक अवसर दृष्टिगत हुए, क्योंकि गुजराती, मराठी व अंग्रेजी नाट्याभिनयों के लिए तो उनकी अपनी स्वतन्त्र नाट्य कम्पनियाँ थीं ही । अतः विक्टोरिया नाटक मण्डली के निर्देशक दादाभाई सोराब जी पटेल ने 'कामावती' नामक हिन्दू किस्से पर एडल जी खरोड़ जी खोरी से गुजराती में 'सोनाना मुलनी खुरशीद' लिखवाकर तथा उर्दू, फारसी व गुजराती जबान के समान अधिकारी लेखक व 'रास्तगोफ़्तार' पत्र के अधिपति अपने मित्र सेठ बेहराम जी फरदून जी मर्जबान से हिन्दुस्तानी में रूपान्तरित कराकर सन् १८७१ में विक्टोरिया थियेटर में अभिनीत किया । अभ्यस्त पारसी अभिनेताओं के प्रशिक्षण की सरलता के विचार से व पारसी, गुजराती, हिन्दू, मुसलमान इन सभी वर्ग के प्रेक्षकों को भली भाँति समझाने के लिए सेठ जी ने अपने इस रूपान्तर में कठिन उर्दू फारसी के कठिन शब्दों के स्थान पर

१- विष्णु चरित्र--, पृ० ६६-७०

२- डा० अब्दुल अलीम 'नामी' -- उर्दू थियेटर, भाग १, प्र०सं०, १९६२, पृ० १९१ ।

'जरा शैली भाषनो उपयोग कांको हतो[१]।'

६.' सौने के मूल का खुरशाद' के दीबाचे में बहराम जी का यह मन्तव्य प्रस्तुत कृति की भाषा के साथ ही भाषा सम्बन्धी कम्पनी-नाटिकों का उस समय की मनोवृत्ति का अधिक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

'सौने के मूल का खुरशाद'
'जबाने हिन्दुस्तानी
बस्ते गुजरात।'

१०.' इस किस्सेखानों का जबान में येह कलमंजन अपनी तरफ से जाहेर करता हये कि अव्वल इस खेलकु येक आशनाने जबाने गुजराती में तसनीफ कीया था, उसपर से इस कमशीनने थोड़ी अरायेश और तबदील के साथ हिन्दुस्तानी जबान में तरजमां कीया हये। सबब उसका येह हये के इस शहेर में नाटक याने खेलबाजी का शउक व खाहेश रोजबरोज अफजुनी पकड़ता हये, अवर हर कौम के सेकड़ो लोग वा शउकसे दसनेकु जमां होते हयें? जहां हर तरहेकी कउम जबान में, तो यह जबान अक्सर पारसी, मुसलमानो अवर हे हिन्दुओंकु समजनां व हल होनां मोशकेल हये। उस लाजे कंइयेक साहबोने खाहेश इस अमर की कीई के अगर कोई खेल हींदुस्थानी जबान मे लीखा जावे तो यहाके बाशीन्दे हर कउम को मौवाफिक आवे, कीयुं के हींदी जबानं सारे हींद में मुरव्वेज हये। येह मसलेहत बंदेकुभी पसंद आई अवर मी येह था कि जबाने हींदुस्थानी में आज तक कोई खेल याने नाटक लीखा गया देखने में नहीं आया था, बलके हींदुस्थांनीओं में उसका वुजुद भी नहीं हये, तो फेर इस खेलकु अपने हौसले के मवाफेक सलीस अउर रोज मर्रेकी हींदी जबांन मे के पारसी व हिंदुओंकु आसान होवे, अउर समज में आवे, तरजमां कीया हये, कीउंके सख्त व फारसी अरबी आमीज इबरत समजनां अक्सर उनहोंकु मोशकेल हये।'

११.'यह बानाबरेपर वाकेफ हो के हींदुस्थानी इस कमतरीन की जबांन नहीं हये बलके कायेदा कौरे की खुब वाकीफभी ली नहीं हये, मगर मेहज

१- जहांगीर की पेस्तन जी हंमांता --'मोरी नाटकीय कारकिर्द', १९४४, पृ०६०

दोस्तों का खुसूसन के लीये इस कम्पनीने मुआफिक ताकत अपनेके जबाने हिंदी में उसके नकल करने की कोशिश कीई हये, तो इबारत हिंदी में अउर कवायदे में अक्सर खामी अउर बता रही होगा, अउर इमीं आसान होने व अैसा। खालिस इबारत लिखने के सबब से इबारत मां रंगीन व संगीन न हुई हये। बाद इस खुलासे के इस कायदे सुनने अउर पढ़नेवालों का जाते आली से उम्मेद रखता हुं के कोई साहेब इबारत अउर कायदे की नावाकेफीका इन्कार न होवे बल्के उससे दरगुजर करे।'

१२. 'इस नाटक में अक्सर जगों पर उरदु जबान में मशहूर कायदेओं जैसा के 'मजहबे इश्क', 'बदरे मुनीर', 'गुलीफ कुलाह' अउर 'गुलबारनोबर' शायरों में से मुआफिक आया हुआ फिकरोंओं, तुकलोओं व शेवेरों आमेज कीई हये, अउर उस सेवा ये तमाम गजलो व गानाभी ओस्तादों की केताबों में से इन्तेखाब करलीया हये।'

१३. इस प्रथम उर्दू नाटक में भाग लेने वाले कलाकार थे- खुरशेद जी मेहरवान जी बाली वाला -- फीरोजशाह,(संगीत में अपनी सक्षमता के कारण ही बालीवाला को यह पार्ट दिया गया था) कलकत्ते वाले जमशेद जी की भाई मावन-- खुरशेद(फीरोज की माशूका),होरमस जी मोदी --फरोख्जाद (दिल्ली का सम्राट),ताराशाह सोराब जी तारापोरवाला -- मलेकशाह (सिन्ध का बादशाह) धनजीभाई केराबाला-- जफरखान(कोटपाल) धनजी सोहली-- गाजुखान, कावस जी खाने-- फैजाबाद के बादशाह आदि।

१४. यह नाटक एक प्रकार का प्रयोग था जो पर्याप्त सफल हुआ। बालीवाला ने तो इस एक अभिनय से ही अपनी कीर्ति अर्जित कर ली, जिसे वे अपने सम्पूर्ण नाटकीय जीवन में नहीं प्राप्त कर सके। नाटक की सफलता ने अन्य कम्पनियों को भी उत्तेजित किया। अस्तु एलफिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब के स्थापक कुंवर जी सोराबजी नाजिर ने सर्वप्रथम आगे कदम उठाकर दादी पटेल के समझौते में सन् १८७२ में एलफिन्स्टन थियेटर में 'नूरजहां' व अपने स्वतन्त्र आधिपत्य में सन् १८७३ में विविध प्रकार के रंग-बिरंगी लाइम लाइट्स व चमत्कारिक

दृश्यावलियों के साथ 'इन्दरसभा' का अभिनय किया । एक ओर नाजिर इस प्रकार के अपने नाट्यप्रयोगों में तल्लीन थे और दूसरी ओर एल्फिन्स्टन को नीचा दिखाने के लिए दादा पटेल विक्टोरिया नाटक मण्डली के एकाधिपति(१८७२ के लगभग भागीदारी में संचालित होने वाली विक्टोरिया उसके निर्देशक सोराब जी पटेल को पूर्णत: मिलकियत में आ गई थी) के रूप में नशरवान जी खान साहब 'आराम' से लिखाकर 'हातमताई', 'बागो बहार', 'आलमगीर', 'जवांबख्त', 'गोपीचन्द', 'गुलासनोबर', 'गुलबकावली' नाटक व 'बेनज़ीर बदरेमुनीर', 'जहांगीर शाह गौहर', 'शकुन्तला' तथा 'पद्मावत' आदि उर्दू गीतिनाट्यों को एक के पश्चात् एक प्रस्तुत कर रहे थे । अत: डाक्टर वासुदेवनन्दन प्रसाद का यह मत कि इस ओर सर्वप्रथम कावसजी खटाऊ का ध्यान गया[1] तर्क रहित है । वस्तुत: इस ओर कदम उठाने वालों में सोराब जी पटेल व कुंवर जी नाज़र अग्रगण्य हैं ।

नाट्य-लेखक व कृतियां

१५. सन् १८७१ से २० वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक थियेट्रिकल कम्पनियों के रंगमंच पर उर्दू नाटकों का बाहुल्य रहा । बीच-बीच में पारसी गुजराती एवं गुजराती नाटकों के अभिनय भी होते रहे किन्तु अखण्ड धारा उर्दू नाटकों की ही थी । नशरवान जी खान साहब 'आराम' प्रथम नाटककार थे, जिन्होंने रंगमंच के लिए अनेक उर्दू कृतियां संगठित करके विक्टोरिया नाटक मण्डली को दीं । मुंशी शेख महमूद 'रौनक' बनारसी (१८७९-८३) ने अपने नाटक खुरशेद जी बालीवाला की 'पारसी विक्टोरिया नाटक मण्डली' के लिए लिखे थे । हुसैन मियां 'ज़रीफ़' ने भी अनेक नाटक लिखे । अधिकांश विचारकों ने इन दोनों रचनाकारों को 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' के नाटककार माना है । यह धारणा गलत है । पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि ओरिजिनल थियेट्रिकल दादाभाई सोराब जी पटेल की विक्टोरिया से अलग होकर स्थापित होने वाली ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक कम्पनी थी । 'रौनक' बनारसी ने दादी पटेल के स्थान पर बालीवाला की विक्टोरिया नाटक कम्पनी को अपनी कृतियाँ दीं । 'ज़रीफ़' ने कभी किसी कम्पनी के लिए नाटक नहीं लिखे । उनकी सभी.

१- वासुदेव नन्दनप्रसाद, 'भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य और रंगमंच', शोधप्रबन्ध, १९५९, पटना विश्वविद्यालय, पृ०३०७ ।

नाट्य -रचनाएं कम्पनियों के विभिन्न नाटककारों, एवं नाट्य कृतियों से सामग्री का अपहरण करके मालिक भगवान दास ब्रूवेलर ने लिए संगठित की गई थी, जहां की 'जराफ' एक सहायक के रूप में नियुक्त थे[1]।

१६. मिर्जा नज़ीर बेग 'पारसी ज़ुबली थियेट्रिकल कम्पनी के निर्देशक व हाफिज मोहम्मद अब्दुल्ला के शिष्य थे। इसके पूर्व आप 'इण्डियन इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी' के प्रधान अभिनेता व इण्डियन आपेरा थियेट्रिकल कम्पनी, के लखनऊ 'डाइरेक्टिंग ऑफ इण्डियन थियेट्रिकल कम्पनी' व बारा बरेली के रईस अमानुद्दान खां की 'दि हर मैजेस्टी विक्टोरिया ड्रामेटिक कम्पनी' के मैनेजिंग डायरेक्टर पद के अधिकारी भी रह चुके थे[2]। रंगमंच के इस सामीप्य व निकट के अनुभव से लाभ उठाते हुए आपने अनेक नाटक लिखे जो विभिन्न कम्पनियों में अभिनीत हुए।

१७. रंगमंचीय उर्दू नाटककारों में सर्वाधिक लोकप्रियता मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी को प्राप्त हुई। आपने अल्फ्रेड और न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर अनेक कृतियों की रचना की। उर्दू नाटकों को शेक्सपीरियन तकनीक में ढालने व भाषा के स्तर को ऊंचा उठाने में आपके प्रयास सराहनीय हैं। 'ओथेलो' (१८९४) 'बज्मेफानी उर्फ गुलनार फिरोज' १८९८ (रोमियो जूलियट के आधार पर अल्फ्रेड कम्पनी के लिए लिखा गया था), 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' के आधार पर न्यू अल्फ्रेड का 'भूल भुलैया' (१९०१ई०), 'हैमलेट' पर आधारित जो सटाऊ की अल्फ्रेड का 'खूने नाहक', 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के प्लाट पर 'दिलफरोश', 'ताजेनेकी', 'सारीब बी' आगा के निर्देशन में अभिनीत होने वाला 'चलता पुर्जा' (१९०२ई०), मुंशी मुराद के 'चित्रावली' के आधार पर संगठित 'अहसन' का 'चन्द्रावली' जो सर्वप्रथम लखनऊ में अभिनीत हुआ, दौराब जी की कम्पनी में अभिनीत 'जहरे इश्क उर्फ दस्तावेज मोहब्बत' (१८९७ई०), न्यू अल्फ्रेड का 'शरीफ बदमाश' (१९०३ई०) तथा 'कनकतारा' (१९०४ई०) आपकी उच्च नाट्यकला के प्रमाण हैं। 'अहसन' अपने नाटकों को साहित्यिक रंग देना चाहते थे किन्तु व्यापारिक मनोवृत्ति वाले पारसी कम्पनी मालिक इस परिवर्तन से सहमत न थे। अतः क्षुब्ध होकर आपने सन् १९०५ में नाट्य कार्य से सन्यास ले लिया।

१- डा० अब्दुल अलीम नामी -- उर्दू थियेटर-भाग २, प्र०सं०, १९६७, पृ० ११६

२- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय -- आधुनिक हिन्दी साहित्य, १९४८, पृ० २०३

१८. लखनऊ निवासी मुंशी मीर गुलाम अब्बास अली ने अपने पच्चीस वर्ष (१९०६ ई० से १९३० ई० तक) के सम्पूर्ण लेखन काल में अपनी तारीख नाटकों की रचना की जो बालीवाला की विक्टोरिया व मैडन के आधिपत्य की एल्फिन्स्टन ड्रामैटिक कम्पनियों के अतिरिक्त गुजराती 'दक्षिण सुबोध' तथा जी०बी० भाटे की 'नाट्यकला प्रवर्तक' आदि मराठी कम्पनियों के रंगमंच पर भी खेली। मुंशी मौहम्मद मुराद अली लखनवी ने न्यू अल्फ्रेड और सोराब जी रुस्तम जी की 'न्यू पारसी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए अपने नाटक लिखे। गुलाम मुहीउद्दीन नाजां देहलवी ने सन् १९१३ में इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी में स्थायी नाटककार के रूप में नियुक्त होकर अपने अनेक नाटक उसके रंगमंच पर निकाले। कम्पनी के लिए लेखक की प्रथम व लोकप्रिय कृति 'हूरे अरब' थी जो सन् १९१३ में अभिनीत हुई।

१९. मुंशी मौहम्मद इब्राहीम महशर अम्बाली,महशर अम्बालवी, मिर्जा शाहजहां बालमखां शम्स लखनवी, अकबर 'अली' अफसूं शाहजहांपुरी, इज्जत हुसैन 'नैय्यर' अम्बालवी ने भी थियेट्रिकल कम्पनियों के लिए अनेक नाटक लिखे। 'नैय्यर' के 'दी पारसी यून अलेक्जेण्डर थियेट्रिकल कम्पनी' का राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत 'वतन', 'गैबी तलवार', 'दी न्यू इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी' देहली का 'तुरकी फरिश्ता', 'तीर मुबस' व 'नूर की पुतली' अधिक लोकप्रिय हुए। जगेश्वर प्रसाद 'मायल' देहलवी की रचनाओं में 'सैर सितम उर्फ सान्स ऑफ द सायल' ने सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की। नाटक की रचना यद्यपि सन् १९१७ में कावस जी खटाऊ की अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए की गयी था, किन्तु अवरोधों के कारण कुछ काल उपरान्त सन् १९२०-२२ के मध्य श्री विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' की 'व्याकुल भारत कम्पनी' द्वारा सर्वप्रथम देहली में अभिनीत हुआ।

२०. इन नाटककारों के अतिरिक्त अब्दुल करीम बख्शी, सैयद जाफर हुसैन 'बशर' देहलवी, मौहम्मद इस्माइल फर्रोग, सैय्यद विलायत हुसैन फरहत देहलवी आदि बहुत से अन्य कृतिकारों ने भी अपनी कृतियां रंगमंच को समर्पित कीं।

शेक्सपियर और उर्दू नाटककार

२१. पारसी रंगमंच अपने उद्भव के लिए अंग्रेजी रंगमंच का ऋणी है। विभिन्न अंग्रेजी कम्पनियों व क्लबों के नाट्य-प्रयोगों की अभिप्रेरणा पर ही पारसी युवकों ने अपनी इन नाट्य कम्पनियों की स्थापना की थी। इस अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के कारण न केवल रंगमंचीय तकनीक और शैली का अनुकरण हुआ, वरन् वहां अभिनीत होने वाले विभिन्न नाट्यकारों तथा उनमें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त करने वाले शेक्सपियर और उनकी कृतियों के भारतीय वातावरण के अनुकूल कुछ परिवर्तनों के साथ यथायोग्य रूपान्तर भी प्रस्तुत किए गए। किसी भी प्रकार के रंगमंच और नाटकों के अभाव में कम्पनी व्यवस्थापकों के समक्ष यही नाटक नाटकीय आदर्श के रूप थे। अस्तु इनके अनुकरण और प्रस्तुतीकरण पर उनकी पूर्ण दृष्टि रही।

२२. अन्य अंग्रेजी नाटककारों की सापेक्षता में शेक्सपियर की कृतियां व्यावसायिक रंगमंच पर अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुईं। न केवल उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी में वरन् पारसी गुजराती भाषा में भी इनके अनेक रूपान्तर और अनुवाद अभिनीत हुए जिनका परिचय उपर्युक्त नाटकों के विवरण के समय दिया जा चुका है।

२३. हिन्दुस्तानी नाटक सन् १८७१ में 'सोने के मूल की खुरशीद' के रूप में अपने उद्भव के साथ ही शेक्सपियर के नाटकों की छाया लेकर अवतर हुआ। डा० डी०जी० व्यास ने 'शेक्सपियर ~~के नाटकों की छाया लेकर~~ ऑन ~~अवतर हुआ~~ द स्टेज आफ बाम्बे' नामक अपने एक लेख में प्रस्तुत प्रारम्भिक नाटक पर 'किंगलीयर' का थोड़ा-सा प्रभाव माना है। इसके पश्चात् तो अनेकों अनुवाद प्रकाश में आए। सन् १८८७ में 'सिम्बेलीन' पर आधारित मुंशी करीम बरेलवी का 'हामान' व सन् १८९२ में 'पेरीक्लीज़' (Pericles) पर संगठित इन्हीं का 'कुमार' इस बात के प्रमाण हैं। छुटपुट प्रयासों के विपरीत अखण्डधारा के रूप में इस परम्परा का नियमित प्रवाह सन् १८९८ में कावस जी पालन जी खटाऊ की अल्फ्रेड नाटक कम्पनी द्वारा हुआ जब कि कम्पनी के निर्देशक (Director)

अमृत केशव नायक ने शेक्सपियर के नाट्य साहित्य में अपनी गहन रुचि के कारण मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी से ऐसे अनेक अनुवाद तैयार कराकर कम्पनी के रंगमंच पर अभिनीत किए। ~~'अहसन' साहब के 'हमलेट' पर आधारित 'खूने नाहक' अभिनीत हुए किए।~~ 'अहसन' साहब के 'हैमलेट पर आधारित 'खूने नाहक' जिसमें कावसजी खटाऊ, अमृत केशव और मास्टर मोहन के अभिनय अत्यधिक लोकप्रिय हुए व 'रोमियो जूलियट' पर आधारित 'बज्मे फानी उर्फ गुलनार फिरोज' (१८९८) की सफलता और लोकप्रियता ने अनेक नाटककारों को इस क्षेत्र में उतरने के लिए आमंत्रित किया। आगा हश्र काश्मीरी और नारायण प्रसाद 'बेताब' इस क्षेत्र में अधिक सफल सिद्ध हुए।

२०. सन् १८९८ से १९१३ तक शेक्सपियर के लगभग पन्द्रह नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए गए। किन्तु कौन सा नाटक किसका अनुवाद है, इस निश्चय के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां हैं, कारण एक ही नाम के कई नाटक विभिन्न रचनाकारों के नाम से उपलब्ध हैं। अन्य कम्पनियों को नीचा दिखाकर अपना प्रभुत्व जमाने व नए नए नाटकों द्वारा कम्पनी के वैभव और सम्पन्नता के परिचय से दर्शकों की जेबें खाली कराने की कम्पनी व्यवस्थापकों की प्रवृत्ति इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है।

२१. प्रमुख व लोकप्रिय अनुवाद निम्नलिखित हैं--

१- कॉमेडी ऑफ एरर्स (Comedy of Errors) ।

(अ) 'गोरखधन्धा'--नारायणप्रसाद 'बेताब'।
कावसजी खटाऊ की अल्फ्रेड नाटक मण्डली द्वारा ३१ सितम्बर १९१२ को सर्वप्रथम कोटा बिलोचिस्तान में अभिनीत हुआ।

(आ) 'भूल भुलैया' -- मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी।
न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर सोराब जी ओग्रा के निर्देशन में सन् १९०१ में खिला।

(इ) 'भूल भुलैया'-- फिरोजशाहखान--१८९६

(ई) 'भूल भुलैया'-- अब्दुल करीम--१९१३

(उ) 'भूल भुलैया' -- मिर्जा नजीर बेग (पारसी जुबली थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा अभिनीत)

(२) 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' (Merchant of Vanis)

'दिल फरोश' -- अहसन लखनवी ।

१९०३ में न्यू अल्फ्रेड के रंगमंच पर खेला ।

(३) 'मेजर फॉर मेजर' (Major For Major)

'दामे हुस्न' -- आगा हश्र -नौरोजी पर्री की कम्पनी में खेला ।
बाद में यही 'शहीदेनाज़' के नाम से सन् १९०५ में कावसजी खटाऊ की अल्फ्रेड कम्पनी के रंगमंच पर आया ।

(४) 'सिम्बेलीन' (Cymbalien)

'मीठा ज़हर' -- नारायणप्रसाद 'बेताब'
सन् १९०५ में विक्टोरिया थियेटर, बम्बई में खेला ।

(५) 'विंटरस टेल' (Winter's Tale)

'मुरीदे शक' -- आगा हश्र
सन् १९०६ में खटाऊ की अल्फ्रेड कम्पनी में खेला ।

(६) 'किंग लीयर' (King Lear)

(अ) 'सफेद खून' -- आगा हश्र (१९०६)
(आ) 'सफेद खून' -- मिर्जा नज़ीर बेग
(इ) हार जीत -- मुंशी मुराद अली
विक्टोरिया थियेटर, बम्बई में सन् १९०५ में खेला ।

(७) 'रिचर्ड थर्ड' (Richard Third)

'सौदे हवस' -- आगा हश्र -१९०८

(८) 'रोमियो एण्ड जुलियट' (Romeo And Juliet)

(अ) 'बज़्मेफ़ानी' -- अहसन लखनवी
सन् १९०८ में खटाऊ की अल्फ्रेड कंपनी के रंगमंच पर खेला ।

(आ) 'रोमियो जुलियट उर्फ़ अश्के फिरोज़ उर्फ़ गुलनार बेर' नज़ीर बेग - १९०४ ।

(९) 'हैमलेट' (Hamlet)

(अ) 'खूने नाहक'--'अहसन' लखनवी
१९०८ में अल्फ्रेड में खेला।

(आ) 'खेल हैमलेट नवईजाद उर्फ वाकया जहाँगीर नाशाद'
नज़ीर बेग-- १९०० ।

(१०) 'ओथैलो' (Othelo)

(अ) 'शहीदे वफा'--'अहसन' लखनवी -१८९८

(आ) 'शेरे दिल' -- नाजर देहलवी

(इ) 'वहमी जंगी' -- मुहीउद्दीन नाजां'
कावस जी खटाऊ की अल्फ्रेड कम्पनी के
खेला।

(११) 'अन्टोनी एण्ड क्लियोपैट्रा' (Antony And Cleopeatra

(अ) 'काली नागिन'-- जलाल अहमद शाद - १९०६

(आ) 'जान मुरीदे'-- १९०८

(१२) 'पैरीक्लीज' (Pericles)

'खुदादाद'-- मुंशी करीमुद्दीन - १८९१

(१३) 'एज़ यू लाइक इट' (As You Like It)

'जैसा तुम चाहो' -- नारायणप्रसाद 'बेताब'
देहली से निकलने वाली 'बेताब' की 'शेक्सपियर पत्रिका'
में प्रकाशित हुआ। 'फरेबे नज़र' के नाम से भी किसी
नाटक का अनुवाद हुआ में निकला।

(१४) 'आल वैल्स दैट एण्ड्स वैल' (All Well's That Ends Well

'हुस्नारा'--'बेताब' १९००

अन्य नाटककारों के अनुवाद भी प्रकाश में आए।

२६. रंगमंचीय नाटकों को शेक्सपियर तकनीक में ढालने का श्रेय मुंशी 'अहसन' लखनवी को है, जिनकी कला को आगे आगा हश्र 'काश्मीरी' ने अपनी प्रतिभा से उच्चता पर पहुंचाया। 'बेताब' का भी इस क्षेत्र में योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं। शेक्सपियर के साहित्य से सामान्य जनता को परिचित कराने के लिए अपने मित्र अमृत केशव नायक के आग्रह पर जब आपने देहली से शेक्सपियर

नामक पत्रिका भी प्रकाशित की जिसमें उनकी कृतियों के अनेक नाटकीय अनुवाद निकले।

२८. कला की दृष्टि से इन अनुवादों के विषय में समीक्षात्मक निष्कर्ष देने से पूर्व उनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक होगा। 'बेताब' और 'अहसन' लखनवी की रचनाओं का उल्लेख उनकी कृतियों के विवरण के समय किया जा चुका है। अस्तु यहाँ 'इण्डियन शेक्सपियर' की उपाधि से विभूषित व शेक्सपियर के साहित्य में अपने अत्यधिक अनुराग के कारण सन् १९१३ में 'इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' के नाम से अपनी स्वतन्त्र कम्पनी का संचालन करने वाले आगा हश्र की कुछ कृतियों का विवेचन किया जा रहा है।

२८. 'मेजर फॉर मेजर' (Major For Major) पर आधारित नौरोजी परी की कम्पनी में अभिनीत होने वाला आगा हश्र साहब का 'दामे हुस्न' या 'शहीदे नाज़' के नाम से सन् १९०५ में कावस जी खटाऊ की अल्फ्रेड नाटक कम्पनी में अभिनीत हुआ। अपने न्याय के प्रति प्रजा को असन्तुष्ट देखकर बहादरशाह का मंत्री सफदरजंग को राज्य सौंपना व स्वयं सेवक के रूप में उसके न्याय की परीक्षा के लिए सईदा और जमाल की कथा द्वारा कसौटी का निर्माण करके नाटककार ने मुख्य कथावस्तु का निर्माण करके नाटककार ने मुख्य कथावस्तु का निर्माण किया है। भाई की प्राण रक्षा के लिए सईदा द्वारा न्याय की मांग किन्तु उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेम के आवेग में सफदर का रहम के प्रतिकार में सईदा से 'हुस्ने माशूकाना और जवानी' और जवानी का माँगना (२८जाना) व अवहेलना पर अत्याचार और कष्टों की बौछार नाटक के नामकरण 'हुस्न के जादू' (दामे हुस्न) को सार्थक करने वाला है। मूल नाटक के भाव की रक्षा करते हुए उस समय की परम्परा के अनुसार नाटककार ने अनेक आश्चर्यमय दृश्यों की योजना की है। प्रथमांक के दूसरे दृश्य में सईदा द्वारा सफदर से कैदी भाई के प्रति रहम की प्रार्थना में शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' की छाया है।

२९. 'किंग लीयर' पर आधारित 'सुफेद खून' सन् १९०६ में दादाभाई ठूंठी की कम्पनी में खेला। खुशामद पसन्द राजा खाकान और उसकी पुत्रियाँ महापारा और जिलवारा के द्वारा नाटककार ने चाटुकारिता के दुष्परिणाम प्रस्तुत किए हैं। सभी मुख्य पात्र स्वार्थी प्रवृत्ति के शिकार हैं। नाटक के प्रारम्भ की निम्नलिखित ये दो पंक्तियां सम्पूर्ण कथातत्व को समाहित किए हुए हैं—

'है खुशामद बेरहम माओ छिपी तलवार है ।
है खुशामद दो तरफ की चांटने की धार है ।'

३०. सन् १९०८ के लगभग दादा भाई ठूंठी की कम्पनी पर अभिनीत होने वाले आगा साहब के दुखान्त नाटक 'सैदे हवस' रिचर्ड थर्ड के अतिरिक्त शेक्सपियर के 'किंगजॉन' का भी पर्याप्त प्रभाव है[1]। नाटक अपने नामकरणानुसार एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो स्वयं इच्छाओं के अधीन नहीं वरन् उसकी अभिलाषाएं इतनी तीव्र हैं कि एकबार उनकी दलदल में फंसने पर शिकारी के शिकंजे में फंसे असहाय जीव के समान वह उससे मुक्त होने की अपनी समस्त शक्ति को खोकर उसमें फंसता जाता है । राज्य लक्ष्मी के प्रलोभन में जकड़ा नादिरशाह ऐसा ही पात्र है जो उसकी एकछत्र प्राप्ति के लिए अपने भाई और उसकी संतान पर सब प्रकार के अत्याचार करता और अन्त में अपने किए के अनुसार कारागार का दण्ड पाता है । नायक रिचर्ड के समान ही नादिर शाह भी स्वयं अपनी हवस में डूब जाता है । नाटक के अन्त में उसके पश्चाताप[2] के द्वारा हवस के दुष्परिणामों को प्रस्तुत किया गया है । उपर्युक्त तीनों ही नाटकों में हास्य-कथा स्वतन्त्र रूप से चलती है ।

३१. शेक्सपियर के अतिरिक्त अन्य नाटककारों की कृतियां भी यथायोग्य अनूदित हुईं । शैरिडन के 'पिजारो' (Pizarro) पर आगा साहब का 'असीरे हिर्स' लिखा गया जो सन् १९०१ में दिल्ली दरबार के अवसर पर अल्फ्रेड कम्पनी के मंच पर खेला। डब्लू० टी० मॉनक्रिफ्स (W. T. Moncriff's) के संगीत ड्रामा (Melo Drama) 'दि ज्यूएस' (The Jewess) पर आधारित विक्टोरिया थियेटर, बम्बई में ~~सन् १९१३~~ में सन् १९१३ में अभिनीत होने वाला विनायक प्रसाद 'तालिब' का 'करिश्मये कुदरत' व आगा साहब का

१- आर०के० याज्ञिक—'द इण्डियन थियेटर', प्र०सं०१९३३, पृ०१५४

२- "किस्मत ने दी थीं आंखें पर कुछ न देखा भाला ।
लानत हो उस नफ़स पर जिसने कफ़स में ला डाला ।"
अंक ३, दृश्य ३, पृ०१०९

'यहूदी की लड़की' (१९१३, इण्डियन शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी) एच०ए० जॉनस् (H A. Johns) के 'सिल्वर किंग' पर संगठित हश्र जी का 'सिल्वर किंग उर्फ नेक परवर' जो स्वयं लेखक की राजा राघवेन्द्र राव और तालुकेदार हैदराबाद दक्न के सहयोग से निर्मित 'ग्रेट अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' में सन् १९११ से पूर्व अभिनीत हुआ, लार्ड लिटन के 'लेडी ऑफ लायन' पर मुंशी मुराद अली लखनवी का 'दि न्यू पारसी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा १८९३ में अभिनीत 'धूपछांह', लार्ड टेनिसन के किंग नाटक पर विक्टोरिया थियेटर ,बम्बई द्वारा सन् १९०८ में अभिनीत मीर गुलाम अब्बास अली का 'नैरंगे नाज' व 'जॉन ऑफ आर्क' और 'क्वीन एलिजाबेथ' पर सन् १९०५ में अभिनीत 'नूरजहां उर्फ नूर की नार', सन् १९०८ में विक्टोरिया कम्पनी द्वारा अभिनीत अब्बास अली का 'जंजीरे गौहर' न्यू पारसी थियेट्रिकल कम्पनी का 'दि टावर ऑफ नैसिल' (The Tower of Nesle) पर आधारित मुंशी महशर का 'खूने जिगर' (१९११) ,पारसी इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी का 'हूरे अरब' (१९१३) अंग्रेजी के प्रसिद्ध अनुवादित नाटक हैं । आगा साहब का 'असीरे हिर्स' और 'यहूदी की लड़की' अधिक लोकप्रिय हुए ।

३२. 'यहूदी की लड़की' में हश्र ने शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' का प्रत्युत्तर दिया है । यहूदियों को बुरा बताना , उनका उपहास करना, उस समय के अंग्रेजी थियेटर की मुख्य मनोवृत्ति थी । किन्तु आगा साहब ने जो अब तक शेक्सपियर के नाटकों का अनुसरण कर रहे थे इस नाटक में आकर उन्होंने उनको छोड़ ही नहीं दिया ,वरन् उसका विरोध भी किया । यहूदियों के दुःख सहन करने की क्षमता व संघर्षों से जूझने की उनकी अनुपम शक्ति की नाटककार ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । यहूदियों की यह 'स्पिरिट' ही इसराइल हुकूमत के रूप में प्रस्फुट हुई ।

३३. रोमन और यहूदियों के संघर्ष का सुन्दर अंकन हमें पुनः अतीत की ओर ले जाता है । अत्याचार की पराकाष्ठा पर भी यहूदियों के आत्मविश्वास और दृढ़ता के चित्रण के साथ नाटककार ने इसरा के

द्वारा दोनों जातियों के मनमुटाव के अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत कारण प्रस्तुत किए हैं। ब्रूटस के प्रति उसकी ये पंक्तियां यहूदी जाति की सामूहिक विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं --

'सर हर तेगे अदावत से कदम पैदा किये।
तुमने की लाखों जफायें और हम पैदा किये।
बाज़ का हम पर मगर उल्टा असर होता गया।
छांटने से नख्ले मज़हब बराबर होता गया।'[2]

३४. साज़र व हन्ना की प्रेम कथा द्वारा नाटककार ने विरोधी धर्मों के संघर्ष के प्रस्तुतीकरण के द्वारा ज़ूरा व हन्ना के अनुपम त्याग व यहूदियों में उदात्त मानवीय गुणों का विकास दिखाया है। हन्ना अपने जीवन की हस्ती मिटाने वाले सीज़र और उसके प्रेम पर अपने को न्यौछावर करना जानती है तो ज़ूरा भी मानवीय कर्तव्यों की अभिप्रेरणा पर अपनी मासूम बच्ची को मसलने वाले निरंकुश शासक ब्रूटस की आग की लपटों में घिरी दो मास की बच्ची को अपने प्राण संकट में डालकर बचाता है। यही नहीं हन्ना के रूप में उसका प्रेम पूर्वक पालन भी उसी के द्वारा होता है।

१- 'अगर वाकई हम ऐसे हैं तो हमें ऐसा बेरहम बनाने वाले तुम और तुम्हारी कौम है। जब तुम हमारे मज़हब को ज़लील समझोगे, हमारे रस्मो रिवाज की तौहीन करोगे, हमें कुत्ता समझकर ठोकरें मारोगे, तो यकीनन हमारे दिल में भी इन्तकाम का सोता हुआ जज़्बा ज़रूर बेदार होगा। जब एक पालतू जानवर भी अपने सताने वाले पर लौटकर हमला करता है तो दिल और कलेजा रखने वाला इंसान क्यों न बदला लेने के लिए तैयार होगा।' अंक३,दृश्य२,पृ०५८

२- अंक३,दृश्य२,पृ०५६

३- 'जाव कह देना, वफ़ा की शर्त पूरी कर गई।
तुम रहो जीने को, मरने वाली तुम पर मर गई।'
अंक३,दृश्य४,पृ० ८२

विशेषताएं
----

३५. पारसी गुजराती नाटकों का कृतिकार सब प्रकार के बन्धनों से रहित अपनी स्वतन्त्र इच्छा का अधिपति था । किन्तु उर्दू नाटकों के साथ यह प्रथा न रही । यहां कम्पनी का निश्चित् वेतनभोगी ऐसा व्यक्ति नाटककार होता था जिसे रचना के निर्माण के समय अपनी स्वतन्त्र इच्छा के स्थान पर उन कम्पनी मालिकों के आदेशों और इच्छाओं पर चलना पड़ता था जिनका उद्देश्य साहित्य-जगत् की सेवा के स्थान पर भड़कीली मंच सज्जा, अलौकिक दृश्यावली और चमत्कारिता के वैभव द्वारा दर्शकों को मंत्र मुग्ध करके अधिकाधिक धनोपार्जन करना था । यही कारण है कि कृति में कृतिकार की आत्मा नहीं झलक पाई । साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न साहित्यकार भी अपनी प्रतिभा के स्वतन्त्र प्रयोग के स्थान पर रंगमंचीय नाटकों के एक निश्चित् ढांचे में अपनी कला को ढालने के लिए बाध्य थे । रचनाओं का रूप निर्माण उनके लेखकों के जीवन-निर्वाह का एकमात्र साधन था ।

३६. मूलकथा से अलग स्वतन्त्र प्रहसन, गीत और पद्य प्रयोग की प्रचुरता, व्यन्यात्मकता और तुकबन्दी, पद्यात्मक संवाद, आकस्मिकता और अलौकिकता का आग्रह आदि विशेषताओं के साथ रंगमंचीय उर्दू नाटकों का एक निश्चित ढांचा तैयार किया गया था, जिसमें नाटककार को अपनी सब प्रकार की कथावस्तु को ढालना पड़ता था, भले ही वह अंग्रेजी नाटकों से अपहृत कथावस्तु हो, शाहनामा-ऐय्यारी से ली गई हो, समाज के विभिन्न क्षेत्रों से जिसका चयन हो अथवा कल्पना के बल पर अग्रसर हुई हो सभी अपने संगठन में लगभग समान विशेषताओं से युक्त थीं ।

३७. अंग्रेजी नाटककारों के अनुवाद और उनकी रचनाओं के आधार पर अपने नाटकों का निर्माण उर्दू नाटककारों ने सर्वाधिक किया । तत्कालीन दर्शकों की रुचि के अनुकूल बाह्य संघर्ष और घटना प्रधान नाटकों के निर्माण में उन्हें अंग्रेजी नाटकों से ही अधिक सामग्री प्राप्त हुई । किन्तु अन्तः संघर्ष के आधार पर उनके पात्रों के चरित्र विकास को न अपनाकर इन नाटककारों ने उनके संघर्ष और घटनाओं के घटाटोप को ही अपनाया । दर्शकों की रुचि के साथ मानवीय चरित्र के सूक्ष्म पहलुओं के अध्ययन से अनभिज्ञ नाटककारों की

अपनी असमर्थता भी इन घटना प्रधान नाटकों के अधिक निर्माण के लिए उत्तरदायी है।

३८. विदेशी कथावस्तु को व्यावसायिक नाटककारों ने अपने रंगमंचीय नाटकों के एक निश्चित ढांचे में ढालने की चेष्टा की है जिससे कि इन अनुवादों में मूल रचना का सौन्दर्य अछूता रह गया। वस्तुतः ये विविध घटनाओं और पात्रों के भारतीय वातावरण के अनुकूल परिवर्तित रूपान्तर मात्र हैं। शेक्सपियर के कॉमेडी नाटकों में भी स्वतन्त्र प्रहसन की योजना इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। जिससे न केवल नाटक का सामूहिक प्रभाव नष्ट हुआ है वरन् नाटक के मूल आत्मिक सौन्दर्य का भी हनन हुआ है।

३९. कला की दृष्टि से नाटक कैसे भी हों, किन्तु इस तथ्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रंगमंच के विकास के लिए इन्होंने विस्तृत पेक्षक वर्ग दिया, नाटकों के विकास के लिए एक नये मार्ग का निर्माण किया।

परिशिष्ट--३

-०-

मास्टर फिदाहुसैन और मुनलाइट थियेटर

१. बरेली के एक सामान्य व्यापारी के यहां जन्म लेने वाले इस महान अभिनेता का वास्तविक नाम फिदाहुसैन है। शाहजहां थियेट्रिकल कम्पनी के 'भक्त नरसी मेहता' में 'नरसी' के इनके सफल अभिनय से मुग्ध होकर गुरु श्री शंकराचार्य और पण्डित मदनमोहन मालवीय ने इन्हें 'प्रेमशंकर' और 'नरसी' की उपाधियों से विभूषित किया। तब से अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा ये इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री 'प्रेमशंकर' जी का जन्म मुरादाबाद जिले में ११ जनवरी सन् १६०१ को एक कट्टर एवं संकीर्ण मनोवृत्ति वाले परिवार में हुआ था जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में स्वीकार किया है।[1] अत: श्री युगलकिशोर का यह मत कि इनका जन्म २२ मई सन् १६०१ को[2] हुआ, तर्कसंगत नहीं है। संकुचित धार्मिक मान्यताओं वाले इनके परिवार में संगीत और नृत्य कला का प्रवेश न था। अत: बाल्यावस्था से ही अपने चाचा अली सिकन्दर के मित्र जिगर मुरादाबादी की गज़लों से इस कला की ओर अपने बढ़ते झुकाव के कारण प्रेमशंकर जी को परिवार की काफी अवहेलना, तिरस्कार एवं यदा-कदा[?] पिटाई भी सहनी पड़ी। अन्तत: यह पीड़ा इतनी असह्य एवं बन्धनकारक हो गई कि जनवरी सन् १६२१ को घर से भागकर 'न्यू अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' में सम्मिलित हो गए[3] जो कि

१- हस्तलिखित प्रति लेख--- फिदाहुसैन

२- धर्मयुग, २७ अगस्त १६६७--'भारतीय रंगमंच का अप्रतिम अभिनेता भक्त प्रेमशंकर नरसी उर्फ फिदा हुसैन'

३- रेडियो पर अपने वार्तालाप में एक प्रश्न के उत्तर में।

उस समय दिल्ली में अपने नाटक खेल रहा था। नाटक कम्पनी में प्रवेश करने से पूर्व ही आपने मुरादाबाद की नौटंकी, स्वांग, और 'रॉयल ड्रामेटिक क्लब' के 'इन्द्रसभा' और 'चन्द्रावली' आदि नाटकों में अभिनय करके संगीत एवं अभिनय के क्षेत्र में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी।

२. श्री राधेश्याम 'कथावाचक' से गुरुभाव से नाट्य-कला विषयक शिक्षा और प्रेमशंकर जी ने सन् १६३२ तक 'न्यू अल्फ्रेड' नाटक कंपनी की सेवा की। इस नाटक कम्पनी में रहते हुए उनके 'जाने क्या क्या है छिपा हुआ सरकार तुम्हारी आंखों में', 'निर्बल के प्राण पुकार रहे', 'नाथ डूबते भारत को बचाने आओ' अथवा उर्दू का 'आराम के थे क्या क्या साथी जब वक्त पड़ा तो कोई नहीं' आदि गीत काफी लोकप्रिय हुए। कम्पनी के बन्द होने के पश्चात् सन् १६३३ में कलकत्ते आकर वहां के 'लक्ष्मी स्टूडियो' में पांच वर्ष तक रहे, तदुपरान्त सन् १६३८ में 'शाहजहां थियेट्रिक कम्पनी' में चले गए जो कि करांची में जाकर बन्द हो गई। इस कम्पनी में 'नरसी' के पार्ट के कारण ही उन्हें 'नरसी' की उपाधि मिली। सन् १६४१ में न कि १६४३ में, जैसा कि जुगल-किशोर जी का मत है[1] प्रेमशंकर जी ने 'नरसी थियेटर्स' के नाम से अपनी स्वतन्त्र कम्पनी स्थापित की। यह कम्पनी पण्डित मथुर जी की साझेदारी में निर्मित हुई थी जिसमें सर्वप्रथम उन्हीं का लिखा 'बहुत सोचे' नाटक अभिनीत हुआ। आठ महीने तक सफल नाट्य-प्रयोगों के पश्चात् सन् १६४२ के कांग्रेस आन्दोलन के कारण कम्पनी बन्द हो गई और मास्टर साहब को दिल्ली की 'वैराइटी कम्पनी' के पूरे उत्तरदायित्व को संभालना पड़ा। सन् १६४५ में महाराजा इन्द्रगढ़ के सहयोग से 'मोहन कम्पनी' स्थापित की किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण कम्पनी में वह अधिक समय तक नहीं रह सके तथा कलकत्ता आकर ३० दिसम्बर १६४६ को 'हिन्दुस्तान थियेटर्स' का निर्माण किया जिसने १५ जनवरी १६४७ को सर्वप्रथम 'भक्त नरसी मेहता' नाटक का अभिनय किया। इस नाटक का प्रेमशंकर जी द्वारा गाया हुआ यह गीत काफी लोकप्रिय हुआ --

> 'जा रे सुन सुन पत्र तू कहना यह संदेश।
> लाज बचाना श्याम तुम, लो न पिछ की ठेस।'

१-धर्मयुग, २७ अगस्त १६६७
२- ,, ,, ,,

३. इसके अतिरिक्त पण्डित मधुर जी के 'हमें क्या चाहिए' और 'भरत-मिलाप' ये दो नाटक कम्पनी के स्टेज पर और खिले। कलकत्ते के साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण और अधिक नाटक रंगमंच पर नहीं आ सके व कम्पनी बन्द हो गई। संकटकालीन परिस्थिति के निकल जाने व शान्ति स्थापन के पश्चात् 'मिनर्वा थियेटर' के नाम से पुनर्जीवित होकर कम्पनी ने पण्डित मधुर जी के 'मीराबाई', श्री मदन के 'रुक्मिणी हरण', 'सन्त तुलसीदास', 'अमर सिंह राठौर', श्री रणधीर 'साहित्यालंकार' के 'सरदार भगत सिंह' आदि विविध नाटकों का अभिनय किया। 'हिन्दुस्तानी थियेटर्स' टूटने के पश्चात् श्री प्रेमशंकर जी १९४९ में कलकत्ते के मुनलाइट थियेटर में सम्मिलित हो गए व तब से आज तक यहीं निर्देशक तथा अभिनेता के रूप में यहां कार्य कर रहे हैं।

-o-

परिशिष्ट--९

-0-

मूनलाइट थियेटर

१. चलचित्रों के अभ्युदय के साथ ही पारसी रंगमंच सदा के लिए काल के अंधेरे में जा छिपा , किन्तु आज भी 'मूनलाइट थियेटर' इस नष्टप्राय परम्परा के ध्वंसावशेष को सुरक्षित रखे हुए है तथा पुनर्निर्माण की प्रतीक्षा में अन्धकारपूर्ण भविष्य को थकी आंखों से निहार रहा है। कलकत्ता स्थित इस थियेटर की स्थापना सन् १९४० में श्री जा०डी० मेहरोत्रा के संरक्षण -- में हुई[1] जिन्होंने अकेले ही नौ वर्ष तक अपने अदम्य उत्साह और साहस के बल पर इसके अस्तित्व को सुरक्षित रखा। किन्तु सम्पन्न रंगमंच द्वारा हिन्दी नाट्य जगत की सेवा के उद्देश्य से सन् १९४९ में 'न्यू अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' के ख्यातिप्राप्त अभिनेता श्री प्रेमशंकर जी का सहयोग पाकर लाखों रुपये व्यय करके अपने जीर्ण-शीर्ण रंगमंच का उन्होंने पुनर्निर्माण किया जो आज भी उसी तरह वर्तमान है। आगाहश्र, 'बेताब' तथा 'कथावाचक' आदि पारसी रंगमंच के पुराने ख्यातिप्राप्त नाटककारों की रचनाओं को अभिनीत करके इस थियेटर ने जहां प्राचीन परम्परा को संजीवन देने का प्रयास किया है, वहां अनेक नए नाटककारों की रचनाओं को अपने रंगमंच पर लाकर वर्तमान से भी जुड़ने का प्रयास किया है। इन रचनाकारों में मुख्य हैं-- पण्डित बी०सी० मधुर, श्री रणधीर 'साहित्यालंकार', श्री रामचन्द्र 'आंसू', पण्डित अम्बालाल, श्री कुमार, सलेमपुरी, पण्डित दलोली, श्री शिवदत्त मिश्र, श्री रामसिंह 'शर्म', श्री विनोद, श्री कमल 'बनारसी', श्री श्यामसुन्दर श्री त्रिलोचन आदि।[2] सन् १९४९ से आज तक की १५-१६ वर्ष की अवधि में इस

१- 'सीता वनवास--' फिदाहुसैन -- अनामिका १९६४

२- ,, ,, ,,

थियेटर ने हिन्दी,उर्दू मारवाड़ी के लगभग ५०० नाटकों का अभिनय किया ,जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं ।

२. (अ) सामाजिक हिन्दी नाटक-- 'हिन्दू विधवा', 'सुधरा ज़माना', 'परिवर्तन', 'कुमारी बालक', 'आज का संसार', 'पहला प्यार', 'कौड बिठ', 'सरहदी पहरेदार', 'अब जमाना और है', 'समाज', 'नई दुल्हन', 'बेटी का प्यार', 'शरीफ खून' 'समय की पुकार', 'नया समाज', 'दौलत का प्यास' 'घर की रौशनी', 'घूंघट वाली', 'फूल और कांटे' आदि ।

३. (आ) ऐतिहासिक नाटक -- 'महारानी दुर्गावती', 'महाराणा प्रताप', 'वीर दुर्गादास', 'सोमनाथ', 'छत्रपति शिवा जी', 'वीर छत्रसाल', 'पृथ्वीराज चौहान', 'राजा भर्तृहरि', 'रानी सारन्धा', 'शहीद कुंवर सिंह', 'सरदार भगत सिंह', 'झांसी की रानी', 'जूनागढ़ का शेर', 'दिल्ली का शाहजादा', 'शिवा जी का न्याय', 'रानी मृणालवती', 'चौहान की आन', 'तैमुर' आदि ।

४. (इ) धार्मिक नाटक --'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' 'कृष्णलीला', 'रुक्मिणी मंगल', 'द्रौपदी स्वयम्बर', 'ईश्वरभक्ति', 'श्रवणकुमार', 'भगीरथ गंगा', 'ऊषा अनिरुद्ध', 'भक्त नरसी मेहता', 'कृष्ण सुदामा', 'तुलसीदास', 'सूरदास', 'भोला भगत', 'भक्त ध्रुव', 'भक्त विदुर', 'जड़ भरत' 'नल दमयन्ती', 'सत्यवान सावित्री', 'मीरा बाई', 'सती चिन्ता', 'रानी सती' 'राजा हरिश्चन्द्र', 'शकुन्तला', 'सीता स्वयम्बर', 'भक्त पूरण', 'गणेश जन्म' आदि ।

५. (ई) उर्दू नाटक--'तुर्की हूर', 'चलता पुर्जा', 'फूल फुलैया' 'मशरिकी हूर', 'शरीफ बदमाश', 'चलता दामन', 'खूबसूरत बला', 'गरीब की ईद', 'हीरा रांझा', 'दर्दे जिगर' आदि ।

६. मारवाड़ी नाटक --'ढोला मरवण', 'रामू चनणा' 'चांद चकोरी', 'चन्द्रहास', 'जाड़देव कंकाली', 'नैणा री चोट', 'बेदर्दी बालम', 'राजपूतां री आन', 'नई बीनणी', 'राणी दुर्गावती', 'जोधपुर को मोरचो' 'हंसा री चोड़ी', 'बन्ना बेन', 'झुलां झुलां री साथी', 'सुपने री साथीड़ो' आदि ।

१- अभिनय तिथियां उपलब्ध नहीं हो सकीं ।

७. समय की मांग के अनुसार आज भी यह थियेटर पुरानी परम्पराओं के साथ परिवर्तित नाट्य-पद्धतियों और रूढ़ियों को अपनाता हुआ जन मन का रंजन कर रहा है तथा इसके आशापूर्ण भविष्य की ओर आज भी अनेक उत्सुक दृष्टियां लगी हुई हैं ।

आधार ग्रन्थ-सूची

हिन्दी ग्रन्थ

मुंशी अब्बास अली	'पंजाब मेल'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, द्वि०सं० १९३६ ।
	'शाही फकीर'	जैन सुधारक प्रेस, वर्धा, प्र०सं०, प्र०का० १९२०
अमानत	'इन्दरसभा'	अम्बाप्रसाद, मुरादाबाद, र० का १८५३ व प्र०का० १८६८ ई० ।
अम्बिकादत्त व्यास	'गोसंकट'	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, प्र० १८८७
अम्बिकादत्त त्रिपाठी	'सीय स्वयम्बर'	ग्रन्थ प्रकाशक समिति, बनारस, प्र०आवृत्ति सन् १९१८ ।
आगा हश्र काश्मीरी	'आंख का नशा'	हस्तलिखित प्रति
	'औरत का दिल'	संपादक दुर्गाप्रसाद गुप्त, उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथम बार ।
	'अछूता दामन'	संपादक, 'कथावाचक', राधेश्याम पुस्तकालय बरेली, द्वि०सं० सन् १९६३ ।
	'यहूदी की लड़की'	(संपादक) बे०सिंह० बुकसेलर द्वारा, प्र०सं० सन् १९१९ ।
	'भूल भुलैया'	(संपादक) शिवरामदास गुप्त, उपन्यास बहार आफिस, काशी ।
	'सुफेद खून'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, राजा दरवाजा बनारस सिटी, प्र०का०, १९३६ ।
	'शहीदे नाज़'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०

आगा हश्र 'काश्मीरी'	'असीरे हिर्स'	उपन्यास दर्पण, बनारस, द्वि०सं०, १६२४
	'चण्डीदास'	(संपा०) शिवरामदास गुप्त, उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०सं० ।
	'धर्मी बालक'	(हस्तलिखित प्रति)
	'ख्वाबे हस्ती'	(संपादक) राधेश्याम 'कथावाचक', राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली ।
	'दिल की प्यास'	(हस्तलिखित)
	'खूबसूरत बला'	(संपादक) 'कथावाचक' राधेश्याम पुस्तकालय बरेली, प्र०सं०, १६३५
	'भीष्म प्रतिज्ञा'	(हस्तलिखित)
	'सीता वनवास'	देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार दिल्ली ।
	'भारत रमणी या ऋषि कन्या'	(संपादक) शिवरामदास, उपन्यास बहार आफिस काशी, द्वि०सं०
	'भक्त सूरदास उर्फ बिल्व-मंगल'	र०का० १६१५
आनन्दप्रसाद कपूर	'अत्याचार,'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०सं० १६२६ ई० ।
	'अज्ञातवास'	लहरी बुक डिपो, काशी, प्र०सं०, प्र० १६२३ ई० ।
	'पराधीन'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
	'छलीला'	,, ,, ,, ,, १६२६
	'बिल्वमंगल नाटक'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, पांचवां संस्करण, प्र०का० १६२८ ई०
	'गौतम बुद्ध'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०सं०— प्र०ति० २७ जून १६२२ई० ।
	'सुनहला विष'	भारत जीवन प्रेस, काशी, प्र०सं०, प्र०का० फरवरी १६१६ ई०

आनन्दप्रसाद कपूर	'कृष्णलीला'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्र०सं० प्र०का० १९२२ ई०
आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव	'अछूत'	एस०एम०लाल दारागंज, इलाहाबाद, प्र०सं०, प्रका० संवत् १९८५
'आशिक' बी०ए०	'संसार चक्र'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
आनन्दप्रसाद खत्री	'संसार स्वप्न'	नागरी नाटक मण्डली, काशी
'आरजू' अब्दुल समी साहब	'आजादी या मौत'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्र०का० १९२३ ।
	'कालयुग की सती'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्र०सं० प्र०का०, १९२३ ई० ।
'आरजू' सैयद अनवरहुसैन	'अजामिल उद्धार'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्रथमबार
	'खूने नाहक'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्रथमबार
	'दुखिया भारत'	,, ,, प्र०सं०, प्र०काल १९८२
	'हिन्दू स्त्री'	,, ,, प्र०का० १९२४ ।
	'मदिरा देवी'	,, ,, प्र०सं०, प्र०का० १९२५
	'सती सारन्धा व मातृभक्ति'	,, ,, प्रथम बार
	'झांसी की रानी'	,, ,, प्र०सं०, प्र०का० १९२७
	'ऊषा अनिरुद्ध'	,, ,, ,, ,, १९२५
'आरजू' बदायूंनी	'हुब्बे वतन'	,, ,, प्रथम बार
ईश्वरीप्रसाद शर्मा	'रंगीली दुनिया'	आर०एल०बर्म्मन एण्ड को०, कलकत्ता प्र०सं०, प्र०का० मार्गशीर्ष सं० १९८१ वि०
	'रानी सुन्दरी'	आनन्दकुमार जैन, वीर मन्दिर, आगरा प्रथमावृत्ति, प्र०का० १९८२
कन्हैयालाल 'तस्कर'	'सम्राट अशोक'	उपन्यास बहार आफिस काशी द्वि०सं०
	'पोरस सिकन्दर'	,, ,, ,, १९४८
	'वीर छत्रसाल'	,, ,, तृ०सं०
	'देश दशा या प्रेम योगी'	,, ,,
किशनचन्द 'जेबा'	'असली हिन्दू'	नेशनल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली प्र०सं०, प्र०का०, अक्टूबर १९२५ ।

किशनचन्द्र 'जेबा'	'गरीब हिन्दुस्तान'	स०सन्तसिंह एण्ड संस,लाहौर ,द्वि०सं० प्र०का०,पौष,१९७९ वि०
	'शहीद सन्यासी अर्थात् आर्यवर स्वामी श्रद्धानन्द जी'	लाजपतराय एण्ड संस,लाहौर,प्र०सं० प्र०का०,१९२७ ई०
	'भारत दर्पण या क़ौमी तलवार'	लाजपतराय साहनी,लाहौरी दरवाजा लाहौर,प्र०सं०,प्र०का०,१९२२
	'चिरागे वतन अर्थात् देशदीपक'	लाजपतराय पृथ्वीराज साहनी,लाहौरी दरवाजा ,लाहौर,प्रथमबार,प्र०का० १९२२ई०
	'पद्मिनी'	ज्योतिप्रसाद गुप्त,नेशनल बुक डिपो, नई सड़क देहली,प्र०सं०,प्र०का० १९२३ई०
	'धर्माधर्म युद्ध'	लाला लाजपतराय पृथ्वीराज साहनी लाहौरी दरवाजा,लाहौर,प्र०का०१९२२
	'भारत उद्धार'	कैलाश प्रिंटिंग वर्क्स दिल्ली ,प्र०का० १९२२ ।
बाबू कुंजीलाल जैन	'धर्मोजय'	शिवरामदास गुप्त,उपन्यास बहार आफिस,काशी,प्र०सं०,प्रका० १९२१
कृष्ण बलदेव वर्मा	'भर्तृहरि राज्य त्याग'	
कृष्णकुमार मुखोपाध्याय	'प्रह्लाद'	बेलवेडियर प्रेस,प्रयाग ।
(श्री)कृष्ण 'हसरत'	'महात्मा कबीर'	उपन्यासबहार आफिस,काशी ,प्र०सं०
	'भक्त ध्रुव'	कैलाशप्रसाद बुकसेलर,प्र०का०१९६१ई०
	'सावित्री सत्यवान'	उपन्यास बहार आफिस काशी,द्वि०सं० प्र०का० जनवरी १९२१ ।
	'श्री गंगावतरण'	उपन्यासबहार आफिस काशी,प्र०सं० प्र०का० १९२१
	'रामायण'	उपन्यासबहार आफिस काशी,प्रथमबार

खड्गबहादुर मल्ल	'कल्पवृक्ष'	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना, प्र०सं० प्रका०ति०५ दिसम्बर १८८५ई० ।
	'हरितालिका'	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, प्र०सं०, प्र०का० १८८७ ई० ।
	'महारास नाटक'	खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, प्र०का० १८८५
गंगाप्रसाद आरोड़ा	'सुनहरी खंजर'	रत्नाकर पुस्तकालय, बनारस, द्वि०सं०
	'सावित्री सत्यवान'	लक्ष्मी पुस्तकालय, बनारस, द्वि०सं०, प्र०का० संवत् १९८५वि०
गोपाल दामोदर 'तामस्कर'	'राजा दिलीप नाटक'	इण्डियन प्रेस लि०प्रयाग, प्र०सं०, प्र०का० १९२७ ।
गोकुल प्रसाद	'सत्य विजय'	उपन्यासबहार आफिस, काशी द्वि०सं०
गोकुलदास वैश्य	'भारत विजय अर्थात् देशभक्त लाल सिंह'	नैशनल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, प्र०का० १९२२ ई० ।
घनश्यामदास	'वृद्धावस्था विवाह'	चिन्तामणि बुकसेलर, फर्रुखाबाद प्र०सं०का० १८८८ई०
चन्द्रनारायण सक्सेना	'कश्मीर पतन'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०का० १९२७ई०
चन्द्रमणि	'कराल चक्र'	बछरांवा, रायबरेली, प्र०का०, १९९०वि०
(श्रीयुत) 'चन्द्र' बरेलवी	'पत्नीव्रत या मधु ध्वज मदालसा'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार प्र०का०, २१ नवम्बर १९२१
चतुर्भुज	'मीरकासिम'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार प्र०का० २००८ संवत्
चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'	'सम्राट अशोक'	गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर, प्र०सं०, प्रका० का० जनवरी १९२३ ।
	'सिद्धार्थ कुमार'	गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर, प्र०सं० प्र०का०, भाद्रपद, १९७९ ।
छगनलाल कालूजी माली	'सत्यवती'	प्र०का०, १९२३ ई०

(पण्डित)जगतनारायण	'अकबर गौरक्षा'	गौसेवक प्रेस,बम्बई ,प्र०सं०,प्र०का० १८६५ ई० ।
(मुंशी) जलाल अहमद शाह	'काली नागिन'	उपन्यास बहार आफिस काशी ,प्रथमबार
	'खून का खून'	,, ,, द्वि०सं०, प्र०का०१६२५ई०
	'हैदे हवस'	,, ,, तृत०सं०
	'आतशी नाग'	(अनु)जयरामदास गुप्त,हितचिन्तक प्रेस काशी,प्र०काल, मई,१६१६ ।
	'दुश्मनै ईमान'	(संपादक) जयरामदास गुप्त, आदर्श प्रेस सप्त सागर,काशी, द्वि०सं० ।
जमनाप्रसाद मेहरा	'विधवाश्रम'	नारायणदत्त सहगल एण्ड संस,लाहौर
	'जवानी की भूल'	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी,कलकत्ता,प्र०सं० प्र०का० संवत् १६८६ वि० ।
	'आदर्श बन्धु या पाप परिणाम'	रसिकदास बाहिती एण्ड कम्पनी , चोर बागान,कलकत्ता,तृ०सं०,प्र०का० १६२४
	'भक्त चन्द्रहास'	निहालचन्द्र एण्ड कंपनी कलकत्ता ,तृ०सं० प्र०का० संवत् १६८८ ।
	'पंजाब केसरी'	नारायणदत्त सहगल एण्ड संस ,लाहौरी गेट,लाहौर, प्र०सं०,प्र०का० १६८५
	'भारत पुत्र अर्थात् भक्त वीर'	कृपाल सिंह कबीर सिंह आर्य प्रेस, अमृत सर,प्र०सं० प्र०का० संवत् १६८६वि०
	'कन्या विक्रय'	चांदकार्यालय,इलाहाबाद,द्वि०सं०, प्र०का० अगस्त १६२६ ।
	'हिन्द'	एस०आर० बेरी एण्ड कंपनी ,कलकत्ता प्रथम बार,प्र०का० संवत् १६७६वि०
	'हिन्दू कन्या'	हिन्दी पुस्तक एजेंसी ,२०३हरिसनरोड कलकत्ता,प्र०सं०,प्र०का० संवत् १६८६वि०
	'बसंत प्रभा उर्फ एक पिता'	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी,कलकत्ता,प्र०सं० प्र०का० वैशाख संवत् १६६१

जमना प्रसाद मेहरा	'कृष्ण सुदामा,' ~~रिखबदास~~	रिखबदास वाहिती, बड़तल्ला स्ट्रीट कलकत्ता, प्रथमबार, प्र०का० १९२१ ।
	'सती चिन्ता'	रिखबदास वाहिती, ~~कमम~~ कलकत्ता, द्वि०सं० प्र०का० १९२३ ।
	'देवयानी'	रिखबदास वाहिती, दुर्गा प्रेस, कलकत्ता प्र०सं०, प्र०का० १९२२ई०
	'विश्वामित्र'	रिखबदास वाहिती कलकत्ता, प्र०सं० प्र०का० १९२१ ई०
	'विपद् कसौटी'	रिखबदास वाहिती एण्ड कंपनी, कलकत्ता प्र०सं०, प्र०का० १९२३ ई० ।
	'मोरध्वज'	चांद कार्यालय, इलाहाबाद, द्वि०सं० प्र०का० सितम्बर १९२९ ई०
ज्वालाराम नागर	'द्रौपदी स्वयम्बर'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्र०का० १९१८ ई० ।
(मुंशी) जायक साहब	'धर्मयोगी'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
	'सती अनसुया या पत्नी-प्रताप ।'	,, ,, ,, द्वि०सं०
जिनेश्वरप्रसाद 'मायल'	'तैरे सितम'	(सं०)राधेश्याम 'कथावाचक', राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्र०सं०प्र०का०१९३५ई०
	'भारत गौरव अर्थात् सम्राट चन्द्रगुप्त ।'	भारतीय पुस्तकालय एजेंसी, कलकत्ता, प्र०सं०, प्र०का० १९२२ई०
तुलसीदत्त शैदा 'स्नेही'	'मातृभक्ति'	मेहरचन्द, लक्ष्मणदास, दिल्ली
	'लज्जा नाटक'	चांद, वर्ष ५, खण्ड १, अप्रैल १९२७
	'नारी हृदय'	श्री व्यास साहित्य मंदिर, कलकत्ता, प्र०सं०, प्र०का० संवत् १९८४
	'हरिणी'	आर्य ग्रन्थावलि, मोहनलाल रोड, लाहौर, प्र०सं०, प्र०का०, संवत् १९८५वि०
	'भक्त सूरदास अर्थात् बिल्व मंगल'	आर०एल०बर्मन एण्ड कंपनी, कलकत्ता, द्वि०सं०, प्र०का० मार्गशीर्ष १९८०वि०

तुलसीदत्त "शैदा" "स्नेही"	'सत्यवती या मीठा ज़हर'	बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, बनारस, द्वि०सं०
	'जनकनन्दिनी'	श्री व्यास साहित्य मंदिर, कलकत्ता, प्र०सं० प्र०का० संवत् १९८२ ।
दिल साहब	'लैला मंजनू'	शंकरदास सांवल दास बड़ा दरीबा, देहली
दुर्गाप्रसाद गुप्त	'दो धारी तलवार'	रत्नाकर पुस्तकालय, बनारस, प्रथम बार
	'भारत रमणी'	निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, द्वि०सं० प्र०का० संवत् १९८३ वि०
	'आंख का नशा'	रत्नाकर पुस्तकालय, बनारस, प्र०सं०, संवत् १९८४ वि० ।
	'नल दमयन्ती'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, तृ० सं०
	'दानी कर्ण'	,, ,, ,,
	'श्री गांधी दर्शन'	मैनेजर भार्गव पुस्तकालय, बनारस, द्वि०सं० प्र०का० १९२२ ई०
	'भक्त प्रह्लाद'	शिवरामदास गुप्त, उपन्यास बहार आफिस काशी
	'मीराबाई'	उपन्यास बहार आफिस काशी, द्वि०सं०, प्र०का० १९२३ ई०
	'भक्त तुलसीदास'	जगन्नाथ बुक डिपो, राजघाट, काशी, प्र०सं० प्र०का० १९२२ ई० ।
	'गोरक्षा नाटक'	महेश पुस्तक कार्यालय, कलकत्ता, प्र०सं०, प्र०का० जुलाई १९२६
	'गरीब किसान'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०सं०
	'देशोद्धार व राणा प्रताप'	,, ,, द्वि०सं०
	'हम्मीर हठ'	,, ,, प्र०का० १९३१ ई०
	'सती सुलोचना'	,, ,, प्र०सं० प्र०का० १९२४ ई०
	'भारतवर्ष'	,, ,, ,,
	'श्रीमती मंजरी'	उपन्यास दर्पण, बनारस, प्र०सं०, प्र०का० १९२४ ई०
	'विश्वामित्र'	उपन्यास बहार आफिस काशी, प्र०सं० प्र०का० १९२१ ई०
	'महामाया'	आर०एल० बैदी, कलकत्ता, प्र०का० सन् १९२५

देवदत्त शर्मा	'बाल्य विवाह नाटक'	चिन्तामणि यन्त्रालय, फर्रुखाबाद, चतुर्थ संस्करण, प्र०काल १८७७ई०
द्वारिकाप्रसाद मरतिया	'श्री रामलीला रामायण'	बम्बई भूषण यन्त्रालय, मथुरा
नन्दकिशोर लाल	'महात्मा विदुर'	ओंकार पुस्तकालय, लहेरियासराय, दरभंगा प्र०सं०, प्र०का० संवत् १९८० ।
नारायण प्रसाद 'बेताब'	'महाभारत'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, छठां सं०
	'गोरखधंधा'	बेताब प्रिंटिंग वर्क्स, देहली
	'जहरी सांप'	विश्वेश्वर प्रेस, काशी, प्र०का०, १९२६
	'धर्मी प्रताप अर्थात् सती अनुसूया'	बेताब पुस्तकालय, देहली
	'रामायण'	
	'कृष्ण सुदामा'	
	'शंख की शरारत'	(एकांकी प्रहसन) बेताब प्रिंटिंग वर्क्स, ... चाल रहट, दिल्ली ।
	'मीठा जहर'	(हस्तलिखित)
	'कत्ले नजीर'	(हस्तलिखित) प्र०का० १९०५ई०
	'गणेश जन्म'	(हस्तलिखित)
	'समाज नाटक'	(हस्तलिखित)
	'सीता बनवास'	(हस्तलिखित)
	'कसौटी उर्फ दोरंगी दुनिया'	प्रका० महादेव रामचन्द्र जागुष्टे, तीन दरवाजा, अहमदाबाद, प्र०का० १९२४ई०
	'अमृत'	(हस्तलिखित)
	'कुदरत का पुतला'	(नाटक की संगीत पुस्तिका ही उपलब्ध हुई) अमसेर प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई; प्रका० १९१०ई०
प्रभुलाल राय	'द्रौपदी वस्त्र हरण अर्थात् पांडव वनगमन'	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०का० १८९६ई०
(मुंशी) 'फायज'	'एक प्याला'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्र०का० १९२४ई०

बलदेव प्रसाद खरे	'सम्राट परीक्षित'	निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, प्र०सं०, प्र०का० संवत् १९७६
	'सत्यनारायण'	,, ,,
	'सत्याग्रही प्रह्लाद'	,, ,, १९८५
	'परोपकार'	विश्वम्भरनाथ खन्ना, खन्ना एण्ड कंपनी कलकत्ता, प्र०सं० संवत् १९७६
	'राजा शिवि'	रसिकदास साहित्य एण्ड कंपनी, कलकत्ता प्र०सं०, प्र०का० १९२३ ई०
बलदेव प्रसाद मिश्र	'मीराबाई'	श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, प्र०का० १ दिसम्बर १८९७ ई०
	'समाज सेवक'	साहित्य समिति, रायगढ़, प्रथमबार प्र०का० १९३३ ई० ।
	'शंकराचार्य दिग्विजय'	साहित्य समिति, रायगढ़, प्र०का० २५ नवम्बर १९२३ ई० ।
	'प्रभास मिलन'	श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, प्र०का० १९०३ ई० ।
	'नन्द विदा'	इण्डिया लिटरेचर सोसायटी, मुरादाबाद प्र०का०, १९०० ई०
बदरीनाथ भट्ट बी०ए०	'गोस्वामी तुलसीदास'	रामभूषण पुस्तकालय, गोकुलपुरा, आगरा, प्र०सं०, प्र०का० १९२२ ई०
(श्रीयुत) बी०डी० गुप्त	'सैंयै सितम' वा 'नर पिशाच'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार प्र०का० १९२१ई०
बन्दी दीन दीक्षित	~~बन्दी दीक्षित~~ 'सीता स्वयम्बर या धनुष यज्ञ नाटक'	श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०का० [illegible]ई०
मन्नुलाल सोजतिया	'रणबांकुरा चौहान'	एम०एम० सोजतिया एण्ड कंपनी, इंदौर, प्रथम बार, प्र०का० दिसम्बर १९२५

माधव शुक्ल	'महाभारत नाटक'	(पूर्वार्द्ध), प्रथम बार, प्र०का० संवत् १९७३
मेलाराम जी भिवानी	'भगवान शंकराचार्य'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
(मुंशी) मंजूर अहमद साहब 'नज़र'।	'अबला की आह वा देहाती महिला'	,, ,, प्र०सं० प्र०का० १९३०ई०।
(मुंशी) मुराद	'धूपछांह'	(संपादक)जी०बी० अरोड़ा, रत्नाकर पुस्तकालय, बनारस, द्वि०सं०, प्र०का० सं० १९८०
(मुंशी) मुहम्मद इशहाक साहब।	'भक्त सूरदास'	(संपा) शिवरामदास गुप्त, नेशनल प्रेस, बनारस, छठां संस्करण, प्र०का० १९२८ ई०।
(मुंशी) मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी	'शरीफ बदमाश'	(संपा) राधेश्याम 'कथावाचक', राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, द्वि०सं०, प्र०का० सन् १९६२।
	'दिल फरोश'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्र०सं०, प्र०का० १९३६ ई०
	'चलता पुर्जा'	,, ,, मार्च १९३५
	'भूल भुलैया'	,, ,, प्र०का० १९३५
रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल	'सती अनुसूया'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, बनारस
रामस्वरूप जी रूप 'चतुर्वेदी'	'पूरण भक्त'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
	'देवी देवयानी'	,, ,, प्र०का० १९३३ई०
रामसिंह वर्मा	'रेशमी रूमाल'	एस०आर० बेरी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, प्र०का० संवत् १९८० ।
	'स्वामिभक्त'	एस०आर० बेरी एण्ड कम्पनी, ,, द्वि०सं०, प्र०का० संवत् १९८२ ।
रामेश्वरी प्रसाद 'राम'	'प्रेम योगिनी'	आदर्श प्रेस, सप्त सागर, काशी, प्रथम बार प्र०का० सम्वत् १९७६ ।

राजेश्वरनाथ 'बेबा'	'वीर बाला'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
राजबहादुर 'शरर'	'देशभक्त'	बैताब प्रिंटिंग वर्क्स, चाहरहट, देहली, प्रथम बार।
रामशरण आत्मानन्द	'कवि विद्यापति'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथम बार
'अमरौही'	'लैला मंजूं'	,, ,, ,,
	'सन्त तुलसीदास'	,, ,, ,,
	'हिन्दू की गाय'	,, ,, ,,
	'भयानक भूत'	,, ,, ,,
	'बालरत्न भोज'	,, ,, ,, प्र०सं० प्र०का० १९२७ ई०
	'न्याय नाटक'	,, ,, ,,
	'सुलताना डाकू'	,, ,, ,,
	'गणेश जन्म'	,, ,, ,, १९३० ई०
	'सती लीला या शिव पार्वती'	,, ,, ,, १९२५ ई०
राधेश्याम 'कथावाचक'	'सती पार्वती'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, द्वि०सं० प्र०का० १९५२ ई०
	'वीर अभिमन्यु'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, तेरहवां संस्करण, प्र०का० १९६२ ई०।
	'परम भक्त प्रह्लाद'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, चतुर्थ सं० प्र०का० १९५० ई०
	'मशरिकी हूर'	प्रकाशक माणिक शाह कौलाभाई बलसारा चतुर्थ संस्करण, प्र०का० १९५५ ई०
	'महर्षि वाल्मीकि'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, द्वि०सं०, प्र०का० १९५१ ई०।
	'रुक्मिणी मंगल'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, तृतीय सं० प्र०का० १९५० ई०।
	'द्रौपदी स्वयम्वर'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, तृतीय सं० प्र०का० १९५० ई०

राधेश्याम 'कथावाचक'	'श्रीकृष्णावतार'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्र०का०, १६२६ ई०
	'परिवर्तन'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्र०का० १६१८
	'ऊषा अनिरुद्ध'	,, ,, चतुर्थ सं०, प्र०का० १६५८ई०
	'ईश्वर भक्ति'	,, ,, सातवां सं०, प्र०का० १६६४ ।
	'श्रवण कुमार'	प्र०का० १६३२
	'भारतमाता'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, छठां सं० प्र०का०, १६५३ ।
	'शान्ति के दूत भगवान श्रीकृष्ण ।'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, द्वि०सं०, प्र०का० सन् १६४६ ई०
	'देवर्षि नारद'	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली
राधेश्याम 'कथावाचक'	'धंटा पंथ'	,, ,, चतुर्थ सं० प्र०का० १६६३ई०
रेवतीनन्दन भूषण	'कर्मवीर नाटक'	श्री व्यास साहित्य मंदिर, कलकत्ता, प्र०सं० प्र०का० संवत् १६८२ ।
लक्ष्मीनारायण पाठक	'शाही फरमान'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्रथम बार प्र०का० १६२७ ई०
लक्ष्य बरेली	'सन्तान विक्रय नाटक'	,, ,, ,,
वशिष्ठ	'अत्याचार का अन्त'	विश्व साहित्य भण्डार, मेरठ, प्रथमावृत्ति प्र०का० १६०६
(पं०)वासुदेव पाण्डे	'श्री काशी विश्वनाथ'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, प्रथमबार
विश्व	'भीष्म प्रतिज्ञा'	,, ,, १६२२ई०
विनायकप्रसाद 'तालिब' 'बनारसी'	'सत्य हरिश्चन्द्र'	,, ,, १६२४ई०

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	'हिन्दू विधवा उर्फ सुधरा जमाना'	संपा० राधेश्याम 'कथावाचक', राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, द्वि०सं०, प्र०का० १९५३ ई०।
	'अत्याचार का परिणाम'	भीष्म एण्ड ब्रदर्स, कानपुर, प्र०सं०, प्र०का०, संवत् १९७८।
	'भीष्म'	प्रताप कार्यालय, कानपुर, प्र०सं०, प्र०का० १९१८ ई०
विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल'	'बुद्धदेव अथवा मूर्तिमान त्याग'	भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, प्र०का० १९३५ ई०
विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'	'राजकुमार भोज'	भारत प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली प्र०का० १९३३ ई०।
बेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली'	'वीर अभिमन्यु'	ठाकुरप्रसाद गुप्त बुकसेलर, कचौड़ी गली, बनारस, प्र०का० १९३८ ई०।
	'श्रीमती मंजरी'	ठाकुरप्रसाद बुकसेलर, बनारस
ब्रजनन्दनसहाय	'अर्द्धांगिनी'	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, प्र०का० १९२५ ई०।
सुवर्ण सिंह वर्मा 'आनन्द'	'छत्रपति शिवाजी'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०, प्र०का० १९२९ ई०।
	'वीर बन्दा बैरागी'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्रथम बार।
	'वीर दुर्गादास'	उपन्यास बहार आफिस, काशी द्वि०सं०, प्र०का० १९५६ ई०।
सरयूप्रसाद 'बिन्दु'	'भयंकर भूत'	एस०आर० बेरी एण्ड कम्पनी कलकत्ता, द्वि०सं०, प्र०का० १९२९ ई०
शरीफ	'शीरीं फरहाद'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, काशी, प्र०का० १९३० ई०।
श्यामचरण चौधरी	'सती सुकन्या'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्रथमबार, प्र०का० १ सितम्बर १९२३।

शालिग्राम वैश्य	'अभिमन्यु बध नाटक'	लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, प्र०का० संवत् १९८९ वि० ।
	'माधवानल कामकन्दला'	श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०का० संवत् १९५७ ।
	'मोरध्वज'	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०का० १८९०ई० ।
	'लावण्यमती सुदर्शन'	हरप्रसाद, भगीरथ, बम्बई, प्र०का० १८९२ ई० ।
	'पुरु विक्रम'	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०का० १९०६ ई०
शिवराम दास गुप्त	'दौलत की दुनिया'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०, प्र०का० अगस्त १९३३
	'हिन्दू महिला'	उपन्यास बहार आफिस, काशी
	'मेरी आशा'	,, ,, द्वि०सं० प्र०का० १९५० ई०
	'शराब की क घूंट'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०, प्र०का० वि०सं० २००९
	'समाज का शिकार'	उपन्यास बहार आफिस, काशी
	'भारतीय छात्र'	भारतीय-छात्र का साहित्य कार्यालय, बनारस ।
	'धर्मात्मा'	उपन्यास बहार आफिस, काशी
	'बरबी माता'	,, ,, ,, १९५४ई० ।
	'स्वार्थी संसार'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०का०, १९३४ ई० ।
	'पगली बहू'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्रथम बार, १९३२ ई० ।

शिवरामदास गुप्त	'पशुबलि'	उपन्यास बहार, आफिस, काशी प्र०का०, ४ दिसम्बर १९४७ ।
	'देश का दुर्दिन अर्थात् मेवाड़ पतन ।'	उपन्यास बहार आफिस, काशी, द्वि०सं०, १९५० ई०
	'जवानी की भूल'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०का० जनवरी १९३३ ।
	'दूज का चांद'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०, प्र०का०, १९३० ई०
	'कैदी की कराह'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं०, प्र०का०, १९५० ई०
	'दिल की प्यास'	उपन्यास बहार आफिस काशी प्र०का० १९३६ ई० ।
	'चिरागे चीन उर्फ अलादीन'	(सं०) शिवरामदास गुप्त, विश्वेश्वर प्रेस, बनारस, प्रथम बार, प्र०का० जून, १९२७ई०
	'परिवर्तन'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०का० १९२१ ई०
शिवरामदास गुप्त और श्रीष	'प्रेम की प्यास'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०का० १९३८ ई० ।
दास और 'आरजू'	'आजकल'	उपन्यास बहार आफिस, काशी
	'हिन्दू ललना'	,, ,, ,, प्र०का० १९२६ ई०
दास और गुप्त	'दुरंगी दुनिया'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं० प्र०का० १९२१ ई०
हरिकृष्ण 'जौहर'	'नागपुत्र शालिवाहन'	उपन्यास बहार आफिस, काशी प्र०सं० ।

हरिकृष्ण 'जौहर'	'दुःखी भारत'	उपन्यास बहार आफिस, काशी द्वि० सं० ।
हरिशंकर प्रसाद उपाध्याय	'श्रवणकुमार'	बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, बनारस द्वि० सं०, प्र०का० १९२८ ई०
(पं०) हरिशंकरप्रसाद उपाध्याय	'श्रवणकुमार'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, राजा दरवाजा, बनारस, तृ०सं० प्र०का० १९३१ ई० ।
हरिनाथ व्यास	'श्रीकृष्ण सुदामा'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, बनारस प्र०का० संवत् १९८९
हरिदास माणिक	'पाण्डव प्रताप अथवा सम्राट युधिष्ठिर ।'	माणिक कार्यालय, काशी, प्र० सं०, प्र०का०, १९१७ ई०
	'संयोगिता हरण'	हरिदास माणिक कार्यालय, बनारस, प्र०का० १९१५ ई०
	'श्रवणकुमार'	हरिदास माणिक कार्यालय, बनारस, प्र०का० १९२०ई० ।
हिन्दी के दो प्रसिद्ध नाटककार	'भारत रमणी'	उपन्यास बहार आफिस काशी प्र०सं०, प्र०का०, १९२६ ई० ।
एक नाटक प्रेमी	'दानी कर्ण'	जगन्नाथ प्रिंटिंग वर्क्स, राजघाट प्रथम बार ।
श्री लाल उपाध्याय	'बिल्व मंगल अर्थात् भक्तसूरदास'	बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, बनारस
श्री लाली	'गोपीचन्द,' कन्हैयालाल, जैन, प्रोपेराइटर प्रेस, लखनऊ	प्र०का० १ जुलाई १८९६ ई०

गुजराती ग्रन्थ

'आराम' नशरवानजी खान साहब	'बेहराम अने शीरीन'	(चार अंकी ना०) र०का० १८८३ई०, प्र०का० १ सितम्बर १८८६, इण्डियन प्रैस, बम्बई।
एदलजी जमशेद जी खोरी	'हजम बाद अने ठगननाज'	(४ अंकी ना०) प्रकाशन- बेहराम जी फरदुनजी कम्पनी, प्रका० ६ नवम्बर १८७१ ई०।
केखशरू नवरोजी काबराजी	'जमशेद'	(३अंकी नाटक) बेहराम जी फरदुन जी कम्पनी, बम्बई, प्र०का० ६ नवम्बर १८७०ई०
,,	'भोली जान अथवा धानतु धान'	(३अंकी नाटक)
जहांगीर जी नशरवान जी पटेल	'सुलली अमास'	(३अंकी पारसी संसारी नाटक) श्री साहित्य प्रैस, बम्बई, प्र०का० ८ सितम्बर १६२६ई०
	'धन धन धोरी'	(३अंकी नाटक पारसी संसारी) माणेक प्रिंटिंग प्रैस, बम्बई, प्र०का० २१ मार्च, १६२६ई०
जहांगीर जी पैस्तनजी संभाता	'कुदीन कपड़ो'	(३अंकी नाटक), प्र०का०, सन् १६०५ ई०।
देवीदास कृष्णाभाई मीर	'कलावंती'	(३अंकी नाटक) जामे जमशेद स्टीम प्रैस, बम्बई, प्र०का० १८६६ ई०।

फीरोजशाह जहांगीर मर्जबान	'हेन्डसम ब्लेकगार्ड'	(३अंकी'पारसी हिन्दु महामेदन संसारी नाटक') दी शाणेक प्रिंटिंग प्रेस,गीरगांव बम्बई, प्र०का० १६२७ ।
बहमनजी नवरोजी काबराजी	'बापना श्राप'	(३अंकी ना०) प्रकाशक-पारसी इम्प्रेस नाटक मण्डली के मालिक श्री मंचेरशाह आपन्दीयारजी थोड़ीं चलाने वाला
,,	'कागजुग'	(३अंकी ना०),प्र०का० १सितंबर १६५० ।
मेहरबानजी मनचेर जी बमाजी	'अपंग अदीका'	(३अंकी-'पारसी संसारनी साँची चितार आपनारीं' नाटक)
	'सनोबर'	(३अंकी ना०--'नाटक तत्त्वं पारसी संसार'), सांज वर्तमान प्रेस, मीन्ट रोड,फोट,बम्बई प्र०का० जून १६१२ई० ।
नसरवानजी मेरवान जी खानसाहब	'गुलबासनोवर चेबर्द'	(४अंकी ना०) 'ज्बाने उर्दू व हरफे गुजराती'
रतनजी फराम जी सेठ	'बुधापर सबर'	(३अंकी ना०) दी न्यू आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,बम्बई, प्र०का० १६१५
	'जलु जुदार'	प्र०का० अगस्त १६३०
	'पाकदाव परीन'	(३अंकी ना०)
एस०एच०पी० (शाहनामा का लेखक)	'खुशरू शीरीन उर्फ गुलदस्ते ईरान'	प्रकाशक-जे०एफ०मादन एण्ड कम्पनी, कलकत्ता ।
	'यकदें कर्द हवैदीयार उर्फ यादें वतन'	प्र०--जे० एफ०मादन एण्ड कम्पनी, कलकत्ता ।

शिवशंकर गोविन्दराम	'हुसनबानू और शायर जंग'	(४ अंकी ना०) यू०फ़ोर्ट प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, प्र०का० १८८७ "जबाने हिन्दी व हर्फ़ गुजराती"

सहायक ग्रन्थ-सूची

(हिन्दी-संस्कृत-ग्रन्थ)

लेखक	ग्रन्थ	प्रकाशन
कमलिनी मेहता	नाटक के तत्व-मनोवैज्ञानिक अध्ययन	नागरी प्रचारिणी सभा बनारस, प्र०सं०, प्र० ति० संवत् २००० ।
कृष्णाचार्य	हिन्दी नाट्य साहित्य-ग्रन्थसूची (१८६३-१९६५)	प्र०-अनामिका, १२६ चितरंजन एवेन्यु, कलकत्ता प्र०सं०
डा० गणेशदत्त गौड़	आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।	सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, प्र०सं०, प्र०ति० जनवरी १९६५ ।
गुलाबराय	काव्य के रूप	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, द्वि०सं० ।
गोविन्द त्रिगुणायत(अनु०)	हिन्दी दशरूपक	साहित्य निकेतन, कानपुर प्र०सं०
सेठ गोविन्ददास	नाट्य कला मीमांसा	महाकौशल साहित्य मंदिर, जबलपुर, प्र० ति० १९५२ई०
डा० गोपीनाथ तिवारी	भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य	हिन्दी भवन, इलाहाबाद प्र०सं०, प्र० तिथि १९५९ई०

कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह	मध्यकालीन हिन्दी नाट्य-परम्परा और भारतेन्दु	ग्रन्थ कुटीर, पी०रोड, कानपुर प्र०सं०, प्र०ति० १५ अगस्त, १६५८
	हिन्दी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा ।	भारती ग्रन्थ भण्डार, दिल्ली प्र०सं०, प्र०ति०, १६६४ ई०
चन्द्रराज भण्डारी विशारद	नाट्यकला दर्शन	हिन्दी साहित्य प्रचारक कार्यालय, नरसिंहपुर, प्र०सं० प्र०ति०, १६२५ ई० ।
जयशंकरप्रसाद	काव्य कला तथा अन्य निबंध	लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण
जयनाथ नलिन	हिन्दी नाटककार	
पण्डित जवाहरलाल नेहरू	हिन्दुस्तान की समस्यायें	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, प्र०सं०, प्र०का० नवम्बर १६३६ई०
डा० दशरथ ओझा	हिन्दी नाटक उद्भव और विकास ।	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, द्वि०सं०, प्र०का० १६५४ ई०
	नाट्य समीक्षा	नेशनल पब्लिक हाउस, दिल्ली प्र०सं०
देवदत्त शास्त्री (संपादक)	पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दनग्रन्थ	
डा० देवर्षि सनाढ्य	हिन्दी के पौराणिक नाटक	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्र०सं० प्र०का० संवत् २०१७ ।
दिनेशनारायण उपाध्याय	हमारी नाट्य परम्परा	रामनारायणलाल, इलाहाबाद प्र०सं०, प्र०का० १६५७ई०
डा० नगेन्द्र	आधुनिक हिन्दी नाटक	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा प्र०का० सन् १६५२
,, (संपादक)	सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ ।	सेठ गोविन्ददास हीरक जयंती समारोह समिति, नई दिल्ली

नन्दिकेश्वर	अभिनय दर्पण	(व्याख्याकार- देवदत्त शास्त्री) किताब महल, इलाहाबाद प्र०सं०, प्र०का० सन् १९५६ ।
नारायण प्रसाद 'बेताब'	बेताब चरित्र	मारवाड़ी प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई
परिपूर्णानन्द वर्मा	वाजिदअली शाह और अवध राज्य का पतन ।	सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, जनवरी १९५६ई० ।
डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य में हास्यरस	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली प्र०सं०, प्र०का० सन् १९५७ ई० ।
डा० बच्चन सिंह	हिन्दी नाटक	साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र०का० १९५८ ई०
ब्रजरत्नदास	हिन्दी नाट्य साहित्य	हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी प्र०का० संवत् २००४ ।
	भारतेन्दु ग्रन्थावली	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी प्र०का० संवत् २००७
डा० बेनीप्रसाद	हिन्दू मुस्लिम समस्या	साहित्य भवन, लि०, प्रयाग प्र०का० १९४३ई०
महावीर प्रसाद द्विवेदी	नाट्यशास्त्र,	देश सेवक प्रेस, नागपुर, प्र०सं०
महात्मा गांधी	हिन्दुस्तान की समस्याएं	काशी पुस्तक भण्डार, चौक बनारस, प्र०सं०, प्र०का० १९५७ ।
राधाकृष्णन	धर्म और समाज	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली६, प्र०सं०, प्र०का० जुलाई १९६०
राधेश्याम 'कथावाचक'	मेरा नाटककाल	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली प्र०सं० प्र०का० सन् १९५७
रघुवंश	नाट्यकला	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं०प्र०का०[illegible]१९६१

डा० रणधीर उपाध्याय	हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली प्र०सं०,प्र०का० १९६६ ई०
प्रो०रामचरण महेन्द्र	हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार।	सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा आगरा। प्र०सं०, प्र०का० १९५५ ई०
राजकुमार	नाटक और रंगमंच	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,बनारस प्र०सं०, प्र०का० दिसम्बर १९६१
रामगोपाल सिंह चौहान	हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा।	प्रभात प्रकाशन,दिल्ली,प्र०सं०,१९५९ई०
रामचन्द्र टण्डन(अनु०) मूल लेखक-जवाहरलाल नेहरू।	हिन्दुस्तान की कहानी	सस्ता साहित्य मण्डल,दिल्ली १९४७
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, तेरहवां संस्करण, प्र०का० संवत्२०१७
राजेन्द्र सिंह गौण	हमारी नाट्य साधना	श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी ,आगरा प्र०सं०, प्र०का० संवत् २०१०।
रामशंकर शुक्ल'रसाल'	नाट्य निर्णय	अग्रवाल प्रेस, प्रयाग , प्र०सं० १९३०
प्रो० रामेश्वरनाथ भार्गव	हिन्दी गद्य में नाटक की उत्पत्ति और विकास (लेख) हिन्दी गद्य साहित्य का उद्भव और विकास।	(संपा०)शम्भुनाथ पाण्डेय,सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्र०सं०संवत् २०१५।
लक्ष्मीनारायणलाल	रंगमंच और नाटक की भूमिका	नेशनल पब्लिकशिंग हाउस, दिल्ली प्र०सं०, प्र०का० दिसम्बर १९६५
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य	हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, प्र०का० १९४८
डा० वेदपाल खन्ना	हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन।	प्र०का० १९५९ ई०
वीरेन्द्रकुमार शुक्ल	भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	रामनारायणलाल, इलाहाबाद प्र०सं०,प्र०का० १९५५

ादमित्र उपाध्याय कृता	रूपक विकास	साहित्य रत्न कार्यालय, बनारस प्र०सं०, प्र०का० सं० २००५
प्रो० वेदव्यास	हिन्दी नाट्य कला	हिन्दी भवन ,लाहौर ,तृ०सं०,जून १९३९ ।
स्वामी सत्यभक्त	हिन्दू मुस्लिम मेल,द्वि०सं०	सत्येश्वर प्रिंटिंग प्रेस, वर्धा
एस०पी० खत्री	साहित्य परिचय	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,वाराणसी प्र०सं०, प्र०का० फरवरी १९६३
पण्डित सीताराम चतुर्वेदी	भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच	हिन्दी समिति , सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश,लखनऊ , प्र०सं०, प्र० का० १९६४ ।
	अभिनव नाट्य शास्त्र	किताब महल, प्रा०लि०,प्रयाग,द्वि० सं०, प्र०का० १९६४ ।
डा० सोमनाथ गुप्त	हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास ।	हिन्दी भवन इलाहाबाद, तृ०सं०, प्र०का० १९५१ ई०
डा० श्याममुरारी जैसवाल	जी०पी०श्रीवास्तव की कृतियों में हास्य विनोद ।	लखनऊ विश्वविद्यालय,१९६३ई०
शालिग्राम श्रीवास्तव (अनुवादक)	उर्दू साहित्य का इतिहास खण्ड २	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद प्र०सं०, प्र०का० १९५१ई०
श्यामसुन्दरदास	साहित्यालोचन	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
	हिन्दी कोविद रत्नमाला दूसरा भाग,प्रथम	इण्डियन प्रेस,प्रयाग, १९१४
	रूपक रहस्य	,, ,, च०सं०
	भारतेन्दु नाटकावली	
डा० शान्तिगोपाल पुरोहित	हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन	साहित्य सदन, देहरादून, प्र०सं०, प्र०का० १९६४ ।
शिखरचन्द जैन	हिन्दी नाट्य चिन्तन	साहित्य रत्न भण्डार,आगरा १९४९ ।
शैलदास चैनी	रंगमंच	हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, प्र०सं०,प्र०का०१९६५

डा० श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास।	हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग, तृ०सं०, प्र०का० १९५२ ।
डा० श्रीकृष्णदास	हमारी नाट्य परम्परा	साहित्यकार संसद,प्रयाग, प्र०सं० प्र०का० १९५६ई०
डा० श्रीपति शर्मा	हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव ।	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्र०सं०, प्र०का० १९६१
हरिदत्त वेदालंकार	हिन्दू परिवार मीमांसा	बंगाल हिन्दी मण्डल, रॉयल एक्सचेंज प्लेस,कलकत्ता ।

(गुजराती)

जहांगिर जी पैस्तन जी संभाता ।	'मारी नाटकांयी अनुभव	धी पारसी लि०प्रेस,बम्बई,१९४४
डा०धनजीभाई नशरवानजी पटेल ।	पारसी नाटक तख्तानी तवारीख ।	कैसरेहिन्द प्रिंटिंग प्रेस,बम्बई १९३१
शियावश दाराशाह शरीफ ।	पारसी नाटक तख्तो	,, ,, १९५०
प्रो० चन्द्रवदन मेहता	बांध गठरिया भाग२	गाण्डीव साहित्य मंदिर,हवाडियो चकलो सूरत,पुनर्मुद्रण, १९५६ ।

गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ

(मराठी)

श्री निवास नारायण बनहट्टी ।	मराठी रंगभूमीचा इतिहास	खण्ड पहला,प्र०सं०१९५७,व्हीनस प्रकाशन, पुणे ।
श्री अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी ।	'मराठी रंगभूमि'	व्हीनस बुक स्टाल,पुणे,द्वितीयावृत्ति १९६१ ।

(उर्दू)

डा० अब्दुल अलीम 'नामी'	उर्दू थियेटर, भाग १	अंजुमन तरक्की उर्दू पाकिस्तान, उर्दू रोड, करांची, प्र०सं०१९६२ ।
डा० अब्दुल अलीम 'नामी'	,, भाग २	,, ,, ,,
,, ,,	,, भाग ३	,, ,, ,,
डा० ,, ,,	बिब्लोग्राफिया ऑफ उर्दू ड्रामा भाग १	ओरियण्टल कॉलेज बुक डिपो, भिण्डी बाजार, बम्बई ३, प्र०सं० १९६६ ।
,, ,,	,, ,, भाग २	,, ,, १९६७

(अप्रकाशित शोधप्रबन्ध)

डा०रामकिशोरी श्रीवास्तव	हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन (१९३७ तक) ।	लखनऊ विश्वविद्यालय, जनवरी १९६१	
डा० वासुदेव नन्दनप्रसाद	भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच ।	शोधप्रबन्ध, १९५९ ।	पटना विश्वविद्यालय,
श्रीमती विद्यावती लक्ष्मन-राव नम्र ।	हिन्दी रंगमंच और नारायण-प्रसाद 'बेताब' ।	शोधप्रबन्ध, १९६७	पूना विश्वविद्यालय
डा०रविशंकर अग्रवाल	हिन्दी नाटकों में चरित्र प्रकार-वर्गीकरण और विकास ।	शोधप्रबन्ध, १९६४ ।	प्रयाग विश्वविद्यालय,

पत्र-पत्रिकाएं

श्री अब्दुलकुद्दूस 'नैरंग' 'स्वर्गीय आगा हश्र काश्मीरी' आज, अगस्त १९६४

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' 'रंगमंच --पारसी अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी के तीन खेल' ,, २१ अगस्त १९२४

श्री उमाचरण पाण्डेय 'त्रिदण्डी'। 'स्वर्गीय हरिकृष्ण जौहर' ,, साहित्य विशेषांक, १७जनवरी १९६० ।

ताण्डव नृत्य' 'चन्द्रगुप्त और वीर भारत' आज,३ अक्टूबर १९२४ ।

लक्ष्मीनारायण 'सरोज' 'जौहर का वीर भारत' ,, २३ ,, १९२४ ।

कृष्णाचार्य 'आफताबे मुहब्बत से भीष्म पितामह तक मौहम्मदशाह काश्मीरी'। धर्मयुग, २७ नवम्बर १९६६

रामराज सिंह 'आंख का नशा' भारत जीवन , २३ मार्च, १९५५

श्री उमाचरण पाण्डे 'त्रिदण्डी' 'स्वर्गीय हरिकृष्ण जौहर' वेंकटेश्वर समाचार ,चैत्र सुदी १२ संवत् २००१ ।

लक्ष्मीनारायण 'सरोज' 'कर्ममय जीवन' भाग २ वेंकटेश्वर समाचार,चैत्र सुदी १०,संवत् २००२ ।

,, ,, भाग ३ ,, ,, चैत्र बदी २००२ ।

देवी नारायण 'कौशिक' 'पतिभक्ति' लीडर,जून, १९, १९२६

तुलसीदत्त 'शैदा' 'हिन्दी रंगमंच' विशाल भारत , वर्ष १, खण्ड २, संवत् १९८५ ।

प्रेमचन्द 'हिन्दी रंगमंच' माधुरी, वर्ष ८, संख्या ६

ललित कुमार सिंह 'नटवर' ',, और अभिनय कला' ,, ,, खण्ड २, १९३०

देवेन्द्रनाथ शुक्ल 'आधुनिक हिन्दी रंगमंच' ,, ,, ११ ,, १९३३

कृष्णप्रसाद सिन्हा 'त्रिदण्डी' 'हिन्दी नाटक साहित्य का विकास'। ,, ,, २५ ,, १९४७

फिदा हुसैन 'सीता बनवास' नाटिका, १९६४

श्री कन्हैयालाल मुल्तानियाँ 'वैराग्य ही क्यों ?' श्री नाट्यम, वर्ष ५, अंक ५, १९६६

जुगलकिशोर	'भारतीय रंगमंच का अप्रतिम नेता भक्त प्रेमशंकर उर्फ फिदाहुसैन'	धर्मयुग, २७ अगस्त, १९६७
तुलसीदत्त 'शैदा' 'स्नेही'	'लज्जा नाटक', चांद, वर्ष ५, खण्ड १, अप्रैल १९२७	
कुंवर जी अग्रवाल	'परिसंवाद की परिश्रुति'	नटरंग, वर्ष २ अंक ५ जनवरी-मार्च १९६६।
अतुल लाहिड़ी	'मंच सज्जा की भूमिका'	नटरंग, वर्ष १, भाग २, अप्रैल-जून १९६५।
इब्राहिम अल्काजी	'रंगमंच के ऊपर दृश्यांकन'	नटरंग, वर्ष १, भाग २, अप्रैल-जून १९६५।
हबीब तनवीर	'दृश्यांकन की समस्या'	नटरंग, वर्ष १, भाग २, १९६५
नेमिचन्द्र जैन	'हिन्दी रंगमंच परम्परा और प्रयोग'।	नटरंग, वर्ष २, अंक ५ जनवरी १९६६
राधेश्याम 'कथावाचक'	'श्री राधेश्याम नाटकावली'	त्यागभूमि, वर्ष २, अंश ४, पृ०४५७
,,	'हिन्दी रंगमंच,'	साहित्य संदेश, भाग २७, अंक १-२
देवेन्द्र नाथ शुक्ल	'आधुनिक नाटक'	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, खण्ड १० १९३०।

-0-

English Books

Dr. A.S. Altekar	-	The position of women in Hindu Civilization.	Culture Publication House, Benaras Hindu University. Ist edition, 1938.
A.K. Boyd	-	Technique of play production.	George G. Harran & Co. Ltd. London. 1947.
Bierman, Hart, Johnson.	-	The Dramatic Experience	- Prentice Hall, INC 1958.
Dr. C.B. Gupta	-	Indian Theater.	Motilal Benarsidas Benaras. Ist edition.
Prof. C.C. Mehta (Compiled by)	-	Bibliography of Stageable Plays In Indian Languages	- Bhartiya Natya Sangh New Delhi. 1963.
Dorthy Birch	-	Training for the Stage	- Sir Isaac Pitman and Sons ltd. London 1952.
Dosabhai Framji Karaka	-	History of the Parsis. Vol. Ist.	Mac Millan & Co. London . 1884.
	-	History of the Parsis. Vol. 2nd.	Mac Millan & Co. London . 1884.
D.R. Mankad		Ancient Indian Theater.	Charutar Prakashan A.P. 1950.

E. P. Horwiz	The Indian Theater	Blackie and Son Limited 50 Old Baily, London 1913
Fubion Bowers -	Theater in the East.	Thomas Nelson and Sons Ltd First Ed. 1956
H. N. Das Gupta -	Indian Stage Vol. 1st.	124/513 Russa Road, Kalighat, Calcutta, 1944.
	Indian Stage Vol. 2nd	124/513 Russa Road, Kalighat, Calcutta. 1944
	Indian stage, Vol. 3rd	124/513 Russa Road, Kalighat, Calcutta. 1944
	Indian Stage, Vol. 4th.	124/513 Russa Road, Kalighat, Calcutta. 1944
Herschel L. Bricker (Edited by)	Our Theater Now.	Samuel French, New York First Ed. 1936
J. W. Marrict	The Theater.	George G. Harrop & Comp. Ltd. 1946.
Prof. Jai Dayal	Prithvi Theater.	Prithvi Theater Publication, Bombay. First Ed. 1950.
Loyis Erhardt - & S. R. Mc. Candless	Our Theater today.	